श्रीअरविंद-साहित्य

खंड 7

दिव्य जीवन्

THE LIFE DIVINE

श्रीअरविंद
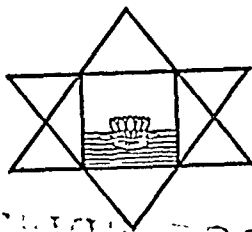
भारत सरकार, शिक्षा-मंत्रालयकी मानक ग्रंथोंकी
प्रकाशन-योजनाके अंतर्गत प्रकाशित

श्रीअरविंद सोसायटी
पांडिचेरी - 2
1960
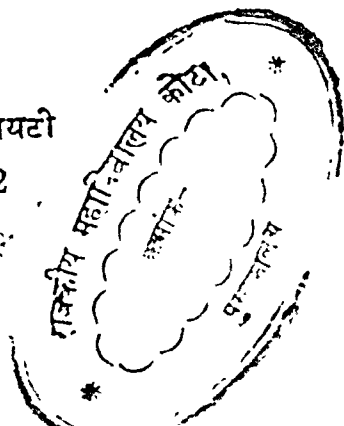
अनुवादक :

श्यामसुन्दर झुनझुनवाला

प्रथम संस्करण, वर्ष 1960

भारत सरकार, शिक्षा-मंत्रालयकी मानक ग्रंथोंकी प्रकाशन-योजनाके अंतर्गत इस पुस्तकका अनुवाद और पुनरीक्षण वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोगकी देख-रेखमें किया गया है और इस पुस्तककी 1000 प्रतियाँ भारत सरकारद्वारा खरीदी गयी हैं।

मूल्य रु० Rs. 13·66 Price Rs.

प्रकाशक : श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी–2

मुद्रक : ज्ञानेन्द्र शर्मा, जनवाणी प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्स प्रा० लि०
178, अपर चितपुर रोड, कलकत्ता–3

प्रस्तावना

हिंदी और प्रादेशिक भाषाओंको शिक्षाके माध्यमके रूपमें अपनानेके लिये यह आवश्यक है कि इनमें उच्च कोटिके प्रामाणिक ग्रंथ अधिक-से-अधिक संख्यामें तैयार किये जायँ। भारत सरकारने यह कार्य वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोगके हाथमें सौंपा है और उसने इसे बड़े पैमानेपर करनेकी योजना बनायी है। इस योजनाके अंतर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओंके प्रामाणिक ग्रंथोंका अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाये जा रहे हैं। यह काम अधिकतर राज्य सरकारों, विश्वविद्यालयों तथा प्रकाशकोंकी सहायतासे प्रारंभ किया गया है। कुछ अनुवाद और प्रकाशन-कार्य आयोग स्वयं अपने अधीन भी करवा रहा है। प्रसिद्ध विद्वान् और अध्यापक हमें इस योजनामें सहयोग दे रहे हैं। अनूदित और नये साहित्यमें भारत सरकारद्वारा स्वीकृत शब्दावलीका ही प्रयोग किया जा रहा है ताकि भारतकी सभी शिक्षा-संस्थाओंमें एक ही पारिभाषिक शब्दावलीके आधारपर शिक्षाका आयोजन किया जा सके।

'दिव्य जीवन' नामक यह पुस्तक श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी-2 के द्वारा प्रस्तुत की जा रही है और तीन ग्रंथोंमें पूरी होगी। इसके मूल लेखक श्रीअरविंद हैं। 'दिव्य जीवन' श्रीअरविंदकी प्रधान दार्शनिक कृति है और इसका पुनरीक्षण श्रीअरविंद अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्रके तत्त्वावधानमें हुआ है। आशा है भारत सरकारद्वारा मानक ग्रंथोंके प्रकाशन-संबंधी इस प्रयासका सभी क्षेत्रोंमें स्वागत किया जायगा।

बाबूराम सक्सेना

अध्यक्ष
वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार,
नयी दिल्ली।

विषय-सूची

दिव्य जीवन

प्रथम ग्रंथ

परिशिष्ट

दिव्य जीवन

प्रथम ग्रंथ

सर्वगत सद्वस्तु
और
विश्व

(ब्रह्म और जगत्)

श्रीअरविंद

अध्याय एक

मानव-अभीप्सा

परायतीनामन्वेति पाथ आयतीनां प्रथमा शश्वतीनाम् ।
व्युच्छन्ती जीवमुदीरयन्त्युषा मृतं कं चन बोधयन्ती ।।
कियात्या यत्समया भवाति या व्यूषुर्याश्च नूनं व्युच्छान् ।
अनु पूर्वाः कृपते वावशाना प्रदीध्याना जोषमन्याभिरेति ।।

वह परेकी ओर अग्रसर होती हुई उषाओंके लक्ष्यका अनुसरण करती है, वह आनेवाली उषाओंकी सनातन परम्परामें सर्व-प्रथम है,—उषा विस्तृत हो रही है, जो जीवित है उसे प्रकट करती हुई और किसी मृतको जगाती हुई।......उसकी क्या व्याप्ति होती है जब वह पहले प्रदीप्त हो चुकी और भविष्यमें प्रदीप्त होनेवाली उषाओंके साथ समन्वित होती है? वह प्राचीन प्रभातोंको चाहती और उनके प्रकाशको परिपूर्ण बनाती है, अपने आलोकको आगे बढ़ाती हुई वह आगे आनेवाली शेष उषाओंके साथ निबिड़ सम्पर्क स्थापित करती है।

(कुत्स अंगिरसः, ऋग्वेद)
1. 113. 8, 10

त्रिरस्य ता परमा सन्ति सत्या स्पार्हा देवस्य जनिमान्यग्नेः ।
अनन्ते अन्तः परिवीत आगाच्छुचिः शुक्रो अर्यो रोरुचानः ।।
यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा देवो देवेष्वरतिर्निधायि ।
.... अग्निः ....
ऊर्ध्वो भव प्रति विध्याध्यस्मदाविष्कृणुष्व दैव्यान्यग्ने ।।

इस जगत्में स्थित इस दिव्य वीर्यके त्रिविध परम जन्म हैं, वे सत्य हैं, वे स्पृहणीय हैं; व्यापक रूपसे प्रत्यक्ष होकर वह अनन्तके अन्दर गति करता है और विशुद्ध, देदीप्यमान रूपमें, सबको परिपूर्ण करता हुआ वह प्रकाशित होता है।......जो मर्त्योंमें अमर है और ऋतका अधिकारी है वह एक देव है और हमारे दिव्य बलोंमें

सक्रिय ऊर्जाके रूपमें हमारे अन्दर प्रतिष्ठित हो गया है......
तू ऊपर उठ, हे शक्ति, हे अग्नि! सब आवरणोंको भेद डाल,
हमारे अन्दर स्थित दिव्य वस्तुओंको प्रकट कर।

(वामदेव गौतम, ऋग्वेद)
4.1.7; 4.2.1; 4.4.5

अपने प्रबुद्ध विचारोंके उषा-कालमें मनुष्य जिस विषयमें अभिनिविष्ट हुआ, वही उसका अनिवार्य और अन्तिम व्यवसाय प्रतीत होता है, क्योंकि उसकी यह लगन संशयकी लम्बी-से-लम्बी अवधियोंके बाद भी बनी रही है, बार-बार निष्कासित किये जानेपर भी वह वापस आती रही है, साथ ही यह उसके विचारकी उड़ानका उच्चतम शिखर भी है। यह लगन अभिव्यक्त होती है भगवान्के पूर्वाभासमें, पूर्णताकी प्रेरणामें, विशुद्ध सत्य एवं विशुद्ध आनन्दकी खोजमें, और गुप्त अमृतत्वके बोधमें। मानव-ज्ञानके प्राचीन प्रभात हमारे लिये इस सतत अभीप्साके साक्षी छोड़ गये हैं, आज हम देखते हैं कि मानवता बाह्य प्रकृतिका विजयी विश्लेषण करनेसे अघा गयी है, किन्तु उसे सन्तुष्टि नहीं प्राप्त हुई है और अब वह अपनी आदिम चाहकी ओर वापिस जानेकी तैयारी कर रही है। ईश्वर, ज्योति, स्वातंत्र्य, अमरत्व,—ज्ञानका यह आदि सूत्र ही उसका अन्तिम सूत्र अभिलक्षित होता है।

मानवजातिके ये निरवच्छिन्न आदर्श एक ओर तो उसकी सामान्य अनुभूतियोंसे खंडित होते हैं, दूसरी ओर उनका प्रतिष्ठापन करती हैं उच्चतर और गम्भीरतर अनुभूतियाँ, जो मानवजातिके लिये असामान्य हैं और जिन्हें, संगठित और सम्पूर्ण रूपमें, केवल क्रान्तिकारी वैयक्तिक प्रयास-द्वारा या विकासक्रमकी सार्वजनीन प्रगतिद्वारा प्राप्त किया जा सकता है। पशुभावापन्न और अहंभावापन्न चेतनामें भागवत सत्ताको जानना, उसे प्राप्त कर लेना और वही हो जाना, अपनी अर्धप्रकाशित या अन्धकाराच्छन्न स्थूल मानसताको अतिमानसकी परिपूर्ण प्रकाशमयताके अन्दर परिवर्तित करना, अभी जहाँ शारीरिक कष्ट और चित्तके क्लेशके घेरेके अन्दर क्षणिक संतुष्टियोंका सहाराभर मिलता है, वहाँ शान्ति और स्वयम्भू आनन्दका निर्माण, जो जगत् यांत्रिक अनिवार्यताओंका समूह बनकर उपस्थित होता है उसके अन्दर अनन्त स्वातंत्र्यकी प्रतिष्ठा, सतत परिवर्तन तथा मृत्युके आधीन शरीरके अन्दर अमर जीवनका अन्वेषण

और उसकी प्राप्ति, यही हमारे सामने जड़के अन्दर ईश्वरकी अभि-व्यक्तिका और पार्थिव विकास-क्रममें पृथ्वीके लक्ष्यका स्वरूप बनकर आता है। सामान्य भौतिक बुद्धि चेतनाके वर्तमान संगठनको ही अपनी संभावनाओंकी सीमा मानती है, उसके लिये चरितार्थ वास्तविकताके द्वारा अप्राप्त आदर्शोंका प्रत्यक्ष खण्डन ही उन आदर्शोंके विरोधमें अन्तिम युक्ति होता है। किन्तु हम यदि जगत्की क्रियाओंको अधिक सुविवेचित दृष्टिसे देखें तो यह प्रत्यक्ष विरोध प्रकृतिकी गम्भीरतम विधिका अंग और उसकी पूर्णतम अनुमतिकी मुहर प्रतीत होने लगता है।

कारण, जीवनकी सारी समस्याएँ साररूपमें सामंजस्यकी समस्याएँ हैं। समस्याओंका उद्गम होता है किसी ऐसे असामंजस्यके बोधसे जिसका समाधान न हुआ हो और इस सहजप्रेरणासे कि ऐसा कोई सामंजस्य या एकत्व है जिसका अभीतक अन्वेषण नहीं हुआ है। किसी असामंजस्यका समाधान किये विना संतोष मान लेना मनुष्यके व्यावहारिक और अधिक पशुभावापन्न अंगके लिये तो संभव है, किन्तु उसके पूरी तरह जाग्रत् मनके लिये असंभव है। साधारणतः उसके व्यावहारिक अंग भी या तो समस्यासे मुँह मोड़कर या अनगढ़, प्रकाशहीन और उपयोगात्मक समझौतेको स्वीकार करके ही समाधान खोजनेकी सामान्य आवश्यकतासे अपना पिण्ड छुड़ा लेते हैं। क्योंकि तत्त्वतः सारी प्रकृतिके अन्दर सामंजस्यकी आकृति है, प्राण और जड़-तत्त्व भी अपने क्षेत्रोंमें यह खोज उसी तरह करते रहते हैं जैसे मन अपने अनुभवोंके विन्यासमें करता है। प्रस्तुत सामग्रीमें जितनी अधिक विश्रृंखला प्रतीत होती है, जिन तत्त्वोंको व्यवहारमें लेना है उनमें जितनी अधिक विषमता प्रतीत होती है, यहाँतक कि उनमें न मिट सकने-वाला विरोध दीखने लगता है, समाधानके लिये उतना ही अधिक प्रवेग उत्पन्न होता है। और, जो व्यवस्था किसी कम कठिन प्रयाससे सामान्यतः आ सकती थी, उससे कहीं अधिक सूक्ष्म और सशक्त व्यवस्था इस भाँति फलीभूत होती है। प्रकृति जिन विरोधी तत्त्वोंकी समस्याओंका समाधान करती रही है, उनमेंसे एक है सक्रिय प्राणका रूप और आकारकी ऐसी सामग्रीके साथ मेल बैठाना जिसमें क्रियाशीलताकी अवस्था ही तमस् प्रतीत होती है। वह सदा इसका समाधान और भी बड़ी-बड़ी जटिलताओंके साथ, और अधिक अच्छे रूपमें करना चाहती है, क्योंकि मनको धारण करनेवाले, सम्पूर्ण रूपसे संगठित पशु-शरीरका भौतिक अमरत्व ही इसका पूर्ण समाधान होगा। सचेतन मन और सचेतन इच्छाका ऐसे रूप और प्राणके साथ मेल बैठाना जिनमें प्रकट आत्म-चेतना नहीं है और जिनकी

अधिक-से-अधिक क्षमता यंत्रवत् या अवचेतन इच्छाकी रहती है, यह विरोधोंकी एक अन्य समस्या है जिसमें प्रकृतिने आश्चर्यजनक परिणाम उत्पन्न किये हैं और सदा इससे भी बड़े आश्चर्य उत्पन्न करते रहनेका लक्ष्य बनाये रहती है, क्योंकि, इस क्षेत्रमें उसका अन्तिम चमत्कार यह होगा कि वह पशु-चेतना सत्य और ज्योतिको खोजनेवाली न रहकर सत्य और ज्योतिको स्वायत्त करेगी, साथ ही उसे ऐसी व्यावहारिक सर्वशक्तिमत्ता प्राप्त होगी जो प्रत्यक्ष और पूर्णत्व-प्राप्त ज्ञानका परिणाम होगी। तो, अन्य उच्चतर विरोधोंमें संगति लानेके लिये मनुष्यका जो ऊर्ध्वमुखी प्रयास है, वह अपने-आपमें युक्तिसंगत है, केवल यही नहीं, वरन् एक ऐसे नियम और ऐसे प्रयासकी युक्ति-सिद्ध निष्पत्ति है जो प्रकृतिकी एक मूलभूत विधि और उसकी विश्वव्यापी चेष्टाओंका यथार्थ अभिप्राय प्रतीत होता है।

हम जड़के अन्दर प्राणके क्रमविकासकी, जड़के अन्दर मनके क्रमविकासकी चर्चा करते हैं, किन्तु क्रमविकास एक ऐसा शब्द है जो इस व्यापारको मात्र व्यक्त करता है, उसकी व्याख्या नहीं करता। क्योंकि इसका कोई कारण नहीं दीखता कि भौतिक तत्त्वोंमेंसे प्राणका या सजीव रूपके अन्दरसे मनका क्रमविकास क्यों हो, जबतक हम यह वैदान्तिक समाधान स्वीकार न कर लें कि जड़के अन्दर प्राण और प्राणके अन्दर मन निर्वतित होकर विद्यमान हैं, क्योंकि स्वरूपतः जड़ अवगुंठित प्राणका रूप है और प्राण अवगुंठित चेतनाका रूप। तब इस क्रममें आगेका एक डग भरने और यह माननेमें शायद ही कोई आपत्ति हो कि स्वयं मनश्चेतना भी मनसे परेकी उच्चतर अवस्थाओंका एक रूप और एक अवगुंठनमात्र है। ऐसी दशामें, ईश्वर, ज्योति, आनन्द, स्वातंत्र्य और अमृतत्वकी ओर होनेवाली मनुष्यकी अजेय प्रेरणा इस श्रृंखलामें अपना उचित स्थान इस रूपमें लेती उपस्थित होती है कि वह प्रकृतिकी मनसे परे विकसित होनेके लिये चलनेवाली चेष्टाके पीछे रहनेवाली अलंघ्य प्रेरणा ही है। यह प्रेरणा उतनी ही स्वाभाविक, सच्ची और संगत है जितनी जड़के कुछ रूपोंके अन्दर प्रकृतिके द्वारा रोपी हुई प्राणके लिये प्रेरणा, या प्राणके कुछ रूपोंमें, उसीके द्वारा रोपी हुई, मनके लिये प्रेरणा। उन क्षेत्रोंकी भाँति यहाँ भी यह प्रेरणा प्रकृतिके विभिन्न पात्रोंमें, न्यूनाधिक प्रच्छन्न रूपमें अपनी परिणति-इच्छाकी शक्तिके नित्य आरोहणकारी अनुक्रममें विद्यमान रहती है; वहाँकी भाँति यहाँ भी वह क्रमशः विकसित होती है और यह निश्चित है कि अन्तमें वह आवश्यक अंगों और क्षमताओंका विकास करेगी। जिस भाँति मनकी ओरके विकासकी प्रेरणा धातु और पौधोंके अन्दर होनेवाली

प्राणकी अधिक संवेदनशील प्रतिक्रियाओंसे लेकर मनुष्यके अन्दर उसके परिपूर्ण संगठनतक चलती रहती है, उसी भाँति, एक उच्चतर और दिव्यतर जीवनके लिये, और अधिक नहीं तो उसकी तैयारीके लिये ही, मनुष्यके अन्दर एक वैसी ही वर्द्धमान क्रम-धारा चलती रहती है। कहा जाता है कि पशु एक ऐसी सजीव प्रयोगशाला रहा है जिसके अन्दर प्रकृतिने मनुष्यको गढ़ा। उसी तरह संभव है कि मनुष्य एक ऐसी विचारशील और सजीव प्रयोगशाला हो जिसके अन्दर उसके सचेतन सहयोगसे प्रकृति अतिमानसका, देवताका निर्माण करना चाहती है। या, बल्कि क्यों न कहें कि ईश्वरको अभिव्यक्त करना चाहती है? क्योंकि, प्रकृतिके अन्दर जो कुछ संवृत रूपमें निद्रित या सक्रिय रहा है, प्रकृतिके द्वारा उसकी वर्द्धमान अभिव्यक्तिके किये जानेको यदि क्रमविकास कहा जाय, तो प्रकृति गुप्त रूपसे जो है, उसकी प्रकट संसिद्धि भी क्रमविकास है। अतः हम प्रकृतिको विकासक्रमके किसी विशेष स्तरपर रुक जानेका आदेश नहीं दे सकते। और यदि प्रकृति आगे बढ़नेका कोई अभिप्राय प्रदर्शित करती है या उसके निमित्त चेष्टा करती है, तो न तो हमें यह अधिकार है कि किसी धर्माभिमानीकी भाँति उसे विकृत और धृष्ट कहकर, न युक्तिवादीकी भाँति उसे रोग या मति-भ्रम कहकर उसकी निंदा करें। यदि यह सत्य है कि आत्मा जड़के अन्दर निर्वर्तित है और प्रत्यक्ष प्रकृति प्रच्छन्न ईश्वर है, तो अपने अन्दर भगवान्‌को अभिव्यक्त करना और अन्दर तथा बाहर ईश्वरकी उपलब्धि करना मनुष्यके लिये पृथ्वीपर संभव लक्ष्योंमें सबसे ऊँचा और सबसे अधिक न्यायसंगत लक्ष्य है।

इस प्रकार, ये जो शाश्वत विरोधाभास और शाश्वत सत्य चले आ रहे हैं,—पशु-देहके अन्दर दिव्य जीवन, मर्त्य आवासके अन्दर अमर अभीप्सा या सद्वस्तुका निवास, सीमित मन और विभाजित अहंके बाहुल्यके अन्दर *एक और विश्वव्यापी चेतनाका प्राकट्य, एक तुरीय, अनिर्वचनीय, कालातीत* और देशातीत सत्, केवल जिसके द्वारा देश, काल और विश्व संभव होते हैं, और इन सबमें निम्नतर सत्ताके द्वारा उच्चतर सत्यकी संसिद्धि—ये मानवजातिकी सतत चली आती सहज-प्रवृत्ति या संबोधिके साथ-साथ उसकी विचारशील बुद्धिको भी उचित लगते हैं। यदा-कदा ऐसे प्रयत्न हुए हैं कि जिन प्रश्नोंके बारेमें तार्किक विचारणा कई बार घोषणा कर चुकी है कि उनका समाधान नहीं हो सकता, उन प्रश्नोंको सदाके लिये छोड़ दिया जाय और मनुष्यको मना लिया जाय कि वह अपने मानसिक क्रिया-कलापको विश्वके अन्दर अपनी भौतिक सत्ताकी व्यावहारिक और तात्कालिक

समस्याओंतक ही सीमित रखे। किन्तु इस तरह बच निकलनेके प्रयत्नोंका प्रभाव कभी स्थायी नहीं हुआ। मनुष्य जब इन प्रयत्नोंसे लौटता है तो लौटता है जिज्ञासाकी और भी प्रबल प्रेरणाको या तात्कालिक समाधानके लिये और भी उग्र क्षुधाको साथ लेकर। इस क्षुधासे रहस्यमार्गको लाभ होता है, नये धर्म पुराने धर्मोंका स्थान लेते हैं। इन पुराने धर्मोंको ऐसी संशयात्मकता—जो स्वयं भी संतोष नहीं दे पाती—विनष्ट या महत्त्वशून्य कर देती है, क्योंकि, इस संशयात्मकताका लक्ष्य तो अनुसंधान होता है, पर वह पर्याप्त अनुसंधान करनेके लिये तैयार नहीं होती। कोई सत्य अपनी बहिर्मुखी क्रियाओंमें अभीतक अस्पष्ट है और बहुत बार ज्ञान-बाधक कुसंस्कार या अमार्जित विश्वासोंके रूपमें प्रकट हुआ है इस कारण उस सत्यको अस्वीकार करने या दबा देनेका प्रयत्न स्वयं एक प्रकारका ज्ञान-विरोध है। यदि हम किसी वैश्व आवश्यकतासे बच निकलनेकी इच्छा इसलिये करें कि वह दुःसाध्य है, उसका समर्थन तात्कालिक ठोस परिणामोंसे करना कठिन है या उसके क्रिया-कलापका नियमन धीमा है, तो अन्ततः इसका अर्थ होगा प्रकृतिके सत्यको अस्वीकार करना, बल्कि महती जननीकी गुह्य, प्रबलतर इच्छाके विरुद्ध विद्रोह करना। यह अधिक अच्छा और बुद्धिमंगत होगा कि वह जननी मानवजातिको जिस वस्तुका परित्याग नहीं करने दे रही, उसे हम स्वीकार कर लें और उसे अन्ध सहज-प्रेरणा, प्रच्छन्न संबोधि और अनियमित अभीप्साके क्षेत्रसे उठाकर बुद्धिके प्रकाशमें और अपने-आपको सचेतन निर्देशन देनेवाली सुशिक्षित इच्छा-शक्तिके प्रकाशमें ले आयें। और यदि प्रकाशमयी संबोधि या आत्म-प्रकटनकारी सत्यकी कोई ऐसी उच्चतर ज्योति है जो अभी मनुष्यके अन्दर या तो अवरुद्ध और निष्क्रिय है या यदा-कदा अपनी झलक ऐसे दिखा जाती है मानो परदेके पीछे हो, जैसे कि हमारे भौतिक आकाशमें उत्तरी ध्रुवकी ज्योतियां बीच-बीचमें दिखायी दे जाती हैं, तो भी हमें अभीप्सा करनेसे डरनेकी आवश्यकता नहीं। क्योंकि संभव है कि चेतनाकी अगली उच्चतर अवस्था ऐसी ही हो जिसका एक रूप और आवरणमात्र ही मन है, और यह संभव है कि जो कोई उच्चतम स्थिति मानवताका अन्तिम विश्राम-स्थल हो वहां ले जानेवाला हमारी वर्द्धमान आत्म-विकासनशीलताका मार्ग उसी ज्योतिके दीप्ति-वैभवके बीचसे निकलता हो।

अध्याय दो

युगल नेति

(एक)

जड़वादीका नकार

...... स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥
अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति॥
तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति।
तं होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति.....॥

उसने (मननके तपद्वारा) चित्-शक्तिको प्रदीप्त किया और इस ज्ञानतक पहुँचा कि अन्न (जड़तत्व) ही ब्रह्म है। क्योंकि अन्नसे ही ये सब भूत उत्पन्न हुए हैं, उत्पन्न होकर, अन्नसे ही वे वर्द्धित होते हैं और यहाँसे प्रस्थान कर वे अन्नमें ही समा जाते हैं। तब वह अपने पिता वरुणके पास जाकर बोला, "भगवन्! मुझे ब्रह्मका उपदेश कीजिये।" पर वरुणने उससे कहा, "चित्-शक्तिको अपने अन्दर (फिरसे) प्रदीप्त कर, (तप कर), क्योंकि तप ही ब्रह्म है।"

—तैत्तिरीय उपनिषद्
3.1.2.

पृथ्वीपर दिव्य जीवन और मर्त्य जीवनमें अमृतत्वका बोध, इनकी प्रस्थापनाके लिये कोई आधार तभी मिल सकता है जब केवल यह माननेके अतिरिक्त कि सनातन आत्मा ही इस शरीर-रूपी भवनका निवासी और इस परिवर्तनशील चोलेको धारण करनेवाला है, हम यह भी स्वीकार करें कि जिस जड़तत्वसे इसका निर्माण हुआ है, वह योग्य और उत्कृष्ट उपादान है जिससे आत्मा निरन्तर अपने वस्त्र बुनता रहता है, अपने भवनोंकी अंतहीन शृंखलाका निर्माण बारंबार करता रहता है।

किन्तु, यह बात भी हमें शरीरमें रहकर जीवन बितानेके प्रति होनेवाली विरक्तिसे बचानेके लिये पर्याप्त नहीं है। इसके लिये आवश्यक है कि, उपनिषदोंकी भाँति, हमें जीवनके इन दो चरम छोरोंके बाह्य रूपोंके पीछे विद्यमान उनकी सारभूत एकताका भी बोध हो जाय, और यह बोध प्राप्त करके हम उन पुरातन ग्रन्थोंकी ही भाषामें कहने लग जायँ—"अन्नं ब्रह्म"—जड़तत्व भी ब्रह्म है, और उस सशक्त रूपकको पूरा-पूरा मूल्य दे सकें जिसने भौतिक विश्वको दिव्य पुरुषका बाह्य शरीर कहा है। और, जड़तत्व और आत्मा, ये दो चरम छोर इतने विभक्त प्रतीत होते हैं कि उनकी एकता युक्तिपूर्ण बुद्धिके लिये तबतक विश्वासप्रद नहीं होती जबतक कि हम आत्मा और जड़के बीच (प्राण, मन और अतिमानसके और मनको अतिमानससे संयुक्त करनेवाली श्रेणियोंके) आरोहण-पदोंके अनुक्रमको स्वीकार न करें। नहीं तो ये दोनों किसी मेलकी संभावनासे परे एक-दूसरेके विरोधी प्रतीत होंगे, ऐसा प्रतीत होगा मानो यह एक दुःखदायी गठबंधन है और इसका विच्छेद ही एकमात्र युक्तिसंगत समाधान है। तब इनको अभेद रूपमें देखना, एककी व्याख्या दूसरेकी भाषामें करना, तथ्य-संगत न्यायके विरुद्ध विचार-शक्तिकी एक कृत्रिम सृष्टि बन जाता है और केवल अयौक्तिक रहस्यवादके लिये ही संभव होता है।

यदि हम केवल विशुद्ध आत्मा और एक यंत्रवत् अचित् वस्तु या ऊर्जाको मान्यता देते हुए, प्रथमको ईश्वर या पुरुष और द्वितीयको प्रकृतिका नाम दें, तो अपरिहार्य अंत यह होगा कि हम या तो ईश्वरको अस्वीकार करेंगे या फिर प्रकृतिकी ओरसे मुँह मोड़ लेंगे। क्योंकि तब 'विचार' और 'जीवन' दोनों ही के लिये निर्वाचन करना आवश्यक हो जाता है। विचार या तो ईश्वरको कल्पनाका भ्रम मानकर या प्रकृतिको इन्द्रियोंका भ्रम मानकर अस्वीकार करने लगता है; और जीवन, वह, विरक्त होकर, या आत्म-विस्मृतिकारी आनन्दमें विभोर होकर, अभौतिकका अनुरागी होकर, अपने-आपसे भाग खड़ा होता है या फिर अपने अमृतत्वको ही अस्वीकार करता है और ईश्वरसे मुँह मोड़कर पशुकी ओर चल पड़ता है। पुरुष और प्रकृतिमें, सांख्योंके निष्क्रिय रूपसे प्रकाशमय पुरुष और उसकी यंत्रवत् क्रियाशील शक्तिमें कहीं कोई समानता नहीं है, उनके निश्चेष्टताके विरोधी तत्वोंमें भी कोई समानता नहीं है। उनके विरोधोंका समाधान केवल एक ही प्रकार हो सकता है कि यह जड़वत् संचालित 'क्रियाशीलता' जिस अक्षर 'विश्रांति'पर अपने प्रतिबिंबोंकी निष्फल धारा व्यर्थमें डालती रहती है, उसी विश्रांतिमें पहुँचकर समाप्त हो जाय।

शंकरका निर्वाक्, निष्क्रिय आत्मा और उनकी बहुनाम-रूप-धारिणी माया भी उतनी ही विपरीतगामी और परस्पर मेल न खानेवाली सत्ताएँ हैं; उनके कठोर विरोधका अन्त तभी हो सकता है जब नानारूपधारी माया शाश्वत 'नीरवता'के एकमात्र सत्यमें विलीन हो जाय।

जड़वादीका क्षेत्र अधिक सरल है, उसके लिये यह संभव है कि वह आत्माको अस्वीकार करता हुआ ऐसे कथनपर पहुँच जाय जिसमें अधिक आसानीसे मान्य होनेकी सरलता हो; यह वास्तविक अद्वैतवाद हो सकता है, जड़का या नहीं तो शक्तिका अद्वैतवाद हो सकता है। किन्तु इस कटे-छँटे मतपर वरावर अड़े रहना भी उसके लिये असंभव है। अन्तमें वह भी एक ऐसे अज्ञेयको ला खड़ा करता है जो उतना ही निष्क्रिय और ज्ञात विश्वसे उतना ही दूर होता है, जितना कि निष्क्रिय पुरुष या निश्चल-नीरव आत्मा। किन्तु इससे कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता, इस तरह वह या तो विचारकी कठोर माँगोंको एक अस्पष्ट रियायत देकर टाल देता है *या जिज्ञासाकी सीमाको आगे बढ़ानेसे इन्कार करनेके लिये एक बहाना* पा लेता है।

अतएव, मनुष्यका मन इन निष्फल विरोधोंसे संतुष्ट नहीं रह सकता। वह सदा एक परिपूर्ण भावात्मक स्वीकृति, 'अस्ति'की खोज करता है, और उसे किसी प्रकाशमय सामंजस्यद्वारा ही पा सकता है। इस सामंजस्यतक पहुँचनेके लिये उसे उन श्रेणियोंको पार करना ही होगा जिन्हें हमारी आन्तरिक चेतना हमपर आरोपित करती है, और जड़की भाँति प्राण और मनपर भी वाह्य विश्लेषणकी पद्धति प्रयुक्त करते हुए, या आन्तरिक समन्वय और प्रकाशके द्वारा, अभिव्यक्तिकारी वहुत्वकी शक्तिको अस्वीकार किये विना, उस परम एकत्वकी विश्रांतितक पहुँचना होगा। ऐसी परिपूर्ण और उदार 'अस्ति'के अन्दर ही जीवनके बहुविध और एक-दूसरेके विपरीत दीखनेवाले तथ्योंका सामंजस्य हो सकता है और हमारे विचार और जीवनपर शासन करनेवाली वहुविध परस्पर-विरोधी शक्तियाँ उस केन्द्रीय सत्यको ढूँढ़ सकती हैं जिसका प्रतीक बनना और जिसे नाना रूपसे संसिद्ध करना उनका हेतु है। केवल तभी हमारा विचार एक सच्चा केन्द्र प्राप्त करके, चक्करोंमें भटकना छोड़कर, उपनिषदोंके ब्रह्मकी भाँति, अपनी क्रीड़ा और विश्वव्यापी दौड़के अन्दर भी ध्रुव और स्थिर रहता हुआ, क्रिया कर सकता है और हमारा जीवन अपने लक्ष्यको जानते हुए प्रशान्त और सुस्थिर हर्ष एवं प्रकाशके साथ तथा एक छंदोबद्ध बहुगति ऊर्जाके साथ उस विचारधाराका अनुगमन कर सकता है।

किन्तु एक वार जव यह छन्द भंग हो जाता है तो यह आवश्यक और सहायक होता है कि मनुष्य इन दो महान् विरोधी मतोंको प्रत्येकके चरम रूपमें लेकर पृथक्-पृथक् जाँच करे। अपनी खोयी हुई 'अस्ति'तक अधिक परिपूर्णतासे वापस आनेके लिये मनका स्वाभाविक मार्ग यही होता है। संभव है कि मार्गमें वह मध्यवर्ती श्रेणियोंमें विश्राम करनेका प्रयत्न करे, सारी चीजोंकी व्याख्या एक आदि प्राण-शक्तिकी या संवेदनाकी या 'भावों'की अभिधाओंमें ही करे, किन्तु इन ऐकान्तिक समाधानोंमें सदा अवास्तविकताका रंग रहता है। विशुद्ध भावोंसे प्रयोजन रखनेवाली तर्कबुद्धिको इनसे कुछ समयके लिये संतोष मिल सकता है, किन्तु मनकी जो वास्तविकताकी भावना है उसे संतोष नहीं मिल पाता। क्योंकि मन जानता है कि स्वयं उसके पीछे कोई ऐसी चीज है जो 'भाव' नहीं है, दूसरी ओर वह यह जानता है कि स्वयं उसके अन्दर कोई ऐसी चीज है जो प्राण-श्वाससे भी अधिक है। आत्मा या जड़ उसे कुछ समयके लिये अंतिम वास्तविकताका कुछ आभास दे सकता है, किन्तु उनके मध्यवर्ती तत्त्वोंमेंसे कोई भी ऐसा नहीं कर सकता। अतः समग्रकी ओर सफल रूपसे वापस आ सकनेके पहले मनके लिये यह आवश्यक है कि वह इन दोनोंकी चरम सीमाओंतक हो आये। फिर, वुद्धि कार्य करती है इन्द्रिय-वोध और वाणीके सहारे, किन्तु इन्द्रिय-वोध सत्ताके अंशोंका ही स्पष्ट वोध प्राप्त कर सकता है, और वाणी तभी स्पष्ट हो सकती है जव वह उन्हें सावधानीसे विभाजित और सीमित कर सके। अतः वुद्धि स्वभावतः अपने सम्मुख आये मूल तत्वोंके वहु-वैचित्र्यको देखकर सवको किसी एक तत्वकी अभिधामें निर्दयतासे आवद्ध करती हुई उनके एकत्वकी खोज करनेको वाध्य होती है। व्यवहारतः उसका प्रयत्न होता है किसी एककी परिपुष्टिके लिये अन्योंसे पीछा छुड़ानेका। इन वहु-विचित्र तत्वोंके एकत्वके वास्तविक मूलका वोध इस एकांतिक प्रक्रियाके विना पानेके लिये यह आवश्यक है कि वह या तो अपने-आपका अतिक्रमण करे या सारा चक्कर पूरा करके यह जान ले कि सव-के-सव समान रूपसे उस 'तत्'में समाविष्ट होते हैं जो परिभाषा या वर्णनके परे है, और फिर भी केवल वास्तविक ही नहीं, प्राप्य भी है। हम चाहे जिस मार्गसे यात्रा करें, पहुँचेंगे उसी 'तत्'पर, यात्राको पूरा करनेसे इन्कार करके ही हम इस निष्पत्तिसे वच सकते हैं।

अतः यह शुभ लक्षण है कि वहुत सारे परीक्षणों और शाब्दिक समाधानोंके वाद आज हम अपने-आपको उन दोके, उन दो चरम सिद्धान्तोंके

सम्मुख खड़ा पाते हैं, जो अनुभवोंकी कड़ी-से-कड़ी परीक्षाओंको लंबे समयतक सहते रहे हैं। और, यह भी शुभ है कि अनुभवके अन्तमें वे दोनों ऐसे परिणामपर पहुँचे हैं जिसे मनुष्य-जातिका सर्वसामान्य सहजबोध, जो सत्यके विश्वव्यापी आत्माका अवगुंठित परीक्षक, प्रहरी और प्रतिनिधि है, ठीक या संतोषप्रद माननेसे इन्कार करता है। यूरोपमें जड़वादीके निषेधने और भारतमें संन्यासीके निषेधने एकमात्र सत्यके रूपमें अपनी-अपनी प्रस्थापना करनेका प्रयत्न किया है और जीवनकी धारणापर अपना आधिपत्य जमाना चाहा है। भारतमें यदि इसके परिणामस्वरूप आत्माकी संपदाओंका, या उनमेंसे कुछका, ढेर लग गया है, तो साथ ही जीवनके क्षेत्रमें बड़ा दिवालियापन भी आया है। यूरोपमें वैभवकी परिपूर्णताने और इस जगत्की शक्तियों और संपदाओंपर विजयी अधिकार-प्राप्तिने आत्माकी चीजोंमें उतने ही दिवालियेपनकी ओर प्रगति की है। और, न सारी समस्याओंका समाधान एकमात्र जड़-तत्वके आधारपर पानेका प्रयास करने-वाली बुद्धिको ही अपने प्राप्त उत्तरसे संतोष हुआ है।

अतः समय परिपक्व हो रहा है और संसारकी प्रवृत्ति इस ओर बढ़ रही है कि विचारमें और आन्तरिक तथा बाह्य अनुभवमें एक नवीन तथा व्यापक 'अस्ति'का आगमन हो, और इसके फलस्वरूप, व्यक्ति तथा जाति दोनोंके लिये, एक सर्वांगीण मानवीय जीवनमें एक नवीन तथा समृद्ध आत्म-संपूर्ति फलित हो।

आत्मा और जड़ दोनों ही एक अज्ञेयका प्रतिनिधित्व करते हैं, किन्तु उसके साथ उनके संबंधोंमें जो भिन्नता है उससे जड़वादीके नकार और आध्यात्मिक नकारकी प्रभावकारितामें भिन्नता उत्पन्न होती है। जड़-वादीका नकार अधिक आग्रही और अविलम्ब सफलता पानेवाला होता है, तथा अधिकांश मानवजातिको अधिक आसानीसे जँच जाता है, किन्तु फिर भी, अन्तमें, संन्यासीके मनमोहक और अधिक संकटकारी नकारकी अपेक्षा कम स्थायी और कम प्रभावकारी होता है, क्योंकि उसका उपचार उसीके अन्दर रहता है। उसका सबसे अधिक सबल तत्व है अज्ञेयवाद, जो कि सारी अभिव्यक्तिके पीछे एक अज्ञेयको विद्यमान मानता हुआ अज्ञेयके क्षेत्रको विस्तृत करता चलता है, और अन्तमें उसकी सीमाओंके अन्दर वह सब आ जाता है जो केवल अज्ञात है। उसका आधार सामान्यतया यह है कि दैहिक इन्द्रियाँ ही हमारे ज्ञानका एकमात्र साधन हैं; अतः, बुद्धि अपनी विस्तृत-से-विस्तृत और सशक्त-से-सशक्त उड़ानोंमें भी इन्द्रियोंके प्रदेशसे बाहर नहीं जा सकती, इन्द्रियाँ जिन तथ्योंको प्रस्तुत करें या जिनकी

ओर इंगित अरें, बुद्धिको बस उन्हीं तत्वोंसे और सदा उन्हींसे व्यवहार रखना होगा, और स्वयं उन संकेतोंको सदा उनके ऐंद्रिय मूलसे बाँधे रखना होगा, हम इनसे आगे नहीं जा सकते, हम इनसे कोई ऐसा पुल नहीं बना सकते जिससे किसी ऐसे क्षेत्रमें पहुँचा जा सके जहाँ अधिक सशक्त और कम सीमित क्षमताओंकी क्रिया होती हो और अन्य प्रकारकी मीमांसा करनेकी आवश्यकता होती हो।

यह आधार-वाक्य इतना मनमाना है कि वह स्वयं ही अपनी अपर्याप्तताका अपराध घोषित कर देता है। इसका समर्थन केवल तभी किया जा सकता है जब कि उसके विपरीत प्रमाणों और अनुभवोंके विशाल प्रदेशकी उपेक्षा की जाय या किसी प्रकार उसकी व्याख्या कर दी जाय, सारे मानव-प्राणियोंके अन्दर जो उदात्त और उपयोगी क्षमताएँ सचेतन या अस्पष्ट रूपसे क्रियाशील हैं, या अन्ततः उनके अन्दर प्रसुप्त हैं, उन्हें अस्वीकार किया जाय या उनकी अवज्ञा की जाय और अतिभौतिक व्यापारोंकी छानबीन जड़ और जड़की गतियोंसे संबंधित अभिव्यक्तिमें ही और जड़ शक्तियोंकी कोई अधीन क्रिया होनेके रूपमें ही की जाय, बाकीसे इन्कार किया जाय। जैसे ही हम मन और अतिमानसकी क्रियाओंका अनुसंधान, आरंभसे ही उन्हें जड़की किसी अवर गतिके रूपमें देखनेके पूर्वाग्रहके बिना, उनके अपने स्वरूपमें देखनेके लिये करेंगे, वैसे ही हम ऐसे व्यापारोंके समूहके संपर्कमें आयेंगे जो जड़वादी सूत्रकी कठोर पकड़से और सीमित तथा संकुचित करनेवाले मतवादसे बिल्कुल अछूते रह जाते हैं। हमारा विस्तृत होता हुआ अनुभव हमें यह देखनेको बाधित करता है कि विश्वमें ऐसी वास्तविकताएँ हैं जो इन्द्रियोंकी परिधिसे परे हैं और फिर भी जानी जा सकती हैं, मनुष्यमें ऐसी शक्तियाँ और क्षमताएँ हैं जो भौतिक इन्द्रियोंके द्वारा उस इन्द्रिय-जगत्से संपर्क तो रखती हैं, जो हमारी सच्ची और संपूर्ण सत्ताका बाह्य कोष है, किन्तु उन इन्द्रियोंसे नियंत्रित न होकर बल्कि उन्हींका नियंत्रण करती हैं। जिस क्षण हम यह देख लेते हैं उसी क्षण जड़वादी अज्ञेयवादकी आधारभूत युक्ति लुप्त हो जाती है। अब हम विशालतर उक्ति और चिर-विकसनशील अनुसंधानके लिये प्रस्तुत हो जाते हैं।

किन्तु, प्रथमतः यह अच्छा है कि युक्तिपरक जड़वादकी जिस बहुत अल्प अवधिमेंसे मानवजाति गुजर रही है हम उसकी विपुल अपरिहार्य उपयोगिताको जान लें। क्योंकि प्रमाण और अनुभवका जो विशाल क्षेत्र अपने द्वार हमारे लिये फिरसे खोलना आरंभ कर रहा है उसमें निरापद

प्रवेश केवल तभी हो सकता है जब कि बुद्धिको स्पष्ट शुद्धताके लिये कड़ाईसे प्रशिक्षित किया जाय। अपक्व मन यदि उसे पकड़ लेता है तो अति संकटप्रद विकृतियों और भ्रान्तिकारी कल्पनाओंकी संभावना रहती है और भूतकालमें, इससे सचमुचमें सत्यका एक सच्चा केन्द्र विकृतिकारी अंधविश्वासों और अयौक्तिक मतवादोंकी इतनी बड़ी उपजसे आवृत हो गया था कि उसने सच्चे ज्ञानकी सारी प्रगति असंभव कर दी। कुछ समयके लिये यह आवश्यक हो गया कि सत्यको और उसके छद्मवेशको दोनोंको पूरी तरह निकाल फेंका जाय, ताकि एक नव प्रयाण और अधिक निश्चित प्रगतिके लिये राह साफ हो सके। जड़वादकी युक्ति-प्रवणताने मानवजातिकी यह महान् सेवा की है।

क्योंकि जो क्षमताएँ इन्द्रियोंका अतिक्रमण करती हैं, वे भी जड़तत्वमें फँसी हुई हैं, अन्नमय शरीरमें कार्य करनेको नियुक्त हैं, भावुक कामनाओं और स्नायविक आवेगोंके साथ एक ही रथ खींचनेके लिये जुती हुई हैं, स्वयं इसी कारण वे एक मिश्रित क्रियाकी ओर खुली रहती हैं जिसमें सत्यके स्पष्टीकरणके बदले भ्रमके प्रकाशनका संकट रहता है। यह मिश्रित क्रिया विशेष रूपसे तब संकटप्रद हो जाती है, जब अपरिशीलित मन और अशुद्ध संवेदनवाले मनुष्य आध्यात्मिक अनुभवके उच्चतर प्रदेशोंमें उठनेका प्रयत्न करते हैं। मनुष्य इस उद्धत और असामयिक साहसके कारण निःसार बादलों और अर्ध-दीप्त कुहासे या ऐसे घने अंधकारके कैसे-कैसे प्रदेशोंमें खो जाता है जहाँ विद्युत्की चमक प्रकाश देनेके बदले अंधा कर देती है! अपनी प्रगतिके लिये प्रकृति जो पथ चुनती है उसके लिये यह साहस निःसंदेह आवश्यक है,—क्योंकि वह कार्य करती हुई मजा लेती है—किन्तु फिर भी बुद्धिके लिये तो यह उद्धत और असामयिक ही होता है।

अतएव, यह आवश्यक है कि प्रगतिमान ज्ञान एक स्पष्ट, विशुद्ध और अनुशासित बुद्धिपर आश्रित हो। यह भी आवश्यक है कि वह कभी-कभी इन्द्रियग्राह्य तथ्यों और स्थूल जगत्की ठोस वास्तविकताओंकी सीमाके अन्दर लौटकर अपनी भूलोंको ठीक किया करे। पृथ्वी-पुत्रके लिये पृथ्वीका स्पर्श हमेशा शक्तिवर्द्धक होता है, ऐसे समय भी जब वह अति-भौतिक ज्ञानकी खोजमें लगा हो। यह भी कहा जा सकता है कि यद्यपि अतिभौतिकके शिखरोंपर तो सदा पहुँचा जा सकता है, परन्तु उनपर यथार्थतः परिपूर्ण अधिकार तभी हो सकता है जब हम अपने पैरोंको भौतिकपर जमाये रखें। जब-जब उपनिषद् विश्वमें प्रकट होते हुए आत्माका

करें और निष्प्राण करनेका प्रयत्न करें। किन्तु मूलत:, समस्त संभव ज्ञान मानवजातिके लिये प्राप्य ज्ञान है। और, चूँकि मनुष्यके अन्दर आत्म-सिद्धिके लिये प्रकृतिकी अविच्छेद्य प्रेरणा विद्यमान है, अत: बुद्धि हमारी क्षमताओंकी क्रियाको किसी निर्दिष्ट क्षेत्रके अन्दर सीमित करनेका चाहे जितना उद्यम क्यों न करे, उसे सदाके लिये सफलता नहीं मिल सकती। जब हम जड़को प्रमाणित कर चुकते हैं और उसकी गुप्त क्षमताओं-का साक्षात्कार कर चुकते हैं, तब वही ज्ञान जो कि सामयिक सीमाओंमें सुविधा अनुभव कर रहा था, वैदिक नियंताओंकी भाँति उद्घोषित करेगा, "निरन्यतश्चिदारत"[5]–आगे बढ़ो, दूसरे क्षेत्रोंमें भी प्रगति करो।

यदि आधुनिक जड़वाद महज भौतिक, स्थूल जीवनको ही मूढ़तापूर्वक चुपचाप स्वीकार कर लेना होता तो आगेकी प्रगतिमें अनिश्चित कालकी देर हो जाती। किन्तु, चूँकि ज्ञानकी खोज ही उसका मर्म है इसलिये वह खोजको अचानक रुक जानेका आदेश न दे सकेगा; जब वह इन्द्रिय-ज्ञानकी और इन्द्रिय-ज्ञानपर आश्रित तर्कणाकी चरम सीमाओंतक पहुँचेगा तब उसकी गतिका प्रवेग ही उसे आगे ले जायगा। जिस द्रुतगति और निश्चयात्मकतासे उसने दृश्य जगत्का आलिंगन किया है वह बस उसकी शक्ति और सफलताका द्योतक है; हम आशा कर सकते हैं कि जब वह सीमा लाँघनेके लिये डग भर लेगा, तो आगे जो कुछ है उसकी विजयमें भी इसी शक्ति और सफलताकी पुनरावृत्ति होगी। इस प्रगतिका धूमिल प्रारंभ हमें दिखायी देने लगा है।

ज्ञानका अनुसरण जिस किसी मार्गसे किया जाय, केवल अपनी अंतिम धारणामें ही नहीं, वरन् अपने सामान्य परिणामोंकी वृहत् धारामें भी, ज्ञान एकत्वकी ओर बढ़ता जाता है। इससे अधिक दर्शनीय तथा संकेत-कारी और कुछ नहीं हो सकता कि आधुनिक विज्ञान जड़के प्रदेशमें किस बड़ी हदतक उन्हीं धारणाओंकी और भाषाके उन्हीं सूत्रोंतककी भी परिपुष्टि करता है जिन्हें एक अति भिन्न विधिका प्रयोग करके वेदान्तने, तत्वदार्शनिक मतोंके वेदान्तने नहीं, मूल वेदान्तने पाया था। और, दूसरी ओर, वेदान्तकी इन धारणाओं और सूत्रोंका पूरा मर्म और उनके अन्दर समायी अधिक मूल्यवान् संपदा तभी प्रकट होती है, जब उन्हें आधुनिक विज्ञानके आविष्कार-द्वारा डाली नयी रोशनीमें देखा जाय। उदाहरणके लिये, हम वेदान्तकी वह उक्ति लें, जहाँ विश्वकी वस्तुओंके बारेमें यह कहा गया है कि एक

---

5. ऋग्वेद 1. 4. 5.

ही बीजको विश्व-शक्तिने बहु रूपोंमें आयोजित किया है, "बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति।"[6] भौतिक विज्ञानका यह प्रवाह विशेषतः अर्थपूर्ण है जो ऐसे अद्वैतवादकी ओर जा रहा है जिसका बहुके साथ मेल है, वह उस वैदिक विचारकी ओर अग्रसर हो रहा है कि सारतत्व एक ही है, उसके रूप बहुत सारे हो गये हैं। यदि जड़ और शक्तिके द्वैत रूपपर बल दिया जाय तो भी वह इस अद्वैतवादके मार्गमें वास्तविक बाधा नहीं बनता। क्योंकि यह स्पष्ट हो जाता है कि जड़का जो स्वरूप-तत्व है, इन्द्रियोंके लिये उसका अस्तित्व नहीं रहता। सांख्योंके 'प्रधान'की भाँति वह वस्तुका एक भाव-रूप ही है। वास्तवमें, हम उस बिन्दुके समीप पहुंचते जा रहे हैं जहाँ बुद्धिका एक मनमाना विभेद ही जड़तत्वके रूपको शक्तिके रूपसे पृथक् करता है।

अंततः जड़ किसी अज्ञात शक्तिके रूपायणवत् प्रकट होता है। प्राण भी, जो कि एक अतल रहस्य बना हुआ है, अपने जड़-भौतिक रूपायणमें बंदी संवेदनाकी धूमिल शक्तिवत् प्रकट होना आरंभ करता है, और जब वह विभाजनकारी अज्ञान दूर हो जाता है जो हमें प्राण और जड़के बीच खाई होनेका भान कराता है, तब यह अनुमान करना कठिन हो जाता है कि मन, प्राण और जड़ एक ही शक्तिका त्रिविध रूपायण, वैदिक ऋषियोंका वर्णित त्रिलोक होनेके अतिरिक्त और कुछ हैं। न फिर यह धारणा ही टिक सकती है कि कोई जड़ भौतिक शक्ति मनकी जननी है। संसारकी सृष्टि करनेवाली शक्ति एक इच्छा-शक्तिके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकती, और 'इच्छा-शक्ति' किसी कार्य और परिणामके लिये प्रयुक्त होती हुई चेतना ही तो है।

वह कार्य और परिणाम क्या है? रूपके अन्दर चेतनाका आत्म-निवर्तन और जिस विश्वकी उसने सृष्टि की है उसके अन्दर किसी महती संभावनाको परिपूर्ण करनेके लिये रूपके अन्दरसे आत्म-विवर्तन, यही न? और मनुष्यके अन्दर उसकी एषणा क्या है? अनन्त जीवनकी, असीम ज्ञानकी, निर्वंध शक्तिकी एषणा ही तो है न? स्वयं भौतिक विज्ञान भी मृत्युपर भौतिक विजय पानेका स्वप्न देखना आरंभ कर रहा है, ज्ञानके लिये उसमें कभी न बुझ सकनेवाली प्यास दीखती है, वह मानव-जातिके लिये पार्थिव सर्व-शक्तिमत्ता जैसी चीज कार्यान्वित कर रहा है। देश और काल उसकी कृतियोंमें संकुचित होते हुए अदृश्यताके बिन्दुपर पहुँच रहे हैं और मनुष्यको

6. श्वेताश्वतरोपनिषद् 6 . 12.

परिस्थितियोंका स्वामी बनाने और इस प्रकार कार्य-कारणकी बेड़ियाँ शिथिल करनेके यत्न वह सैकड़ों तरीकोंसे कर रहा है। सीमाका विचार, असंभवका विचार कुछ निःसार होने लगता है और उसके स्थानपर ऐसा लगने लगता है कि मनुष्य जिस चीजका भी सतत रूपसे संकल्प करेगा अन्तमें उसे कर पायेगा, क्योंकि मनुष्यजातिकी चेतना अन्ततः उसका साधन प्राप्त कर लेती है। यह सर्वशक्तिमत्ता व्यक्तिके अन्दर नहीं, वरन् मानव-जातिकी समष्टिगत इच्छा-शक्तिके अन्दर प्रकट होती है जो व्यक्तिको साधन बनाकर कार्य करती है। और, फिर भी जब हम अधिक गहराईमें देखते हैं तो पाते हैं कि यह मानवजातिकी कोई समष्टिगत सचेतन इच्छा-शक्ति नहीं, वरन् एक अतिचेतन शक्ति है जो व्यक्तिको एक केन्द्र और साधन बनाकर, समष्टिको एक परिस्थिति और क्षेत्र बनाकर काममें लाती है। यह शक्ति क्या है? यह मानवके अन्दरका ईश्वर, अनन्त तादात्म्य, बहुरूपधारी एकत्व, सर्वदर्शी, सर्वशक्तिमान ही तो है, जो कि मनुष्यको अपना प्रतिरूप निर्मित कर, अहंको क्रियाका केन्द्र बनाकर, जातिको, समष्टिगत नारायण[7]को, विश्वमानवको अपना साँचा और परिधि बनाकर उनके अन्दर कोई प्रतिमूर्ति प्रकट करना चाहता है एकत्व, सर्वदर्शिता और सर्वशक्तिमत्ताकी, जो भगवान्के स्व-भाव हैं। "मर्त्योंके अन्दर जो अमर है वह देवेश्वर है और हमारी दिव्य शक्तियोंमें क्रियमाण शक्तिके रूपमें हमारे अन्तःकरणमें प्रतिष्ठित है।"[8] यही वह विशाल विश्वव्यापी प्रेरणा है जिसका अनुगमन आधुनिक जगत् अपना निजी लक्ष्य ठीकसे जाने बिना ही फिर भी अपनी सारी क्रियाओंके अन्दर कर रहा है और उसीकी पूर्तिके लिये अवचेतन रूपसे श्रम कर रहा है।

किन्तु हमें सदा एक सीमा और एक प्रतिबंध मिलते हैं। ज्ञानके रास्तेमें सीमा है भौतिक क्षेत्रकी, शक्तिके लिये प्रतिबंध है भौतिक यंत्रका। किन्तु यहाँ भी जो सबसे नयी प्रवृत्ति चल रही है, वह एक अधिक उन्मुक्त भविष्यका आभास देनेमें बहुत अर्थपूर्ण है। भौतिक ज्ञानकी परिधि ज्यों-ज्यों भौतिकको अ-भौतिकसे अलग करनेवाले तटोंपर पहुँच रही है, त्यों-त्यों व्यावहारिक विज्ञानकी ऐसी उच्चतम प्राप्तियाँ होती जा रही हैं जिनमें महानतम प्रभावोंको उत्पन्न करनेवाले यांत्रिक साधनोंको सरल कर दिया

7. विष्णुका एक नाम, जो मनुष्यके अन्दर ईश्वरके रूपमें नरके साथ एक द्विविध एकत्व में नित्य संबद्ध रहते हैं।

8. यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा देवो देवेष्वरतिर्निधायि। ऋ. 4. 2. 1.

जाता है, और कल-पुर्जे इतने घटा दिये जाते हैं कि वे अदृश्य-से होते जा रहे हैं। बेतारका तार एक नयी दिशामें मोड़के लिये प्रकृतिका एक बाह्य चिह्न और निमित्त है। इस आविष्कारमें जड़-शक्तिके मध्यवर्ती संचारणके लिये इन्द्रियग्राह्य जड़-साधनोंका प्रयोग नहीं किया जाता, उसका प्रयोग केवल प्रेषण और ग्रहणके विन्दुओंपर किया जाता है। अन्ततः इन्हें भी हट जाना होगा, क्योंकि जब अतिभौतिकके नियमों और शक्तियोंका अध्ययन सही आरम्भ-विन्दुसे किया जायगा तो अवश्य ही उसे वे साधन मिल जायेंगे जिनके द्वारा भौतिक शक्तिको मन सीधा पकड़ सकेगा और उसके उद्देश्यकी पूर्तिकी ओर उसे तेजीसे और ठीक-ठीक ले जायगा। एक बार यदि हम इसे मान लेते हैं, तो फिर भविष्यके विशाल प्रदेशोंकी ओर खुलनवाले द्वार वहीं मिलेंगे।

तदपि, यदि हमें जड़के ठीक ऊपरके लोकोंका पूरा ज्ञान और अधिकार प्राप्त हो जाय तो भी एक सीमा रहेगी और उसके परे भी कुछ रहेगा। हमारे बंधनकी अन्तिम ग्रन्थि उस बिन्दुपर है जहाँ बाह्य आंतरिकके साथ एकत्वमें खिच आता है, स्वयं अहंका यंत्र इतना सूक्ष्म हो जाता है मानो विलीन होनेके बिन्दुतक पहुँच जाता है और अन्तमें हमारे कार्यका नियम एकत्वकी किसी आकृतिकी ओर संघर्ष करनेवाला बहुत्व नहीं रह जाता, जैसा वह वर्तमानमें है, अपितु बहुत्वका आलिंगन करता हुआ और उसे अधिकृत करता हुआ एकत्व बन जाता है। वहाँ है अपने विशालतम प्रदेशोंपर दृष्टिपात करते विश्वज्ञानका केन्द्रीय सिंहासन, वहीं हैं स्वाराज्य तथा साम्राज्य[9] और वहीं हैं हमारे मानव-जीवनके अन्दर सालोक्य मुक्ति[10] तथा साधर्म्यमुक्ति[11]।

---

9. प्राचीन ऋषियोंके भावात्मक योगका द्विविध लक्ष्य।
10. भगवान्‌के साथ सत्ताके एक ही लोकमें चिन्मय स्थितिके द्वारा मुक्ति।
11. भागवत स्वभावकी प्राप्तिके द्वारा मुक्ति।

अध्याय तीन

युगल नेति

(दो)

संन्यासीका इन्कार

सर्वं ह्येतद् ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म, सोऽयमात्मा चतुष्पात् ।।
...अव्यवहार्यम्...अलक्षणम् अचिन्त्यम्...प्रपञ्चोपशमम् ।।

यह सभी ब्रह्म है, यह आत्मा ब्रह्म है और यह आत्मा चतुष्पाद है।...अव्यवहार्य (सब संबंधोंसे परे), अलक्षण (लक्षणरहित), अचिन्त्य, जिसमें सारे प्रपंचका उपशम हो गया है।

—माण्डूक्योपनिषद्
2, 7

और इससे भी परे कुछ और है।

क्योंकि विश्वचेतनाके उस पार भी एक चेतना है जिसे हम प्राप्त कर सकते हैं। वह चेतना और भी परेकी है, केवल अहंसे ही परे नहीं, अपितु स्वयं विश्वब्रह्माण्डसे भी परे है। उस चेतनाके सामने विश्व ऐसा दिखलायी देता है जैसे किसी अपरिमेय पृष्ठभूमिपर कोई छोटा-सा चित्र। यह चेतना विश्व-लीलाको अवलंबन देती है,—या शायद उसे बस चलने देती है, वह जीवनको अपनी बृहत्ताके अंकमें ले लेती है,—अथवा उसे अपनी असीमतासे बहिष्कृत करती है।

यदि जड़वादीका यह आग्रह उसके दृष्टिकोणसे संगत है कि जड़ ही एकमात्र वास्तविकता है, यह सापेक्षिक जगत् ही एकमात्र वस्तु है जिसके बारेमें हम किसी भाँति निश्चित हो सकते हैं, और उसके परे जो है वह यदि वास्तवमें अस्तित्वहीन, मनका स्वप्न, वास्तविकतासे संबंध-विच्छेद करते हुए 'विचार'की कल्पना-भावनामात्र न भी हो, तो भी वह बिल्कुल अज्ञेय तो है ही, तो वैसे ही उस परेके अनुरागी संन्यासीका भी यह

आग्रह करना उसके दृष्टिकोणसे संगत होगा कि विशुद्ध आत्मा ही सद्वस्तु है, परिवर्तन, जन्म और मृत्युसे मुक्त एकमात्र वस्तु है, और सापेक्षिक जगत् मन और इन्द्रियोंकी रचना है, विशुद्ध और सनातन ज्ञानसे पीछे हटते हुए मानसका एक विपरीत अर्थमें विमूर्त्तन, एक स्वप्न है।

तर्कसे हो या अनुभवसे, इन दोनों चरम सिद्धान्तोंमेंसे किसीकी भी परिपुष्टिमें ऐसा कौन-सा प्रमाण दिया जा सकता है जिसका सामना दूसरे छोरकी उतनी ही न्यायसंगत युक्ति और उतने ही सार्थक अनुभवद्वारा न किया जा सके? भौतिक जगत् स्थूल इन्द्रियोंके अनुभवके द्वारा प्रमाणित होता है, और चूंकि जो कुछ अतिभौतिक है या स्थूल जड़की तरह संगठित नहीं है, उसे देख पानेमें ये इन्द्रियाँ अक्षम हैं, वे ही हमें यह प्रतीति कराना चाहती हैं कि जो अतीन्द्रिय है, वह अवास्तविक है। हम अपने दैहिक अवयवोंकी इस हीन और ग्राम्य भूलको दार्शनिक तर्कणाके प्रदेशमें ऊपर उठा लायें तो इससे उसका मूल्य कुछ वढ़ नहीं जाता। स्पष्ट ही उनका दावा निराधार है। स्वयं जड़के जगत्में भी ऐसी सत्तायें विद्यमान हैं जिनसे स्थूल इन्द्रियाँ अवगत नहीं हो पातीं। फिर भी अतीन्द्रियको अनिवार्यतः भ्रम या विभ्रम कहकर जो अस्वीकार किया जाता है, इसका आधार यह सतत ऐन्द्रिय संस्कार है कि जो कुछ स्थूल रूपसे ग्राह्य है वस वही सद्वस्तु है; किन्तु यह संस्कार स्वयं एक विभ्रम है। यह अस्वीकृति जिस चीजको प्रमाणित करना चाहती है सर्वत्र उसीको आरम्भसे मानकर चलती है, इसलिये इसमें वृत्तके अन्दर चक्कर काटती युक्तिका दोष दिखायी देता है; पर निष्पक्ष यौक्तिक विचारके लिये इसकी कोई सार्थकता नहीं होती।

केवल इतना ही नहीं है कि ऐसी स्थूल वस्तुएँ भी होती हैं जो अतीन्द्रिय हैं, वरन् यदि प्रमाण और अनुभवको सत्यकी जाँचके लिये किंचित् स्वीकार कर लिया जाय तो ऐसी इन्द्रियाँ भी सामने आती हैं जो अतिभौतिक[1] होती हैं। और ये इन्द्रियाँ शारीरिक इन्द्रियोंकी सहायताके विना ही भौतिक जगत्की वस्तुओंका ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं, यही नहीं, वे हमें ऐसी अन्य वस्तुओंके संपर्कमें भी लाती हैं, जो अतिभौतिक और अन्य लोककी हैं, अर्थात् जो, हमारे सूर्य और पृथ्वी जिस स्थूल भौतिक तत्वसे वने प्रतीत होते हैं, उससे भिन्न किसी और तत्त्वपर निर्भर सचेतन अनुभवके संगठनके अंतर्गत आती हैं।

---

1. सूक्ष्म देहमें रहनेवाली सूक्ष्म इन्द्रियां जो कि सूक्ष्म दृष्टि और अनुभवके साधन होती हैं।

अब, जब कि भौतिक जगत्के रहस्योंके प्रति ऐकांतिक संलग्नताकी आवश्यकता नहीं रह गयी है, यह सत्य, जिसका प्रतिपादन विचारके प्रादुर्भाव-कालसे मानव-अनुभव और विश्वासके द्वारा निरंतर होता आया है, उसका समर्थन वैज्ञानिक अनुसंधानके नवजात रूपोंके द्वारा भी होना शुरू हो गया है। इस सत्यके प्रमाण बढ़ रहे हैं; पारेन्द्रियज्ञान (टेलीपैथी) और उसके सजातीय व्यापार इसके सबसे स्पष्ट और बाह्य रूपमें प्रकट प्रमाणोंमेंसे हैं। इन प्रमाणोंका विरोध अधिक समयतक नहीं टिक सकता, इनका स्थायी विरोध वे ही कर सकते हैं जिनका मन भूतकालके चमकीले खोलमें बन्द पड़ा है, जिनकी बुद्धि तीक्ष्ण होती हुई भी अनुभव और जिज्ञासाके अपने क्षेत्रकी सीमाओंके कारण सीमित रहती है, या जो बीती शताब्दीसे मिले हुए सूत्रोंकी निष्ठापूर्ण पुनरा-वृत्तिको और मृत या मरणासन्न बौद्धिक मतवादोंको सावधानीसे सँजोये रखनेको ही प्रकाशकी प्राप्ति और बुद्धिका प्रयोजन माननेके भ्रममें पड़े हैं।

यह सच है कि विधिवत् अनुसंधानके द्वारा प्राप्त अतिभौतिक वास्तविकताओंकी झाँकी त्रुटिपूर्ण और अभीतक अनिश्चित रही है, क्योंकि जिन विधियोंका प्रयोग किया गया है वे अभीतक अपरिष्कृत और त्रुटिपूर्ण हैं। किन्तु इन पुनः-अन्वेषित सूक्ष्म इन्द्रियोंके बारेमें कम-से-कम यह तो पता लगा है कि वे दैहिक अवयवोंकी सीमाके विस्तारके परेके भौतिक तथ्योंकी सच्ची साक्षिणियां हैं। तो फिर जब वे चेतनाके भौतिक संगठनके प्रदेशसे बाहरके अतिभौतिक तथ्योंके समर्थनमें साक्षी देती हैं तो उन्हें मिथ्या कहकर तिरस्कृत नहीं किया जा सकता। सब साक्षियोंकी भाँति, स्वयं स्थूल इन्द्रियोंकी साक्षीकी भाँति, बुद्धिके द्वारा उनकी भी साक्षीका नियंत्रण, संवीक्षण और व्यवस्थापन करना होगा, उन्हें सही रूपसे अनूदित और सही रूपसे संबंधित करना होगा, उनके क्षेत्र, नियमों और प्रक्रियाओंको निश्चित करना होगा। किन्तु भौतिक विश्वका सत्य जितना प्रामाणिक होनेका अधिकार रखता है उतना ही अधिकार अनुभवकी उन महान् श्रेणियोंके सत्यका भी है जिनके विषय किसी अधिक सूक्ष्म तत्वमें रहते हैं, जिन्हें स्थूल-भौतिक जड़के उपादानोंकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म साधनोंसे देखा जा सकता है। इस जगत्से परे भी जगत् विद्यमान हैं: उनका अपना वैश्व छन्द है, उनकी अपनी विशाल रेखायें और रूपायण हैं, अपने स्वयंभू नियम और सबल शक्तियां हैं, ज्ञानके अपने समुचित और प्रकाशमय साधन हैं। और वे यहां हमारे भौतिक जीवन और भौतिक शरीरपर प्रभाव डालते हैं और यहां भी अपनी अभिव्यक्तिके साधनोंका संगठन करते और अपने दूतों और साक्षियोंको नियोजित करते हैं।

किन्तु, जगत् हमारे अनुभवके लिये ढांचे भर हैं, और इन्द्रियां हैं हमारे अनुभवके साधन और सुविधाएँमात्र। आधारभूत महान् तथ्य है चेतना, इस विश्व-साक्षीके लिये जगत् क्षेत्र है, इन्द्रियाँ साधन हैं। ये जगत् और उनके विषय अपनी वास्तविकताके लिये इसी साक्षीकी शरण लेते हैं, और एक लोक हो या अनेक, भौतिक लोक हो या अतिभौतिक, उनके बारेमें यह बात समान रूपसे लागू होती है कि उनके अस्तित्वके संबंधमें हमारे पास इस साक्षीके अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं है। यह तर्क किया जाता है कि यह संबंध केवल मानव-गठनकी और विषय-जगत्के प्रति उसकी दृष्टिकी अपनी विशेषता नहीं है, बल्कि यह स्वयं सत्ताका स्वधर्म है, सारी गोचर सृष्टिमें दृष्टि-चेतना और सक्रिय विषय-वस्तु रहते ही हैं और द्रष्टा या साक्षीके बिना कर्म आगे नहीं बढ़ सकता, क्योंकि विश्वका अस्तित्व या तो द्रष्टा चैतन्यके अन्दर या उसीके लिये रहता है, उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं रहती। उत्तरमें यह तर्क दिया जाता है कि भौतिक जगत् शाश्वत रूपसे स्वयंभू है, प्राण और मनके प्रकट होनेसे भी पहले यह जड़ जगत् विद्यमान था, वे जब विलीन हो जायेंगे, जब उनका अपने क्षणिक प्रयासों और सीमित विचारोंसे सूर्यमंडलोंकी शाश्वत और निश्चेतन छन्दलीलामें विघ्न डालना बन्द हो जायगा, तब भी इस जगत्का अस्तित्व बना रहेगा। यह अन्तर देखनेमें इतना तत्वदार्शनिक-सा लगता है, किन्तु तदपि उसका व्यावहारिक महत्व भी अत्यधिक है, क्योंकि यह जीवनके प्रति मनुष्यका सारा दृष्टिकोण निर्धारित करता है, यह निर्धारित करता है कि अपने प्रयासोंके लिये मनुष्य कौन-सा लक्ष्य चुनेगा और अपनी शक्तियोंको कौन-से क्षेत्रमें सीमित करेगा। क्योंकि उससे विश्वके अस्तित्वकी वास्तविकताका प्रश्न उठता है, और इससे भी अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है मानव-जीवनके मूल्यका।

यदि हम जड़वादीके निर्णयको काफी दूरीतक ले जाते हैं तो व्यक्ति और जातिके जीवनकी ऐसी अर्थहीनता और अ-वास्तविकतापर जा पहुँचते हैं जहां दो ही न्यायसंगत विकल्प रह जाते हैं, एक तो यह कि क्षणभंगुर जीवनसे जो कुछ छीन सकना संभव है छीननेका और, जैसा कि कहा जाता है, "जीवन जीनेके लिये", व्यक्ति उद्विग्न होकर प्रयास करे, या फिर जाति और व्यक्तिकी उदासीन भावसे लक्ष्यहीन सेवा यह भली-भांति जानते हुए की जाय कि व्यक्ति केवल स्नायविक मानसताकी एक क्षणभंगुर कल्पना है और जाति है जड़तत्वके उसी नियमित स्नायविक संक्षोभका कुछ अधिक समयतक टिका रहनेवाला एक सामूहिक रूप। हम किसी भौतिक

शक्तिके प्रेरणके वश होकर कर्म करते या भोग प्राप्त करते हैं, यही शक्ति हमें जीवनकी अल्पकालीन भ्रान्तिके द्वारा या किसी नैतिक लक्ष्य या मानसिक प्राप्तिकी महत्तर भ्रान्तिके द्वारा छलती है। आध्यात्मिक अद्वैत-वादकी भाँति जड़वाद भी एक ऐसी मायापर जा पहुँचता है जो है और फिर भी नहीं है,—वह है, क्योंकि वह विद्यमान है और हमें विवश करती है, वह नहीं है, क्योंकि वह अपनी क्रियाओंमें प्रातिभासिक और नश्वर है। दूसरी ओर, यदि हम बाह्य जगत्की अ-वास्तविकतापर अत्यधिक बल देते हैं तो हम एक अन्य मार्गसे उसके सदृश किन्तु उससे अधिक तीक्ष्ण निर्णयोंपर जा पहुँचते हैं, वहाँ वैयक्तिक अहंका मिथ्या स्वरूप होता है, मानव-जीवन अ-वास्तविक और निरुद्देश्य हो जाता है, प्रातिभासिक जगत्के जीवनके अर्थहीन जंजालसे बच निकलनेका एकमात्र युक्तिसंगत उपाय होता है असत्में या अव्यवहार्य निर्विशेष सत्में लौट जाना।

फिर भी हम अपने सामान्य भौतिक जीवनके तथ्योंके आधारपर तर्क-वितर्क करके प्रश्नका समाधान नहीं कर सकते, क्योंकि उन तथ्योंमें सदा ही अनुभवका एक ऐसा अंतराल रहता है जो सारे तर्कको अनिर्णयात्मक बना देता है। हमें सामान्यतः वैयक्तिक शरीरसे बद्ध न रहनेवाले विश्व-मानस या अतिमानसका कोई सुनिश्चित अनुभव नहीं होता, और दूसरी ओर, ऐसे अनुभवकी कोई दृढ़ सीमा भी नहीं मिलती जिससे यह अनुमान करना न्यायसंगत लगे कि हमारा आत्मनिष्ठ आत्मा वस्तुतः भौतिक ढांचेपर निर्भर है और इसका अंत होनेके बाद वह अपना अस्तित्व नहीं रख सकता और न अपने-आपको वैयक्तिक शरीरसे परे वर्द्धित कर सकता है। इस प्राचीन विवादका निर्णय केवल तभी हो सकता है जब हमारी चेतनाका क्षेत्र विस्तृत हो जाय या हमारे ज्ञान-प्राप्तिके साधनोंमें आशातीत वृद्धि हो जाय।

हमारी चेतनाके विस्तारको यदि संतोषप्रद होना है तो उसे अवश्य ही व्यष्टिसे उठकर विश्व-सत्ताके अन्दर एक आन्तरिक प्रसारण होना होगा। क्योंकि यदि कोई साक्षी है, तो वह जगत्में जन्म लेनेवाला वैयक्तिक शरीरधारी मन नहीं, वरन् वह विश्वगत 'चैतन्य' है जो कि सारे विश्वका आलिंगन करता है और उसके सारे कार्योंमें अंतर्वर्त्ती 'प्रज्ञा'के रूपमें प्रकट होता है, उसके लिये जगत् या तो वास्तविक और शाश्वत रूपसे 'उसी'की अपनी क्रियाशील सत्ताका रूप होता है, अन्यथा वह ज्ञानकी या सचेतन शक्तिकी किसी क्रियाके द्वारा उससे उत्पन्न होता है और उसीमें विलीन हो जाता है। संगठित मन नहीं, अपितु वह जो स्थिर और

सनातन है, जो सजीव पृथ्वी और सजीव मानव-देहके अन्दर समासीन है, मन और इन्द्रियाँ जिसके अनिवार्य उपादान हैं, वही है विश्व-जीवनका साक्षी और उसका प्रभु।

मानवजातिके अन्दर विश्व-चेतनाकी संभावनाको आधुनिक मनोविज्ञान भी धीरे-धीरे वैसे ही मानने लगा है, जैसे ज्ञानके अधिक नमनीय साधनोंकी संभावनाको, परन्तु उनके मूल्य और शक्तिको स्वीकार करते हुए भी उन्हें अभीतक विभ्रमकी श्रेणीमें ही रखा जाता है। पूर्वीय मनोविज्ञानने उसे सदा एक वास्तविकता और हमारी आत्मपरक प्रगतिका लक्ष्य माना है। इस लक्ष्यतक संक्रमणका सार यह है कि हमपर अहं-भावनाकी लादी हुई जो सीमाएँ हैं उनका अतिक्रमण किया जाय, और समस्त जीवनमें तथा जो कुछ हमें निर्जीव लगता है उन सबके अन्दर जो आत्म-ज्ञान गुप्त रूपसे आसीन है उसमें, अंततः कुछ भाग लिया जाय, और उत्तम हो, यदि उसके *साथ तादात्म्य प्राप्त किया जाय।*

उस चैतन्यमें प्रवेश करके हम उसीकी भाँति विश्व-सत्ताके प्रति सचेतन रह सकते हैं। तब हमारी चेतनाकी सारी अभिधाएँ और हमारे इन्द्रियानुभव भी परिवर्तित होना आरंभ करते हैं और फलतः हमें यह संवित् होती है कि जड़-तत्व एक अखण्ड सत्ता है और विभिन्न शरीर उसकी रचनायें हैं, जिनमें वह एकमेव सत्ता एक-एक शरीरमें अन्य सर्व सत्ताओंमें स्थित स्वसे पृथक् होती है और पुनः स्थूल साधनोंसे अपनी सत्ताके इन अनेक बिन्दुओंके बीच संपर्क स्थापित करती है। मनके बारेमें हमारा यही अनुभव होता है, और प्राणके बारेमें भी यही, कि वह एक ही सत्ता है, जो अपने बहुत्वके अन्दर एक है, प्रत्येक लोकमें गतिके उपयुक्त साधनोंके द्वारा वह सत्ता अपने-आपको पृथक् और फिरसे एक करती है। और यदि हम चाहें तो और आगे बढ़ सकते हैं और बहुत-सी सम्बद्धकारी भूमिकाओंको पार करते हुए हमें एक अतिमानसकी संवित् हो सकती है जिसकी विश्व-क्रिया सारी न्यूनतर क्रियाशीलताओंकी कुंजी है। हम इस विश्व-सत्ताके प्रति केवल सचेतन ही नहीं होते, अपितु उसी प्रकार उसके अन्दर भी सचेतन होते हैं, उसे संवेदनमें ग्रहण करते हैं, और फिर सचेतन भावसे उसमें प्रविष्ट हो जाते हैं। उसमें हम उसी तरह रहने लगते हैं, सक्रिय, जैसे पहले अहं-भावमें रहा करते थे; हम जिस अंग-रचनाको अपना आपा कहते हैं उससे भिन्न जो मन, प्राण और शरीर हैं उन सबके साथ अधिकाधिक संपर्कमें, बल्कि उनके साथ अधिकाधिक एक होकर रहते हैं; तब हम केवल अपनी नैतिक और मनोमय सत्तापर और दूसरोंकी आत्मपरक सत्तापर ही

प्रभाव नहीं डालते, वरन् भौतिक जगत्पर और उसकी घटनाओंपर भी प्रभाव उत्पन्न करते हैं, और इसके लिये हमारे जो साधन होते हैं वे दिव्यत्वके अधिक समीप होते हैं, वहाँतक जाना हमारे अहमात्मक सामर्थ्यके लिये संभव नहीं होता।

अतः इस विश्व-चेतनाके संपर्कमें जो कोई आया है या जो कोई उसके अन्दर निवास करता है, उसके लिये यह चेतना वास्तविक होती है, स्थूल-भौतिक वास्तविकतासे भी अधिक वास्तविक, अपने-आपमें वास्तविक, अपने प्रभावों और कार्योंमें वास्तविक। इसी प्रकार, जैसे यह चेतना जगत्के लिये वास्तविक है, जो जगत् कि उसका अपना संपूर्ण प्राकट्य है, वैसे ही जगत् भी उसके लिये वास्तविक है, किन्तु स्वतंत्र अस्तित्वके रूपमें नहीं। क्योंकि उस उच्चतर और कम बाधाग्रस्त अनुभवमें हम देखते हैं कि चेतना और सत्ता एक-दूसरेसे भिन्न नहीं हैं, अपितु सारी सत्ता एक परम चेतना है, सारी चेतना आत्म-सत्ता है, अपने-आपमें शाश्वत, अपने कार्योंमें वास्तविक, जो न स्वप्न है, न क्रम-विकास ही। जगत् ठीक इस कारण वास्तविक है कि उसका अस्तित्व केवल चेतनाके अन्दर है और उसका सरजन करनेवाली चित्-शक्ति 'सत्ता'के साथ एक रहती है। जो स्वयं-प्रकाशित शक्ति रूप धारण करती है उससे पृथक् रहकर भौतिक रूपका अपने स्वाधिकारमें कोई अस्तित्व है, यह मान्यता ही वस्तुओंके सत्यके प्रतिकूल होगी, दिग्भ्रम, दुःखस्वप्न, असंभव मिथ्यात्व होगी।

किन्तु यह चिन्मय सत् जो अनन्त अतिमानसका सत्य है, वह विश्वसे अधिक है और अपने-आपकी अनिर्वचनीय अनन्ततामें तथा विश्वव्यापी सामंजस्योंमें भी स्वतंत्र रूपसे रहता है। जगत् ही उस 'तत्'का आश्रय लिये रहता है, वह 'तत्' जगत्का आश्रय नहीं लेता। और जैसे हम विश्वचेतनाके अन्दर प्रवेश कर सकते हैं और सारी विश्व-सत्ताके साथ एक हो सकते हैं वैसे ही हम जगत्का अतिक्रमण करनेवाली चेतनामें प्रवेश कर सकते हैं और सारी विश्व-सत्तासे ऊपर उठ सकते हैं। और, तब वही प्रश्न उठता है जो हमारे सामने प्रारंभमें उठा था : क्या यह अतिक्रमण अवश्यमेव विश्व-जीवनका प्रत्याख्यान है? इस विश्वका विश्वातीतसे क्या संबंध है?

क्योंकि विश्वातीतके द्वारपर खड़ा है उपनिषदोंमें वर्णित विशुद्ध केवल आत्मा, जो शुभ्र एवं शुद्ध है, जगत्का धारण करनेवाला (ईशानो भूतभव्यस्य) होते हुए भी उसके अन्दर निष्क्रिय (अनेजत्) है, शक्ति-संचारके लिये

स्नायुओंसे रहित (अस्नाविर), द्वैतके दोषसे मुक्त, भेदके व्रणसे रहित, केवल, एक, अभिन्न, संबंध तथा बहुत्वकी प्रतीतिसे मुक्त,—वेदांती अद्वैतवादियोंका विशुद्ध आत्मन्, निष्क्रिय ब्रह्म, विश्वातीत निश्चल-नीरवता। और, जब मध्यवर्ती अवस्थाओंमेंसे निकले बिना ही मन इन द्वारोंको एकाएक पार कर जाता है, तो उसे जगत्की अ-वास्तविकताका और निश्चल-नीरवताकी एकमात्र वास्तविकताका अनुभव होता है, यह अनुभव मानव-मनको हो सकनेवाले सबसे अधिक सशक्त और विश्वासोत्पादक अनुभवोंमेंसे है। यहाँ, इस विशुद्ध आत्माके बोधमें या उसके पीछे अवस्थित असत्के बोधमें हमें एक-दूसरे नकारका आरंभ-स्थल मिलता है—यह नकार दूसरे छोरपर जड़वादीके नकारका समरूप होता है, किन्तु उससे अधिक संपूर्ण, अधिक चूड़ांत। अरण्यवासके लिये उसकी सशक्त पुकारको जो व्यक्ति या समाज सुनते हैं उनपर इसका प्रभाव अधिक संकटपूर्ण होता है। यह है संन्यासीका प्रत्याख्यान।

बौद्ध मतने प्राचीन आर्य-जगत्का संतुलन भंग किया, उसके बादसे लगभग दो हजार वर्षोंतक भारतीय मानसपर जड़के विरुद्ध आत्माका यही विद्रोह वर्द्धमान रूपसे आधिपत्य बनाये रहा है। यह नहीं है कि विश्वके माया होनेका भाव ही भारतीय विचारधाराका सर्वस्व रहा हो, अन्य दार्शनिक निरूपण भी हैं, अन्य धार्मिक अभीप्साएँ भी हैं। और, इन दो छोरोंके बीच मेल बैठानेका कुछ भी प्रयत्न न हुआ हो, ऐसी बात भी नहीं है, अति-चरमपंथी दार्शनिक विचारधाराओंमें भी वह विद्यमान रहा है। किन्तु इन सबका निवास इस महान् 'नकार'की छायाके नीचे ही रहा है और सबके लिये जीवनका अंतिम लक्ष्य रहा है संन्यासीका चोला। जीवनके विषयमें सामान्य धारणा कर्म-श्रृंखलाके बौद्ध सिद्धान्तसे और उसके अनुवर्त्ती बंधन तथा मुक्तिके विरोध-भावसे व्याप्त रही है,—जन्मके द्वारा बंधन और जन्मके अन्तके द्वारा मुक्ति। अतः सारी ध्वनियाँ इस महान् एकमतमें सम्मिलित हो जाती हैं कि हमारा स्वर्ग-राज्य इस द्वन्द्वात्मक जगत्में नहीं हो सकता, अपितु कहीं इससे परे ही हो सकता है, फिर चाहे वह शाश्वत वृन्दावनके[2] आनन्दमें हो या ब्रह्मलोकके[3] दिव्यानन्दमें, अथवा

2. गोलोक, सनातन सौन्दर्य और आनन्दका वैष्णव स्वर्ग।
3. अनिर्देश्य ब्रह्ममें संपूर्णतया विलीन हुए बिना ही जीवके द्वारा प्राप्य विशुद्ध सच्चिदानन्दकी उच्चतम स्थिति।

समस्त अभिव्यक्तिसे परे किसी अवर्णनीय निर्वाणमें[4], या फिर वहाँ जहाँ सारा पृथक् अनुभव अनिर्देश्य सत्ताके निराकार एकत्वमें लुप्त हो जाता है। और, बहुत शताब्दियोंतक तेजस्वी साक्षियों, संतों और आचार्योंकी विराट् सेनाने, जिनके नाम भारतकी स्मृतिके लिये पुनीत हैं और जिनका भारतकी कल्पनापर आधिपत्य है; उसी उच्च और सुदूर आह्वानकी साक्षी दी है और उसीका परिपोषण किया है; यह कि ज्ञानका एकमात्र मार्ग है संन्यास और भौतिक जीवनको स्वीकार करना अज्ञानका कर्म है, तथा मानव-जन्मका उचित उपयोग है जन्मका अंत कर देना और आत्माकी पुकारको सुननेका अर्थ है जड़-तत्वसे विरक्ति।

जो युग संन्यासीकी भावनासे सहानुभूति नहीं रखता—और बाकी सारे संसारमें संन्यासीका समय या तो बीत चुका है या बीतता हुआ लग रहा है—ऐसे युगमें यह मान लेना आसान होता है कि जब एक प्राचीन जाति मानव-प्रगतिमें किसी समय बड़ा भाग लेकर अपने भारसे थक गयी, मानव-प्रयास और मानव-ज्ञानके समवायमें अपनी बहुमुखी देन देकर क्लांत हो गयी, तो उसकी प्राण-शक्तिका ह्रास होनेसे संन्यासकी इस महावृत्तिका उदय हुआ। किन्तु हम देख चुके हैं कि संन्यास-भाव जीवनके एक सत्यसे, सचेतन सिद्धिकी एक विशेष स्थितिसे सादृश्य रखता है जो हमारी संभावनाके शिखरपर अवस्थित है। व्यवहारतः भी संन्यास-वृत्ति मानव-पूर्णतामें एक अपरिहार्य तत्व है और उसकी पृथक् परिपुष्टिसे भी तबतक नहीं बचा जा सकता, जबतक कि दूसरे छोरपर मानवजाति अपनी बुद्धि और अपने प्राणिक अभ्यासोंको नित्यदुराग्रही पशु-भावकी अधीनतासे मुक्त नहीं कर लेती।

निस्संदेह, हम एक वृहत्तर और संपूर्णतर अस्तिवाची सिद्धान्तकी खोज कर रहे हैं। हम देखते हैं कि भारतीय संन्यास-आदर्शका जो महान् वेदांती सूत्र रहा है, "एकमेवाद्वितीयम्", उसे उस अन्य सूत्रके प्रकाशमें पर्याप्त रूपसे नहीं देखा गया जो कि उतना ही आदेशात्मक है, "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"। भगवान्की ओर मनुष्यकी ऊर्ध्वमुखी प्रगाढ़ अभीप्साको भगवान्की उस अवतरित होती हुई गतिसे पर्याप्त रूपसे संबद्ध नहीं किया गया, जिसमें भगवान् अपनी अभिव्यक्तिका शाश्वत रूपसे आलिंगन करनेके लिये नीचेकी ओर झुकते हैं। जड़-तत्वके अन्दर भगवान्का क्या तात्पर्य है इसे इतनी

---

4. निर्वाण, समस्त सत्ताका निर्वाण होना अनिवार्य नहीं, हम जिसे सत्ताके रूपमें जानते हैं केवल उसीका, अहं, कामना और अहमात्मक क्रिया और मानसताका निर्वाण।

अच्छी तरह नहीं समझा गया जितनी अच्छी तरह आत्माके अन्दर भगवान्के सत्यको। संन्यासी जिस सद्वस्तुकी खोज करता है, उसे उसकी पूरी ऊँचाईमें तो गृहीत किया गया है, किन्तु प्राचीन वेदांतियोंकी नाईं उसके पूरे विस्तार और व्याप्तिमें नहीं। किन्तु अपने संपूर्णतर अस्तिवाची सिद्धान्तमें हमें विशुद्ध आध्यात्मिक प्रेरणाके भागका महत्व कम नहीं करना चाहिये। जैसे हमने देखा है कि जड़वादने किस प्रकार भगवान्के उद्देश्योंकी सेवा की है, वैसे ही हमें संन्यासद्वारा की गयी जीवनकी महान्तर सेवाको भी स्वीकार करना होगा। हम भौतिक विज्ञानके सत्यों और उसकी वास्तविक उपयोगिताओंको अंतिम सामंजस्यमें संरक्षित रखेंगे, भले ही उसके वर्तमान रूपोंमें बहुतोंको या सबोंको तोड़ना या छोड़ना पड़े। और, प्राचीन आर्योंसे हमें जो विरासत मिली है, वह अभी चाहे कितनी भी कम मूल्यवाली या क्षीण क्यों न हो गयी हो, उसके प्रति हमें सद्-संरक्षणकी भावना और भी अधिक निष्ठासे बरतनी होगी।
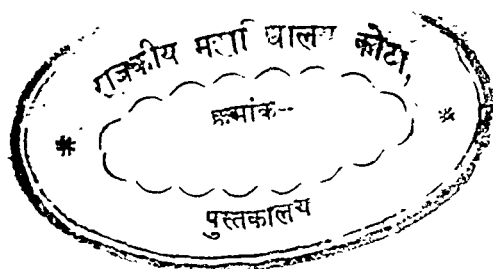
अध्याय चार

सर्वगत सद्वस्तु

असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः॥

यदि कोई उसे असत् ब्रह्मके रूपमें जानता है तो वह असत् ही हो जाता है। यदि कोई जानता है कि ब्रह्म है, तो वह जीवनमें सत्‌के रूपमें ज्ञात होता है।

—तैत्तिरीय उपनिषद्
2, 6

हम विशुद्ध आत्माका यह दावा स्वीकार करते हैं कि वह हमारे अन्दर अपनी पूर्ण स्वतंत्रताकी अभिव्यक्ति करे और वैश्व जड़तत्त्वके दावेको भी स्वीकार करते हैं कि वह हमारी अभिव्यक्तिका ढाँचा और निमित्त बने। अतः हमें ऐसे सत्यकी खोज करनी होगी जो इन विरोधियोंमें पूरा-पूरा मेल बैठा सके और दोनोंको जीवनमें उनका उचित भाग और विचारमें उनका संगत औचित्य प्रदान कर सके, और दोनोंमेंसे किसीको भी उसके अधिकारसे वंचित न करे, उनमेंसे किसीके परम सत्यको अस्वीकार न करे, जिस परम सत्यसे ही प्रत्येककी भूलोंको भी, प्रत्येककी अतिशयोक्तियों-की ऐकान्तिकताको भी इतना सतत बल मिलता रहता है। क्योंकि, जहाँ कहीं कोई चरम उक्ति होती है, जो मानव-मनको इतनी प्रबलतासे आकर्षित करती है, वहाँ हम यह विश्वास कर सकते हैं कि हम किसी भूल, अंधविश्वास या विभ्रममात्रके सम्मुख नहीं खड़े हैं, वरन् हमारे सामने कोई परम तथ्य छद्मवेशमें खड़ा है जिसकी माँग है कि हम उसे आदरके साथ मान्यता दें, यदि हमने उसे अस्वीकार या बहिष्कृत किया तो वह प्रतिशोध लेगा। सन्तोषप्रद समाधानकी यही कठिनाई होती है, यही कारण है कि आत्मा और जड़के बीच मात्र समझौता करनेके जितने प्रयत्न होते हैं वे किसी अंतपर नहीं पहुँचते। समझौता एक सौदा होता है, दो विरोधी शक्तियोंके स्वार्थोंके बीचका व्यापार होता है, वह सच्चा मेल

नहीं होता। अन्योन्य अवधारना ही सदा सच्चे मेलका आधार होती है, वह एक प्रकारके घनिष्ठ एकत्वकी ओर ले जाती है। अतः आत्मा और जड़का जो अधिकतम एकीकरण संभव हो सकता है उसीके द्वारा हम सर्वोत्तम ढंगसे उनमें मेल वैठानेवाले सत्यतक पहुँचेंगे और तब किसी ऐसी सबलतम आधारशिलापर पहुँचेंगे, जिसपर व्यक्तिके आंतरिक जीवन और बाह्य अस्तित्व, दोनोंमें यह सामंजस्य चरितार्थ किया जा सकेगा।

हम विश्व-चैतन्यके अन्दर एक ऐसा मिलन-स्थल देख चुके हैं जहाँ आत्माके लिये जड़ वास्तविक हो जाता है और जड़के लिये आत्मा वास्तविक हो जाता है। क्योंकि सामान्य अहमात्मिका मानसतामें तो मन और प्राण पृथक्त्वके उपकरण, एक ही अज्ञेय सद्वस्तुके सकारात्मक और नकारात्मक तत्वोंके वीच कृत्रिम कलह उत्पन्न करनेवाले लगते हैं, इस विश्व-चैतन्यमें मन और प्राणका यह रूप नहीं रह जाता, वे मध्यवर्ती तत्वोंके रूपमें आते हैं। मन जव विश्व-चैतन्यमें पहुँच जाता है, तो उस ज्ञानसे आलोकित होकर, जिससे वह एकत्वके सत्य और बहुत्वके सत्यको युगपत् प्रत्यक्ष कर लेता और उनकी पारस्परिक क्रियाका सूत्र पा लेता है, वह देखता है कि दिव्य सामंजस्यने उसकी अपनी सारी असंगतियोंकी व्याख्या भी कर दी है और उनके अन्दर मेल भी स्थापित कर दिया है; वह सन्तुष्टि प्राप्त करता है और ईश्वर तथा जीवनके जिस परम मिलनकी ओर हम अग्रसर हो रहे हैं, उसका माध्यम होना स्वीकार करता है। जड़तत्त्व, संसिद्धि प्राप्त करते हुए विचार और सूक्ष्मीभूत इन्द्रियोंके सामने आत्माके आकार और शरीर-रूपमें, आत्माकी स्वरूपायणी व्याप्तिके रूपमें प्रकट होता है। इन्हीं स्वीकार करनेवाले माध्यमोंके सामने आत्मा प्रकट होता है जड़तत्वके अंतरात्मा, सत्य और सारके रूपमें। दोनों एक-दूसरेको दिव्य, वास्तविक और तत्वतः एक मानते तथा स्वीकार करते हैं। इस प्रकाशमें यह प्रकट होता है कि मन और प्राण परम चिन्मय सत्ताके रूप और साधन साथ-साथ हैं, जिनके द्वारा वह चिन्मय सत्ता अपने-आपको जड़भौतिक रूपमें प्रसारित करती हुई उसमें निवास करती और फिर उसी रूपके अन्दर अपने वहुचेतना-केन्द्रोंके सम्मुख अपने-आपको प्रकट करती है। परम सत्ताका सत्य विश्वके प्रतीकोंमें अपने-आपको प्रकट कर रहा है, मन जव इसका स्वच्छ दर्पण वन जाता है तव वह अपनी आत्मपूर्ति प्राप्त करता है। और, जव विश्वजीवनके चिर-अभिनव रूपों और क्रिया-कलापोंके अन्दर भगवान्के निर्दोष आत्म-रूपायणके लिये प्राण अपनी शक्तियाँ सचेतन रूपसे नियोजित करने लगता है, तव प्राण अपनी आत्मपूर्ति प्राप्त करता है।

इस धारणाके प्रकाशमें हम देख सकते हैं कि मनुष्यके लिये जगत्के अन्दर ऐसा दिव्य जीवन संभव है जो विश्व और पृथ्वीके क्रमविकासके लिये एक जीवंत अर्थ और बोधगम्य लक्ष्य प्रकट करता हुआ भौतिक विज्ञानका औचित्य सिद्ध करेगा और साथ ही, मानव जीवको दिव्य जीवमें रूपान्तरित करता हुआ समस्त उच्च धर्मोंका महान् आदर्श स्वप्न चरितार्थ करेगा।

तो फिर संन्यासीके स्थायी समर्थकके रूपमें हमारे समक्ष जो नीरव, निष्क्रिय, शुद्ध, स्वयंभू, आत्मतृप्त आत्मा प्रकट हुआ था उसका क्या होगा? यहाँ भी आपसमें मेल न खा सकनेवाला विरोध नहीं, सामंजस्य ही आलोक-कारी सत्य होगा। निश्चल-नीरव ब्रह्म और सक्रिय ब्रह्म कोई भिन्न, विरोधी और विषम सत्ताएँ नहीं हैं, जिनमेंसे एक तो विश्व-भ्रमको अस्वीकार करता है, दूसरा स्वीकार; वरन् एक ही ब्रह्म है, जिसके दो पक्ष हैं, सकारात्मक और नकारात्मक, और दोनों एक-दूसरेके लिये आवश्यक हैं। जगतोंकी सृष्टि करनेवाला शब्द सदा इसी निश्चल-नीरवतासे निःसृत हुआ करता है, क्योंकि यह शब्द उसे ही व्यक्त करता है जो निश्चल-नीरवताके अन्दर छिपा है। यह शाश्वत नैष्कर्म्य ही असंख्य विश्व-योजनाओंमें एक शाश्वत दिव्य क्रियाशीलताकी पूर्ण स्वतंत्रता और सर्वशक्तिमत्ताको संभव बनाता है। क्योंकि इस क्रियाशीलताकी संभूतियाँ अपनी ऊर्जाओं, अनन्त विविधताओं तथा सामंजस्यकी असीम समर्थताको उसी अक्षर ब्रह्मके निष्पक्ष आधारसे, उसकी अपनी निजी क्रियमाण प्रकृतिकी इस अनन्त उर्वरताको दी गयी स्वीकृतिसे प्राप्त करती हैं।

मनुष्य भी केवल तभी पूर्ण होता है जब वह ब्रह्मकी उस पूर्ण स्थिरता और निष्क्रियताको अपने अन्दर पा लेता है और उसके द्वारा उसी दिव्य सहनशीलता और उसी दिव्य आनन्दके साथ एक उन्मुक्त तथा अक्षय क्रियाशीलताको अवलम्ब देता है। जिन लोगोंने अन्तरमें इस भाँति 'प्रशांति' अधिकृत कर ली है, वे सदा देख सकते हैं कि उसकी निश्चल-नीरवताके अन्दरसे ही विश्वमें क्रियाशील शक्तियोंका चिर स्रोत प्रवाहित होता है। अतः, निश्चल-नीरवताका स्वरूप विश्व-क्रियाशीलताका प्रत्याख्यान है, यह कहना उस स्वरूपका सत्य नहीं है। इन दो स्थितियोंकी जो पारस्परिक विषमता प्रतीत होती है, वह सीमित मनकी भूल है। कारण, मन स्वीकृति और अस्वीकृतिके पैने विरोधका अभ्यस्त होता है और अचानक एक छोरसे दूसरे छोरपर जा पहुँचता है, वह ऐसी व्यापक चेतनाकी धारणा करनेमें असमर्थ होता है जो इतनी विशाल और सबल हो कि दोनोंका

एक साथ ही आलिंगन कर सके। निश्चल-नीरवता जगत्का प्रत्याख्यान नहीं करती, वह तो उसकी भर्त्री है, बल्कि, कर्म-प्रवृत्ति और कर्म-निवृत्ति दोनोंको समान निष्पक्ष रूपसे अवलम्ब प्रदान करती है और उस सामंजस्यका भी अनुमोदन करती है जिसके द्वारा जीव कर्म करता हुआ भी मुक्त और स्थिर रहता है।

किन्तु, तदपि एक चरम निवृत्ति है, एक असत् है। प्राचीन शास्त्र कहता है कि असत्से ही सत् उपजा है[1]। तो वह निश्चय ही असत्के अन्दर समा जायगा। यदि अनन्त-निर्विशेष सत् वैशिष्ट्य और बहुविध प्राप्तियोंकी सारी संभावनाओंकी अनुमति देता है, तो जो असत् है, वह आरंभिक स्थिति और एकमात्र चिर-सद्वस्तु होनेके नाते क्या अंततः किसी वास्तविक विश्वके होनेकी सारी संभावनाको अस्वीकार और वर्जित नहीं कर देता? ऐसी दशामें कुछ बौद्ध मतोंके अनुसार जो शून्य है, वही संन्यासीका सच्चा समाधान हो जायेगा; अहंकी भाँति आत्मा भी भ्रामक प्रपंचात्मक चेतनाकी एक भावमूलक रचनामात्र रह जायगा।

किन्तु, हम फिर यही देखते हैं कि शब्द हमें भरमा रहे हैं, हमारी सीमित मानसताका तीक्ष्ण विरोध हमें छल रहा है, यह सीमित मानसता शाब्दिक विभेदोंपर मुग्ध भावसे निर्भर करती है मानो वे अंतिम सत्यको पूर्ण रूपसे व्यक्त करते हों, और इन असहिष्णु विभेदोंके अर्थमें ही हमारे अति-मानसिक अनुभवोंको भी अनूदित करती है। असत् केवल एक शब्द है। वह जिस तथ्यका प्रतिनिधि है उसे जब हम ध्यानसे देखते हैं, तो हमें यह निश्चय नहीं रह जाता कि पूर्ण असत् अनन्त आत्माकी अपेक्षा मनकी एक भावमूलक रचनासे कुछ अधिक होनेकी संभावना रखता है। इस विश्वमें हम वास्तविक सत्ताको जैसा जानते हैं या उसकी जैसी धारणा करते हैं, उसके बारेमें हमारी चरम अमूर्त या सूक्ष्म अनुभूति और हमारी विशुद्धतम धारणा जिस अंतिम छोरतक जा सकती है उससे भी परे जो 'कुछ' है, वही हमारे लिये वस्तुतः यह असत् है। तो यह असत् बस भावात्मक धारणासे परे 'कुछ' है। हम उसकी कल्पना असत् रूपमें इसलिये करते हैं ताकि, हम जो कुछ जान सकते हैं और सचेतन रूपमें हैं, उसका अति-क्रमण नेति-नेतिकी प्रक्रियासे कर सकें। वास्तवमें यदि हम कुछ दर्शन-शास्त्रोंके 'शून्य'का समीपसे निरीक्षण करें तो यह दीखने लगता है कि यह

---

1. असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत।
आरंभमें यह सब असत् था। उसीसे सत्का जन्म हुआ। (तैत्तिरीय उपनिषद् 2.7)

ऐसा शून्य है जो है तो 'सर्व' या अनिर्देश्य अनन्त, किन्तु मनको शून्य (रिक्त) लगता है, क्योंकि मन केवल सांत रचनाओंको पकड़ पाता है, परन्तु वास्तवमें वही एकमात्र सच्ची सत्ता[2] है।

और जब हम कहते हैं कि असत्से सत् प्रकट हुआ तो देखते हैं कि हम कालकी भाषामें उसकी बात कर रहे हैं जो कालसे परे है। क्योंकि, शाश्वत शून्यके इतिहासमें वह कौन-सी महत्त्वपूर्ण तिथि थी जब उसके अन्दरसे सत्का जन्म हुआ या फिर वह दूसरी उतनी ही विकट तिथि कब आयेगी जब वह एक अ-वास्तविक सर्वशाश्वत शून्यके अन्दर फिरसे समा जायगा? यदि सत् और असत्, दोनोंको स्वीकार करना है तो दोनोंके सह-अस्तित्वको मानना ही होगा। वे दोनों यद्यपि परस्पर घुल-मिल जाना अस्वीकार करते हैं तो भी साथ-साथ रहना स्वीकार करते ही हैं। चूँकि हमें कालकी भाषामें चर्चा करनी है, इसलिये हम कहेंगे कि दोनों ही शाश्वत हैं। शाश्वत सत्को भला कौन विश्वास दिलायेगा कि उसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है, मात्र शाश्वत असत् ही है? सब अनुभवोंको इस भाँति अस्वीकार करके हम ऐसा समाधान कैसे पायेंगे जो सारे अनुभवोंकी व्याख्या कर सके?

अज्ञेय जब यह परिपुष्ट करता है कि समस्त विश्व-अस्तित्वका उन्मुक्त आधार वह स्वयं है तो वह होता है विशुद्ध सत्-रूप। और, जब वह इसके विपरीत यह परिपुष्ट करता है कि वह समस्त विश्व-अस्तित्वसे स्वतंत्र है, अर्थात् वास्तविक संभूतिकी जितनी भावात्मक उपाधियाँ हैं, जिनकी कल्पना विश्वमें रहनेवाली चेतना कर सकती है, उन सबसे, अमूर्त-से-अमूर्त और तुरीय-से-तुरीय कल्पनाओंसे भी स्वतंत्र है, तब हम उसे असत्का नाम देते हैं। वह यह अस्वीकार नहीं करता कि यह सब उसका अपना वास्तविक प्राकट्य है, किन्तु वह समस्त अभिव्यक्तिके द्वारा या किसी भी अभिव्यक्तिके द्वारा अपना सीमित होना अस्वीकार करता है। सत्को

---

2. एक अन्य उपनिषद् असत्से सत्की उत्पत्तिको असंभव कहकर अस्वीकार करती है, उसका कहना है कि सत्से ही सत्की उत्पत्ति हो सकती है। किन्तु यदि हम असत्को अस्तित्वहीन शून्यके स्थानपर ऐसे 'क' के अर्थमें लें जो हमारे सत्ताके अनुभव या भावसे परे है,—यह अर्थ अद्वैतके निर्विशेष ब्रह्मपर भी प्रयुक्त होता है और बौद्धोंके शून्यपर भी,—तो यह असंभावना विलीन हो जाती है, क्योंकि वह तत् भलीभांति सत्ताका उद्गम हो सकता है, फिर चाहे वह धारणात्मक या रचनात्मक मायाके द्वारा हो या स्वयं अपने अन्दरसे अभिव्यक्ति या सृष्टिके द्वारा।

असत् अवकाश देता है, जैसे कि निश्चल-नीरवता कर्मण्यताको अवकाश देती है, ये संग-संग रहनेवाले नकार और स्वीकार परस्पर एक-दूसरेका नाश नहीं करते, वरन् अन्य सभी पारस्परिक विपरीतताओंकी भाँति एक-दूसरेके पूरक हैं, *और इस नकार और स्वीकारके द्वारा प्रबुद्ध मानव-आत्माके* लिये यह युगपत् संवित् प्राप्त कर लेना संभव हो जाता है कि सचेतन आत्म-सत्ता भी एक वास्तविकता है और परेका अज्ञेय भी वही वास्तविकता है। इसी भाँति बुद्धके लिये यह संभव हुआ कि वह निर्वाणकी स्थितिको प्राप्त करके भी जगत्में बड़ी शक्ति और प्रबलताके साथ कार्य कर सके, वह अपनी आन्तरिक चेतनामें निर्व्यक्तिक रहे, और हम जहाँतक जानते हैं, अपने कार्यमें पृथ्वीपर रहनेवालों और परिणाम उत्पन्न करनेवालोंमें सबसे सशक्त व्यक्ति हुए हैं।

जब हम इन चीजोंपर विचार करते हैं तो हमें यह प्रत्यक्ष होना प्रारंभ होता है कि हम जिन शब्दोंका व्यवहार करते हैं वे अपनी बातपर डटनेवाली उग्रतामें कितने दुर्बल और अपनी भ्रामक स्पष्टतामें कितनी उलझन पैदा करनेवाले हैं। हमें यह भी प्रत्यक्ष होना प्रारंभ होता है कि ब्रह्मपर हम जो सीमाएँ लादते हैं, वे वैयक्तिक मनके अनुभवकी संकीर्णतासे उत्पन्न होती हैं। कारण, मन अज्ञेयके किसी एक पक्षपर केन्द्रित होता है और बाकी सबको तुरन्त अस्वीकार या तिरस्कृत करने लगता है। सदा हमारी यह प्रवृत्ति रहती है कि निर्विशेषके बारेमें हम जो कुछ कल्पना कर पाते हैं या जान पाते हैं उसे अपनी विशिष्ट सापेक्षिकताकी भाषामें अति अनम्यतासे अनूदित किया करें। दूसरोंकी सम्मतियों और अधूरे अनुभवोंके विरोधमें हम आवेशसे अपनी निजी सम्मतियों और अधूरे अनुभवोंके अहंकारका विभेद और दृढ़कथन करते हुए एकमेवाद्वितीयकी स्थापना करते हैं। परन्तु अधिक बुद्धिमानी इसमें है कि हम प्रतीक्षा करें, सीखें, प्रगति करें, और चूंकि अपनी आत्मपूर्णताके हेतु हम इन वस्तुओंके बारेमें चर्चा करनेको बाध्य होते हैं जिन्हें कोई मानव-वाणी व्यक्त नहीं कर सकती, तो यथासंभव सबसे विशाल, सबसे लचीली, सबसे उदार स्थापनाकी खोज करें, और उसीपर विशालतम और सबसे अधिक व्यापी सामंजस्यको आधारित करें।

तो हम स्वीकार करते हैं कि व्यक्तिकी चेतनाके लिये संभव है कि वह ऐसी स्थितिमें प्रवेश करे जहाँ ऐसा लगता है कि सापेक्षिक सत्ताका लय हो गया है और आत्मन् भी एक अपर्याप्त धारणा प्रतीत होता है। निश्चल-नीरवतासे भी परेकी निश्चल-नीरवतामें पहुँच जाना संभव है,

किन्तु यह हमारी संपूर्ण अन्तिम अनुभूति नहीं है, न एकमात्र सत्य ही, जो और सबका बहिष्कार करता हो। क्योंकि हम देखते हैं कि यह निर्वाण, यह आत्म-निर्वापिन अन्दरमें, अन्तरात्माको पूर्ण शान्ति और स्वतंत्रता देता है, फिर भी व्यवहार रूपमें, बाह्य कर्मण्यतासे—कामनाहीन किन्तु प्रभावकारी कर्मसे—उसकी संगति रहती है। शायद बुद्धकी शिक्षाका वास्तविक सार यही संभावना था कि अन्दरकी संपूर्णतया गतिहीन निर्व्यक्तिकता और शून्य प्रशान्ति वाह्य रूपसे प्रेम, सत्य, शील, इन शाश्वत सत्यताओंके कर्म करे; वह इस प्रकार अहंसे ऊपर उठना, व्यक्तिगत क्रियाओंकी शृंखलासे ऊपर उठना, परिवर्तनशील विचार और रूपसे ऊपर उठना था, न कि भौतिक पुनर्जन्मके कष्ट और संतापसे बच निकलनेका कोई तुच्छ आदर्श। किसी भी दशामें, जिस प्रकार पूर्ण मनुष्य अपने अन्दर निश्चल-नीरवता और कर्मण्यताको संयुक्त करेगा, उसी प्रकार वह संपूर्णतया-सचेतन जीव असत्की पूर्ण स्वतंत्रतामें वापस पहुँच सकेगा, साथ ही, इस कारण वह सत्ता और विश्वपर अपनी पकड़ भी नहीं खोयेगा। इस प्रकार वह अपने अन्दर दिव्य सत्ताके शाश्वत चमत्कारको सतत दोहराता जायगा, विश्वके अन्दर, फिर भी सदा उससे परे, और मानो अपने-आपसे भी परे। इससे उल्टा अनुभव यही हो सकता है कि व्यक्तिका मानस असत्पर केन्द्रीभूत हो जाय और परिणामस्वरूप विश्वकर्मण्यताका विस्मरण हो जाय और उससे व्यक्तिगत रूपमें अलग हट जाया जाय, किन्तु सनातन सत्की चेतनामें वह क्रियाशीलता फिर भी और सर्वदा चलती है।

इस प्रकार, विश्व-चेतनामें आत्मा और जड़में मेल बैठानेपर, हमें विश्वोत्तर चेतनाके अन्दर सबके स्वीकरण (इति) और उसके निषेध (नेति) के मेलका दर्शन होता है। हम पाते हैं कि समस्त स्वीकरण या इतियां अज्ञेयके अन्दर विद्यमान स्थिति या क्रियाशीलताका प्रतिपादन हैं, और उनके समकक्ष नकार या नेतियां इस बातकी मान्यता हैं कि अज्ञेय उस स्थिति या क्रियाशीलताके अन्दर और उससे बाहर, दोनों प्रकारसे स्वतंत्र है। अज्ञेय हमारे लिये "ऐसा कुछ" है जो सर्वोपरि, आश्चर्यकारी और अवर्णनीय है, जो सदा हमारी चेतनाके सामने रूपायित होता रहता है और सदा ही अपने बनाये रूपायणकी पकड़से बाहर रहता है। वह यह काम किसी दुष्टात्मा या मनमौजी ऐंद्रजालिककी भाँति नहीं करता जो हमें अधिकाधिक बड़े मिथ्यात्वोंकी ओर ले जाकर अन्तमें सब वस्तुओंके अन्तिम नकारतक पहुँचा देता हो, वरन् वह यहाँ भी हमारी बुद्धिसे परे परम बुद्धिमानकी भाँति कार्य करता है, जो हमें अधिकाधिक गभीर और विशालतर वास्तविक-

ताओंकी ओर ले जाता है, ताकि हम वह गभीरतम तथा विशालतम सद्वस्तु मिल जाये जिसके लिये हम समर्थ हैं। ब्रह्म है सर्वगत सद्वस्तु, न कि अमित भ्रमोंका सर्वव्यापी कारण।

यदि हम इस भाँति अपने सामंजस्यके लिये एक इतिमूलक आधार स्वीकार कर लेते हैं,—और अन्य किस आधारपर सामंजस्य आधारित हो सकता है?—तो अज्ञेयको जो नाना धारणात्मक रूप दिये गये हैं, जिनमेंसे प्रत्येक एक ऐसे सत्यका प्रतिनिधि है जो धारणातीत है, उन्हें हमें यथासंभव यह देखते हुए समझना चाहिये कि उनका आपसमें एक-दूसरेसे क्या संबंध है, और जीवनपर उनका क्या प्रभाव है, न कि उन्हें पृथक्-पृथक् करके, न कि ऐकान्तिक रूपसे, न कि उनमें किसीकी स्थापना इस भाँति करके कि अन्य सबका खण्डन या अनुचित ह्रास हो। सच्चा अद्वैतवाद वह है जो समस्त वस्तुओंको एक ही ब्रह्मके रूपमें स्वीकार करता है और ब्रह्मकी सत्ताको दो विषम इकाइयोंमें, सनातन सत्य और सनातन मिथ्या, ब्रह्म और अब्रह्म, आत्मा और अनात्मा, एक सच्चा आत्मन् और एक मिथ्या, फिर भी चिरंतन माया, इन रूपोंमें विभक्त नहीं करता। यदि यह सत्य है कि एकमात्र आत्माका ही अस्तित्व है, तो यह भी सत्य होना चाहिये कि सब-कुछ आत्मा है। और, यदि यह आत्मा, ईश्वर या ब्रह्म कोई असहाय स्थिति, सीमित शक्ति, सीमित व्यक्तित्व नहीं है, वरन् आत्म-चेतन सर्व है, तो फिर इस अभिव्यक्तिका कोई सुसंगत और अंतर्निहित हेतु उसमें विद्यमान होना चाहिये, और उसका अन्वेपण करनेके लिये हमें इस प्राक्कल्पनाको लेकर बढ़ना चाहिये कि जो कुछ अभिव्यक्त हुआ है उसमें कुछ शक्ति है, कुछ बुद्धिमत्ता है, सत्ताका कुछ सत्य है। जगत्में जो विसंगति और प्रतीयमान अशुभ हैं उन्हें उनके क्षेत्रमें मानना तो होगा, किन्तु उन्हें अपने विजेताके रूपमें स्वीकार नहीं करना होगा। मानव-जातिकी गभीरतम सहजप्रवृत्ति सर्वदा ही—और यह उसकी बुद्धिमत्ता है—जगत्की अभिव्यक्तिके अन्तिम सूत्रको किसी शाश्वत परिहास और भ्रम-रूपमें नहीं, वरन् प्रज्ञा-रूपमें, एक सर्व-रचनाकारी और अभेद्य अशुभके रूपमें नहीं, वरन् गुप्त और अन्ततः विजयी शुभके रूपमें, जीवके निराश होकर अपने महान् साहसिक कर्मसे मुंह मोड़ लेनेके रूपमें नहीं, वरन् एक अन्तिम विजय और परिपूर्तिके रूपमें खोजती है।

कारण, हम यह नहीं मान सकते कि परम अद्वितीय सत्ता अपनेसे बाहरकी या अपनेसे अन्य किसी चीजसे बाध्य होती है, क्योंकि ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं। न हम यह मान सकते हैं कि वह अनिच्छासे अपने

अन्दरकी किसी ऐसी आंशिक चीजके सामने झुक जाती है जो उसकी समग्र सत्ताके विरुद्ध है और जो उसके द्वारा अस्वीकृत होती है, किन्तु फिर भी उसके लिये अति प्रबल सिद्ध होती है; क्योंकि इसका अर्थ होगा दूसरे शब्दोंमें उसी विरोधको खड़ा कर देना कि एक तो सर्वमय है और फिर उस सर्वमयसे भिन्न कुछ और भी है। यदि हम यह भी कहें कि विश्वका अस्तित्व केवल इस कारणसे है कि आत्मा अपनी पूर्ण निष्पक्षतामें सब चीजोंको एक समान सहन करता है, समस्त वास्तविकताओं और समस्त संभावनाओंको उदासीनतासे देखता रहता है, फिर भी यह कहना होगा कि ऐसा कुछ है जो सृजनकी इच्छा करता और उसे अवलम्ब देता है और यह 'कुछ' सर्वसे भिन्न 'कुछ' नहीं हो सकता। सब चीजोंके अन्दर ब्रह्म अखण्ड है और जगत्में जो कुछ इच्छित होता है वह अन्ततः ब्रह्मके ही द्वारा इच्छित होता है। यह हमारी सापेक्षिक चेतना ही है जो विश्वके अशुभ, अज्ञान और कष्टके व्यापारसे भयभीत या भ्रमित होकर ब्रह्मके किसी विरोधी तत्वको, माया, मार, सचेतन असुर या अशुभके किसी स्वयंभू तत्वको खड़ा करती है और इस प्रकार ब्रह्मको उसके अपने और विश्वकी क्रियाओंके उत्तरदायित्वसे मुक्त करना चाहती है। एक ही प्रभु है, एक ही आत्मा है, 'बहु' उसके प्रतिरूप और उसकी संभूतियाँ ही हैं।

तो जगत् यदि स्वप्न या भ्रम या भूल ही है, तो यह ऐसा स्वप्न है जिसकी इच्छा और उत्पत्ति आत्माके अखण्ड स्वरूपसे हुई है, और आत्माके द्वारा वह केवल इच्छित और उत्पन्न ही नहीं हुआ, वरन् आत्मा ही उसका धारयिता और सतत परिपोषक है। फिर यह स्वप्न ऐसा है जिसका अस्तित्व एक सद्वस्तुमें है और यह जिस सत्वसे बना है वह सत्व भी वही सद्वस्तु है, क्योंकि ब्रह्म ही जगत्का उपादान होगा और उसका आधार तथा अधिष्ठान भी। जिस स्वर्णसे पात्र बना है वह यदि वास्तविक है तो हम यह कैसे मान लें कि स्वयं पात्र मरीचिका है? हम देखते हैं कि स्वप्न, भ्रम आदि शब्द भाषाके खेल हैं, हमारी सापेक्षिक चेतनाके अभ्यास हैं, जो किसी सत्यको, किसी महान् सत्यको प्रदर्शित करते हैं, किन्तु उसे गलत रूपमें भी प्रदर्शित करते हैं। असत् जैसे मात्र शून्यता होनेसे भिन्न कुछ और ही प्रकट होता है, वैसे ही वैश्व स्वप्न भी मनकी कल्पना और मात्र विभ्रम होनसे भिन्न कुछ और ही प्रकट होता है। दृग्विषय कोई काल्पनिक छायामूर्ति नहीं है, वह एक परम सत्यका ही वास्तव रूप है।

तो हम एक ऐसी सर्वगत सद्वस्तुकी धारणासे प्रारंभ करते हैं जिसके एक छोरपर असत् और दूसरेपर विश्व, एक-दूसरेका खण्डन करनेवाले

नकार नहीं हैं, वल्कि वे दोनों उस सद्वस्तुकी विभिन्न स्थितियाँ हैं, पुरोभाग और पृष्ठभागके अभिकथन हैं। विश्वके अन्दर इस सद्वस्तुकी जो उच्चतम अनुभूति होती है, उससे वह मात्र चिन्मय सत्ताके रूपमें नहीं, वरन् परम प्रज्ञा तथा शक्ति एवं स्वयंभू आनन्दके रूपमें प्रकट होती है, और विश्वसे परे वह फिर भी किसी अन्य अज्ञेय सत्ता, किसी निरतिशय और अवर्णनीय आनन्द-रूपमें प्रकट होती है। अतः हमारा यह अनुमान करना संगत है कि विश्वके द्वन्द्वोंकी भी व्याख्या हम यदि आजकी भाँति संवेदनात्मक और आंशिक धारणाओंके सहारे न करके अपनी निर्मुक्त वुद्धि और अनुभूतिसे करें, तो उन उच्चतम अभिधाओंमें इनका भी समाधान हो जायगा। जवतक हम द्वन्द्वोंके दवावके नीचे श्रम करते रहते हैं, तवतक निस्संदेह इस वोधको सदा श्रद्धाका अवलंवन लेना होगा, ऐसी श्रद्धाका, जिसे उच्चतम वुद्धि, विशालतम और सवसे अधिक धैर्यवान् चिन्तन भी अस्वीकार नहीं, वरन् उसका अनुमोदन करते हैं। वास्तवमें यह श्रद्धा मानवजातिको उसकी यात्रामें तवतकके लिये अवलम्वन-स्वरूप दी गयी है, जवतक कि वह विकासकी ऐसी स्थितिमें न पहुँच जाय जहाँ श्रद्धा ज्ञान तथा पूर्ण अनुभूतिमें परिणत हो जायगी और प्रज्ञाका औचित्य उसके कर्मोंसे सिद्ध होगा।

अध्याय पाँच

व्यक्तिकी नियति

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्याऽमृतमश्नुते।।

......अविद्याके द्वारा वे मृत्युसे तर जाते हैं और विद्याके द्वारा अमृतत्वको प्राप्त करते हैं।......
जन्म-विनाशके द्वारा वे मृत्युसे तर जाते हैं और जन्मके द्वारा अमृतत्वको प्राप्त करते हैं।

—ईशोपनिषद्
11, 14

एक सर्वगत सद्वस्तु ही समस्त जीवन और सत्ताका सत्य है, वह जीवन और सत्ता चाहे निरपेक्ष हो या सापेक्ष, शरीरी हो या अशरीरी, प्राणमय हो या निष्प्राण, बुद्धिमान हो या बुद्धिहीन, उसकी असीम वैचित्र्यशाली आत्म-अभिव्यक्तिमें और सतत विरोधी आत्म-अभिव्यक्तियोंमें भी, हमारे सामान्य अनुभवके समीपतम रहनेवाले प्रत्याख्यानोंसे लेकर उन सुदूरतम विप्रतिषेधोंतक, जो अनिर्वचनीयके तटपर खो जाते हैं, इन सबमें सद्वस्तु एक ही है, कोई कुलयोग या समवाय नहीं। उसीसे सारे वैचित्र्यका प्रारंभ होता है, उसीके अन्दर सारे वैचित्र्य समाये रहते हैं और उसीमें सारे वैचित्र्य वापस लौट जाते हैं। उसी सद्वस्तुकी विशालतर इतिपर पहुँचनेके लिये अन्य सारी इतियोंको अस्वीकार किया जाता है। परस्पर-विरोधी पक्षोंके अन्दर एक परम सत्यको पहचाननेके लिये और विपरीत मार्गसे पारस्परिक एकत्वका आलिंगन करनेके लिये ही सारे विरोध एक-दूसरेके सम्मुख आ जाते हैं। ब्रह्म ही आदि है, ब्रह्म ही अन्त है। ब्रह्म ही एकमेव है, उसके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुका अस्तित्व नहीं है।

किन्तु यह एकत्व स्वरूपतः अनिर्देश्य है। हम जब मनके द्वारा इसे समझना चाहते हैं तो धारणाओं और अनुभवोंकी एक अनन्त शृंखलामेंसे गुजरनेके लिये बाध्य होते हैं और फिर भी अन्तमें हम अपनी विशालतम

धारणाओं, अपने व्यापकतम अनुभवोंको अस्वीकार करनेके लिये बाध्य होते हैं, ताकि हम यह प्रतिष्ठापित कर सकें कि वह सद्वस्तु समस्त परिभाषाओंके परे है। हम भारतीय ऋषियोंके सूत्र 'नेति-नेति', 'वह यह नहीं है, वह वह नहीं है' पर आ जाते हैं, ऐसा कोई अनुभव नहीं जिसके अन्दर उस सद्वस्तुको सीमित किया जा सके, ऐसी कोई धारणा नहीं जिसके द्वारा उसका वर्णन किया जा सके।

हम स्वयं जो अस्तित्व हैं और जो अस्तित्व हमारे विचार और इन्द्रियोंके सम्मुख आता है इस सबके बारेमें अन्ततः मन यही कह सकता है कि यह एक 'अज्ञेय' है जो हमारे सामने सत्ताकी अनेक स्थितियों और उसके बहु गुणोंमें, चेतनाके बहु रूपोंमें, शक्तिकी बहु क्रियाशीलताओंमें प्रकट होता है। हमें इन्हीं स्थितियों, इन्हीं रूपों, इन्हीं क्रियाशीलताओंके द्वारा उस अज्ञेयतक पहुँचना और उसे जानना है। किन्तु, यदि हम अपने मनके द्वारा ग्राह्य तथा धार्य एकत्वतक पहुँचनेकी जल्दीमें, अनन्तको अपने आलिंगनमें बाँध लेनेके हठमें, सत्ताकी किसी एक निर्देश्य स्थितिको ही वह सद्वस्तु मान लें, वह स्थिति चाहे कितनी ही विशुद्ध और शाश्वत क्यों न हो, किसी विशेष गुणको ही वह सद्वस्तु मान लें, वह गुण चाहे कितना ही सार्वभौम तथा व्यापक क्यों न हो, चेतनाके किसी निर्धारित रूपायणको ही वह सद्वस्तु मान लें, वह रूपायण अपने विस्तारमें चाहे कितना ही विशाल क्यों न हो, किसी शक्ति या क्रियाशीलताको ही वह सद्वस्तु मान लें, वह शक्ति या क्रियाशीलता प्रयोगमें चाहे कितनी ही असीम क्यों न हो, और यदि हम शेष सबका वहिष्कार कर दें तो हमारे विचार 'उस'की अज्ञेयताके विरुद्ध अपराध करते हैं और किसी सच्चे एकत्वपर नहीं, बल्कि अविभाज्यके विभाजनपर जा पहुँचते हैं।

प्राचीन कालमें इस सत्यका साक्षात्कार इतने सशक्त रूपसे हुआ था कि हमारी चेतनाके लिये उस सद्वस्तुकी उच्चतम इतिवाची अभिव्यंजनाके रूपमें सच्चिदानन्दके शीर्षस्थ भाव और विश्वासोत्पादक अनुभूतितक पहुँचकर भी वेदान्ती ऋषियोंने अपनी कल्पनामें एक और "परे"के असत्को खड़ा कर दिया, या अनुभूतिको आगे बढ़ाते हुए एक परेके असत्तक जा पहुँचे, जो वह परम सत्, विशुद्ध चित्, अनन्त आनन्द नहीं है जिसकी अभिव्यंजनाएँ या विकृतियाँ ही हमारे सारे अनुभव होते हैं। और, यदि वह कोई सत्, चित् या आनन्द है ही, तो इन वस्तुओंके जिस उच्चतम और विशुद्धतम इतिवाची रूपको हम यहाँ उपलब्ध कर सकते हैं उस रूपसे परे है, अतः इन नामोंसे हम यहाँ जिसे जानते हैं वह उससे भिन्न है। बौद्धमतने

शास्त्रोंकी प्रामाणिकताको अस्वीकार किया, इस कारण आचार्योंने किंचित् अविचारसे उसे अवैदिक घोषित कर दिया, किन्तु फिर भी बौद्धमत इसी तत्वतः वैदान्तिक धारणातक वापस जाता है। केवल यह है कि उपनिषदोंकी इतिमूलक और समन्वयात्मक शिक्षाने सत् और असत्को एक-दूसरेके विनाशक विरोधियोंके रूपमें नहीं, वरन् ऐसे अन्तिम विरोध-प्रत्ययके रूपमें देखा था जिसके द्वारा हम अज्ञेयकी ओर उन्मुख हो सकते हैं। और, हमारी इतिमूलक चेतनाके व्यापारोंमें एकत्वको भी वहुत्वसे लेखा-जोखा करना होता है, क्योंकि बहु भी ब्रह्म है। विद्याके द्वारा, एकत्वके ज्ञानके द्वारा हम ईश्वरको जानते हैं, इसके बिना अविद्या, सापेक्षिक और वहुत्व-चेतना एक अंधकारकी रात्रि और अज्ञानकी विश्रृंखला होती है। फिर भी यदि हम उस अज्ञान-क्षेत्रको वहिष्कृत करते हैं, अविद्याको अस्तित्वहीन और अ-वास्तविक मानकर उससे पिंड छुड़ाते हैं, तो स्वयं ज्ञान एक प्रकारका तिमिर और अपूर्णताका उद्गम हो जाता है। तब हम प्रकाशसे चौंधियाये हुए व्यक्तिकी तरह हो जाते हैं जिसे उसी प्रकाशसे आलोकित होता हुआ क्षेत्र नहीं दिखायी पड़ता।

तो ऐसी है हमारे प्राचीनतम मुनियोंकी शिक्षा, शान्त-स्थिर, विचक्षण और सुस्पष्ट। उनमें खोजने और जाननेका धैर्य और बल था, हमारे ज्ञानकी सीमाको स्वीकार करनेकी स्पष्ट दृष्टि और विनम्रता भी थी। उन्होंने देखा था कि किन सीमान्त रेखाओंपर पहुँचकर ज्ञानको अपनेसे परेकी किसी वस्तुमें चले जाना होता है। यह तो बादमें मन और हृदयकी अधीरता थी, एक चरम आनन्दके प्रति उत्कट आकर्षण या विशुद्ध अनुभव और क्षुर-धार बुद्धिका दबंग आधिपत्य था, जिसने बहुको अस्वीकार करनेके लिये एकमेवकी खोज की, और चूँकि उसे ऊँचाइयोंके वायुका स्पर्श मिला था, इसलिये गहराइयोंके रहस्यका तिरस्कार किया या उससे मुंह मोड़ लिया। किन्तु पुरातन प्रज्ञाके स्थिर चक्षुने देखा था कि ईश्वरको वस्तुतः जाननेके लिये उसे ईश्वरको सर्वत्र और समरूपसे और बिना विभेदके जानना होगा, जिन विरोधोंमेंसे ईश्वर प्रकाशित होते हैं, उनपर विचार करना और उनका मूल्य आँकना होगा, परन्तु उनसे अभिभूत न होना होगा।

अतएव, हम आंशिक तर्कके पैने भेदोंको अलग हटा देंगे जिनका कहना है कि चूँकि एकमेव सत्य है इसलिये वहु माया है, और चूँकि निर्विशेष या निरपेक्ष ही सत् है, एकमात्र अस्तित्व है, इसलिये सापेक्ष असत् और अस्तित्वहीन है। यदि हम वहुके अन्दर एककी खोज लगनसे करते हैं तो हम वहुमें प्रतिष्ठित एकमेवाद्वितीयकी शुभाशीष तथा प्राकटयद्युति लेकर वापस आते हैं।

मन जब अपने अधिक शक्तिशाली विस्तारों और अवस्थान्तरोंमें विशेष दृष्टिकोणोंपर पहुँचता है तो उन्हें जो अतिशय महत्त्व देता है, हम उससे भी सतर्क रहेंगे। विश्वको मिथ्या स्वप्न माननेवाले अध्यात्मभावापन्न मनके बोधका ईश्वर और विश्वातीतको भ्रम माननेवाले जड़-भावापन्न मनके बोधकी अपेक्षा अधिक मूल्य नहीं हो सकता। एक दशामें केवल इन्द्रियोंकी साक्षीका अभ्यस्त रहता हुआ और कायिक तथ्योंको वास्तविक माननेका अभ्यस्त रहता हुआ मन या तो ज्ञानके अन्य साधनोंका व्यवहार करनेको अनभ्यस्त होता है या वह वास्तविकताकी भावनाको अतिभौतिक अनुभवतक विस्तृत करनेमें अक्षम रहता है। दूसरी दशामें, वही मन आगे बढ़ता हुआ एक अशरीरी वास्तविकताकी अभिभूतकारिणी अनुभूतिमें चला जाता है और बस अपनी उसी अक्षमताको और स्वप्न या विभ्रमके उसी परिणामी बोधको इन्द्रियोंके अनुभवोंके प्रदेशपर लागू कर देता है। किन्तु हम उस सत्यको भी देखते हैं जिसे ये दोनों धारणायें विकृत करती हैं। यह सच है कि इस रूप-जगत्‌के लिये, जहाँ कि हम अपनी आत्मोपलब्धिके लिये उद्यत हैं, कोई भी चीज तबतक सम्पूर्णतया प्रामाणिक नहीं होती, जबतक कि वह उपलब्धि हमारी स्थूल चेतनाको अधिकृत नहीं कर लेती और उच्चतम शिखरोंपर उसकी जो अभिव्यक्ति है उससे सामंजस्य रखते हुए निम्नतम स्तरोंपर भी उसकी अभिव्यक्ति नहीं कर लेती। यह भी उतना ही सच है कि रूप और जड़ जब अपने-आपके लिये यह घोषित करते हैं कि वे स्वयंभू सद्वस्तु हैं तो यह अज्ञानका एक भ्रम ही है। रूप और जड़तत्वकी सार्थकता अशरीरी और अभौतिककी अभिव्यक्तिके लिये आकार और उपादान होनेमें ही है। वे अपने स्वरूपमें दिव्य चेतनाकी एक क्रिया हैं और अपने लक्ष्यमें आत्माकी एक स्थितिके प्रतिरूप।

दूसरे शब्दोंमें, यदि ब्रह्मने रूपके अन्दर प्रवेश किया है और अपनी सत्ताको जड़ धातुके अन्दर निरूपित किया है, तो उसका हेतु सापेक्षिक और प्रपंचात्मक चेतनाकी आकृतियोंके अन्दर आत्म-अभिव्यक्तिका उपभोग ही हो सकता है। ब्रह्म इस जगत्‌में है निजको प्राणके मूल्योंके अन्दर निरूपित करनेके लिये। प्राण ब्रह्मके अन्दर रहता है स्वयं अपने अन्दर ब्रह्मका अन्वेषण करनेके लिये। अतः जगत्‌में मनुष्यका महत्त्व यह है कि वह उसे चेतनाका वह विकास प्रदान करता है जिसमें पूर्ण आत्मोपलब्धिके द्वारा उसका रूपान्तर संभव हो जाता है। जीवनके अन्दर ईश्वरको चरितार्थ करना ही मनुष्यका मनुष्यत्व है। वह आरम्भ करता है पशुकी प्राणिकता और उसकी क्रियाशीलताओंसे, किन्तु दिव्य जीवन उसका लक्ष्य है।

किन्तु जैसे 'विचार'में उसी प्रकार 'जीवन'में भी वर्द्धनशील सर्वाविधारक संवित् ही आत्म-प्राप्तिका सच्चा नियम है। ब्रह्म अपने-आपको चेतनाके अनेक क्रमागत रूपोंमें प्रकट करता है—ये रूप सत्तामें सहवर्ती या कालके अन्दर समकालीन रहते हुए भी अपने संबंधमें क्रमागत रहते हैं—और जीवनको भी आत्मोन्मीलन करते हुए अपने-आपकी सत्ताके चिर-नवीन प्रदेशोंमें ऊपर उठते जाना होगा। किन्तु एक प्रदेशसे दूसरेमें जाते हुए, यदि हम नयी प्राप्तिके प्रति उत्सुकताके वश होकर, जो मिल चुका है उसे तिलांजलि देते चलें, यदि मनोमय जीवनतक पहुँचनेमें हम अपने आधार अन्नमय जीवनका वर्जन करें या उसे तुच्छ मानने लगें, अथवा आध्यात्मिकके प्रति अपने आकर्षणके वश हम अन्नमय और मनोमयका वर्जन करें, तो न हम ईश्वरको पूर्ण रूपसे चरितार्थ करते हैं, न हम उनकी आत्माभि-व्यक्तिकी शर्त पूरी करते हैं। ऐसी दशामें हम पूर्ण नहीं हो जाते, वरन् अपनी अपूर्णताके क्षेत्रका स्थानांतरमात्र कर देते हैं या अधिक-से-अधिक, किसी सीमित शिखरतक ही पहुँचते हैं। हम चाहे जितने ऊपर चढ़ जायें, स्वयं असत्तक ही क्यों न जा पहुँचें, फिर भी यदि हम अपने आधारको भूल जाते हैं तो हमारा आरोहण सदोष ही रहेगा। निम्नतरको उसके अपने सहारे परित्यक्त करनेके बदले, हमने जिस उच्चतरकी प्राप्ति की है, उसकी ज्योतिमें उसे भी रूपान्तरित करना प्रकृतिका सच्चा दिव्यत्व है। ब्रह्म अखण्ड पूर्ण है और एक ही समय चेतनाकी बहुल स्थितियोंको एकत्वमें ग्रथित किये रहता है, हमें भी ब्रह्मके स्वरूपको अभिव्यक्त करते हुए अखण्ड-पूर्ण और सर्वालिंगनकारी होना चाहिये।

संन्यासकी प्रवृत्तिमें भौतिक जीवनसे वितृष्णा होनेके अतिरिक्त एक और अतिशयता होती है जिसे पूर्ण अभिव्यक्तिका यह आदर्श सुधारता है। जीवनकी ग्रन्थि है चेतनाके तीन सामान्य रूपोंका पारस्परिक संबंध; व्यष्टिगत, विश्वगत और तुरीय या विश्वातीत। जीवनकी क्रियाशीलताओंके सामान्य वितरणमें व्यक्ति अपने-आपको ऐसी पृथक् सत्ताके रूपमें देखता है जो विश्वमें सम्मिलित है, और दोनों ही उसपर आश्रित हैं जो व्यक्ति और विश्व दोनोंसे समान रूपसे परे है। प्रचलित भाषामें इस तुरीयको ही ईश्वरका नाम दिया जाता है और इस प्रकार हमारी धारणाओंके लिये ईश्वर उतना विश्वातीत नहीं होता जितना कि वह विश्व-बहिर्भूत बन जाता है। इन विभाजनके स्वाभाविक परिणाम-स्वरूप व्यक्ति और विश्व दोनोंका पद और मूल्य घट जाता है और तब तर्कसे इसका अन्तिम उपसंहार होता है तुरीयकी प्राप्तिके द्वारा विश्व और व्यक्ति दोनोंका अवसान।

ब्रह्मके एकत्वकी अखण्ड दृष्टि इन परिणामोंसे बचाती है। जैसे हमें मनोमय और आध्यात्मिक जीवनकी प्राप्तिके लिये दैहिक जीवनको छोड़नेकी आवश्यकता नहीं है, वैसे ही हम ऐसे दृष्टि-बिन्दुपर पहुँच सकते हैं जहाँ वैयक्तिक कर्मधाराको जारी रखना हमारी विश्वचेतनाकी उपलब्धिके समावेशसे या तुरीय और विश्वातीतकी प्राप्तिसे असंगत नहीं रह जाता। क्योंकि, विश्वोत्तर विश्वका आलिंगन करता है, उसके साथ एक रहता है और उसका बहिष्कार नहीं करता, ठीक उसी भाँति विश्व भी व्यक्तिका आलिंगन करता है, उसके साथ एक रहता है और उसका बहिष्कार नहीं करता। व्यक्ति समस्त विश्व-चेतनाका एक केन्द्र है, विश्व एक रूप और संज्ञा है जिसके अन्दर निराकार और अनिर्देश्यकी समग्र अनुस्यूति परिव्याप्त है।

सच्चा संबंध सदा यही रहता है, किन्तु उसके और हमारे बीच हमारे अज्ञानका या चीजोंके प्रति हमारी गलत चेतनाका परदा रहता है। जब हम ज्ञान या सम्यक् चेतनाको प्राप्त करते हैं तो शाश्वत संबंधमें जो कुछ सारभूत है उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं आता, केवल व्यक्ति-केन्द्रसे देखनेवाली अंतर्दृष्टि और बहिर्दृष्टि दोनोंमें गहरा परिवर्तन आता है और फलतः, उनकी क्रियाशीलताके अंतर्भाव और प्रभावमें भी। विश्वके अन्दर तुरीयकी क्रियाशीलताके लिये व्यक्ति फिर भी आवश्यक रहता है और व्यक्तिके ज्योतिर्मय हो जानेसे उसके अन्दर इस क्रियाकी संभावनाका अन्त नहीं हो जाता। इसके विपरीत, चूँकि व्यक्तिके अन्दर तुरीयकी सचेतन अभिव्यक्ति ही वह साधन है जिसके द्वारा समष्टिको, वैश्वको भी अपने-आपके प्रति सचेतन होना है इसलिये जगत्के अन्दर ज्योतिर्मय व्यक्ति बना रहना जगत्-लीलाकी अनिवार्य आवश्यकता हो जाता है। यदि आलोकित होनेकी क्रियामात्रके कारण व्यक्तिका जगत्से हट जाना अटल विधान हो तो वैसी दशामें जगत् चिरकालके लिये अलंघ्य अंधकार, मृत्यु और कष्टका रंगमंच बना रहनेको अभिशप्त रहेगा। और, ऐसा जगत् या तो एक निर्मम अग्निपरीक्षा हो सकता है या एक यांत्रिक भ्रम ही।

जगत्के संबंधमें संन्यासीके दर्शन-शास्त्रकी धारणा इसी दिशामें होती है। किन्तु, यदि विश्वके अन्दरका जीवन एक भ्रम है, तो वैयक्तिक मुक्तिका कोई वास्तविक अर्थ नहीं हो सकता। अद्वैतकी दृष्टिमें वैयक्तिक जीव ब्रह्मके साथ एक है, उसके पृथक्त्वका भाव एक अज्ञान है, पृथक्त्वके भावसे छुटकारा और ब्रह्मके साथ एकात्मता उसकी मुक्ति है। किन्तु तब इस छुटकारेसे किसे लाभ होता है? परमात्माको नहीं, क्योंकि यह माना जाता है कि वह नित्य तथा अविच्छेद्य रूपसे मुक्त, निश्चल,

अतः व्यष्टि-जीव या अन्तरात्माकी मुक्ति ही सुनिश्चित भागवत क्रियाका मूलसूत्र है; वही प्रथम दिव्य आवश्यकता है, वही वह धुरी है जिसपर सब कुछ घूमता है। यह ज्योतिका वह बिन्दु है जिसपर बहुके अन्दरकी अभिप्रेत संपूर्ण अभिव्यक्ति आविर्भूत होना आरंभ करती है। किन्तु मुक्तात्मा अपने एकत्व-ज्ञानको समस्तर और ऊर्ध्वाधर दोनों दिशाओंमें प्रसारित करता है। विश्वगत बहुके साथ जबतक उसका एकत्व नहीं हो जाता, विश्वातीत "एक"के साथ भी उसका एकत्व तबतक अपूर्ण रहता है। और, पार्श्विक एकत्व बहुत्वके अन्दर अन्य बिन्दुओंपर अपनी निजकी मुक्तावस्थाकी पुनरुत्पत्ति और गुणनवृद्धिके द्वारा प्रकट होता है। जैसे पशु अपने-आपको अपने सदृश शरीरोंमें उत्पन्न करता रहता है, वैसे ही दिव्य आत्मा अपने-आपको सदृश मुक्त आत्माओंमें उत्पन्न करता है। अतः जब कभी एक भी आत्मा मुक्त हो जाता है तो हमारी पार्थिव मानवजातिके अन्य आत्माओंके अन्दर, और कौन जाने शायद पार्थिव चेतनाके परे भी, वही दिव्य आत्मचेतना प्रसारित होने लगती है, बल्कि यूँ कहें कि एकदम फूट पड़ती है; उस प्रसारकी सीमा हम कहाँ निर्धारित करेंगे? क्या यह कहानीमात्र है कि बुद्ध जब निर्वाणकी, असत्की चौखटपर खड़े थे तो उनका आत्मा वापस मुड़ गया और उसने प्रतिज्ञा की कि जबतक पृथ्वीपर एक भी प्राणी कष्टकी ग्रंथि और अहंके बन्धनसे युक्त होगा, तबतक वह उस चौखटको पार करनेका अटल डग न भरेगा?

किन्तु हम अपने-आपको विश्व-विस्तारमेंसे मिटाये बिना भी उच्चतमकी प्राप्ति कर सकते हैं। ब्रह्म अपनी इन दोनों अवस्थाओंको,—आन्तरिक स्वतन्त्रताको और बाह्य रूपायणको, अभिव्यक्तिको और अभिव्यक्तिकी ओरसे स्वातंत्र्यको—नित्य धारण किये रहता है। और, चूँकि हम वही तत् हैं, अतः हम भी उसी दिव्य आत्मवत्ताकी प्राप्ति कर सकते हैं। वस्तुतः दिव्य होना ही जिसका लक्ष्य है ऐसे समस्त जीवनके लिये यह आवश्यक है कि इन दोनों प्रवृत्तियोंका सामंजस्य किया जाय। जिस चीजका अतिक्रमण करना है उसका बहिष्कार करते हुए स्वतंत्रता प्राप्त करना हमें नकारके मार्गसे ले जाता है, और उस दशामें हम उसे अस्वीकार करते हैं जिसे ईश्वरने स्वीकार किया है। कर्म और ऊर्जामें निमग्न होकर कर्मण्यतामें अग्रसर होनेसे हम निम्नतरको स्वीकार और उच्चतमको अस्वीकार करते हैं। किन्तु ईश्वर जिसे संयुक्त और समन्वित करता है, उसे वियुक्त करनेका हठ भला मनुष्यको क्यों करना चाहिये? जिस भाँति भगवान् पूर्ण हैं वैसे ही पूर्ण होना उनकी सर्वांगीण प्राप्तिकी शर्त है।

हमारी संक्रमणशील अहमात्मक आत्माभिव्यक्तिमेंसे बाहर निकलनेका मार्ग अविद्या और बहुत्वमेंसे होकर जाता है, जिसमें मृत्यु और कष्टकी प्रधानता है; बहुत्वके अन्दर भी एकत्वके पूर्ण बोधके द्वारा अविद्याके साथ विद्याका मेल हो जानेपर हम सर्वांगीण रूपसे अमरत्व और आनन्दका भोग करते हैं। सकल संभूतिसे परे जो 'अजन्मा' है उसे प्राप्त करके हम इस निम्नतर जन्म और मृत्युसे मुक्ति पाते हैं, संभूतिको भी भगवान्‌की भांति मुक्त रूपसे स्वीकार करके हम मर्त्यतापर अमर आनन्दके द्वारा धावा करते हैं और मानवजातिमें उसकी सचेतन आत्माभिव्यक्तिके ज्योतिर्मय केन्द्र बन जाते हैं।

अध्याय छः

विश्वमें मानव

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे वृहन्ते अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ।।

हंस (मानव-जीव, एक यात्री) ब्रह्मके इस विशाल, सर्वजीवमय, सर्वावस्थामय चक्रमें विचरण करता रहता है और अपने-आपको इस यात्राके प्रेरकसे पृथक् मानता है। ब्रह्मके द्वारा स्वीकार कर लिये जानेपर वह अपना अमृतत्वका लक्ष्य प्राप्त कर लेता है।

—श्वेताश्वतरोपनिषद्
1. 6

तो, यह जगत् जिसे हम देखते हैं, और वे अन्य जगत् जो हमें दिखायी नहीं देते, उनकी बहुसंख्यक सापेक्षिकताओंको अपना साधन और उपादान, निमित्त और क्षेत्र बनाती हुई एक महान्, तुरीय, ज्योतिर्मय 'सद्वस्तु'का वर्द्धमान रूपसे प्राकटच ही विश्वका आशय प्रतीत होता है,— क्योंकि उसका कोई लक्ष्य और अभिप्राय तो है ही, वह न तो निरुद्देश्य माया है, न कोई संयोगवश-घटित घटना ही। क्योंकि जो युक्ति हमें इस निर्णयपर लाती है कि जगत्का जीवन मनकी प्रवंचक चतुराईमात्र नहीं है, वही समान रूपसे इस निश्चयका भी समर्थन करती है कि जगत् किन्हीं ऐसी पृथक् प्रपंचात्मक सत्ताओंका अंध और असहाय रूपसे स्वयंभू पिंड नहीं है, जो अनन्त कालमें अपनी यात्राका चक्कर काटती हुई यथासाध्य साथ-साथ चिपकी रहती और साथ-साथ संघर्ष करती हों, न वह किसी ऐसी अज्ञानमयी शक्तिका प्रकाण्ड आत्म-सृजन और आत्म-प्रेरण है, जिसके अन्दर उसकी अपनी यात्राके आरंभ-विन्दु और उसके लक्ष्यका ज्ञान रखनेवाली, उसकी प्रक्रिया और गतिका परिचालन करनेवाली कोई गुप्त बुद्धि न हो। एक सम्पूर्ण रूपसे आत्म-संविद् और फलतः सम्पूर्ण रूपसे स्वराट् सत्ता ही प्रापंचिक सत्तामें निर्वातित रहती है और उसे अधिकृत करती है, अपने-

आपको रूपमें प्रकट करती है, व्यक्तिके अन्दर अपने-आपको प्रस्फुटित करती है।

वह ज्योतिर्मय आविर्भाव ही वह उषा है जिसकी उपासना आर्य-पूर्वज किया करते थे। उसकी संसिद्ध पूर्णता ही जगद्व्यापी विष्णुका वह उच्चतम पद है जिसे उन लोगोंने इस रूपमें देखा था मानो मनके विशुद्धतम गगनलोकोंमें एक दिव्य चक्षु प्रसृत हो। क्योंकि वह वस्तुओंके सर्वप्रगटनकारी और सर्व-निर्देशनकारी सत्यके रूपमें पहलेसे ही विद्यमान है, वह जगत्पर निगरानी रखता है और मर्त्य मानवको पहले तो उसके सचेतन मनके जाने बिना ही प्रकृतिकी सर्वसाधारण प्रगतिके द्वारा, किन्तु अन्तमें एक वर्द्धमान जागृति और आत्म-विस्तारके द्वारा, उसके दिव्य आरोहणकी ओर आकर्षित करता है। दिव्य जीवनकी ओर आरोहण ही है मनुष्यकी यात्रा, कर्मोंमें सर्वोपरि कर्म और भगवान्के स्वीकार करने योग्य यज्ञ। एकमात्र यही है जगत्के अन्दर मनुष्यका वास्तविक कार्य, और उसके अस्तित्वकी न्याय-संगतता। इसके बिना वह बस एक कीटमात्र रह जायगा जो भौतिक विश्वकी भीषण विशालताओंके बीच उपरितलके पानी और कीचड़के संयोगसे किसी प्रकार निर्मित छोटी-सी भूमिपर अन्य क्षणजीवी कीटोंके बीच रेंगता होगा।

वस्तुओंके इसी 'सत्य'को दृग्विषय जगत्के प्रत्याख्यानोंमेंसे प्रकट होना है। उसके बारेमें कहा गया है कि वह अनन्त आनन्द एवं आत्म-चेतन सत् है, जो सर्वत्र एक समान है, सब वस्तुओंमें, सब कालोंमें और कालसे परे भी; वह जानता है कि इन सब प्रतिभासोंके पीछे स्वयं वही है, किन्तु इन प्रतिभासोंकी क्रियाशीलताके तीव्रतम स्पन्दन या उनकी विशालतम समग्रता न तो उसे कभी सम्पूर्णतः प्रकट कर सकती है, न किसी भाँति सीमित ही, क्योंकि वह स्वयंभू है और अपनी सत्ताके लिये अपनी अभिव्यक्तियोंपर निर्भर नहीं है। ये अभिव्यक्तियाँ उसका प्रति-निधित्व करती हैं, किन्तु उसे निःशेष नहीं करतीं, उसकी ओर निर्देश करती हैं, किन्तु उसे प्रकट नहीं करतीं। इन रूपोंके अन्दर वह अपने-आपके ही सामने प्रकट होता है। रूपके अन्दर जो चेतन सत्ता निर्वतित है, वह क्रमशः विकसित होती हुई, अपने-आपको संबोधिके द्वारा, आत्म-दृष्टिके द्वारा, आत्मानुभूतिके द्वारा ज्ञात करती है। इस प्रकार आन्तरिक रूपसे अपने-आपपर अधिकार प्राप्त करके वह अपने रूपों और अपनी रीतियोंको भी सच्चिदानन्दका चिन्मय आनन्द प्रदान करती है। मन, प्राण और देहके अन्दर अनन्त सच्चिदानन्दकी यह संभूति ही—क्योंकि मन, प्राण

तथा शरीरसे स्वतंत्र रूपमें सच्चिदानन्द तो शाश्वत रूपसे विद्यमान है ही—वैयक्तिक सत्ताकी उपादेयता और उसके द्वारा अभिप्रेत रूपांतर है। जिस प्रकार सच्चिदानन्द स्वयं स्वरूपमें रहता है, उसी प्रकार वह व्यक्तिके द्वारा सम्बन्धमें अभिव्यक्त होता है।

अज्ञेय अपने-आपको सच्चिदानन्द-रूपमें जानता है, यह वेदान्तकी अद्वितीय परम घोषणा है; वाकी जो कुछ है इसके अन्दर आ जाता है या इसीपर निर्भर है। नेतिवाची भावसे सारे प्रत्यक्ष रूपोंकी आकृतियों और उनके आवरणोंका निराकरण करनेपर या इतिवाची भावसे उनके नामों और रूपोंका पर्यवसान उनके अन्दर समाये नित्य सत्यमें कर देनेपर यही एक सच्चा अनुभव बचा रहता है। जीवनकी पूर्तिके लिये हो या जीवनका अतिक्रमण करनेके लिये, हमारा लक्ष्य चाहे पवित्रता, स्थिरता और आत्माके अन्दर स्वतंत्रता हो, चाहे शक्ति, आनन्द तथा पूर्णता, सच्चिदानन्द ही वह अज्ञात, सर्वगत, अनिवार्य तत्व है जिसके लिये मानव-चेतना शाश्वत कालसे, चाहे ज्ञान और भावनामें हो या संवेदन और कर्ममें, खोज कर रही है।

विश्व और व्यक्ति ऐसे दो मूल रूप हैं जिनके अन्दर अज्ञेय अवतरित होता है और जिनके द्वारा उसके समीप जाया जा सकता है, क्योंकि अन्य मध्यवर्ती समुदाय इनकी पारस्परिक क्रियासे ही उत्पन्न होते हैं। परम सद्वस्तुके इस अवतरणका स्वभाव आत्म-गोपन होता है। और, इस अवतरणमें आनुक्रमिक स्तर होते हैं और गोपनमें आनुक्रमिक आवरण। इनका प्रकटन, अनिवार्य रूपसे, आरोहणका रूप लेता है, और अनिवार्य रूपसे ही, आरोहण और प्रकटन दोनों-के-दोनों वर्धनशील होते हैं। क्योंकि भगवान्के अवतरणमें क्रमागत एक-एक स्तर, मनुष्यके आरोहणमें एक-एक भूमिका होता है, अज्ञात ईश्वरको छिपानेवाला प्रत्येक आवरण ईश्वर-प्रेमी और ईश्वर-जिज्ञासुके लिये ईश्वरको निरावरण करनेका एक-एक साधन हो जाता है। जड़ प्रकृति उस 'विश्वात्मा' और परम 'भाव'के प्रति अचेतन रहती है जो उसकी ऊर्जाओंकी व्यवस्थित क्रियाशीलताओंको उसकी मूक और सशक्त जड़ समाधिकी अवस्थामें भी वनाये रखते हैं, जगत् संघर्ष करके इस जड़ प्रकृतिकी छन्दोवद्ध निद्रासे वाहर निकलता है और आत्म-चेतनाके तटोंपर उद्यम करते हुए प्राणके क्षिप्रतर, विविघतामय और अव्यवस्थित छंदमें जा पहुँचता है। ऊर्ध्वकी ओर उद्यम करता जगत् 'प्राण'से ऊपर 'मन'में जा पहुँचता है, जिसमें व्यक्तिको अपने-आपका और जगत्का वोध होता है, और उस जागृतिमें विश्वको अपने परम कार्यके

लिये आवश्यक उत्तोलन मिल जाता है, उसे आत्म-सचेतन वैयक्तिकता मिल जाती है। किन्तु मन इस कार्यको उसे चालू रखनेके लिये ही हाथमें लेता है, पूरा करनेके लिये नहीं। वह तीक्ष्ण, किन्तु सीमित, बुद्धिवाला उद्यमी है, वह प्राणके द्वारा प्रदत्त विशृंखल सामग्रियोंको अपने हाथमें लेता है और उन्हें अपनी शक्तिके अनुसार सुधारकर उन्हें अनुकूल, परिवर्तित और श्रेणीबद्ध कर हमारी दिव्य मानवताके परम कलाकारके हाथमें दे देता है। उस कलाकारका निवास है अतिमानसमें, क्योंकि अतिमानस ही अतिमानव है। अत: हमारे जगत्को अभी मनसे भी आगे चढ़ना है एक उच्चतर तत्व, एक उच्चतर स्थिति, एक उच्चतर क्रिया-शीलतामें, जहाँ विश्व और मानव उस वस्तुके प्रति सचेतन होते हैं और उसे अधिकृत करते हैं जो वे दोनों वास्तवमें हैं और अत: जहाँ दोनोंको एक-दूसरेका स्पष्ट परिचय रहता है, दोनों सामंजस्यमें, एकीबद्ध रहते हैं।

स्थूल, भौतिक व्यवस्थासे अधिक पूर्ण व्यवस्थाका रहस्य पा लेनेसे प्राण और मनकी अस्तव्यस्तताओंका अन्त आ जाता है। प्राण और मनसे नीचे अवस्थित जड़तत्व अपने अन्दर प्रशान्तिकी एक पूर्ण समस्थिति और अपरिमेय शक्तिकी क्रियाके बीचका संतुलन तो समाये रखता है, किन्तु वह जिसे समाये रखता है उसका स्वामी नहीं होता। उसकी शान्ति एक प्रकाशहीन जड़ताका निस्तेज मुखौटा, अचैतन्यकी बल्कि मानो एक मदमत्त और बन्दी चेतनाकी निद्रा धारण करती है। जड़ ऐसी शक्तिके द्वारा परिचालित होता है जो उसका वास्तविक आत्मा है, किन्तु जिसका न तो वह आशय पकड़ पाता है, न जिसमें भाग ही ले सकता है; उसे अभी *अपनी निजी सुसमंजस शक्तियोंका जागृत आनन्द प्राप्त नहीं है।*

प्राण और मन इस कमीके बोधके प्रति जागृत होते हैं, उनका यह जागरण प्रयास और खोज करते हुए अज्ञान और विक्षुब्ध तथा प्रतिहत कामनाका रूप लेता है जो आत्म-ज्ञान तथा आत्म-परिपूर्तिकी ओर प्रथम डग है। किन्तु तब उनकी आत्म-परिपूर्तिका राज्य कहाँ है? वह उन्हें अपने-आपको अतिक्रमण करनेसे प्राप्त होता है। प्राण और मनसे परे हम उस तत्वको उसके दिव्य सत्यमें पुनः प्राप्त करते हैं जिसे जड़ प्रकृतिका संतुलन स्थूल रूपसे प्रदर्शित कर रहा था,—एक ऐसी प्रशान्ति, जो न तो तामसिकता है, न चेतनाकी अवरुद्ध समाधि, वरन् एक पूर्ण शक्ति तथा पूर्ण आत्म-संवित्का केन्द्रीकरण है, और अपरिमेय शक्तिकी एक क्रिया है जो साथ ही एक अवर्णनीय आनन्दातिरेक भी है, क्योंकि उसकी प्रत्येक क्रिया किसी अभाव और अज्ञानमय उद्यमकी नहीं, वरन् पूर्ण शान्ति और आत्म-

प्रभुताकी अभिव्यक्ति होती है। इस प्राप्तिमें हमारे अज्ञानको वह आलोक मिलता है जिसका वह तमोवृत या आंशिक प्रतिविंव था; उस वाहुल्य और परिपूर्णतामें हमारी कामनाओंका अंत हो जाता है, जो अपने अत्यधिक जड़-भौतिक रूपोंमें भी उस बाहुल्य और परिपूर्णताकी ओर अभिमुख धूमिल और पतित अभीप्सायें थीं।

अपने आरोहणके लिये विश्व और व्यक्ति दोनों एक-दूसरेके लिये आवश्यक हैं। वस्तुत: वे सदा एक-दूसरेके लिये अस्तित्व रखते और सदा एक-दूसरेसे लाभ उठाते हैं। विश्व है अनन्त देश और कालके अन्दर दिव्य 'सर्व'का विकीर्ण होना, व्यक्ति है देश और कालकी सीमाओंके अन्दर उसका केन्द्रित होना। विश्व असीम विस्तारमें उस दिव्य समग्रताको पाना चाहता है जिसे वह अपना स्वरूप अनुभव तो करता है, परन्तु सम्पूर्णत: उपलब्ध नहीं कर पाता; क्योंकि विस्तारमें सत्ता अपने ही वहुत्व-परक कुलयोगकी ओर वढ़ती है, जो न तो प्रारंभिक इकाई हो सकता है, न अन्तिम, अपितु अनादि और अन्तहीन आवर्तक दशमलव ही हो सकता है। अत: वह अपने अन्दर 'सर्व'के एक आत्म-चेतन संकेन्द्रणकी रचना करता है जिसके द्वारा वह अभीप्सा कर सके। सचेतन व्यक्तिमें प्रकृति पुरुषको देखनेके लिये पीछे मुड़ती है, जगत् आत्माको खोजता है। ईश्वर सम्पूर्णत: प्रकृति वन चुका है, अब प्रकृति वर्द्धमान रूपसे ईश्वर वनना चाहती है।

दूसरी ओर, विश्वके द्वारा ही व्यक्ति आत्मोपलब्धिकी ओर प्रेरित होता है। व्यक्तिके लिये विश्व उसकी नींव, उसका साधन, उसका क्षेत्र, दिव्य कर्मका उपादान ही नहीं है, अपितु, चूंकि वह विश्वव्यापी प्राणका एक संकेन्द्रण है जो सीमाओंके अन्दर घटित होता है और ब्रह्मके प्रगाढ़ एकत्वकी भांति वह सीमा और विशेषणकी समस्त धारणासे मुक्त नहीं है, अत: जो दिव्य 'सर्व' उसकी वास्तविकता है उसे अभिव्यक्त करनेके लिये यह आवश्यक है कि वह अपने-आपको विश्वभावापन्न और निर्व्यक्तिक वनाये। फिर भी उससे यह माँग की जाती है कि जव वह अपने-आपको चेतनाकी विश्वव्यापकतामें अधिकतम दूरीतक विस्तृत कर रहा हो तव भी एक रहस्यमय लोकातीत 'कुछ'को वनाये रखे, जिसका धुंधला और अहमात्मक प्रदर्शन उसका व्यक्तित्व-वोध उसके सामने करता है। अन्यथा वह अपना लक्ष्य चूक जाता है, उसके सामने रखी गयी समस्याका समाधान नहीं होता, जिस दिव्य कर्मके लिये उसने जन्म स्वीकार किया था वह सम्पन्न नहीं होता।

व्यक्तिके सम्मुख विश्व 'प्राण'के रूपमें आता है—एक ऐसी क्रियात्मकताके रूपमें जिसका सम्पूर्ण रहस्य उसे स्वायत्त करना है, टकरानेवाले परिणामोंके समूह और संभाव्य शक्तियोंके भँवरके रूपमें, जिनके अन्दरसे उसे किसी परम व्यवस्थाको और अभीतक अप्राप्त सामंजस्यको उन्मुक्त करना है। अन्ततोगत्वा मनुष्यकी प्रगतिका वास्तविक अर्थ यही है। भौतिक प्रकृति जो कुछ संपन्न कर चुकी है, यह उसीकी थोड़ी-सी भिन्नताके साथ की जानेवाली पुनरुक्तिमात्र नहीं है। न मानवजीवनका आदर्श यही हो सकता है कि मानस-तत्वके किसी उच्चतर स्तरपर पशुकी पुनरावृत्ति की जाय। अन्यथा, कोई भी योजना या व्यवस्था जो एक कामचलाऊ सुख देती और मनको मध्यम संतोष दे पाती, वह हमारी प्रगतिको रोक देती। पशु अपनी यत्किंचित् आवश्यकताओंकी पूर्तिसे संतुष्ट हो जाता है, देवगण अपने वैभवसे संतुष्ट रहते हैं। किन्तु मनुष्य चिरस्थायी रूपसे तबतक नहीं रुक सकता जबतक वह किसी उच्चतम श्रेयतक न पहुँच जाय। वह सारे जीवित प्राणियोंमें महानतम है, क्योंकि वह सबसे अधिक असन्तुष्ट है, क्योंकि वही सीमाओंका सबसे अधिक दबाव अनुभव करता है। शायद एकमात्र उसीमें किसी सुदूर आदर्शके लिये किसी दिव्य उन्मादसे अभिभूत होनेकी क्षमता है।

अतः 'प्राण-सत्ता'के लिये मानव, पुरुष ही प्रधान रूपसे वह व्यष्टि है जिसके अन्दर उसकी संभावनायें केन्द्रीभूत होती हैं। मानव-पुत्रमें ही ईश्वरको मूर्तिमान करनेकी परम क्षमता है। यह मानव ही प्राचीन मुनियोंका मनु, चिंतक, मनोमय पुरुष या मनःस्थित अन्तरात्मा है। वह मात्र श्रेष्ठतर स्तनपायी जीव ही नहीं है, वरन् एक मानस-बुद्धिधर्मी अन्तरात्मा है जो जड़-तत्वमें पशु-कायाको अपना आधार बनाता है। वह सचेतन नाम या नामन है जो रूपको ऐसे साधनके रूपमें स्वीकार करता और प्रयुक्त करता है जिसके द्वारा पुरुष वस्तुके साथ व्यवहार कर सकता है। जड़से प्रकट होता हुआ पशु-जीवन उसकी सत्ताकी एक निम्नतर स्थिति ही है। विचार, अनुभव, इच्छा और सचेतन प्रवृत्तिका जीवन, जिसके समग्र रूपको हम मन कहते हैं, जो जड़को और उसकी प्राणिक ऊर्जाओंको पकड़ लेने और उन्हें अपने वर्द्धमान रूपान्तरके विधानके अधीन करनेका उद्योग करता है—यह वह मध्यवर्ती स्थिति है जहाँ वह अपना प्रभावी आसन लगाता है। किन्तु वैसे ही एक परम स्थिति भी है जिसे मानव-मन खोजता रहता है ताकि उसे पाकर वह अपनी मनोमय और दैहिक सत्तामें प्रतिष्ठित कर सके। मनुष्यके वर्तमान स्वरूपसे सारतः श्रेष्ठतर किसी वस्तुका यह

व्यावहारिक सिद्धान्त ही मानव-प्राणीके अन्दर दिव्य जीवनका आधार है।

मनुष्य जब अपने बारेमें बनाये गये प्रथम मानसिक भावसे अधिक गहरे आत्म-ज्ञानके प्रति जागृत होता है तो वह किसी मूलकी धारणा बनाने लगता है और उस वस्तुके किसी रूपकी प्रतीति करने लगता है जिसकी उसे प्रस्थापना करनी है। किन्तु उसके सम्मुख यह वस्तु मानो स्वयं उसके दो निषेधोंके बीच खड़ी मालूम होती है। यदि अपनी वर्तमान प्राप्तिसे परे, वह एक आत्म-चेतन अनन्त सत्ताकी शक्ति, ज्योति और आनन्दको देख लेता है या उनका स्पर्श पा लेता है और उनके संबंधमें अपने विचार या अपने अनुभवको अपनी मानसताकी सुविधाजनक भाषामें अनन्तता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, अमरत्व, स्वतंत्रता, प्रेम, आनन्द, ईश्वर नामसे अनूदित करता है, तो भी उसकी दृष्टिका यह सूर्य एक दोहरी रात्रिके बीच चमकता हुआ लगता है,—एक अंधकार नीचे, और एक अधिक प्रगाढ़ अंधकार ऊपर। क्योंकि वह जब उसे अशेष रूपसे जानना चाहता है तो उसका किसी ऐसी वस्तुमें संक्रमण हुआ प्रतीत होता है जिसे इनमेंसे न कोई एक शब्द और न वे सब-के-सब मिलकर ही बिल्कुल प्रदर्शित कर सकते हैं। अन्तमें उसका मन ईश्वरको एक 'पर'के निमित्त अस्वीकार करता है, या कम-से-कम उसे यह लगता है कि ईश्वर अपने-आपको अतिक्रमण कर रहा है, अपने-आपको उसकी धारणासे अतीत कर रहा है। यहां भी, जगत्में, स्वयं अपने अन्दर, और अपने चारों ओर, उसकी सदा अपने सिद्धान्तके विरोधी तत्वोंसे भेंट होती है। मृत्यु नित्य उसके साथ रहती है। उसकी सत्ता और उसके अनुभव सीमाओंसे घिरे रहते हैं; भूल, निश्चेतना, दुर्बलता, तमस्, दुःख, कष्ट, बुराई, ये उसके प्रयासमें उपद्रव करते रहते हैं। यहां भी वह ईश्वरको अस्वीकार करनेकी ओर विवश होता है, या कम-से-कम यह लगता है कि स्वयं ईश्वर अपना निषेध कर रहा है या किसी ऐसे रूप या परिणाममें छिप रहा है जो उसकी सच्ची और शाश्वत वास्तविकतासे भिन्न है।

और ऐसा नहीं है कि इन नकारोंके मूल, उस अन्य दूरवर्ती नकारकी भांति उसके मनके लिये अकल्पनीय, और अतएव स्वाभाविक रूपसे रहस्यमय और अज्ञेय हों, वरन् ये ज्ञानगम्य, ज्ञात और निश्चित, किन्तु फिर भी रहस्यमय प्रतीत होते हैं। वह नहीं जानता कि ये क्या हैं, इनका अस्तित्व क्यों है, ये कैसे अस्तित्वमें आये? ये जैसे-जैसे उसपर प्रभाव डालते हैं और उसके सामने आते हैं, वैसे-वैसे वह इनकी प्रक्रियाओंको देखता जाता है, किन्तु इनकी स्वरूपगत वास्तविकताकी थाह नहीं ले पाता।

शायद उनकी थाह नहीं ली जा सकती, शायद वे भी तत्वतः सचमुचमें अज्ञेय हैं? या हो सकता है कि उनकी कोई स्वरूपगत वास्तविकता न हो—वे भ्रम हों, असत् हों। उच्चतर नास्ति हमारे सामने कभी-कभी एक शून्यके, एक असत्के रूपमें आती है, हो सकता है कि यह निम्नतर नास्ति भी अपने साररूपमें शून्य या असत् ही हो। किन्तु जिस भाँति हम उस उच्चतर असत्-विषयक कठिनाईसे बचनेकी इस राहको छोड़ चुके हैं, उसी भाँति इस निम्नतर असत्के संबंधमें भी इसे छोड़ देते हैं। उसकी वास्तविकताको सम्पूर्ण रूपसे अस्वीकार कर देना या उसे मात्र एक विनाशकारी भ्रम कहकर उससे भाग निकलनेकी चाह करना समस्याको अपने पाससे हटा देना और अपने कार्यसे विमुख होना है। ये वस्तुएँ जो ईश्वरसे इन्कार करती मालूम होती हैं और सच्चिदानन्दकी विरोधिनी लगती हैं, वे सब जीवनके लिये वास्तविक हैं, चाहे वे अस्थायी ही क्यों न निकलें। ये और इनसे विपरीत वस्तुएँ—अच्छाई, ज्ञान, आनन्द, सुख, जीवन, अतिजीवन, शक्ति, बल, संवर्द्धन—आदि तो जीवन-क्रियाओंके उपादान हैं।

निस्सन्देह यह संभव है कि ये सब किसी भ्रमके नहीं, वरन् एक गलत संबंधके परिणाम, बल्कि उसके अविच्छेद्य संगी हों। गलत इसलिये कि यह संबंध विश्वमें व्यक्ति क्या है इसकी गलत दृष्टिपर आधारित होता है, फलस्वरूप ईश्वर और प्रकृतिके प्रति तथा आत्मा और पर्यावरणके प्रति भी गलत मनोभावपर आधारित होता है। क्योंकि मनुष्य जो कुछ बन गया है उसका सामंजस्य न तो उस जगत्से है जिसमें वह निवास करता है, और न उससे ही जो उसे बनना चाहिये और वह बनेगा; इसीलिये मनुष्य वस्तुओंके गुप्त परम सत्यके इन प्रत्याख्यानोंके अधीन रहता है। ऐसी दशामें ये चीजें किसी पतनके लिये दिया गया दण्ड नहीं, वरन् प्रगतिकी शर्तें होती हैं; उसे जो कार्य करना है वे उसके प्रथम तत्व होती हैं, वह जिस मुकुटको जीतनेकी आशा करता है उसका मूल्य होती हैं, प्रकृतिके लिये जड़तत्वसे बच निकलकर चेतनामें प्रवेश करनेकी सँकरी राह होती हैं, ये एक ही साथ प्रकृतिका मुक्ति-शुल्क और उसकी पूँजी होती हैं।

कारण, इन गलत संबंधोंमेंसे और उनकी सहायतासे सच्चे संबंधकी प्राप्ति करनी है। अविद्याके द्वारा हमें मृत्युको पार करना है। इस भाँति वेद भी रहस्यमय भाषामें ऐसी शक्तियोंकी चर्चा करते हैं जो मानों अशुभ प्रेरणावाली नारियाँ हैं, जो पथसे भटकी हुई और अपने स्वामीको

आघात पहुँचानेवाली हैं। वे शक्तियाँ स्वयं असत्य और असुखी होती हुई भी अन्तमें इस विशाल सत्यका, "ऋतं बृहत्"का निर्माण करती हैं। तो, जव मनुष्य नैतिकताका नश्तर लगाकर प्रकृतिके "अशुभ"को काटकर अपने-आपसे वाहर निकाल फेंकेगा या जीवनसे घृणापूर्वक किनारा कर लेगा, तव नहीं, वरन् जव वह मृत्युको एक अधिक पूर्ण जीवनमें परिवर्तित कर देगा, मानव सीमाकी क्षुद्र वस्तुओंको दिव्य विशालताकी महान् वस्तुओंमें उन्नत कर देगा, कष्टको आनन्दमें रूपान्तरित कर देगा, अशुभको उसके निजी शुभमें परिवर्तित कर देगा, भ्रान्ति और असत्यको उनके गुप्त सत्यमें अनूदित कर देगा, तभी यह यज्ञ सम्पन्न होगा, यह यात्रा पूरी होगी और पृथ्वी तथा स्वर्ग समानता प्राप्त कर परमात्माके आनन्दमें हाथ मिला सकेंगे।

तदपि, ये विपरीतताएँ आपसमें क्योंकर घुल-मिल जा सकेंगी? मर्त्यताका यह सीसा किस रसायनके प्रयोगसे दिव्य 'सत्ता'के सोनेमें परिवर्तित किया जा सकेगा? किन्तु, यदि इनमें तत्वभूत विपरीतता ही न हो तो? यदि वे एक ही सद्वस्तुकी अभिव्यक्तियाँ हों, उनकी मूल सामग्री एक ही हो तो? तव निश्चय ही दिव्य रूपान्तरकी वात धारणागम्य हो जाती है।

हमने देखा है कि परेका असत्, वहुत संभव है, एक अचिंत्य सत्ता और शायद अवर्णनीय आनन्द भी हो। कम-से-कम वौद्ध धर्मका निर्वाण, जिसने इस उच्चतम असत्में पहुँचने और वहाँ विश्राम करनेके लिये मनुष्यके एक अत्यन्त ज्योतिर्मय प्रयासको प्रकट किया, उन व्यक्तियोंकी मनश्चेतनाके अन्दर, जो मुक्त होकर भी पृथ्वीपर विद्यमान हैं, एक अवर्णनीय शान्ति और सुखके रूपमें प्रतिमूर्त होता है। उसका व्यावहारिक परिणाम होता है समस्त अहमात्मक भाव या संवेदनका विलोप, और उसके द्वारा सकल कष्टोंका अवसान; और उसकी जो सवसे निकटवर्ती सकारात्मक धारणा वनायी जा सकती है वह यह है कि वह कोई अनिर्वचनीय परमानन्द है, (इस प्रकारकी शून्यवत् शान्तिको यदि यह या कोई अन्य नाम दिया जा सकता हो), जिसके अन्दर आत्म-सत्ताका विचारतक कवलित और विलुप्त लगता है। यह वह सच्चिदानन्द है जिसके लिये हम सत्, चित् और आनन्दकी परम संज्ञाओंका भी प्रयोग नहीं कर सकते। क्योंकि वहाँ सभी संज्ञाएँ व्यर्थ हो जाती हैं और सभी वोधात्मक अनुभवोंका अति-क्रमण हो जाता है।

दूसरी ओर हमने यह सुझाव रखनेका साहस किया है कि चूँकि सव कुछ अद्वय 'सद्वस्तु' है, यह निम्नतर नकार भी, सच्चिदानन्दका यह अन्य

खण्डन या असत्-भाव भी स्वयं सच्चिदानन्दके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। बुद्धिके द्वारा इस नकारकी धारणा की जा सकती है, दृष्टिमें उसे प्रत्यक्ष किया जा सकता है, संवेदनके द्वारा उसे ग्रहण किया जा सकता है मानो वह सत्यतः वही हो जिसे वह अस्वीकार करता प्रतीत होता है, और हमारे सचेतन अनुभवके लिये सदा ही ऐसा होता यदि वस्तुएँ किसी महती मूलगत भ्रान्तिके द्वारा, किसी अभिभूतकारी और विवशकारी अज्ञान, माया या अविद्याके द्वारा मिथ्या न कर दी गयी होतीं। इस अर्थमें एक समाधान खोजा जा सकता है जो शायद तार्किक मनके लिये कोई संतोषप्रद तत्वमीमांसीय समाधान न हो,—क्योंकि हम अज्ञेयकी, अवर्णनीयकी सरहदपर खड़े हैं और परेकी ओर देखनेका प्रयास कर रहे हैं,—किन्तु दिव्य जीवनकी साधनाके लिये अनुभवका एक समुचित आधार तो हो सकता हो।

ऐसा करनेके लिये हमें वस्तुओंकी स्पष्ट सतहसे नीचे जानेका, —जब कि मनको सदा इस सतहपर ही रहना प्रिय लगता है,—विशाल और अविज्ञातसे व्यवहार करनेका, चेतनाकी अथाह गहराइयोंमें पैठने और सत्ताकी अपनेसे भिन्न अवस्थाओंके साथ तादात्म्य स्थापित करनेका साहस करना होगा। मानव-भाषा इस प्रकारकी खोजमें सहायता देनेमें दीन है, किन्तु हम उसमें कम-से-कम कुछ प्रतीक और रूप तो पा सकते हैं और किन्हीं ऐसे संकेतोंको साथ लेकर वापस आ सकते हैं जिन्हें प्रकट करना संभव हो और जो जीवके प्रकाशको सहायता प्रदान करेंगे और मनपर उस अवर्णनीय आयोजनकी कोई छाया प्रतिबिंबित करेंगे।
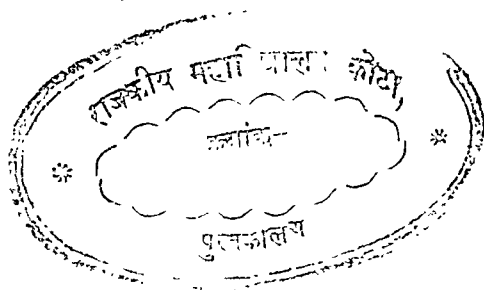
अध्याय सात

अहं और द्वन्द्व

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

प्रकृतिके उसी वृक्षपर आसीन पुरुष निमग्न तथा मोहित है और शोक पाता है, क्योंकि वह अनीश है। परन्तु जब वह ईश-रूप अन्य आत्माको और उसकी महिमाको देखता है और उसके साथ एकत्वको प्राप्त हो जाता है, तब उसका सारा शोक चला जाता है।

—श्वेताश्वतरोपनिषद्
4.7

यदि सब कुछ वास्तवमें सच्चिदानन्द है तो मृत्यु, कष्ट, अशुभ, परिसीमन एक ऐसी विकृतिकारिणी चेतनाकी ही रचनाएँ हो सकते हैं जो अपने समग्र और एकता लानेवाले ज्ञानसे च्युत होकर विभाजन और आंशिक अनुभवकी किसी भ्रान्तिमें पड़ गयी है। ये रचनाएँ सारतः अभावात्मक, किन्तु व्यावहारिक प्रभावमें भावात्मक हैं। यही मनुष्यका वह पतन है जिसे यहूदी धर्मग्रन्थमें सृष्टिकी उत्पत्तिके प्रकरणमें काव्यमय रूपकमें रखा गया है। वह पतन ईश्वरको और अपने-आपको, बल्कि अपने अन्दर ईश्वरको पूरी तरह और विशुद्ध रूपसे स्वीकार करनेकी स्थितिसे च्युत होकर एक ऐसी विभाजनकारी चेतनाके अन्दर जा पड़ना ही है, जिसके साथ विभाजित सत्ताके परिणामस्वरूप जीवन और मृत्यु, शुभ और अशुभ, हर्ष और विषाद, सम्पूर्णता और अपूर्णता जैसे द्वन्द्वोंकी सेना आती है। यही वह फल है जिसे आदम और हौआने, पुरुष और प्रकृतिने, प्रकृतिके द्वारा लुभाये गये पुरुषने खाया है। इससे उद्धार तब होता है जब व्यक्तिके अन्दर विश्वव्यापी चेतनाकी और स्थूल चेतनाके अन्दर आध्यात्मिक अभिधाकी पुनः प्राप्ति हो जाती है। केवल तभी प्रकृति-स्थ पुरुषको जीवन-वृक्षके फलका आस्वादन करने दिया जा सकता है और तभी वह भगवान्‌के

सदृश हो सकता तथा सदाके लिये सदृश रह सकता है। क्योंकि जड़ चेतनाके अन्दर उसके उतरनेका हेतु तभी सिद्ध हो सकता है जब मानवात्मा एक ऐसे उच्चतर ज्ञानकी पुनर्प्राप्तिके द्वारा शुभ और अशुभ, हर्ष और शोक, जीवन और मृत्युका ज्ञान प्राप्त कर ले, जो ज्ञान विश्वव्यापी चेतनामें इन विरोधी तत्वोंका मेल बैठा देता है और उन्हें एक कर देता है और उनके विभाजनोंको दिव्य एकताकी प्रतिमामें रूपान्तरित कर देता है।

जो सच्चिदानन्द समस्त वस्तुओंमें व्यापकतम सामान्य भाव तथा निष्पक्ष वैश्व भावसे व्याप्त है, उसकी दृष्टिमें मृत्यु, कष्ट, अशुभ और सीमाएँ, अधिक-से-अधिक, अपने विपरीत ज्योतिर्मय तत्वोंकी विपरीत अभिधाएँ, छायारूपमात्र हो सकते हैं। परन्तु हमारे वर्तमान अनुभवके लिये ये असंगतिके सुर हैं। जहाँ ऐक्य होना चाहिये वहाँ ये पार्थक्यकी, जहाँ ठीक समझ होनी चाहिये वहाँ गलत समझकी रचना करते हैं, जहाँ समवेत-संगीतवादनके साथ अपनी संगति करनी चाहिये वहाँ अपनी स्वतंत्र स्वर-लीला मुखरित करनेका प्रयत्न करते हैं। सब प्रकारकी समग्रता, चाहे वह विश्वव्यापी प्रकम्पनोंकी किसी एक ही योजनामें हो, चाहे वह स्थूल चेतनाकी ऐसी समग्रता हो जिसे अपनेसे परेके और पीछेके गतिमान तत्वोंपर अधिकार नहीं, वह उस दूरीतक सामंजस्यकी ओर प्रत्यावर्तन और विसंगत विरोधोंमें समन्वयन है। दूसरी ओर, जो सच्चिदानन्द विश्वके रूपोंसे अतीत है, उसके लिये, इन द्वन्द्वात्मक पदोंका प्रयोग इस भाँति समझे गये अर्थमें भी करना उचित नहीं रह जा सकता। विश्वातीतता रूपांतरित करती है, वह विरोधोंमें मेल नहीं बैठाती, वरन् उन्हें उनका अतिक्रमण करनेवाली ऐसी वस्तुमें बदल देती है जहाँ उनके विरोध मिट जाते हैं।

तथापि, प्रथमतः हमें व्यक्तिको फिरसे समग्रताके सामंजस्यके साथ संबंधित करनेका प्रयत्न करना होगा। वहाँ हमें यह अनुभव कर लेना आवश्यक है,—अन्यथा समस्यासे निकलनेका कोई मार्ग नहीं रह जाता,—कि हमारी वर्तमान चेतना विश्वके मूल्योंको अभी जिन संज्ञाओंमें प्रकट करती है, वे यद्यपि मानव-अनुभव और प्रगतिके लिये व्यवहारतः उचित हैं, पर वे ही एकमात्र संज्ञाएँ नहीं हैं जिनमें उन्हें प्रकट करना संभव हो, और यह भी हो सकता है कि वे सूत्र सम्पूर्ण, सही और अन्तिम न हों। जिस भाँति ऐसी इन्द्रियों और ऐन्द्रिय क्षमताओंका होना संभव है जो स्थूल जगत्को हमारी इन्द्रियों और ऐन्द्रिय क्षमताओंसे भिन्न रूपमें, और भली-भाँति हो सकता है कि उनकी अपेक्षा अधिक सम्पूर्णतया और अतएव अधिक अच्छी तरह देख पावें, उसी भाँति विश्वकी अन्य मानसिक

और अतिमानसिक दृष्टि-शक्तियाँ भी हो सकती हैं जो हमारी अपनी दृष्टिका अतिक्रमण करती हों। चेतनाकी ऐसी स्थितियाँ हैं जहाँ मृत्यु है अमर जीवनमें एक परिवर्तनमात्र, कष्ट है विश्वव्यापी आनन्द-सागरकी लहरोंका पीछेकी ओर उग्र प्रतिक्षेप, परिसीमन है असीमका अपने-आपपर प्रत्यावर्तन, अशुभ है शुभके द्वारा अपनी ही पूर्णताका चक्कर काटना, और ऐसा केवल अमूर्त कल्पनामें ही नहीं होता, वरन् वस्तुतः दृष्टिगोचर होता है और सतत तथा ठोस अनुभवमें आता है। चेतनाकी ऐसी स्थितियोंमें पहुँचना व्यक्तिकी आत्म-पूर्णताकी ओर प्रगतिके लिये उसके सर्वाधिक महत्वपूर्ण और अनिवार्य डगोंमें हो सकता है।

हमें अपनी इन्द्रियों और अपने द्वैतात्मक इन्द्रिय-मनसे जो व्यावहारिक मूल्य मिलते हैं, वे अवश्य ही अपने क्षेत्रोंमें मान्य रहेंगे और सामान्य जीवन-अनुभवके लिये उन्हें मानकके रूपमें स्वीकार करना होगा, जबतक कि वह विशालतर सामंजस्य न तैयार हो जाय जिसके अन्दर वे प्रवेश कर सकें और अपने-आपको रूपांतरित कर सकें, और साथ ही, जिन वास्तविकताओंको वे प्रदर्शित करते हैं उनपरसे उनकी पकड़ भी न छूटे। यदि पुराने इन्द्रिय-मूल्योंको नये दृष्टिकोणसे उनका सही अर्थ प्रदान करने-वाले ज्ञानके बिना ही इन्द्रियोंकी क्षमताओंको विस्तृत किया जाय, तो अधिक गंभीर अव्यवस्थाएँ और अक्षमताएँ खड़ी हो सकती हैं, व्यावहारिक जीवनके लिये और बुद्धिके अनुशासित उपयोगके लिये अयोग्यता पैदा हो सकती है। इसी प्रकार यदि हमारी मानसिक चेतना विस्तृत होकर अहमात्मक द्वैतोंके अनुभवसे निकल समग्र चेतनाके किसी रूपके साथ कोई अनियंत्रित एकत्व प्राप्त कर ले, तो जगत्की सापेक्षिकताओंपर प्रतिष्ठित व्यवस्थाके अन्दर मानवजातिके क्रियाशील जीवनमें आसानीसे अक्षमता और अस्तव्यस्तता आ सकती है। गीतामें जो यह विधान दिया गया है कि ज्ञानी मनुष्य अज्ञानीकी जीवन-भित्ति और विचार-भित्तिको विचलित न करे, उसका मूल हेतु निस्संदेह यही है, क्योंकि ज्ञानीके दृष्टांतसे प्रेरित होनेवाला, किन्तु उसके कर्मके तत्वको समझनेमें असमर्थ अज्ञानी किसी उच्चतर आधारशिलापर पहुँचे बिना ही अपने निजी मूल्योंका विधान भी गँवा बैठेगा।

ऐसी अव्यवस्था और अक्षमताको व्यक्तिगत रूपमें स्वीकार किया जा सकता है और बहुत-सी महान् आत्माओंने उसे एक सामयिक साधनके रूपमें या एक विशालतर सत्तामें प्रवेश करनेके लिये देय मूल्यके रूपमें स्वीकार भी किया है। किन्तु मानव-प्रगतिका सही लक्ष्य तो सदा एक ऐसी

प्रभावकारी और समन्वयात्मक पुनर्व्याख्या ही होगा जिसके द्वारा उस विशालतर जीवनका विधान सत्योंकी एक नयी व्यवस्थाके अन्दर और विश्वकी जीवन-सामग्रीपर होनेवाली क्षमताओंकी एक अधिक उचित और सशक्त क्रियाके अन्दर प्रदर्शित होगा। इन्द्रियोंकी दृष्टिमें सूर्य पृथ्वीका चक्कर काटता है, उनकी दृष्टिमें वही जीवनका केन्द्र था, अत: जीवनकी गतियाँ एक भ्रान्त धारणापर व्यवस्थित की गयी हैं। सत्य बिल्कुल उल्टा है, किन्तु उसके अन्वेषणका बहुत ही कम उपयोग होता यदि ऐसा विज्ञान न होता जो नयी धारणाको युक्तिसंगत और व्यवस्थित ज्ञानका केन्द्र बनाकर इन्द्रिय-बोधोंका सही मूल्य निर्धारित करता। इसी प्रकार मनकी चेतनाकी दृष्टिमें ईश्वर व्यष्टि-अहंकी परिक्रमा करता है और ईश्वरके समस्त कर्म और कौशलको हमारे अहमात्मक संवेदनों, भावावेशों और धारणाओंके सामने विचारार्थ रखा जाता है, वहाँ उनका मूल्य आँका जाता है, उनका अर्थ लगाया जाता है; ये मूल्य और अर्थ यद्यपि वस्तुओंके सत्यको विकृत और विपर्यस्त करते हैं, फिर भी मानवजीवन और प्रगतिकी एक विशेष अवस्थामें वे उपयोगी और व्यवहारत: पर्याप्त होते हैं। किन्तु विश्वके वस्तुतंत्रके संबंधमें हमारा जो अनुभव है, वे उसकी एक कामचलाऊ व्यवस्था देते हैं, परन्तु वे तभीतक सार्थक हैं जबतक कि हम विचारों और क्रियाशीलताओंकी एक विशेष विकासावस्थामें रहते हैं, वे मानवजीवन तथा ज्ञानकी अन्तिम और उच्चतम स्थितिके सूचक नहीं होते। "सत्य ही पथ है, असत्य नहीं।" सत्य यह नहीं है कि अहं जीवनका केन्द्र है और ईश्वर उसकी परिक्रमा करता है और अहं तथा उसकी द्वन्द्वमूलक दृष्टि ईश्वरकी जाँच कर सकती हैं, वरन् सत्य यह है कि स्वयं भगवान् ही केन्द्र हैं और व्यक्तिका अनुभव अपने निजी सच्चे सत्यको केवल तभी पाता है जब वह उसे विश्वव्यापी और विश्वातीतकी अभिधाओंमें जानता है। तथापि, ज्ञानके पर्याप्त आधारको पाये बिना ही यदि अहमात्मक धारणाके स्थानपर यह धारणा प्रतिष्ठित कर दी जाय तो पुराने विचारोंकी जगह नये विचार तो आ जायँगे, किन्तु फिर भी वे मिथ्या और मनमाने होंगे, और हो सकता है कि सही मूल्योंकी एक नियमित अव्यवस्थाके स्थानपर एक उग्र अव्यवस्था आ जाय। ऐसी अव्यवस्था प्राय: नये-नये दर्शनशास्त्रों और धर्मोंके जन्मकी सूचना देती और उपयोगी क्रान्तियोंका सूत्रपात करती है। किन्तु सच्चे लक्ष्यपर हम केवल तभी पहुँच सकते हैं जब हम ऋत-केन्द्रीय धारणाके चारों ओर एक ऐसे युक्तिसंगत और प्रभावकारी ज्ञानको प्रतिष्ठित करनेमें सफल हों, जिसमें अहंमूलक जीवन

अपने सारे मूल्योंको रूपांतरित और संशोधित रूपमें फिरसे ढूँढ़ पायेगा। तब हमारे अधिकारमें सत्योंकी वह नयी व्यवस्था आयेगी जिससे यह संभव होगा कि हम अपने वर्तमान जीवनके स्थानपर एक अधिक दिव्य जीवन ला सकें और विश्वकी जीवन-सामग्रीपर अपनी क्षमताओंका एक अधिक दिव्य और सबल प्रयोग सार्थक रूपमें कर सकें।

अखण्ड मानवताका यह नवीन जीवन और बल अवश्यमेव उन महान् सत्योंकी उपलब्धिपर आश्रित होगा जो दिव्य जीवनके स्वरूपको हमारी धारणा-रीतिके उपयुक्त रूपोंमें अनूदित करते हैं। उसके आगे बढ़नेके लिये यह आवश्यक है कि अहं अपनी मिथ्या दृष्टि और मिथ्या प्रतीतियोंका परित्याग करे, जिन समग्रताओंका वह अंग है और जिन तुरीय धामोंसे वह अवतरित हुआ है उनके प्रति सही संबंध और सामंजस्यकी अवस्थामें प्रवेश करे और वह अपने-आपको ऐसे सत्य और ऋतके प्रति पूर्णतः उन्मीलित करे जो उसकी अपनी परम्पराओंसे परे हैं,—वह सत्य, जो उसकी परिपूर्ति होगा, वह ऋत जो उसकी मुक्ति होगा। अवश्य ही उसका लक्ष्य होगा वस्तुओंके प्रति अहमात्मक दृष्टिद्वारा सृष्ट मूल्योंका विलोपन, और उसकी चरम प्राप्ति होगी सीमा, अज्ञान, मृत्यु, कष्ट और अशुभका अतिक्रमण।

यह अतिक्रमण, यह विलोपन पृथ्वीपर और हमारे मानवजीवनमें तबतक संभव नहीं है जबतक इस जीवनके तत्व हमारे वर्तमान अहमात्मक मूल्यांकनोंके साथ अटूट रूपसे संबद्ध रहेंगे। जीवनका स्वरूप यदि यही है कि वह एक वैयक्तिक प्रतिभास है, विश्वव्यापी सत्ताका प्रतिरूप और महान् 'प्राण-पुरुष'का श्वास नहीं, व्यक्ति अपने सम्पर्कोंमें जिन द्वैत भावोंसे प्रतिक्रिया करता है वे द्वैत यदि उसकी प्रतिक्रियामात्र न होकर समस्त जीवनका स्वयं सार और उसकी आवश्यक परिस्थिति हैं, हमारे मन और शरीरका निर्माण जिस धातुसे हुआ है यदि ससीमता उसका अपरिवर्तनशील स्वरूप ही है, मृत्युके हाथों विघटन यदि समस्त जीवनकी प्रथम और अन्तिम दशा है, उसका अन्त और उसका आरंभ है, सुख और दुःख यदि समस्त संवेदनके अविभेद्य द्विविध तत्व हैं, हर्ष और शोक यदि समस्त भावावेगके आवश्यक प्रकाश और छाया हैं, सत्य और भ्रान्ति यदि दो ध्रुव हैं जिनके बीच सारे ज्ञानको चिरकाल भ्रमण करना होगा, तो फिर अतिक्रमणकी प्राप्ति केवल तभी संभव हो सकती है जब कि मानवजीवनका परित्याग कर सकल सत्तासे परे किसी निर्वाणमें प्रविष्ट हुआ जाय या किसी ऐसे अन्य लोकमें, स्वर्गमें पहुँचा जाय जिसका निर्माण इस भौतिक विश्वसे बिल्कुल भिन्न रूपमें हुआ हो।

मनुष्यका प्राकृत मन अपने भूतकालके और वर्तमानके साहचर्योंसे आसक्त रहता है, उसके लिये ऐसे जीवनकी कल्पना बहुत आसान नहीं है जो मानव रहते हुए भी, हमारी वर्तमान निर्धारित परिस्थितियोंमें, मूलत: परिवर्तित हो चुका हो। अपने संभावित उच्चतर विकासक्रमके प्रसंगमें हम बहुत कुछ उसी स्थितिमें हैं जिसमें डारविनके सिद्धान्तका आदिम वानर था। पुराकालीन जंगलोंमें वृक्षोंपर अपना सहजप्रवृत्ति-मूलक जीवन बितानेवाले उस वानरके लिये यह कल्पना करना असंभव रहा होगा कि पृथ्वीपर एक दिन ऐसा जन्तु आयेगा जो अपने आंतरिक और बाह्य जीवनकी सामग्रीपर बुद्धि नामकी एक नवीन शक्तिका प्रयोग करेगा, बुद्धिके बलपर अपनी सहज-प्रवृत्तियों और अभ्यासोंपर अधिकार करेगा, अपने स्थूल जीवनकी परिस्थितियोंको परिवर्तित करेगा, अपने लिये पत्थरोंके मकान बनायेगा, प्रकृतिकी शक्तियोंसे काम लेगा, समुद्रोंमें जहाज चलायेगा, हवामें उड़ेगा, आचार-व्यवहारके नियम बनायेगा और अपने मानसिक तथा आध्यात्मिक विकासके लिये सचेतन विधियोंका विकास करेगा। और, ऐसी धारणा यदि उस वानरके मनके लिये संभव भी होती, तो भी उसके लिये यह कल्पना कठिन होती कि प्रकृतिकी किसी प्रगतिके द्वारा या 'इच्छाशक्ति' और प्रवृत्तिके लम्बे प्रयासके द्वारा वह स्वयं ही विकसित होकर वैसा जन्तु बन जायगा। मनुष्यने चूँकि बुद्धि पा ली है, और इससे भी अधिक इस कारण कि उसने संबोधि और कल्पना-शक्तिका उपयोग किया है, वह अपनेसे उच्चतर जीवनकी कल्पना करनेमें, और स्वयं अपनी वर्तमान अवस्थासे निकलकर उस जीवनमें अपने व्यक्तिगत उन्नयनकी कल्पना करनेमें समर्थ होता है। परमावस्थाके विषयमें मनुष्यका यह भाव रहता है कि जो कुछ उसकी अपनी धारणामें भावात्मक है और उसकी अपनी सहज-प्रवृत्तिगत अभीप्साके लिये वांछनीय है, उसकी चरमावस्था ही वह परमावस्था है, अर्थात् ऐसा ज्ञान जिसमें भूलकी नकारात्मक छाया न हो, ऐसा आनन्द जिसका खण्डन कष्टके अनुभवके द्वारा न होता हो, ऐसी शक्ति जिसका सतत् प्रत्याख्यान असमर्थता न करती हो, सत्ताकी ऐसी पवित्रता और परिपूर्णता जिसमें त्रुटि और सीमाका विरोधी भाव न हो। अपने देवताओंके बारेमें वह ऐसी ही कल्पना करता है, और अपने स्वर्गोंका निर्माण वह इसी तरह करता है। परन्तु उसकी बुद्धि संभवनीय पृथ्वी और संभवनीय मानवजातिकी कल्पना इस रूपमें नहीं करती। ईश्वर और स्वर्गका जो स्वप्न मनुष्य देखता है वह वस्तुत: उसकी अपनी ही पूर्णताका स्वप्न है, किन्तु उसे व्यावहारिक रूपमें यहाँ चरितार्थ करनेको

अपना अन्तिम लक्ष्य स्वीकार करनेमें उसे वही कठिनाई होती है जो कि उस पूर्वज वानरको होती यदि उसे यह विश्वास करनेको कहा जाता कि वही भावी मनुष्य है। उसकी कल्पना, उसकी धार्मिक अभीप्साएँ उसके सामने वह लक्ष्य रख सकती हैं, किन्तु जब उसकी बुद्धि कल्पना और लोकोत्तर संबोधिको अस्वीकार करती हुई अपनी स्थापना करती है तब वह इस धारणाको भौतिक विश्वके कठोर तथ्योंके विपरीत एक जगमगाता हुआ अंधविश्वास मानकर किनारे रख देता है। तब वह लक्ष्य उसके लिये किसी असंभवकी ओर प्रेरणा देनेवाला स्वप्नमात्र बन जाता है। वह मान लेता है कि ज्ञान, सुख, शक्ति और शुभका मात्र अनुबंधित, सीमित और अस्थिर रूप ही संभव है।

फिर भी, स्वयं बुद्धि-तत्वमें भी एक लोकोत्तरता ही प्रतिपाद्य है। वस्तुतः बुद्धिके समग्र लक्ष्य और सारको देखा जाय तो वह ज्ञानकी खोज, अर्थात् भूलके विलोपनके द्वारा सत्यकी खोज है। उसका उद्देश्य, उसका लक्ष्य किसी बड़ी भ्रान्तिसे छोटी भ्रान्तिकी ओर यात्रा नहीं है, वरन् वह एक भावात्मक, पूर्व-विद्यमान 'सत्य'को मानती है जिसकी ओर हम सही ज्ञान और गलत ज्ञानके द्वन्द्वोंमेंसे गुजरते हुए उत्तरोत्तर आगे बढ़ सकते हैं। यदि मानवकी अन्य अभीप्साओंके प्रति हमारी बुद्धिको वही सहज-प्रवृत्तिगत निश्चितता नहीं है तो इसका कारण यह है कि उसकी निजी वास्तव क्रियामें जो मूलगत प्रकाश अर्न्तनिहित रहता है उसका वहाँ अभाव है। हम सुखकी भावात्मक या परम प्राप्तिकी धारणा बना सकते हैं, क्योंकि सुखकी सहज-प्रवृत्ति हृदयकी वस्तु है और हृदयकी निश्चितताका अपना ही रूप है, वह श्रद्धा कर सकता है और हमारा मन उस अतृप्त अभावके विलोपनकी संभावनाको देख सकता है जो कष्टका प्रतीयमान कारण है। किन्तु स्नायविक संवेदनमेंसे कष्टके विलोपनकी या शरीरके जीवनमेंसे मृत्युके विलोपनकी कल्पना कैसे करें? फिर भी, कष्टका परिहार संवेदनोंकी एक सर्वोपरि सहज-प्रवृत्ति है, मृत्युका परिहार एक प्रमुख माँग बनकर हमारी प्राण-शक्तिके मर्ममें अर्न्तनिहित है। किन्तु ये वस्तुएँ हमारी बुद्धिके सामने सहज-प्रवृत्तिगत अभीप्साओंके रूपमें आती हैं, चरितार्थ हो सकनेवाली संभावनाओंके रूपमें नहीं।

तदपि एक ही नियम सर्वत्र लागू होना चाहिये। व्यावहारिक बुद्धिकी भूल यह होती है कि जो तथ्य प्रत्यक्ष होता है, जिसे वह तत्काल वास्तविक रूपमें अनुभव कर सकती है, वह उसीके अत्यधिक अधीन रहती है, और उसमें इतना साहस नहीं होता कि संभाव्यके गभीरतर तथ्योंको उनके

युक्तिसंगत उपसंहारतक ले जाय। जो है, वह एक भूतकालीन संभावनाकी उपलब्धि है, और वर्तमान संभावना भावी उपलब्धिका संकेत है। और, यहाँ संभावना विद्यमान है, क्योंकि जगत्-व्यापारपर अधिकार प्राप्त करना उसके कारणों और प्रतिक्रियाओंके ज्ञानपर निर्भर है, और यदि हम भूल, दुःख, कष्ट और मृत्युके कारणोंको जान लेते हैं तो उसके विलोपनके लिये कुछ आशाके साथ प्रयास कर सकते हैं, क्योंकि, ज्ञान ही शक्ति और प्रभुता है।

वास्तवमें, जहाँतक बन पड़ता है, आदर्शके रूपमें, हम इन सारे नकारात्मक या विरोधी व्यापारोंके विलोपनके लिये प्रयास करते हैं। हम सदा भूल, दुःख और कष्टके कारणको कम करना चाहते हैं। भौतिक विज्ञान, अपने ज्ञानके बढ़नेके साथ-साथ, जन्मका नियमन करनेका, और यदि मृत्युपर पूरी विजय संपादित करनेका नहीं भी, तो जीवनको अनिश्चित कालतक दीर्घ कर सकनेका स्वप्न तो अवश्य ही देखने लगा है। किन्तु, चूँकि हम केवल बाह्य और गौण कारण ही देखते हैं, अतः हम उन्हें कुछ दूर हटा देनेकी ही बात सोच सकते हैं, जिसके विरुद्ध हम संघर्ष कर रहे हैं, उसकी वास्तविक जड़ोंको उखाड़ डालनेकी नहीं। और, इस भाँति हम सीमित हो जाते हैं, क्योंकि हमारा प्रयास गौण प्रत्यक्षणोंके लिये होता है, मूल ज्ञानके लिये नहीं, क्योंकि हम वस्तुओंकी प्रतिक्रियाओंको जानते हैं, उनके सार-तत्वको नहीं। इस प्रकार हम परिस्थितियोंका अधिक प्रबल संचालन करनेका कौशल तो प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु उनपर मूलगत अधिकार प्राप्त नहीं कर पाते। किन्तु हम यदि भूल, कष्ट और मृत्युके मूलगत स्वरूप और सारभूत कारणको पकड़ सकें तो हम उनपर ऐसी प्रभुता पानेकी आशा कर सकते हैं जो सापेक्षिक न होकर सम्पूर्ण होगी। बल्कि हम यह आशा भी कर सकेंगे कि उनका सर्वथा विलोप कर दिया जाय और हमारी संबोधियाँ जिस परम शुभ, आनन्द, ज्ञान और अमरत्वको मानव-सत्ताकी सच्ची और अन्तिम अवस्थाके रूपमें देखती हैं उसे हस्तगत करके हम अपने स्वभावकी प्रधान सहज-प्रवृत्तिको न्याय्य सिद्ध कर सकें।

प्राचीन वेदान्त ऐसा समाधान हमें अपनी ब्रह्म-विषयक इस *धारणा* और अनुभूतिके रूपमें देता है कि ब्रह्म ही अद्वितीय विश्वव्यापी और मूलगत वास्तविकता है और ब्रह्मका स्वरूप है सच्चिदानन्द[1]।

---

1. 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ; 'सत्यं ज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म'। (अनु.)

इस दृष्टिके अनुसार समस्त जीवनका सार-तत्व है एक विश्वव्यापी तथा अमर सत्ताका परिस्पंद, समस्त संवेदन और भावावेगका सार-तत्व है सत्ताके अन्दर एक विश्वव्यापी और स्वयंभू आनन्दकी लीला, समस्त विचार और बोधका सार-तत्व है एक विराट् तथा सर्वव्यापी सत्यका विकिरण, समस्त कर्मण्यताका सार-तत्व है एक विश्वव्यापी और स्वतः-प्रभावी शुभकी प्रगति।

किन्तु यह लीला और परिस्पंद मूर्तिमान् हो उठता है रूपोंकी बहुविधतामें, प्रवृत्तियोंके वैचित्र्यमें, ऊर्जाओंकी पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियामें। बहुविधता एक निश्चायक और, कुछ समयके लिये, विकृति लानेवाले तत्व, वैयक्तिक अहंके हस्तक्षेपको अनुमति देती है, और अहंकी प्रकृति यह है कि वह चेतनाकी बाकी सारी क्रीड़ाके प्रति जान-बूझकर अज्ञानी बनकर और किसी एक रूपके अन्दर, प्रवृत्तियोंके किसी एक समवायमें, शक्तियोंकी गतिके किसी एक क्षेत्रमें ऐकांतिक रूपसे निमग्न होकर चेतनाको आत्म-सीमित करता है। अहं वह तत्व है जो भूल, दुःख, कष्ट, अशुभ और मृत्युकी प्रतिक्रियाओंको निर्धारित करता है, क्योंकि अहं इन्हीं प्रतिक्रियाओंके रूपमें उन गतियोंको आँकता है जो अन्यथा उन एकमेवाद्वितीय सत्, आनन्द, सत्य एवं शुभके साथ अपने सही संबंधमें प्रतिभात होतीं। उपयुक्त संबंध पुनः प्राप्त करके हम अहं-निर्धारित प्रतिक्रियाओंका अन्त कर सकते हैं, अन्ततः उनको उनके सही मूल्योंके रूपमें ले आ सकते हैं, और यह पुनः प्राप्ति तब संपादित हो सकती है जब व्यक्ति समग्रताकी चेतनामें और विश्वोत्तरकी उस चेतनामें भाग लेता हो जिसका प्रतिनिधित्व समग्रता करती है।

उत्तरकालीन वेदान्तमें इस प्रकारका एक विचार प्रवेश पा गया और जमकर बैठ गया कि सीमित अहं केवल द्वन्द्वोंका कारण ही नहीं है, वरन् विश्व-सत्ताकी आवश्यकीय अवस्था भी है। अहंके अज्ञान और उससे उत्पन्न सीमाओंसे छुटकारा पाकर हम निस्संदेह द्वन्द्वोंका अन्त कर देते हैं, किन्तु उनके साथ-साथ हम विश्व-क्रियामें रहनेवाले अपने जीवनका भी अन्त कर देते हैं। इस भाँति हम इस बातपर वापस आते हैं कि मानव-जीवनका स्वरूप मूलतः बुरा और भ्रमात्मक है और जगत्के जीवनमें पूर्णता लानेका सारा प्रयास व्यर्थ है। यहाँ हम अन्य कुछ नहीं, केवल एक सापेक्षिक शुभ ही खोज सकते हैं जिसके साथ उसका विरोधी तत्व सदा लगा रहता है। किन्तु, यदि हम उस वृहत्तर और गभीरतर भावपर दृढ़ रहें कि अहं अपनेसे परेकी किसी वस्तुका एक मध्यवर्ती प्रतिरूपमात्र

है, तो हम इस परिणामपर पहुँचनेसे बच जाते हैं, और वेदान्तको जीवनसे पलायन करनेके लिये ही नहीं, वरन् जीवनकी पूर्तिके लिये प्रयुक्त करनेमें समर्थ हो जाते हैं। विश्व-सत्ताका मूल कारण और अधिष्ठान है ईश्वर या पुरुष, जो कि व्यष्टिरूपों और वैश्व रूपोंको प्रकट करता और उनमें बसा रहता है। परिसीमित अहं, चेतनाका एक मध्यवर्ती व्यापारमात्र है जो विकासकी एक विशेष धाराके लिये आवश्यक है। इस धाराका अनुसरण करता हुआ व्यक्ति वहाँ पहुँच सकता है जो स्वयं उसके परे है और जिसका कि वह प्रतिनिधित्व करता है, और फिर भी वह उसका प्रतिनिधित्व करना जारी रख सकता है, किन्तु तब एक तमोग्रस्त और सीमित अहंके रूपमें नहीं, वरन् भगवान्के और विश्व-चैतन्यके एक केन्द्रके रूपमें, जो समस्त वैयक्तिक वैशिष्ट्योंका आलिंगन और उपयोग करता है और उन्हें दिव्य सामंजस्यमें रूपांतरित करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निखिल जड़ प्रकृतिके अन्दर दिव्य चित्पुरुषकी अभिव्यक्ति जड़ विश्वके अन्दर मानवजीवनका आधार है। उस चिन्मय पुरुषका संवृत रहते और अनिवार्य रूपसे विवर्तित होते प्राण, मन और अतिमानसमें उन्मज्जन ही हमारी क्रियाशीलताओंकी पूर्वावस्था है; कारण, इस क्रम-विकासके द्वारा ही जड़के अन्दर मनुष्यका प्राकट्य संभव हुआ है और यह क्रम-विकास ही उसके द्वारा वर्द्धमान रूपसे शरीरके अन्दर ईश्वरकी अभिव्यक्ति—उनका वैश्व मूर्त्त रूप—संभव करेगा। अहमात्मक व्याकृतिमें हमें वह मध्यवर्ती और निर्णायक तत्व मिलता है जिसके द्वारा वह एक ब्रह्म उस सर्वसामान्य, तमसाच्छन्न और आकारहीन निर्विशेष समग्रतामेंसे, जिसे हम अवचेतन कहते हैं, जिसे ऋग्वेदने 'हृद्य-समुद्र' कहा है, सचेतन बहुके रूपमें प्रकट हुआ है। हम जीवन और मृत्यु, हर्ष और शोक, सुख और दुःख, सत्य और मिथ्या, शुभ और अशुभ, इन द्वन्द्वोंको अहमात्मक चेतनाकी प्राथमिक रचनाओंके रूपमें पाते हैं, विश्वके अन्दर सत्ताका जो समग्र सत्य, शुभ, जीवन और आनन्द है उसका बहिष्कार करके अपने-आपकी किसी कृत्रिम रचनामें एकत्वकी प्राप्तिके लिये अहमात्मक चेतनाका जो प्रयत्न है उसके स्वाभाविक और अनिवार्य परिणाम-रूपमें पाते हैं। विश्व और ईश्वरके प्रति व्यक्तिके आत्मोद्घाटनके द्वारा इस अहमात्मक निर्माणके विलयको हम उस परम सिद्धिका साधन पाते हैं जिसके लिये अहमात्मक जीवन एक भूमिकामात्र है, जिस प्रकार पशु-जीवन मानव-जीवनके लिये एक भूमिकामात्र था। परिसीमित अहंका रूपांतरित होकर दिव्य एकत्व तथा स्वतंत्रताका एक सचेतन केन्द्र बन जाने और इस प्रकार

व्यक्तिके द्वारा अपने अन्दर 'सर्व'की उपलब्धि करनेको हम वह पद पाते हैं जहाँ सिद्धि पहुँच जाती है। और, जगत्‌में वहुपर अनन्त तथा निरपेक्ष सत्, सत्य, शिव एवं आनन्दके परिप्लावनको हम वह दिव्य परिणाम पाते हैं जिसकी ओर हमारे विकासक्रमके चक्र अग्रसर हो रहे हैं। यही वह परम भ्रूण है जिसे प्रकृतिमाता अपने गर्भमें धारण किये हुए हैं और जिसे जन्म देनेके लिये वह प्रयत्नशील हैं।

अध्याय आठ

वैदान्तिक ज्ञानकी पद्धतियाँ

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्रचया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।।

सकल भूतोंमें गूढ़ यह आत्मा प्रकट नहीं है, किन्तु सूक्ष्मदृष्टि-शाली उसे सूक्ष्म, परम बुद्धिके द्वारा देख सकते हैं।

—कठोपनिषद्
3.12

किन्तु तब जगत्‌में इस सच्चिदानन्दकी क्रिया क्या है? और, वस्तुओंकी वह कौन-सी प्रक्रिया है जिसके द्वारा सच्चिदानन्दको रूप देनेवाले अहं और सच्चिदानन्दके बीचके संबंध पहले बनाये जाते और बादमें अपनी परिणतितक ले जाये जाते हैं? क्योंकि, इन संबंधोंपर और ये संबंध जिस प्रक्रियाका अनुसरण करते हैं उसपर, मनुष्यके दिव्य जीवनका सारा दर्शन और उसका व्यवहार निर्भर हैं।

इन्द्रियोंकी साक्षीका अतिक्रमण और स्थूल मनकी दीवारोंका भेदन कर आगे बढ़ते हुए ही हम दिव्य जीवनकी धारणा और ज्ञान-प्राप्तितक पहुँचते हैं। जबतक हम अपने-आपको इन्द्रियोंकी साक्षी और स्थूल चेतना-तक सीमित रखते हैं तबतक हम भौतिक जगत् और उसके गोचर विषयोंके अतिरिक्त और किसीकी न तो धारणा बना सकते हैं, न उसे जान सकते हैं। किन्तु हमारे अन्दर कुछ क्षमताएँ हैं जो हमारे मनको ऐसी धारणाएँ बनानेकी योग्यता प्रदान करती हैं जिनका अनुमान तो हम, जो हमें भौतिक जगतोंके तथ्य जैसे दीखते हैं, उनके आधारपर तर्कणाके द्वारा या काल्पनिक भिन्नता लाकर अवश्य कर सकते हैं, किन्तु इन धारणाओंका समर्थन किसी सर्वथा भौतिक तथ्य या किसी भौतिक अनुभवके द्वारा नहीं होता। इनमें सर्वप्रथम साधन है विशुद्ध बुद्धि।

मानव-बुद्धिकी क्रिया द्विविध होती है, मिश्रित या पराश्रित, विशुद्ध या स्वतंत्र। बुद्धि जब हमारे इन्द्रियानुभवके वृत्तके अन्दर सीमित रहती

है, उसके विधानको ही अन्तिम सत्य मान लेती है और केवल बाह्य व्यापारोंके अध्ययनसे ही, अर्थात् विषय अपने संबंधों, प्रक्रियाओं और उपयोगिताओंमें जैसे दीखते हैं उस रूपके अध्ययनसे ही अपना प्रयोजन रखती है, तब वह मिश्रित क्रियाको अपनाती है। जो "है" उसे जाननेमें बुद्धिकी यह क्रिया असमर्थ है, वह केवल उसे ही जानती है जो दिखायी देता है। उसके पास कोई ऐसा साहुल नहीं है जिससे सत्ताकी गहराइयोंको मापा जा सके, वह तो केवल संभूतिके क्षेत्रका ही सर्वेक्षण कर सकती है। दूसरी ओर, बुद्धि अपनी विशुद्ध क्रियाका आग्रह तब करती है, जब वह हमारे इन्द्रियानुभवोंको आरंभ-स्थल तो मानती है, किन्तु उनसे सीमित होना अस्वीकार करती है, उनके पीछे जाती है, अपने निर्णय करती है, स्वाधिकारसे कार्य करती है और उन सर्वसामान्य और अपरिवर्तनशील धारणाओंतक पहुँचनेका प्रयास करती है जो वस्तुओंके बाह्य रूपोंके साथ नहीं, बल्कि उन रूपोंके पीछे जो स्थित है उसके साथ संबद्ध होती हैं। वह यह भी कर सकती है कि बाह्य रूपोंसे निकलकर उन बाह्य रूपोंके पीछे जो कुछ है उसमें तत्काल प्रवेश करती हुई सीधे निर्णयके द्वारा अपने परिणामतक पहुँच जाय, ऐसी दशामें वह जिस धारणातक पहुँचती है उसके बारेमें ऐसा प्रतीत हो सकता है मानो वह इन्द्रियानुभवका परिणाम हो और उसीपर निर्भर हो, यद्यपि वास्तवमें यह स्वाधिकारमें कार्य करती हुई बुद्धिका प्रत्यक्षण होता है। परन्तु यह संभव है—और यह विशुद्ध बुद्धिके प्रत्यक्षणोंकी अधिक लाक्षणिक क्रिया भी है—कि वे जिस अनुभवसे प्रारंभ करते हैं उसका उपयोग निमित्त रूपमें ही करें और अपने परिणाम-तक पहुँचते-पहुँचते उसे बहुत पीछे छोड़ दें, इतनी दूर कि उससे प्राप्त परिणाम उस परिणामसे बिल्कुल विपरीत ही लगे जिसे इन्द्रियानुभव हमपर अधिष्ठित करना चाहता है। यह क्रिया न्यायसंगत और अनिवार्य है, क्योंकि हमारा सामान्य अनुभव विश्व-व्यापारके एक छोटेसे अंशको ही शामिल करता है, इतना ही नहीं, अपने निजी क्षेत्रकी सीमाओंके भीतर भी वह त्रुटिपूर्ण उपकरणोंका उपयोग करता है और हमें झूठे नाप-तोल बताता है, यदि हमें वस्तुओंके सत्यकी अधिक पर्याप्त धारणाओंतक पहुँचना है तो हमें इस सामान्य अनुभवका अतिक्रमण करना होगा, उसे दूर रख देना होगा और प्रायः उसके हठोंका प्रत्याख्यान करते रहना होगा। इन्द्रियाश्रित मनकी भूलोंको बुद्धिके प्रयोगसे सुधारना मनुष्यद्वारा विकसित उसकी सबसे बहुमूल्य शक्तियोंमेंसे एक है और धरतीके प्राणियोंमें उसकी श्रेष्ठताका प्रधान कारण है।

विशुद्ध बुद्धिका संपूर्ण प्रयोग अन्तमें हमें स्थूलसे स्थूलोत्तरमें, तत्व-विद्यामें ले जाता है। परन्तु तत्व-विद्याके संप्रत्यय हमारी समग्र सत्ताकी माँगको अपने-आप पूरा नहीं करते। हाँ, स्वयं विशुद्ध बुद्धिको तो वे सर्वथा संतोषप्रद लगते हैं, क्योंकि वे उस बुद्धिके निजके अस्तित्वके उपादान ही हैं। परन्तु हमारी प्रकृति वस्तुओंको सदा दो आँखोंसे देखती है, क्योंकि वह उन्हें दो प्रकारसे, तत्व-रूपमें और तथ्य-रूपमें देखती है, और इसलिये प्रत्येक धारणा हमारे लिये अपूर्ण होती है और हमारी प्रकृतिके एक भागके लिये तबतक लगभग अवास्तविक रहती है जबतक कि वह अनुभव न बन जाय। परन्तु जिन सत्योंपर हम यहाँ विचार कर रहे हैं वे उस कोटिके हैं जो हमारे सामान्य अनुभवके अधीन नहीं हैं। स्वरूपतः ये सत्य इन्द्रियानुभवोंसे अतीत, किन्तु बुद्धिके लिये ग्राह्य हैं--"बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्"। अतएव, अनुभवकी कोई अन्य क्षमता आवश्यक हो जाती है जिसके द्वारा हमारी प्रकृतिकी माँग पूरी की जा सके और चूँकि हम यहाँ अतिभौतिककी बात कर रहे हैं, अतः, यह चीज मनोमय अनुभवके विस्तरणसे ही आ सकती है।

एक अर्थमें हमारा सकल अनुभव मनोमय होता है, क्योंकि हम इन्द्रियोंके द्वारा जो कुछ ग्रहण करते हैं उसका तबतक कोई अर्थ या मूल्य नहीं होता जबतक वह इन्द्रियाश्रित मनकी भाषामें अनूदित न हो जाय। इस मनको भारतीय दार्शनिक परिभाषामें मनस् कहा गया है। मनस्, हमारे दार्शनिक कहते हैं, छठी इन्द्रिय है। परन्तु हम यह भी कह सकते हैं कि मनस् ही एकमात्र इन्द्रिय है और चक्षु, श्रोत्र, स्पर्श, घ्राण, रस, ये मनस्की विशिष्टताएँ हैं; और यह मनस् यद्यपि अपने अनुभवके आधारके लिये सामान्यतः इन्द्रियोंका व्यवहार करता है, तथापि वह उनका अतिक्रमण भी करता है और सीधा अनुभव करनेकी भी क्षमता रखता है जो कि उसकी निजी अन्तर्निहित क्रियाका स्वधर्म है। फलतः मनोमय अनुभव बुद्धिके प्रत्ययोंकी भाँति, मनुष्यमें दोहरी क्रिया करनेकी क्षमता रखता है : मिश्रित या पराश्रित, विशुद्ध या स्वतंत्र। उसकी मिश्रित क्रिया सामान्यतः तब होती है जब वह बाह्य जगत्को, अर्थात् विषयको जानना चाहता है, उसकी विशुद्ध क्रिया तब होती है जब वह अपने-आपके प्रति, यानी स्वयं विषयीके प्रति संविद् होना चाहता है। पहली क्रियामें वह इन्द्रियोंपर निर्भर होता है और अपने बोधको उनकी साक्षीके अनुसार गढ़ता है, दूसरीमें वह स्वयं अपने अन्दर क्रिया करता है और वस्तुओंके साथ एक प्रकारका तादात्म्य प्राप्त करके सीधे उनके

प्रति संविद् हो जाता है। हम अपने भावावेगोंको इसी प्रकार जानते हैं, जैसा कि चुभती भाषामें कहा गया है, हम क्रोधको इसलिये जानते हैं कि हम स्वयं क्रोध बन जाते हैं। हमें अपने अस्तित्वकी संवित् भी इसी भाँति होती है, और यहाँ आकर हमें तादात्म्यके द्वारा ज्ञान-प्राप्तिका स्वरूप प्रकट हो जाता है। वस्तुतः सकल अनुभव, अपने गुप्त स्वरूपमें, तादात्म्यके द्वारा प्राप्त ज्ञान ही हैं, किन्तु उनका सच्चा स्वभाव हमसे इसीलिये छिपा रहता है कि हमने बहिष्करणके द्वारा, हम स्वयं विषयी हैं और बाकी हर वस्तु विषय है, यह भेद करके अपने-आपको बाकी जगत्से पृथक् कर लिया है, और इसलिये हम ऐसी प्रक्रियाओं और ऐसे उपकरणोंका विकास करनेके लिये बाधित हो जाते हैं, जिनके द्वारा हम उन सबके साथ फिरसे सम्पर्कमें आ सकें जिनका हम बहिष्कार कर चुके हैं। हमें सचेतन तादात्म्यके द्वारा सीधे ज्ञान पानेके स्थानपर परोक्ष ज्ञानकी स्थापना करनी पड़ी है, जो स्थूल सम्पर्क और मानसिक सहानुभूतिसे उद्भूत होता मालूम होता है। यह परिसीमन अहंकी मूलगत सृष्टि है और उसकी उस रीतिका उदाहरण है जिसका उसने सर्वत्र उपयोग किया है, जिसमें वह एक आद्य मिथ्यात्वसे आरंभ करके वस्तुओंके सच्चे सत्यको आनुषंगिक मिथ्यात्वोंसे आच्छन्न करता है और वे ही मिथ्यात्व हमारे लिये संबंधोंके व्यावहारिक सत्य बन जाते हैं।

हमारे अन्दर मन और इन्द्रियोंका ज्ञान वर्तमान अवस्थामें जिस तरह संगठित है, उसके स्वरूपसे यह परिणाम निकलता है कि हमारी वर्तमान सीमाएँ आवश्यक रूपसे अनिवार्य नहीं हैं। वे एक विकासक्रमके परिणाम हैं जिसमें मनने भौतिक विश्वके साथ संबंध स्थापित करनेके लिये कुछ शारीरिक क्रियाओं और उनकी प्रतिक्रियाओंको अपना सामान्य साधन बना लिया है और उनपर निर्भर करनेका आदी हो गया है। अतएव, यद्यपि यह नियम है कि जब हम बाहरी जगत्को जानना चाहते हैं तो सीधे न जानकर हमें यह काम इन्द्रियोंके माध्यमसे ही करना पड़ता है, और वस्तुओं तथा मनुष्योंके बारेमें हम उतना ही सत्य अनुभव कर सकते हैं जितना इन्द्रियाँ दे दें, फिर भी यह नियम एक प्रबल अभ्यासकी नियमितता ही है। मनके लिये यह संभव है,—और उसने जड़के प्रति अधीनताके लिये जो स्वीकृति दे रखी है, उससे अपने-आपको मुक्त करनेके लिये यदि उसे राजी कर लिया जाय, तो उसके लिये यह स्वाभाविक हो जायगा कि वह इन्द्रियोंके विषयोंका ज्ञान, बिना इन्द्रियोंकी सहायताके, सीधे प्राप्त कर सके। सम्मोहन (हिप्नोसिस) और सजातीय मानसिक

व्यापारोंके परीक्षणोंमें यही बात घटित होती है। चूंकि हमारी जागृत चेतना मन और जड़के बीचके उस संतुलनके द्वारा निर्धारित और सीमित होती है जिसे प्राणने अपने विकासक्रममें फलित किया है, इसलिये यह सीधे संबोध प्राप्त करना हमारी सामान्य जागृत अवस्थामें साधारणतः असंभव होता है, अतएव, यह ज्ञान पानेके लिये जागृत मनको निद्राकी अवस्थामें डाल दिया जाता है जिससे सच्चा या अवगूढ़ मन मुक्त हो जाता है, तब मन अपने इस सच्चे स्वरूपको प्रस्थापित करनेमें समर्थ होता है कि वही एकमात्र और सर्व-पर्याप्त इन्द्रिय है, और वह इन्द्रियोंके विषयोंपर अपनी मिश्रित और पराश्रित क्रियाके बदले अपनी विशुद्ध और स्वच्छंद क्रिया प्रयुक्त करनेके लिये स्वतंत्र हो जाता है। यदि हम इस क्षमताको विस्तृत करते हुए अपनी जागृत अवस्थाके अन्दर भी लाना चाहें तो यह वस्तुतः असंभव नहीं है, केवल अधिक कठिन है; जो लोग मनोवैज्ञानिक परीक्षणके कुछ विशेष मार्गोंमें काफी दूरतक जा चुके हैं उन सबको यह अच्छी तरह मालूम है।

हम सामान्यतः जिन पाँच इन्द्रियोंका उपयोग करते हैं उनके अतिरिक्त अन्य इन्द्रियोंका विकास करनेके लिये भी इन्द्रियाश्रित मनकी अकुंठित क्रियाको व्यवहृत किया जा सकता है। उदाहरणके लिये, जिस वस्तुको हम हाथमें लेते हैं उसका भार भौतिक साधनोंके उपयोगके विना सही-सही आँकनेकी शक्तिका विकास करना संभव है। इस दशामें स्पर्श और चापके बोधका व्यवहार एक आरंभिक विन्दुके रूपमें ही किया जाता है, जैसे विशुद्ध बुद्धि इन्द्रियानुभवके तथ्योंको व्यवहृत करती है, किन्तु मनको भारका जो माप मिलता है वह वस्तुतः स्पर्शके बोधसे नहीं मिलता, बल्कि उसका सही माप वह अपने निजी स्वतंत्र प्रत्यक्षणके द्वारा पाता है और स्पर्शका उपयोग केवल वस्तुके साथ संबंध जोड़नेके लिये ही करता है। विशुद्ध बुद्धिकी तरह मनस् भी इन्द्रियानुभवको मात्र एक प्राथमिक विन्दुके रूपमें व्यवहृत कर सकता है, जहाँसे वह ऐसे ज्ञानकी ओर अग्रसर होता है जिसका इन्द्रियोंसे कोई संबंध नहीं रहता और जो प्रायः उनकी साक्षीका खण्डन करता है। और न ही इस क्षमताका विस्तार केवल बाह्य भाग और उपरितलतक सीमित है। किसी इन्द्रियके द्वारा किसी बाह्य विषयके साथ एक बार संबंध जोड़ लेनेपर यह संभव हो जाता है कि मनस्का इस भांति प्रयोग किया जाय कि उस विषयकी अन्तर्वस्तुको भी जान लिया जाय। उदाहरणके लिये, हम दूसरोंके विचारों या मनके भावोंको उनके कथन, हावभाव या मुखाकृतियोंकी सहायताके बिना, यहांतक कि

इन सर्वदा आंशिक और वहुधा भ्रामक सूचनाओंके विपरीत भी, पकड़ सकें और समझ सकें। अन्तमें, आंतरिक इन्द्रियोंका उपयोग करके, अर्थात् हमारी विशुद्ध इन्द्रिय-शक्तियाँ अपनी स्थूल क्रियासे पृथक् अपनी विशुद्ध मानसिक अथवा सूक्ष्म क्रियामें जैसी हैं, उस रूपमें उनका उपयोग करके,— उनकी स्थूल क्रिया तो वाह्य जीवनके कार्योंके लिये उनकी समग्र और सर्वसामान्य क्रियामेंसे चुनी हुई चीज है,—हम ऐसे इन्द्रियानुभवोंका, वस्तुओंके ऐसे दृश्य रूपों और विम्वोंका संवोध प्राप्त कर सकते हैं जो हमारे भौतिक परिवेशके संगठनकी वस्तुओंसे भिन्न हैं। क्षमताके इन विस्तारोंको स्थूल मन दुविधा और अविश्वाससे ग्रहण करता है, क्योंकि ये विस्तार हमारे सामान्य जीवन और अनुभवकी अभ्यस्त योजनाके लिये असाधारण होते हैं, उन्हें कार्यमें उतारना कठिन होता है, उन्हें इस प्रकार क्रमवद्ध करना तो और भी कठिन होता है कि उन्हें सुव्यवस्थित और उपयोगी साधन-समूहका रूप दिया जा सके, किन्तु, फिर भी उन्हें मानना तो पड़ेगा, क्योंकि हमारी सतही रुपसे सक्रिय चेतनाके क्षेत्रको विस्तृत करनेका जो कोई भी प्रयत्न हो,—चाहे वह किसी प्रकारकी अप्रशिक्षित चेष्टा और अनियमित दुर्व्यवस्थित प्रभावद्वारा हो, या वैज्ञानिक और सुनियमित अनुशीलनद्वारा—इन सव प्रयत्नोंके अनिवार्य परिणाम ये विस्तार होते हैं।

तथापि, उनमेंसे कोई भी हमें उस लक्ष्यतक नहीं ले जाता जो हमारे सामने है, उन सत्योंका मानसिक अनुभव नहीं कराता जो इन्द्रियोंकी वोधशक्तिसे परे किन्तु वुद्धिके अनुभवके द्वारा ग्राह्य हैं, "वुद्धिग्राह्यमतींद्रियम्" (गीता 6. 21)। वे तो हमें वस दृश्यों और व्यापारोंका एक विशालतर क्षेत्र और उनके निरीक्षणका अधिक प्रभावी साधन देते हैं। वस्तुओंका सत्य सदा इन्द्रियोंसे परे रहता है। फिर भी विश्व-जीवनकी स्वयं संरचनामें यह यथार्थ नियम अर्न्तनिहित है कि जहाँ कहीं बुद्धिगम्य सत्य हैं, वहाँ उस वुद्धिको धारण करनेवाले देहयंत्रमें कहीं ऐसा साधन होना चाहिये जिससे अनुभवके द्वारा उन सत्योंतक पहुँचा जा सके या अनुभवके द्वारा उनका परीक्षण किया जा सके। हमारी मानसतामें जो एक साधन वचा रह जाता है वह है तादात्म्यद्वारा ज्ञान-प्राप्तिके उस रूपका विस्तार करना जिससे हमें अपने निजके अस्तित्वकी संवित् होती है। वास्तवमें, हमारे अन्तरमें जो समाया हुआ है उसके ज्ञानका आधार हमारी आत्म-संवित् है, जो कम या अधिक रूपसे सचेतन होती है, कम या अधिक रूपसे हमारी धारणाके सामने विद्यमान रहती है। या, इसे अधिक सर्वसामान्य सूत्रमें यों कहें कि आधारके ज्ञानमें ही आधेयका ज्ञान भी

निहित है। तो हम यदि अपनी मानसिक आत्म-संवित्की क्षमताको अपनेसे परे तथा बाहर आत्माकी, उपनिषदोंमें वर्णित आत्मा या ब्रह्मकी संवित्तक विस्तृत कर सकें, तो हम विश्वगत आत्मा या विश्वाधार ब्रह्मके अन्दर समाये सत्योंको अनुभूतिमें उपलब्ध कर सकेंगे। भारतीय वेदान्तने इसी संभावनाको अपनी भित्ति बनाया है। उसने आत्माके ज्ञानके द्वारा ही विश्वके ज्ञानकी खोज की है।

किन्तु वेदान्तने सदा यह माना है कि मानसिक अनुभव और बुद्धिके संप्रत्यय अपनी उच्चतम अवस्थामें भी मानसिक तादात्म्य-भावोंके अन्दर आये प्रतिबिम्ब ही हैं, न कि परम स्वयंभू तादात्म्य। हमें मन और बुद्धिसे परे जाना होगा। अपने ऊर्ध्वमुखी विकासक्रममें हम जिस अवचेतन 'सर्व'से आये हैं और जिस अतिचेतन 'सर्व'की ओर उस विकासक्रमके द्वारा प्रेरित होते हैं, हमारी जागृत चेतनाके अन्दर क्रियाशील बुद्धि इन दोनोंके बीच केवल एक मध्यस्थ रहती है। अवचेतन और अतिचेतन, ये उस एक ही 'सर्व'के दो भिन्न रूपायण हैं। अवचेतनकी व्याहृति है प्राण, अतिचेतनकी व्याहृति है ज्योति। अवचेतनमें ज्ञान या चेतना संवृत है कर्मके अन्दर, क्योंकि कर्म ही प्राणका सार है। अतिचेतनमें कर्म ज्योतिके अन्दर पुनः प्रवेश करता है और तब ऐसा नहीं रह जाता कि संवृत ज्ञान उसके अन्दर समाया हुआ रहे, वरन् स्वयं वह परम चेतनाके अन्दर समाया रहता है। संबोधिमूलक ज्ञान वह है जो इन दोनोंमें विद्यमान है और संबोधिमूलक ज्ञानकी नींव है ज्ञाता और ज्ञेयके बीच सचेतन या कार्यकारी तादात्म्य, वह दोनोंमें रहनेवाली वह सामान्य स्वयंभू अवस्था है जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय ज्ञानके द्वारा एक रहते हैं। किन्तु अवचेतनमें संबोधि प्रकट होती है क्रियामें, प्रभावकारितामें। वहाँ ज्ञान या सचेतन तादात्म्य कर्मके अन्दर ही सम्पूर्णतः या न्यूनाधिक रूपसे प्रच्छन्न रहता है। इसके विपरीत, अतिचेतनमें चूँकि ज्योति ही नियम और सिद्धान्त है अतः, वहाँ संबोधि अपने सच्चे स्वरूपमें, सचेतन तादात्म्यसे उन्मज्जित होते ज्ञान-रूपमें प्रकट होती है और कर्मकी फलोत्पादकता वल्कि उसकी सहचरी या अनिवार्य परिणाम होती है और तब वह प्रधान तथ्य होनेका मुखौटा छोड़ देती है। इन दो अवस्थाओंके बीच मन और बुद्धि मध्यवर्तियोंका कार्य करती हैं, जिससे जीवके लिये यह संभव होता है कि ज्ञानको कर्मके बन्दीगृहसे मुक्त कर दे और उसे अपनी मूलगत प्रधानताको फिरसे प्राप्त करनेके लिये तैयार करे। जब मनके अन्दरकी आत्म-संवित् आधार और आधेय, स्वात्मा और परात्मा दोनोंपर प्रयुक्त होती है, तब वह ज्योतिर्मय

स्वयं-प्रकाश तादात्म्यकी अवस्थामें उन्नत हो जाती है, बुद्धि भी स्वतः-ज्योतिर्मय संबोधिमूलक[1] ज्ञान-रूपमें परिवर्तित हो जाती है। जब मन अपने-आपकी परिपूर्ति अतिमानसमें करता है तब यह हमारे ज्ञानकी उच्चतम संभाव्य स्थिति होती है।

यही है मानव-ज्ञानकी योजना जिसपर प्राचीनतम वेदान्तके निष्कर्ष खड़े हुए थे। प्राचीन मुनिगण इस आधारको लेकर जिन परिणामोंपर पहुँचे थे उनका और आगे विकास करना मेरा उद्देश्य नहीं है। किन्तु अभी जो हमारा एकमात्र प्रयोजन दिव्य जीवनकी समस्या है, यहाँ उससे संबंध रखनेवाले वेदान्तके कुछ प्रमुख निष्कर्षोंपर संक्षेपमें दृष्टि डाल लेना आवश्यक है। क्योंकि हम जिसका पुनर्निर्माण करना चाह रहे हैं उसकी श्रेष्ठ पूर्वतन भित्ति हमें वेदान्तके उन्हीं भावोंमें मिलेगी, और यद्यपि, जैसा कि सब ज्ञानके साथ होता है, कुछ हदतक प्राचीन अभिव्यंजनाके स्थानपर बादके मानसके अनुकूल नवीन अभिव्यंजनाको प्रतिष्ठित करना होगा, और एक ऊषाके बाद आनेवाली दूसरी ऊषाकी भाँति प्राचीन प्रकाशको नवीन प्रकाशमें विलीन हो जाना होगा, फिर भी यदि हम प्राचीन संपत्तिको, या उसमेंसे जितनीका पुनरुद्धार कर सकें उतनीको अपनी आरंभिक पूँजी मानकर चलें, तो नित्य-परिवर्ती और नित्य-अपरिवर्ती अनन्तके साथ अपने नये व्यापारमें अधिक-से-अधिक लाभ जुटानेमें हम अधिक-से-अधिक सुविधासे आगे बढ़ सकेंगे।

विश्वके संबंधमें वैदान्तिक विश्लेषणकी दृष्टि जिस अन्तिम संप्रत्ययपर पहुँचती है, वह है सद्ब्रह्म, निरंजन, अनिर्देश्य, अनन्त, निर्विशेष सत्। यही वह मूलगत सद्वस्तु है जिसे वैदान्तिक अनुभव उन समस्त गतियों और रूपोंके पीछे देखता है जो हमारे लिये प्रातिभासिक वास्तवता हैं। यह स्पष्ट है कि हम जब इस धारणाको अपनाते हैं तो अपनी सामान्य चेतनाके, अपने सामान्य अनुभवके धारण-सामर्थ्य या प्रामाण्यसे परे चले जाते हैं। इन्द्रियाँ और मनस् किसी विशुद्ध या निर्विशेष अस्तित्वके बारेमें कुछ भी नहीं

1. संबोधि, अंतःस्फुरित ज्ञान, सहज-स्फुरित ज्ञान, ये अंग्रेजीके 'इंट्यूशन' (Intuition) शब्दके लिये प्रयुक्त होते हैं। मूल पुस्तकमें इस 'इंट्यूशन' शब्दके नीचे श्रीअरविन्दने यह टिप्पणी दी है :—मैंने 'इंट्यूशन' शब्दका प्रयोग उससे अच्छे शब्दके अभावमें ही किया है। वास्तवमें यह शब्द कामचलाऊ है और अभिप्रेत भावको प्रकट करनेके लिये अपर्याप्त है। यही बात 'कौनशसनेस' (Consciousness) और बहुतसे अन्य शब्दोंके लिये भी कहनी होगी जिनके अर्थको अपनी दरिद्रतावश अवैध रूपसे विस्तृत करना पड़ता है। (अनु०)

जानते। हमारे इन्द्रियानुभव तो बस रूप और गतिकी ही बात करते हैं। रूपोंका अस्तित्व है, किन्तु उनका अस्तित्व विशुद्ध नहीं, बल्कि सदा मिश्रित, संयोजित, संकलित और सापेक्षिक होता है। हम जब अपने-आपके अन्दर जाते हैं, तो व्याकृत रूपसे तो छुटकारा पा सकते हैं, किन्तु गति या परिवर्तनसे छुटकारा नहीं पा सकते। देशके अन्दर जड़-तत्वकी गति, कालके अन्दर परिवर्तनकी गति, ये सत्ताका आश्रय प्रतीत होती हैं। निस्संदेह हम, चाहें तो, कह सकते हैं कि यही तो सत्ता है, और स्वरूप-सत्ता मनका भाव ही है, वह कोई प्राप्य सद्वस्तु नहीं। अधिक-से-अधिक आत्म-संवित्के व्यापारमें या उसके पीछे कभी-कभी हमें किसी ऐसी वस्तुकी झाँकी मिल जाती है जो अचल और अपरिवर्तनशील है, जिससे अस्पष्ट रूपसे हम कुछ ऐसा अनुभव करते या कल्पना करते हैं कि हम समस्त जीवन और मृत्युसे परे हैं, समस्त परिवर्तन, रूपायण और क्रियासे परे हैं। हमारे अन्दर यही एक ऐसा द्वार है जो कभी-कभी किसी परेके सत्यके ज्योति-वैभवकी ओर खुल पड़ता है और फिरसे बन्द होनेके पहले उसकी किसी किरणका हमसे स्पर्श होने देता है—यह एक ज्योतिर्मय इंगित होता है, जिसे, यदि हमारे अन्दर शक्ति और दृढ़ता हो, तो हम श्रद्धाके साथ पकड़ सकते हैं और मनस्से भिन्न किसी और चेतनाकी क्रीड़ाके लिये,—संबोधिकी क्रीड़ाके लिये,—इसे आरंभ-बिन्दु बना सकते हैं।

वस्तुतः हम यदि सावधानीसे जाँच करें तो पायँगे कि हमारा प्रथम शिक्षक संबोधि है। संबोधि सदा हमारी मानसिक क्रियाओंके पीछे अवगुंठित रहती है। संबोधि मनुष्यके लिये अज्ञातसे सदा वे उज्ज्वल संदेश लाती है जो उसके उच्चतर ज्ञानका आरंभ होते हैं। बुद्धि तो बादमें प्रवेश करती है और यह देखती है कि इस चमकती फसलसे वह क्या लाभ उठा सकती है। हम जो कुछ जानते हैं और जो कुछ प्रतीत होते हैं, उन सबके पीछे और उन सबसे परेकी किसी वस्तुका भाव हमें संबोधि देती है, यह भाव मनुष्यकी निम्नतर बुद्धि और उसके समस्त सामान्य अनुभवोंका प्रत्याख्यान करता हुआ मनुष्यका पीछा करता है और उसे प्रेरित करता है कि वह उस निराकार प्रत्यक्षणको ईश्वर, अमरत्व, स्वर्ग और अन्यान्य अधिक भावात्मक सूत्रोंमें व्यक्त करे जिनके द्वारा हम उसे मनके सम्मुख व्यक्त करनेका यत्न करते हैं। क्योंकि, संबोधि उतनी ही बलवती है जितनी कि स्वयं प्रकृति, जिसके स्वयं मर्मसे वह उत्पन्न हुई है और वह बुद्धिके खण्डन या अनुभवके निषेधोंकी तनिक भी परवाह नहीं करती। जो है, उसे वह इसलिये जानती है कि वह है, और स्वयं वह

उसीकी है, और उसीसे आयी है, और उसे, जो बस "हो गया है" और "प्रतीत होता है", उसके न्यायके हवाले नहीं करती। संबोधि हमें जो ज्ञान देती है वह उतना 'सत्ता'-संबंधी नहीं होता जितना कि 'सत्'-संबंधी, क्योंकि वह हमारे अन्दरकी ज्योतिके उस एक बिन्दुसे अग्रसर होती है जिससे उसे अपनी श्रेष्ठता मिलती है, वह ज्योति-बिन्दु है हमारी अपनी आत्म-संवित्में कभी-कभी उन्मीलित द्वार। प्राचीन वेदान्तने संबोधिके इस संदेशको ग्रहण किया और उपनिषदोंके तीन महान् वाक्योंमें इसे व्यक्त किया : "सोऽहम्", मैं वह हूँ, "तत्त्वमसि श्वेतकेतो", हे श्वेतकेतु, तू वही है, "सर्वं खल्विदं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म", यह सब कुछ ब्रह्म है, यह आत्मा ब्रह्म है।

किन्तु मनुष्यके अन्दर संबोधि पर्देके पीछेसे काम करती है, मुख्य रूपसे उसके अधिक अप्रबुद्ध और कम स्फुट अंगोंमें सक्रिय रहती है। पर्देके सामने, उस संकीर्ण प्रकाशमें जो कि हमारी जाग्रत् चेतना है, उसे केवल उन्हीं उपकरणोंकी सेवा प्राप्त होती है जो उसके संदेशको सम्पूर्णतः आत्मसात् करनेमें असमर्थ हैं। अतः संबोधि अपनी क्रियाके इस स्वरूपके कारण हमें उस व्यवस्थित और सुव्यक्त रूपमें सत्य नहीं दे सकती जिसकी माँग हमारी प्रकृति करती है। वह हमारे अन्दर अपरोक्ष ज्ञानकी कोई ऐसी सम्पूर्णता संपादित कर सके, इससे पहले उसे अपने-आपको हमारी ऊपरी सत्तामें संगठित करना होगा और वहाँ प्रधान भागपर अधिकार करना होगा। किन्तु हमारी बाहरी सत्तामें बुद्धि संगठित है, संबोधि नहीं, और बुद्धि ही हमें हमारे प्रत्यक्षों, विचारों और कर्मको व्यवस्थित करनेमें सहायता देती है। अतएव, संबोधिमूलक ज्ञानके युगको, जिसका प्रतिनिधि उपनिषदोंका प्राचीन वैदान्तिक चिन्तन है, बौद्धिक ज्ञानके युगको स्थान देना पड़ा, और श्रुतियोंने, अनुप्रेरित शास्त्रोंने तत्वमीमांसाको स्थान दिया, इसी भाँति बादमें तत्वमीमांसाको परीक्षणात्मक विज्ञानको स्थान देना पड़ा। संबोधिमूलक चिन्तन जो कि अतिचेतनका दूत है और अतएव, हमारी उच्चतम क्षमता है, उसे निष्कासित कर विशुद्ध बुद्धि आ गयी जो केवल एक प्रकारका प्रतिनिधि है और हमारी सत्ताकी मध्य ऊँचाइयोंकी वस्तु है; फिर विशुद्ध बुद्धिकी बारी आयी और उसे बुद्धिकी मिश्रित क्रियाने कुछ समयके लिये स्थान-च्युत कर दिया, यह मिश्रित क्रिया हमारे समतल क्षेत्रोंमें और छोटी ऊँचाइयोंपर रहती है और उसकी दृष्टि उन अनुभवोंके क्षितिजसे आगे नहीं जाती जो स्थूल मन और इन्द्रियोंके द्वारा या उनकी सहायतार्थ आविष्कृत उपकरणोंके द्वारा हमें प्राप्त हो सकते हैं। और

यह प्रक्रिया जो कि नीचे उतरना प्रतीत होती है वास्तवमें प्रगतिका एक चक्र है। क्योंकि, हर दशामें निम्नतर क्षमता इस बातके लिये बाधित की जाती है कि उच्चतर उसे जो कुछ प्रदान कर चुका है, उसका जितना अंश वह आत्मसात् कर सकती है उसे ग्रहण करे और अपनी निजी पद्धतियोंके द्वारा उसे पुनः प्रतिष्ठित करनेका प्रयास करे। इस प्रयाससे स्वयं उसका क्षेत्र विस्तृत होता है और अन्तमें उसमें उच्चतर क्षमताओंके प्रति अधिक नमनीय और अधिक प्रचुर आत्म-अनुकूलन आ जाता है। यदि यह आनुक्रमिक धारा न होती और आत्मसात् करनेका पृथक्-पृथक् प्रयास न होता, तो हम अपनी प्रकृतिके किसी एक अंगके एकाधिकारमें रहनेको बाध्य हो जाते और बाकी भाग या तो अनुचित रूपसे दबा हुआ और पराधीन बना रहता, या अपने क्षेत्रमें पृथक् और फलस्वरूप अपने विकासमें दरिद्र रहता। किन्तु इस अनुक्रम-धारा और पृथक् प्रयाससे संतुलन ठीक हो जाता है, हमारे ज्ञानके अंगोंके एक अधिक सम्पूर्ण सामंजस्यकी तैयारी हो जाती है।

यह क्रम-धारा हम उपनिषदों और बादके भारतीय दर्शनशास्त्रोंमें देखते हैं। वेद और वेदान्तके ऋषि सम्पूर्ण रूपसे संबोधि और आध्यात्मिक अनुभवपर निर्भर रहते थे। कभी-कभी भूलसे विद्वान् लोग उपनिषद्में बड़े-बड़े वाद-विवाद या शास्त्रार्थ होनेकी बात कह देते हैं। किन्तु जहाँ कहीं भी विवादका आभास हुआ है वहाँ शास्त्रार्थके द्वारा, तर्कशास्त्रके द्वारा या युक्तियोंके प्रयोगके द्वारा नहीं, बल्कि संबोधि और अनुभवोंकी तुलनाके द्वारा आगे बढ़ा गया है, वहाँ कम ज्योतिर्मय अधिक ज्योतिर्मयको स्थान देता है, संकीर्णतर, अधिक सदोष या अल्प सारभूत, विशालतर, पूर्णतर और अधिक सारभूतको स्थान देता है। एक चिन्तक दूसरेसे यह नहीं पूछता "इसपर आपका क्या विचार है?", न यही कि "इस विषयमें आपकी बुद्धि किस निर्णयपर पहुँची है?", वरन् वह पूछता है, "इस बारेमें आप क्या जानते हैं?" वेदान्तके सत्योंके समर्थनमें हम उपनिषदोंमें कहीं भी तर्क-वितर्कका चिह्न नहीं पाते। ऐसा लगता है कि उन ऋषियोंकी यह मान्यता थी कि संबोधिको किसी अधिक पूर्ण संबोधिसे शुद्ध करना चाहिये, वहाँ तर्क-युक्तियाँ निर्णायक नहीं बन सकतीं।

किन्तु, फिर भी, मानव-बुद्धिकी माँग रहती है कि उसे उसीकी पद्धतिसे संतुष्ट किया जाय। अतः जब युक्तिबुद्धिपरक चिन्तनका काल आया तब अतीतकी विरासतके प्रति आदरभाव रखते हुए भारतीय दार्शनिकोंने अपने लक्ष्यभूत सत्यके प्रति दोहरा मनोभाव अपनाया। श्रुति, जो कि संबोधिके प्राचीनकालीन परिणाम थी, या उनकी पसंदकी भाषामें

कहें तो जो आगम या आप्तवचन थी, उसे उन्होंने बुद्धिसे अधिक श्रेष्ठ प्रमाण माना। किन्तु, साथ ही, उन्होंने बुद्धिसे आरंभ किया और उससे उन्हें जो परिणाम मिले उनकी उन्होंने जाँच की, और केवल उन्हीं निष्कर्षोंको उचित माना जिनका समर्थन उस श्रेष्ठ श्रुति-प्रमाणसे मिल सका। इससे यह हुआ कि तत्व-मीमांसाको आक्रान्त करनेवाला जो यह दोष है कि उसकी बादलोंमें संघर्ष करनेकी प्रवृत्ति रहती है क्योंकि वह शब्दोंको इस भाँति लेती है मानो वे अनुल्लंघ्य तथ्य हों, न कि ऐसे प्रतीक, जिनकी सावधानीसे छानबीन करनेकी आवश्यकता सदा बनी रहती है और जिन्हें सदा उस आशयकी ओर वापस लाना पड़ता है जिसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं, इस दोषको वे दार्शनिक कुछ दूरीतक बचा पाये। आरंभमें उनका चिन्तन-प्रवाह अपने केन्द्रको सर्वोच्च और गभीरतम अनुभवके निकट रखनेकी प्रवृत्ति रखता था और बुद्धि तथा संबोधि इन दो महान् प्रमाणोंकी सम्मिलित सहमतिसे अग्रसर होता था। तथापि, बुद्धिकी अपनी महत्ता प्रतिष्ठित करनेकी स्वाभाविक प्रवृत्तिने बुद्धिको गौण माननेके सिद्धान्तपर वस्तुतः विजय पा ली। अतः परस्पर-विरोधी सम्प्रदायोंका उदय हुआ जिनमेंसे प्रत्येकने वेदको अपने-अपने सिद्धान्तका आधार बनाया और उसके वचनोंको दूसरोंके विरुद्ध शस्त्रके रूपमें प्रयुक्त किया। क्योंकि, उच्चतम संबोधिमूलक ज्ञान चीजोंको उनकी समग्रतामें और विशालतामें देखता है, उनके ब्योरोंको तो वह अविभाज्य समग्रताके पार्श्वोंके रूपमें ही मानता है, उसकी प्रवृत्ति तात्कालिक समन्वय और ज्ञानके एकत्वकी ओर रहती है। इसके विपरीत बुद्धि विश्लेषण और विभाजन करती हुई अग्रसर होती है और एक समग्रके निर्माणके लिये अपने तथ्योंको एकत्रित करती है, किन्तु इस प्रकार निर्मित समवायमें विरोध, वैपरीत्य होते हैं और तार्किक दृष्टिसे असंगतियाँ रह जाती हैं, और बुद्धिकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है इनमेंसे कुछको स्वीकार करने और बाकी जो कुछ उसके चुने हुए निष्कर्षोंसे विपरीत है उसे अस्वीकार करनेकी, ताकि वह एक निर्दोष रूपसे युक्तियुक्त प्रणालीका निर्माण कर सके। इस प्रकार जो प्रथम संबोधिमूलक ज्ञान आया था उसकी एकता खण्डित हो गयी और तार्किकोंका बुद्धि-चातुर्य सदा ऐसे उपायों, भाष्य-प्रणालियों और परिवर्ती मूल्योंके मानदंडोंका आविष्कार करनेमें समर्थ रहा जिनके द्वारा महान् शास्त्रोंके असुविधाजनक वचनोंको व्यवहारतः रद्द कर दिया गया और अपने दार्शनिक चिन्तन और अनुमानके लिये उन्हें एक पूरी स्वतंत्रता प्राप्त हो गयी।

फिर भी इन विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तोंमें प्राचीन वेदान्तकी मुख्य धारणायें आंशिक रूपमें बनी रहीं और समय-समयपर उन्हें संबोधिमूलक विचारोंके एकत्व और प्राचीन उदारताके प्रतिरूपमें फिरसे संयोजित करनेके लिये प्रयत्न किये गये। और, विभिन्न रूपोंसे व्यक्त होकर, सबकी विचार-धाराओंके पीछे रहनेवाली मूलभूत धारणाके रूपमें पुरुष, आत्मा या सद्ब्रह्म, उपनिषदोंका शुद्ध सत् विद्यमान रहा है, और यद्यपि बहुधा बुद्धिके साँचेमें ढालकर उसे किसी भाव या मानसिक अवस्थाका रूप दिया गया, फिर भी उस अनिर्वचनीय सद्वस्तुकी प्राचीन भावनाकी कुछ चीज उनमें विद्यमान रही। संभूतिकी जिस गतिको हम जगत् कहते हैं उसका इस निर्विशेष एकत्वके साथ क्या संबंध हो सकता है, और यह जो अहं है वह चाहे इस गतिसे उत्पन्न हुआ हो, चाहे इस गतिका कारण हो, वह वेदान्तके द्वारा प्रतिपादित सद्-आत्मा, परमात्मा या परम सद्वस्तुको पुनः कैसे प्राप्त कर सकता है, ये ही वे सैद्धान्तिक और व्यावहारिक प्रश्न हैं जिनमें भारतीय चिन्तन सदैव रत रहा है।
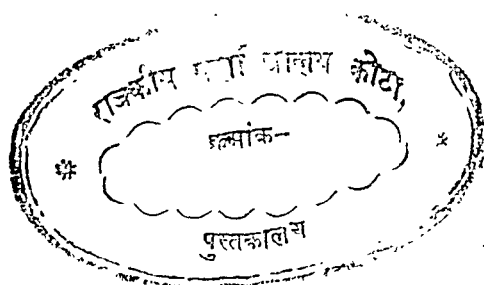
अध्याय नौ

शुद्ध सत्

सदेव······एकमेवाद्वितीयम् ॥

एक अविभक्त, शुद्ध सत्।

—छान्दोग्योपनिषद्
6.2.1.

सीमित और चंचल विषयोंमें अहमात्मक रूपसे तन्मय रहनेवाली अपनी दृष्टिको जब हम उस ओरसे हटा लेते हैं और केवल सत्यको खोजनेवाली आवेशरहित और जिज्ञासु आँखोंसे जगत्को देखते हैं तो सबसे पहले हमें यह अनुभव होता है कि अनन्त सत्, अनन्त गति, अनन्त क्रियाकी एक असीम शक्ति अपने-आपको सीमारहित देश और सनातन कालमें उँड़ेल रही है, वह ऐसा सत् है जो हमारे अहं या किसी भी अहं या अहमोंकी किसी भी समष्टिसे अनन्तगुना महान् है, उसकी तुलामें युग-युगकी महान् उत्पत्तियाँ एक क्षणकी धूलिमात्र हैं, उसके अगण्य हिसाबमें असंख्य अयुत केवल एक क्षुद्र कीट-समूह जैसे लगते हैं। हमारी यह सहजप्रवृत्ति है कि हम इस भाँति कर्म करते, अनुभव करते और अपने जीवन-संबंधी विचारोंको बुनते हैं मानो यह अति विशाल विश्व-गति हमें केन्द्र बनाकर हमारे चारों ओर और हमारे ही हितके लिये हमें सहायता या हानि पहुँचानेके लिये क्रियारत है, या मानो हमारी अहमात्मक लालसाओं, भावावेगों, भावों, मानदण्डोंका समर्थन करना ही उनका उपयुक्त कार्य है, ठीक वैसे ही जैसे हम इसे अपना मुख्य प्रयोजन मानते हैं। जब हमारी दृष्टि खुलती है तो हम देखते हैं कि इस विश्वगतिका अस्तित्व हमारे लिये नहीं, स्वयं उसीके लिये है, उसके अपने विपुल लक्ष्य हैं, उसका अपना जटिल और असीम भाव है, उसकी अपनी विशाल कामना या अपना विशाल आनन्द है जिसे वह पूरा करनेकी चेष्टा कर रही है, उसके अपने विशाल और विकराल मानक हैं जो हमारे मानकोंकी क्षुद्रताकी ओर मानो सदय और व्यंगात्मक मुस्कानसे देखते हैं। परन्तु फिर भी

हमें छलांग मारकर दूसरे सिरेपर न जा पहुँचना चाहिये और अपनी नगण्यताके बारेमें अत्यधिक निश्चित भाव न बना लेना चाहिये। यह भी अज्ञानका ही एक कार्य होगा और अपनी आँखोंको विश्वके महान् तथ्योंकी ओरसे मूंद लेना होगा।

कारण, यह असीम गति हमें अपने लिये महत्वहीन नहीं मानती। विज्ञान हमें दिखाता है कि यह विशाल शक्ति अपनी छोटी-से-छोटी क्रियापर भी कितनी सूक्ष्म सावधानी, कितना चतुर कौशल और कितनी गाढ़ी तल्लीनता बरतती है, जिस भाँति कि अपने बड़े-से-बड़े कार्यपर। यह महती शक्ति समदर्शी और निष्पक्ष माता है, गीताके महावचनके अनुसार "समं ब्रह्म" है, और उसकी गतिकी जो तीव्रता और शक्ति किसी सौर मण्डलकी रचनामें और उसे धारण करनेमें प्रयुक्त होती है, किसी बल्मीकके जीवन-संगठनमें भी वही प्रयुक्त होती है। हम जो एकको बड़ा, दूसरेको छोटा मानते हैं इसका कारण है आकार और परिमाणका भ्रम। इसके विपरीत, यदि हम परिमाणकी राशिको न देखकर गुणकी शक्तिको देखें तो कहेंगे कि चींटी जिस सौर मण्डलमें रहती है उससे अधिक महान् है और सारी निष्प्राण प्रकृतिको एक ओर रखें तो मनुष्य उससे महान् है। किन्तु यह फिर एक भ्रम है, गुणका भ्रम। जब हम इसके पीछे जाकर केवल गतिकी तीव्रताका निरीक्षण करते हैं, जिसके कि दो पक्ष हैं, गुण और परिमाण, तो हमें यह बोध होता है कि यह ब्रह्म सभी सत्ताओंमें समान रूपसे निवास करता है। उसकी सत्तामें सबका भाग समरूपसे है, हम कहना चाहेंगे, उसकी शक्तिका भाग भी सबमें समरूपसे है। किन्तु यह भी परिमाणका भ्रम है। ब्रह्म सबमें अविभक्त रूपसे निवास करता है, किन्तु लगता है विभक्त। यदि हम फिरसे एक ऐसी निरीक्षणकारी दृष्टिसे देखें जो बौद्धिक संप्रत्ययोंके अधीन नहीं है, वरन् संबोधिसे अनुगर्भित है और जिसका पर्यवसान तादात्म्यजन्य ज्ञानमें होता है, तो हम देखेंगे कि इस अनन्त शक्तिकी चेतना हमारी मानस-चेतनासे भिन्न है, वह अविभाज्य है और सौर मण्डल तथा बल्मीकको अपना समान अंश नहीं, वरन् एक साथ ही अपना पूरा आपा दे देती है। ब्रह्मके लिये न कोई समग्र है न कोई अंश, वरन् प्रत्येक वस्तु ही पूरी ब्रह्ममय है और अखण्ड ब्रह्मसे लाभान्वित होती है। गुण और परिमाणमें भिन्नताएँ होती हैं, किन्तु आत्मा समान है। कर्मकी शक्तिके रूप, रीति और परिणाममें अनन्त भिन्नताएँ होती हैं, किन्तु शाश्वत, आदि, अनन्त शक्ति सबमें एक ही है। बलवान् मनुष्यकी रचना करनेवाली बल-वीर्यकी

शक्ति दुर्बल मनुष्यको बनानेवाली दुर्बलताकी शक्तिसे रंचमात्र भी बड़ी नहीं है। निग्रहमें भी उतनी ही शक्ति व्यय होती है जितनी अभि-व्यक्तिमें, निषेधमें भी उतनी ही जितनी स्वीकृतिमें, नीरवतामें भी उतनी ही जितनी वाणीमें।

अतएव, हमारा प्रथम कर्तव्य यह है कि यह जो अनन्त 'गति' है, यह जो सत्ताकी शक्ति है जो कि जगत्-रूप हो गयी है उसके और हमारे बीचका लेखा-जोखा ठीक करें। अभी हम गलत हिसाब रख रहे हैं। हम अपने-आपको सर्वमयके लिये असीम रूपसे महत्वपूर्ण समझते हैं, किन्तु 'सर्व' हमारे लिये नगण्य है, अपने लिये बस हम ही महत्वपूर्ण हैं। यह उस आद्य अज्ञानका चिह्न है जो अहंका मूल है। वह अपने-आपको ही केन्द्र मानकर विचार कर सकता है मानो बस वही सर्व है, और जो कुछ वह स्वयं नहीं है उसका उतना ही अंश स्वीकार करता है जितना मानसिक रूपसे मानना चाहे या अपने परिपार्श्वके आघातोंके द्वारा माननेके लिये बाधित होता है। जब वह दार्शनिक सिद्धान्त बनाना शुरू करता है तब भी क्या वह यह प्रतिपादित नहीं करता कि जगत्का अस्तित्व उसीकी चेतनाके अन्दर और उसीकी चेतनाके द्वारा है? उसके लिये अपनी चेतनाकी स्थिति और उसके अपने मानक ही वास्तविकताकी परख हैं। उसकी परिधि या दृष्टिके बाहर जो कुछ है वह उसे मिथ्या या अस्तित्वहीन लगने लगता है। मनुष्यकी यह मानसिक आत्म-पर्याप्तता हिसाबकी एक गलत प्रणालीकी रचना करती है जो हमें जीवनसे ठीक-ठीक और पूरा-पूरा मूल्य पानेसे रोकती है। एक अर्थमें मानव-मन और अहंके ये दावे एक सत्यपर आश्रित रहते हैं, किन्तु यह सत्य तभी प्रकट होता है जब मन अपने अज्ञानको जान चुकता है और अहं 'सर्व'के अधीन होकर उसके अन्दर अपनी पृथक् आत्म-प्रतिष्ठाकी प्रवृत्ति खो देता है। यह अभिज्ञात कर लेना कि हम, या यूँ कहें कि वे परिणाम और प्रत्यक्ष रूप जिन्हें हम 'हम' कहते हैं, एक अनन्त 'गति'की एक आंशिक गति ही हैं, हमें उसी अनन्तको जानना है, सचेतन रूपसे वही बनना है और सच्चाईके साथ उसे ही चरितार्थ करना है, यही सच्चे जीवनका आरंभ है। इस हिसाबका दूसरा पहलू यह अभिज्ञात करना है कि अपने सच्चे आत्मरूपमें हम इस समग्र गतिके साथ एक हैं, उसके अधीन या गौण नहीं, और हमारी जीवन-रीतिमें, हमारे विचार, भावावेग और कर्ममें उसका अभिव्यंजित होना एक सच्चे या दिव्य जीवनकी परिणतिके लिये आवश्यक है।

किन्तु हिसाव पूरा करनेके लिये हमें यह जानना होगा कि यह 'सर्व', यह अनन्त और सर्वशक्तिमयी शक्ति है क्या? और यहाँ एक नयी जटिलताका सामना होता है। क्योंकि विशुद्ध वुद्धि हमारे सामने यह प्रतिपादित करती है, और वेदान्त भी यह प्रतिपादित करता प्रतीत होता है, कि जिस प्रकार हम इस अनन्त 'गति'के अधीन और उसका एक पक्ष हैं, वैसे ही गति भी एक पर वस्तुके, एक महान्, कालातीत, देशातीत स्थाणुके अधीन और उसका एक पक्ष है। वह वस्तु, वह स्थाणु अपरिवर्तनीय, अक्षय और अव्यय है, वह स्वयं निष्क्रिय है, किन्तु सारी कर्मण्यता उसमें समायी रहती है, वह शक्ति नहीं है, वह शुद्ध सत् है। जो लोग केवल इस विश्व-शक्तिको ही देखते हैं वे निस्संदेह घोषित कर सकते हैं कि ऐसी कोई वस्तु नहीं है : हमारा किसी शाश्वत स्थाणुका भाव, किसी अपरिवर्तनशील शुद्ध सत्का भाव हमारी बौद्धिक धारणाओंकी गढ़ी कहानी है जिसका सूत्रपात स्थाणुके असत्य भावसे होता है : क्योंकि ऐसा कुछ भी नहीं है जो स्थाणु हो; सव कुछ गति है और हमारी स्थाणुकी धारणा हमारी मानसिक चेतनाका एक कौशल है, जिसके द्वारा हम गतिके साथ कार्यरूपमें व्यवहार करनेके लिये एक आधार-विन्दु पा लेते हैं। यह दिखलाना आसान है कि स्वयं गतिके अन्दर यह वात सत्य है; वहाँ ऐसा कुछ भी नहीं है जो स्थिर हो। जो कुछ भी निश्चल प्रतीत होता है वह वस गतिका घन-विग्रह ही है, क्रियारत शक्तिका ऐसा रूपायण है जो हमारी चेतनाको इस प्रकार प्रभावित करता है कि वह स्थिर प्रतीत होता है, कुछ इस भाँति जैसे पृथ्वी हमें स्थिर मालूम होती है, कुछ इस भाँति जैसे हम जिस रेलमें यात्रा करते हैं वह भागते प्राकृतिक दृश्यके वीच स्थिर मालूम होती है। किन्तु क्या इसी प्रकार यह भी उतना ही सत्य है कि इस गतिके नीचे, उसे अवलंव देनेवाला जैसा कुछ भी नहीं है, जो कि निश्चल और अपरिवर्तनशील हो? क्या यह सच है कि शक्तिकी क्रियामें ही सत्ता होती है? या वल्कि, क्या ऐसा नहीं है कि वह शक्ति ही सत्ताकी उत्पत्ति हो?

हम तुरत देख सकते हैं कि यदि कोई ऐसी सत्ता है, तो शक्तिकी भाँति वह भी अनन्त ही होगी। न वुद्धि, न अनुभूति, न संवोधि, न कल्पना ही किसी अविकल्प अन्तकी संभावनाकी साक्षी देती है। जहाँ आदि और अन्त होंगे वहीं यह भी ध्वनित होगा कि इस आदि और अन्तके परे भी कुछ है। निरपेक्ष अन्त, निरपेक्ष आरंभ, ऐसा अन्त जिसके वाद कुछ नहीं है, ऐसा आरंभ जिसके पहले कुछ नहीं था, इस कथनमें केवल

शाब्दिक विरोध ही नहीं है, प्रत्युत यह वस्तु-स्वभावके विपरीत है, बलात्कार है, एक कल्पित कथा है। सांतके रूपोंपर आनंत्य अपने-आपको अपने निर्विवाद स्वयंभूत्वके द्वारा आरोपित करता है।

किन्तु यह आनंत्य देश और कालकी दृष्टिसे है, यह एक नित्य स्थिति, एक अनन्त व्याप्ति है। शुद्ध बुद्धि और आगे जाती है और देश तथा कालको अपने निजी वर्णहीन और आडम्बरहीन प्रकाशकी दृष्टिसे देखती हुई यह बताती है कि देश और काल हमारी चेतनाकी श्रेणियाँ हैं, अवस्थायें हैं जिनके अन्दर हम अपने विश्व-व्यापारविषयक अनुभवको आयोजित करते हैं। जब हम सत्को उसके अपने स्वरूपमें देखते हैं तब देश और काल लुप्त हो जाते हैं। यदि कोई विस्तार है तो वह देशका न होकर सूक्ष्म चेतनासे संबंधित है, यदि कोई काल-प्रवाह है तो वह भी कालिक न होकर सूक्ष्म चेतनासे संबंधित है, और तब यह देखना आसान हो जाता है कि यह विस्तार और काल-प्रवाह ऐसे प्रतीकमात्र हैं जो मनको कोई ऐसी वस्तु प्रदर्शित करते हैं जो बौद्धिक भाषामें अनूदित नहीं की जा सकती, ऐसी शाश्वतता जो हमें सब कुछको अपनेमें समानेवाला वही नित्य नवीन क्षण लगती है, ऐसा आनंत्य जो सब कुछको अपनेमें समानेवाला वही सर्वव्यापी, किन्तु विस्तारहीन बिन्दु प्रतीत होता है। और शब्दोंका यह विरोध, जो इतना उग्र होते हुए भी हमारी अनुभूत हुई ही किसी वस्तुको ठीक-ठीक व्यक्त करता है, यह दिखलाता है कि मन और वाणी अपनी स्वाभाविक सीमाओंको पार कर गये हैं और एक 'सद्वस्तु'को प्रकट करनेका प्रयत्न कर रहे हैं जिसके अन्दर उनकी निजी रूढ़ियाँ और आवश्यक विरोध अनिर्वचनीय तादात्म्यमें लुप्त हो जाते हैं।

किन्तु, क्या यह सच्चा अभिलेख है? क्या यह नहीं हो सकता कि काल और देशके इस प्रकार लुप्त हो जानेका कारण केवल यह है कि हम जिस सत्ताको देख रहे हैं वह बुद्धिकी गढ़ी कहानी है, वाणीके द्वारा रचित एक कपोलकल्पित शून्य है जिसे हम धारणात्मक वास्तविकतामें गढ़नेका प्रयत्न करते हैं? हम उस स्वरूप-सत्ताको फिरसे देखते हैं और कहते हैं, नहीं। विश्व-प्रपंचके पीछे ऐसी कुछ वस्तु है जो केवल अनन्त ही नहीं, अनिर्देश्य भी है। ऐसा कोई भी प्रपंच-व्यापार नहीं, ऐसी कोई भी प्रपंच-समष्टि नहीं जिसके बारेमें हम कह सकें कि वह निरपेक्ष रूपसे है, स्वतंत्र रूपसे सत्तावान् है। यदि हम समस्त प्रपंचोंका पर्यवसान गति या शक्तिके एक मूलगत, सर्वगत अन्तिम रूपमें कर देते हैं तो हमें एक अनिर्देश्य व्यापारकी ही प्राप्ति होती है। गतिकी धारणा करते ही उसके

अन्दर विश्रामकी संभावना मिलती है और यह प्रदर्शित होता है कि गति स्वयं किसी सत्की क्रियाशीलता है, क्रियारत शक्तिके भावके साथ ही क्रियासे उपरत शक्तिका भाव आता है, और वह निर्विशेष शक्ति जो कर्मरत नहीं है वह सरल और शुद्ध रूपसे निर्विशेष सत् ही है। हमारे सामने केवल यही दो विकल्प हैं, या तो एक अनिर्देश्य शुद्ध सत्ता या एक क्रियारत अनिर्देश्य शक्ति, और यदि किसी स्थाणु आधार या कारणके विना रहनेवाली केवल क्रियारत अनिर्देश्य शक्ति ही सत्य है, तो फिर शक्ति क्रिया या गतिके द्वारा उत्पन्न परिणाम और व्यापार होगी और केवल क्रिया या गतिका ही अस्तित्व होगा। तव हमारे सामने कोई सत् नहीं रह जाता, या केवल बौद्धोंका शून्य ही रह जाता है जहाँ सत्ता एक शाश्वत प्रपंचका, क्रियाका, कर्मका, गतिका एक गुणमात्र है। किन्तु तव शुद्ध वुद्धि कह उठती है कि यह निष्कर्ष मेरे अनुभवोंको असंतुष्ट छोड़ देता है और मेरे मौल दर्शनके विपरीत है, अतः ऐसा नहीं हो सकता। कारण, यह निष्कर्ष हमें ऊपर चढ़नेके सोपानपर एक अचानक समाप्त हो जानेवाली सीढ़ीपर ला खड़ा करता है और सारे सोपानको शून्यमें निरावलम्ब लटकता छोड़ देता है।

यदि यह अनिर्देश्य, अनन्त, कालातीत, देशातीत सत् है, तो अनिवार्यतः वह विशुद्ध निर्विशेष है। वह किसी परिमाण या किन्हीं भी परिमाणोंमें नहीं समेटा जा सकता, वह किसी गुणसे या किन्हीं भी गुणोंके सम्मिलनसे नहीं वन सकता। वह रूपोंका समाहार नहीं है, न वह उनका रूपधातुमय अधिष्ठान है। समस्त रूप, परिमाण और गुण लुप्त हो जायँ तो भी यह सत् तो रहेगा ही। गुणहीन, परिमाणहीन, रूपहीन सत्की धारणा की जा सकती है, केवल इतना ही नहीं, वल्कि जो इन व्यापारोंके पीछे विद्यमान है उसकी ओर देखें तो यह सत् ही एकमात्र वह है जिसकी हम धारणा कर सकते हैं। जव हम यह कहते हैं कि यह स[इनसे विहीन है तो अवश्य ही हमारा अभिप्राय यह होता है कि वह इनसे अतीत है, वह ऐसी वस्तु है जिसके अन्दर वे इस भाँति चले जाते हैं कि वे वह नहीं रह जाते जिसे हम रूप, गुण और परिमाण कहते हैं और जव वे उससे उन्मज्जित होकर गतिमें आते हैं तो रूप, गुण और परिमाण वनकर आते हैं। वे किसी एक ऐसे रूप, एक ऐसे गुण और एक ऐसे परिमाणके अन्दर नहीं चले जाते जो वाकी सव कुछका आधार हो, क्योंकि ऐसी कोई वस्तु नहीं है,—वरन् वे किसी ऐसी वस्तुके अन्दर चले जाते हैं जो इनमेंसे किसी भी संज्ञाके द्वारा निर्दिष्ट नहीं की जा सकती।

इस प्रकार, सभी वस्तुएँ, जो गतिके निमित्त और प्रतिभास हैं, उस तत्के अन्दर समा जाती हैं जहाँसे वे आयी हैं, और जबतक उनका अस्तित्व वहाँ रहता है वे ऐसी हो जाती हैं जिसका वर्णन उन शब्दोंसे नहीं किया जा सकता जो उनकी गतिगत अवस्थाके लिये उपयुक्त थे। अतः हम कहते हैं कि शुद्ध सत् निर्विशेष है, उसका स्वरूप विचारके लिये अज्ञेय है, यद्यपि हम, ज्ञानकी परिधियोंसे अतीत परम तादात्म्यके द्वारा उसके पास वापस चले जा सकते हैं। इसके विपरीत, गति सापेक्षिकताका क्षेत्र है, और फिर भी सापेक्षिकताकी जो परिभाषा है, उसके अनुसार, वे सभी वस्तुएँ जो गतिमें हैं उस निरपेक्षको अपने अन्दर धारण करती हैं, निरपेक्षके अन्दर धारित हैं और निरपेक्ष ही हैं। निरपेक्ष और सापेक्षके बीचकी भिन्नताके अन्दर यह जो अभिन्नता है उसके निकटतम उदाहरणके रूपमें वेदान्त मूलभूत आकाशतत्वके साथ प्रकृतिके प्रपंचों और व्यापारोंके संबंधको रखता है,—यह आकाश-तत्त्व प्रकृतिके दृश्यों और व्यापारोंका आधार, आधेय और उपादान है, फिर भी उनसे इतना अधिक भिन्न रहता है कि जब वे उसके अन्दर प्रवेश कर जाते हैं तो वे अभी जो कुछ हैं वैसे नहीं रहते।

जब हम कहते हैं कि वस्तुएँ "उस"के अन्दर चली जाती हैं जिनमेंसे वे आयी थीं, तो अवश्य ही हम अपनी कालिक चेतनाकी भाषाका व्यवहार कर रहे हैं और हमें उसके भ्रमोंसे बचनेका ध्यान रखना होगा। अक्षरके अन्दरसे गतिका उद्भव एक शाश्वत व्यापार है और चूंकि हम उसकी धारणा उस अनादि, अन्तहीन, चिर नवीन क्षणमें नहीं कर पाते हैं जो कालातीतकी शाश्वतता है, इसीलिये हमारी धारणाओं और प्रत्यक्षणोंको विवश होकर उसे आनुक्रमिक प्रवाहकी एक कालिक शाश्वततामें रखना पड़ता है जिसके साथ सदा पुनरावर्तित होनेवाले आदि, मध्य और अन्तके भाव संबद्ध रहते हैं।

किन्तु कहा जा सकता है कि यह सब तभीतक सत्य है जबतक हम शुद्ध बुद्धिके संप्रत्ययोंको स्वीकार करते और उनके अधीन रहते हैं। किन्तु बुद्धिके संप्रत्ययोंकी कोई बाध्यकारी शक्ति नहीं होती। हमें सत्ताका निर्णय अपनी मानसिक धारणाओंके द्वारा नहीं, बल्कि जो अस्तित्ववान् दीखता है उसके द्वारा करना होगा। सत्ताके स्वरूपको जब हम शुद्धतम और मुक्ततम प्रकारकी अंतर्दृष्टिसे देखते हैं तो बस गति-ही-गति दिखायी देती है। केवल दो वस्तुओंका अस्तित्व है, देशके अन्दर गति, कालके अन्दर गति, पहली है विषयगत, और दूसरी है विषयीगत। विस्तार

वास्तविक है, काल-प्रवाह वास्तविक है, देश और काल वास्तविक हैं। यदि हम देशके विस्तारके पीछे जा सकें और उसे मात्र मनोमय व्यापारके रूपमें देखें, इस रूपमें देखें कि यह मनका प्रयास है कि एक अविभाज्य समग्रको धारणात्मक देशमें बाँटकर सत्ताको व्यवहार्य बना सके, तो भी हम कालके अन्दर होनेवाले अनुक्रम और परिवर्तनकी गतिके पीछे नहीं जा सकते, क्योंकि यह तो हमारी चेतनाका उपादान ही है। हम और जगत् दोनों एक ऐसी गति हैं जो एक वर्तमानके अन्दर भूतकालके सारे अनुक्रमोंको समाविष्ट कर अविराम प्रगति करती है और वर्द्धित होती है, और वर्तमान हमारे सामने भविष्यके सारे अनुक्रमोंके आरंभके रूपमें आता है,—एक ऐसा आरंभ, एक ऐसा वर्तमान जो सदा हमारी पकड़से निकल जाता है, क्योंकि वह है नहीं, वह तो जन्म लेनेके पहले ही पर्यवसित हो जाता है। जो कुछ है, वह कालका एक शाश्वत, अविभाज्य अनुक्रम है, जो अपनी धारामें चेतनाकी प्रगतिशील गतिको लिये जा रहा है और वह चेतना-गति भी अविभाज्य[1] है। तो काल-प्रवाह, कालके अन्दर शाश्वत रूपसे आनुक्रमिक गति और परिवर्तन, यही एकमात्र परम वस्तु है। संभूति ही एकमात्र सत् है।

वास्तवमें, सत्ताके अन्दर पैठनेवाली अंतर्दृष्टि और शुद्ध बुद्धिकी धारणात्मक कल्पनाओंके बीचका यह विरोध मिथ्या है। यदि इस विषयमें संबोधिका बुद्धिसे वस्तुतः विरोध होता तो हम मूलभूत अन्तर्दृष्टिके विरोधमें मात्र धारणात्मक तर्कयुक्तिका समर्थन विश्वासके साथ न कर पाते। किन्तु यहाँ संबोधिमूलक अनुभूतिकी जो शरण ली गयी है वह सम्पूर्ण नहीं है। वह अनुभूति वहींतक प्रामाणिक है जहाँतक कि वह जा पाती है, उसने सर्वांगीण अनुभूति हो पानेसे पूर्व रुक जानेकी भूल की है। जहाँतक संबोधि अपने-आपको केवल हमारे संभूति-भावसे, हम जो होते जाते हैं उसीसे संबंध रखती है, वहाँतक हम अपने-आपको कालके शाश्वत अनुक्रममें चेतनामें होनवाली गति और परिवर्तनकी अविच्छिन्न धाराके

---

1. गतिकी समग्रताके अन्दर अविभाज्य। काल या चेतनाका प्रत्येक क्षण अपने पूर्वगामी और अनुगामी क्षणसे पृथक् माना जा सकता है, शक्तिकी प्रत्येक आनुक्रमिक क्रिया एक नवीन परिमाण या नयी सृष्टि मानी जा सकती है, किन्तु इससे अविच्छिन्नताका खंडन नहीं होगा, जिस अविच्छिन्नताके बिना कालका प्रवाह या चेतनाकी संबद्धता नहीं हो सकती। मनुष्य जब चलता या दौड़ता या कूदता है तो उसके डग पृथक्-पृथक् होते हैं, किन्तु ऐसी कुछ वस्तु है जो डग भरती है और गतिको अविच्छिन्न बनाती है।

रूपमें देखते हैं। बौद्ध मतके रूपकके अनुसार हम एक नदी हैं, अग्नि-शिखा हैं। परन्तु एक परम अनुभव और परम संबोधि है, जिसके सहारे हम अपने बाह्य आपेके पीछे चले जाते हैं और देखते हैं कि यह संभूति, परिवर्तन, अनुक्रम हमारी सत्ताकी ही एक विधा है और हमारे अन्दर वह तत्व है जो संभूतिमें लेशमात्र भी ग्रस्त नहीं होता। केवल यही नहीं है कि हमारे अन्दर जो स्थाणु और शाश्वत है हम उसकी संबोधि प्राप्त कर सकते हैं, केवल यही नहीं है कि सतत चंचला संभतियोंके आवरणके पीछे किसी अनुभूतिमें उसकी झाँकी पा सकते हैं, वरन् हम उसके अन्दर वापस प्रविष्ट भी हो सकते हैं, सम्पूर्ण रूपसे उसके अन्दर निवास कर सकते हैं, और इस प्रकार अपने बाह्य जीवनमें, अपनी अभिवृत्तिमें और संसारकी गतिपर अपनी क्रियामें एक सम्पूर्ण परिवर्तन साधित कर सकते हैं। और यह स्थाणुत्व जिसमें हम इस भाँति निवास कर सकते हैं, ठीक वही है जहाँ हमें शुद्ध बुद्धि ले जा चुकी है, यद्यपि बिल्कुल ही बुद्धितर्कके बिना भी, पहले यह जाने बिना कि वह क्या है, वहाँ पहुँचा जा सकता है। वह है शुद्ध सत्, शाश्वत, अनन्त, अनिर्देश्य, कालके अनुक्रमसे अप्रभावित, देशके विस्तारसे अस्पृष्ट, रूप, गुण, परिमाणके परे, केवल 'आत्मा' और निर्विशेष।

तो, शुद्ध सत् एक तथ्य है, मात्र धारणा नहीं, वह मूलगत सद्वस्तु है। किन्तु हमें साथ-ही-साथ तुरंत यह भी कह देना चाहिये कि गति, शक्ति, संभूति, ये भी तथ्य हैं, वास्तवता हैं। परम संबोधि और उसके अनुरूप होनेवाली अनुभूति इस अन्य तथ्यको संशोधित कर सकती हैं, इसके परे जा सकती हैं, इसे स्थगित कर सकती हैं, किन्तु इसे रद्द नहीं करतीं। अतः हमारे सामने दो मूलभूत तथ्य हैं, शुद्ध सत् और विश्व-सत्ता, सत्ताका तथ्य और संभूतिका तथ्य। इनमेंसे एकको या दूसरेको अस्वीकार करना सहज है, किन्तु सच्ची और फलदायिका बुद्धिमत्ता है चेतनाके तथ्योंको पहचानने और उनके संबंधका पता पानेमें।

हमें स्मरण रखना चाहिये कि एकत्व और बहुत्वके समान ही स्थाणुत्व और गति भी हमारे अन्दर निर्विशेषके मानसिक प्रतिरूपमात्र हैं। वह निर्विशेष जैसे एकत्व और बहुत्वसे परे है वैसे ही स्थिरता और गतिसे भी परे है। किन्तु वह अपनी शाश्वत स्थिति एकमेव और स्थाणुमें लेता है और अपने चारों ओर चलायमान और बहुविधके अन्दर अचिन्त्य, अनन्त और निरापद रूपसे चक्कर काटता है। विश्वसत्ता शिवका आनन्द-नृत्य है जो ईश्वरके शरीरको असंख्यगुना करके दृष्टिके सामने लाता

है : वह उस शुभ्र सत्ताको ठीक वहीं और ठीक वैसी ही छोड़ देता है जहाँ और जैसी वह थी, है और सदा रहेगी, उसका एकमात्र लक्ष्य है नृत्यका आनन्द।

किन्तु, चूँकि हम स्थाणुत्व और गतिसे परे, एकत्व और बहुत्वसे परे रहनेवाले निर्विशेषके स्वरूपका न तो वर्णन कर सकते हैं, न हमारी विचार-शक्ति वहाँ पहुँच सकती है, और न ऐसा करना हमारा प्रयोजन ही है, अतः हमें इस द्विविध तथ्यको स्वीकार करना होगा, शिव और काली दोनोंको मान्यता देनी होगी, और यह जाननेका प्रयास करना होगा कि वह जो कालातीत और देशातीत शुद्ध सत्ता है, जो एक और अचल है, जिसे न प्रमेय कहा जा सकता है न अप्रमेय, उसके संबंधमें यह काल और देशगत अप्रमेय गति क्या है। हम देख चुके हैं कि शुद्ध सत्ताके, सत्के विषयमें शुद्ध बुद्धि, संबोधि और अनुभूतिको क्या कहना है; अब देखना है कि वे शक्ति और गतिके विषयमें क्या कहती हैं?

और जो पहली बात हमें अपनेसे पूछनी है, वह यह कि क्या यह शक्ति बस शक्ति ही है, बस गतिकी एक निर्बुद्ध शक्ति है, या कि हम जिस भौतिक जगत्में रह रहे हैं उसमें इस शक्तिसे उन्मज्जित होती दीखती चेतना उस शक्तिके प्रातिभासिक परिणामोंमेंसे एक परिणाम ही नहीं है, बल्कि उसका सच्चा और गुप्त स्वभाव है? वेदान्तकी भाषामें, क्या शक्ति बस प्रकृति है, केवल कर्म और प्रक्रियाकी गति है, या कि प्रकृति वास्तवमें चित्-शक्ति है, वह स्वरूपतः स्रष्टात्मक आत्म-संवित्‌की शक्ति है? इस मूलगत समस्यापर ही बाकी सब कुछ आश्रित है।

अध्याय दस

चित्-शक्ति

ते...अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।।

अपने ही गुणोंमें निगूढ़ दिव्य पुरुषकी आत्मशक्तिको वे देख पाये।
—श्वेताश्वतरोपनिषद् 1.3

य एष सुप्तेषु जागर्ति ।।

यह वह है जो सोये हुओंमें जागता है।
—कठोपनिषद् 5.8

समस्त दृग्विषय-सत्ताका पर्यवसान शक्तिके अन्दर होता है, शक्तिकी ऐसी गतिके अन्दर जो अपने निजी अनुभवके सामने आत्म-उपस्थापनके लिये न्यूनाधिक भौतिक, न्यूनाधिक स्थूल या सूक्ष्म रूप धारण करती है। प्राचीन कालमें सत्ताके इस उद्‌गम और नियमको समझने और अपने लिये वास्तविक बनानेका प्रयत्न करते हुए मनुष्यके विचारने जिन रूपकोंकी रचना की थी, उनमें शक्तिकी इस अनन्त सत्ताको समुद्रका रूप दिया गया था जो आरंभमें शांत और अतएव रूपोंसे मुक्त था, किन्तु प्रथम विक्षोभने, गतिके प्रथम आरंभने रूपोंकी सृष्टि आवश्यक बना दी और यही विश्वका बीज है।

जड़-तत्व शक्तिका वह रूपायण है जो हमारी बुद्धिकी समझमें सबसे अधिक आसानीसे आ सकता है, क्योंकि वह जड़-तत्वमें होनेवाले ऐसे संपर्कोंके द्वारा ढाला हुआ होता है जिन्हें भौतिक मस्तिष्कमें अन्तर्ग्रस्त रहनेवाला मन प्रत्युत्तर देता है। प्राचीन भारतीय भौतिक शास्त्रवेत्ताओंकी दृष्टिमें 'देश'में शुद्ध भौतिक विस्तार ही भौतिक शक्तिकी प्रारंभिक अवस्था है जिसका विशेष गुण-धर्म है कम्पन, जो समारे सामने ध्वनि-व्यापारके रूपमें आता है। किन्तु आकाशकी इस अवस्थामें होनेवाला कम्पन रूपोंकी सृष्टि करनेके लिये पर्याप्त नहीं होता। पहले यह आवश्यक है कि शक्ति-

सागरके प्रवाहमें कोई अवरोध हो, कोई संकोचन और विस्तरण हो, कम्पनोंकी कोई पारस्परिक क्रीड़ा हो, शक्तिके साथ शक्तिकी कोई टक्कर हो जिससे निश्चित संबंधों और पारस्परिक प्रभावोंके आरंभकी सृष्टि हो सके। भौतिक शक्ति अपनी प्रथम आकाशीय स्थितिको परिवर्तित करती हुई एक दूसरी स्थिति धारण करती है, जिसे प्राचीन भाषामें वायवीय कहा जाता है, जिसका विशेष गुण-धर्म है शक्ति और शक्तिके बीच होनेवाला सम्पर्क,—सम्पर्क, जो कि सारे भौतिक संबंधोंका आधार है। फिर भी अबतक हमें यथार्थ रूप नहीं मिले हैं, केवल विभिन्न शक्तियाँ ही मिली हैं। ऐसे तत्वकी आवश्यकता रह जाती है जो इनका आधार बन सके। इसकी पूर्ति होती है आदि शक्तिके एक तृतीय आत्म-आपरिवर्तनसे, जिसके गुणकी लाक्षणिक अभिव्यक्ति हमारे लिये प्रकाश, विद्युत्, अग्नि और तापके तत्वोंके द्वारा होती है। तब भी, हमें शक्तिके ही रूप मिलते हैं जो अपना स्वभाव और अपनी विशिष्ट क्रिया बनाये रखते हैं, किन्तु जड़तत्वके स्थायी रूप नहीं मिलते। एक चौथी स्थिति आती है जिसका गुण विसरण है, वह चिरस्थायी आकर्षण और विकर्षणका एक पहला माध्यम है जिसे सुन्दर रूपककी भाषामें जल या तरल अवस्था कहा जाता है, और एक पाँचवीं, संसक्तिकी स्थिति है, जिसे पृथ्वी या घनावस्था कहते हैं; ये स्थितियाँ आवश्यक तत्वोंकी पूर्ति करती हैं।

जड़-तत्वके जितने भी रूपोंसे हम अवगत हैं, जितनी भौतिक वस्तुएँ हैं, सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतक, उन सबका निर्माण इन पाँच तत्वोंके मेलसे होता है। इन्हीं पाँचोंपर हमारा समस्त ऐन्द्रिय अनुभव भी निर्भर है, क्योंकि, कम्पनको ग्रहण करनेसे ध्वनिका बोध होता है; शक्तिके कम्पनोंके जगत्में वस्तुओंके संपर्कसे स्पर्शका बोध आता है; प्रकाश, अग्नि और तापकी शक्तिके द्वारा प्रसूत, रेखांकित और धारित रूपोंमें प्रकाशकी क्रियासे दृष्टिका बोध आता है; चौथे तत्वसे स्वादका बोध आता है, पाँचवेंसे घ्राणका बोध होता है। सार-रूपमें सब कुछ शक्ति और शक्तिके बीच होनेवाले कम्पनकारी सम्पर्कोंको दिया गया प्रत्युत्तर है। इस भाँति प्राचीन मनीषियोंने शुद्ध शक्ति और उसके अंतिम अपरिवर्तनोंके बीच रहनेवाली खाई पाट दी और उस कठिनाईको हल किया जो सामान्य मानव-मनको यह समझनेसे रोकती है कि ये सारे रूप जो उसकी इन्द्रियोंके लिये इतने वास्तविक, ठोस और स्थायी हैं, वे सचमुच केवल क्षणिक प्रपंच कैसे हो सकते हैं, और शुद्ध शक्ति जैसी वस्तु, जो इन्द्रियोंके लिये

अगोचर, अस्तित्वहीन और लगभग अविश्वनीय है, वह एकमात्र चिरस्थायी विश्वव्यापी सद्वस्तु कैसे हो सकती है।

चेतनाकी समस्याका समाधान इस सिद्धांतके द्वारा नहीं होता, क्योंकि इससे यह व्याख्या नहीं होती कि शक्तिके कम्पनका संपर्क सचेतन संवेदनोंकी उत्पत्ति कैसे करता है। इसलिये सांख्योंने या विश्लेषक विचारकोंने इन पाँच तत्वोंके पीछे 'महत्' और 'अहंकार' नामक दो तत्वोंको मान्यता दी। ये तत्व वास्तवमें अभौतिक हैं, क्योंकि 'महत्' शक्तिका विराट् विश्वव्यापी तत्व होनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, और 'अहंकार' अहंकी रचनाका विभाजनशील तत्व है। तथापि, ये दोनों तत्व, और बुद्धितत्व भी, स्वयं शक्तिके कारण चेतनाके अन्दर क्रियाशील नहीं होते, वरन् वे क्रियाशील होते हैं एक या अनेक निष्क्रिय चेतन-पुरुषोंके कारण जिनमें शक्तिकी क्रियाएँ प्रतिबिंबित होती हैं और उस प्रतिबिंबनके द्वारा चेतनाका रंग अपना लेती हैं।

यह व्याख्या भारतीय दर्शनके उस वादमें मिलती है जो आधुनिक जड़तत्ववादी विचारोंके निकटतम है और जो प्रकृतिके अन्दर यंत्रवत् या अचेतन शक्तिके रहनेके विचारको उतनी अधिक दूरीतक ले गया है जितना गंभीरतासे विचार करनेवाले भारतीय मानसके लिये संभव है। इसमें जो भी त्रुटियाँ रही हों, इसका प्रमुख भाव इतना निर्विवाद था कि उसे सामान्यत: स्वीकार कर लिया गया। चेतनाके व्यापारकी चाहे कोई भी व्याख्या की जाय, प्रकृति चाहे एक जड़ प्रवृत्ति हो, या सचेतन तत्व, वह शक्ति तो निश्चित रूपसे है ही; शक्तियोंकी एक रूपायणी गति ही वस्तुओंका तत्व है, समस्त रूपोंकी उत्पत्ति अव्याकृत शक्तियोंके संगम और पारस्परिक अनुकूलनसे होती है, शक्तिके किसी रूपके अन्दरकी कोई वस्तु शक्तिके अन्य रूपोंके साथ संपर्कमें आनेपर जो प्रत्युत्तर देती है, वही समस्त संवेदन और क्रिया है। हमारे अनुभवके अनुसार जगत् ऐसा ही है और हमें सदा इसी अनुभवसे आरंभ करना चाहिये।

आधुनिक विज्ञानके द्वारा किया गया जड़-तत्वका भौतिक विश्लेषण भी इसी सामान्य निष्कर्षपर पहुँचा है, यद्यपि थोड़ेसे अंतिम संदेह अब भी बाकी हैं। विज्ञान और दर्शनकी इस सहमतिका समर्थन संबोधि और अनुभवके द्वारा भी होता है। शुद्ध बुद्धिको इसमें अपनी निजकी सारभूत धारणाओंकी संतुष्टि मिलती है। क्योंकि जगत्के प्रति यदि यह दृष्टि अपनायी जाय कि वह सारत: चेतनाकी ही क्रिया है, तो क्रिया तो उसके अन्तर्गत आ ही गयी और साथ ही क्रियामें 'शक्ति'की गति और

'ऊर्जा'की क्रीड़ा भी आ जाती है। अन्दरसे अपने स्वानुभवकी परीक्षा करनेपर भी जगत्का मूलगत स्वरूप यही प्रमाणित होता है। हमारी सारी क्रियाशीलताएँ प्राचीन दर्शनशास्त्रोंकी त्रिविध शक्तिका, ज्ञान-शक्ति, कामना-शक्ति और कर्म-शक्तिका खेल हैं, और वे वस्तुतः एकमात्र आद्या शक्तिकी तीन धाराएँ सिद्ध होती हैं। हमारी विश्रांतिकी स्थितियाँ भी उस शक्तिकी गतिकी क्रीड़ाकी साम्यावस्था या समभावशाली अवस्थाएँ हैं।

शक्तिकी गतिको विश्वका सारा स्वरूप मान लेनेपर दो प्रश्न उठते हैं। प्रथमतः यह कि सत्के वक्षस्थलमें यह गति आयी ही कैसे? यदि हम इस गतिको केवल शाश्वत ही नहीं, वल्कि सारी सत्ताका स्वयं सारतत्व भी मान लें तो यह प्रश्न नहीं उठता। किन्तु हम इस मतको अमान्य कर चुके हैं। हमने ऐसे सत्को देखा है जो गतिसे बाधित नहीं होता। तो इस सत्की शाश्वत विश्रांति-स्थितिसे विजातीय यह गति इसके अन्दर कैसे आयी? किस कारणसे? किस संभावनासे? किस रहस्यमयी प्रेरणासे?

प्राचीन भारतके मनीषियोंने जिस उत्तरको अधिक-से-अधिक माना था वह यह है कि शक्ति सत्तामें अंतर्निहित है। शिव और काली, ब्रह्म और शक्ति, ये एक हैं, दो नहीं, जिन्हें पृथक् किया जा सके। सत्तामें अन्तर्निहित शक्ति विश्राम-स्थितिमें रह सकती है, या वह गतिशील हो सकती है, किन्तु जव वह विश्राममें रहती है तव भी उसका अस्तित्व तो रहता ही है, वह नष्ट या क्षीण नहीं होती और न उसमें कोई मूलगत परिवर्तन ही आता है। यह उत्तर इतना सम्पूर्णतः युक्तिसंगत है और वस्तुओंके स्वरूपके इतना अनुरूप है कि इसे स्वीकार करनेमें हमें हिचकिचानेकी आवश्यकता नहीं। क्योंकि, युक्तिके विपरीत होनेके कारण, यह मानना असंभव है कि शक्ति उस एक और अनन्त सत्तासे विजातीय कोई वस्तु है जो वाहरसे आकर उसमें प्रवेश कर गयी, अथवा उसका अस्तित्व था ही नहीं और कालके किसी क्षणमें वह सत्तामें उद्भूत हो गयी। मायावादको भी यह स्वीकार करना होगा कि ब्रह्मकी आत्म-विभ्रमकी शक्ति माया भी शाश्वत सत्के अन्दर संभाव्य रूपसे शाश्वत है, तव एकमात्र प्रश्न रह जाता है उसके अभिव्यक्त या अनभिव्यक्त होनेका। सांख्यकी भी यह मान्यता है कि प्रकृति और पुरुषका शाश्वत सह-अस्तित्व है, और प्रकृतिकी दो अवस्थाएँ हैं जो वारी-वारीसे आती हैं, एक विश्रामावस्था या साम्यावस्था, और दूसरी गतिकी या साम्य-भंगकी अवस्था।

पर, चूँकि शक्ति इस प्रकार सत्तामें अन्तर्निहित है और यह द्विविध या वारी-वारीसे आनेवाली शक्यता, अर्थात् शक्तिका आत्म-संहरण और आत्म-विसरण, उसका स्वभाव है, इसलिये गतिके "कैसे"का, उसकी संभावनाका, उसकी प्रवर्तिका प्रेरणा या उसके प्रेरक कारणका प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि, तव हम यह आसानीसे समझ सकते हैं कि यह शक्यता अवश्य ही अपने-आपको दोमेंसे एक रूपमें अनूदित करेगी, या तो कालमें एकके वाद दूसरीके अनुक्रममें विश्रांति और गतिके वारी-वारीसे आनेवाले छंदके रूपमें, या अक्षर सत्तामें शक्तिके एक शाश्वत आत्म-संहरणमें जहाँ समुद्रकी सतहपर तरंगोंके उठने और गिरनेकी भाँति गति, परिवर्तन और रूपायणकी एक क्रीड़ा सतहपर हो रही हो। और हो सकता है कि यह सतहपर होनेवालीकी क्रीड़ा,—हम अपर्याप्त रूपकोंमें ही चर्चा करनेको विवश हैं,—और वह आत्म-संहरण समकालीन हों और वह क्रीड़ा स्वयं भी शाश्वत हो, या ऐसा हो सकता है कि उस क्रीड़ाका कालके अन्दर आरंभ या अन्त हो और एक प्रकारके सतत छन्दके द्वारा उसका पुनः आरंभ होता हो, तव उसकी शाश्वतता सातत्यमें नहीं, अपितु पुनरावृत्तिमें रहती है।

"कैसे"की समस्याका इस प्रकार अन्त कर देनेपर, प्रश्न उपस्थित होता है "क्यों"का। शक्तिकी गतिके खेलकी जो यह संभावना है वह भला अपनेको अनूदित करे ही क्यों? सत्ताकी शक्ति शाश्वत रूपसे अपने-आपमें संहृत, अनन्त क्यों न रहे, समस्त परिवर्तन और रूपायणसे मुक्त क्यों न रहे? यदि हम मान लें कि सत् अचेतन है और चेतना भौतिक शक्तिका विकासमात्र है जिसे हम भूलसे अभौतिक मान लेते हैं, तो यह प्रश्न भी नहीं उठता। क्योंकि तव हम सरलतासे कह सकते हैं कि यह छन्द तो सत्तागत शक्तिका स्वभाव ही है और जो स्वभावतया शाश्वत रूपसे स्वयंभू हो उसके लिये किसी "क्यों", किसी कारण, आदि हेतु या अन्तिम लक्ष्यको खोजनेका विलकुल कोई कारण नहीं। शाश्वत स्वयंभू सत्से हम यह प्रश्न नहीं कर सकते, हम उससे न तो यह पूछ सकते हैं कि उसका अस्तित्व क्या है या कैसे हुआ, न हम सत्ताकी आत्म-शक्तिसे और न उसके गतिकी ओरकी प्रेरणाके अन्तर्निहित स्वभावसे यह प्रश्न कर सकते हैं। केवल उसकी आत्माभिव्यक्तिकी रीति, उसकी गति और रूपायणके सिद्धान्तोंकी तथा विकासक्रमकी प्रक्रियाके वारेमें जिज्ञासा कर सकते हैं। सत्ता और शक्ति दोनों तामसिक हैं,—तामसिक स्थिति और तामसिक प्रेरणा,—दोनों ही अचेतन और अप्रबुद्ध हैं, अतः विकास-

क्रमका कोई उद्देश्य या अन्तिम लक्ष्य नहीं हो सकता, न कोई आदि-कारण या आशय हो सकता है।

किन्तु, यदि हम सत्को चिन्मय पुरुष मानें या पायें तो समस्या उठती है। निस्संदेह, हम ऐसे चिन्मय पुरुषकी धारणा कर सकते हैं जो अपनी शक्तिके स्वभावके अधीन है, उसके आगे विवश है, उसे यह छूट नहीं है कि वह विश्वमें अभिव्यक्त हो या अनभिव्यक्त रहे। तांत्रिकों और मायावादियोंके विश्वेश्वरका स्वरूप ऐसा ही है, वह शक्ति या मायाके अधीन है, पुरुष मायामें अन्तर्ग्रस्त है या शक्तिके वशीभूत है। किन्तु यह स्पष्ट है कि ऐसा ईश्वर वह परम अनन्त सत् नहीं है जिससे हमने आरंभ किया है। यह मानना ही होगा कि ऐसा ईश्वर ब्रह्मके द्वारा विश्वके अन्दर ब्रह्मका ही रूपायण है, ब्रह्मका शक्ति या मायासे प्राक्तन होना युक्तिसंगत है और शक्ति या माया जब अपने कार्योंसे निवृत्त हो जाती है तो वह उसे अपनी तुरीय सत्ताके अन्दर वापस ले लेता है। हमें यह मानना ही होगा कि जो चिन्मय सत्ता निर्विशेष है, अपने रूपायणोंसे स्वतंत्र है, अपने कार्योंसे सीमित या प्रभावित नहीं है, उसमें यह अन्तर्निहित स्वतंत्रता रहती है कि वह अपनी गतिकी शक्यताको अभिव्यक्त करे या न करे। प्रकृतिसे विवश रहनेवाला ब्रह्म, ब्रह्म नहीं है, वरन् एक निश्चेष्ट अनन्त है जिसमें एक सक्रिय तत्व समाया रहता है जो समानेवालेसे अधिक सशक्त है, शक्तिका एक सचेतन धारक है, जिसपर उसकी शक्ति ही स्वामित्व करती है। यदि हम यह कहें कि वह शक्ति-रूपमें अपने ही द्वारा, अपनी ही प्रकृतिके द्वारा बाध्य होता है तो भी हम अपने प्रथम अभ्युपगमका प्रत्याख्यान ही कर रहे होते हैं, उससे कतरा ही रहे होते हैं। हम ऐसे सत्पर वापस पहुँच जाते हैं जो शक्तिके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, फिर चाहे वह शक्ति निस्पंदावस्थामें हो या गतिकी अवस्थामें, वह शायद एक परमा-शक्ति हो सकता है, पर परम सत् या पुरुष नहीं।

तो, शक्ति और चेतनाके पारस्परिक संबंधकी परीक्षा करना आवश्यक है। पर चेतनासे वस्तुतः हमारा क्या अभिप्राय है? निद्रा, मूर्च्छा या अन्य किसी कारणसे जब मनुष्य संवेदनके स्थूल और बाह्यतलके साधनोंसे वंचित नहीं होता, ऐसे समय उसके शारीरिक जीवनके अधिकतर भागमें रहनेवाली मनकी जागृत चेतनाके अपने इस प्राथमिक सुगम भावको ही हम साधारणतया चेतना समझते हैं। यह पर्याप्त रूपसे स्पष्ट है कि इस अर्थमें चेतना जड़ विश्वकी व्यवस्थामें नियम नहीं, अपवाद है। वह

हमेशा स्वयं हमारे अविकारमें नहीं रहती। किन्तु चेतनाके स्वरूपके विषयमें हमारा जो यह ग्राम्य और छिछले भावका रंग हमारे सामान्य विचारों और संस्कारोंपर अभीतक दिखायी देता है उसे निश्चित रूपसे दार्शनिक चिन्तनसे विलुप्त हो जाना चाहिये। क्योंकि हम जानते हैं कि जब हम निद्रामें हों या स्तब्ध हों, मादक वस्तुके प्रभावमें हों या मूर्च्छामें, यानी हमारी शारीरिक सत्ताकी जितनी प्रत्यक्ष रूपसे अचेतन अवस्थाएँ हैं उन सबकी सबमें भी हमारे अन्दर कुछ ऐसी वस्तु होती है जो सचेतन रहती है। इतना ही नहीं, वरन् अब हम निश्चित रूपसे मान सकते हैं कि प्राचीन चिन्तकोंका यह कहना ठीक था कि अपनी जागृत अवस्थामें भी हम जिसे चेतना कहते हैं वह हमारी समग्र सचेतन सत्तामेंसे निर्वाचित किया गया एक छोटा-सा भाग है। यह मात्र एक उपरितल है, यह हमारी सम्पूर्ण मानसता भी नहीं है। इसके पीछे, इससे कहीं अधिक विशाल, एक अवगूढ़ या अवचेतन मन है, जो हमारे "स्व"का महत्तर भाग है और उसमें ऐसी ऊँचाइयां और गहराइयाँ हैं जिन्हें कोई मनुष्य अभीतक नहीं माप सका, जिनकी वह थाह नहीं ले सका। यह ज्ञान हमें शक्ति और उसकी क्रियाओंके सच्चे विज्ञानके लिये आरंभ-विन्दु प्रदान करता है और हमें भौतिकके घेरेमेंसे और प्रत्यक्षताके भ्रमसे निश्चित रूपसे मुक्त कर देता है।

निस्संदेह, जड़वाद यह आग्रह करता है कि चेतनाका चाहे जितना विस्तार हो, वह जड़तत्वका ही प्रपंच होती है, उसे भौतिक इन्द्रियोंसे अलग नहीं किया जा सकता और चेतना इन्द्रियोंका उपयोग करनेवाली नहीं, प्रत्युत उनका परिणाम होती है। फिर भी अब यह कट्टरपंथी मान्यता बढ़ते हुए ज्ञानकी ज्वारके सामने खड़ी नहीं रह सकती। उसकी व्याख्याएँ अधिकाधिक अपर्याप्त और कष्ट-कल्पित होती जा रही हैं। यह सदैव स्पष्टतर होता जा रहा है कि हमारी समग्र चेतनाकी समर्थता हमारे अंगोंकी क्षमतासे, इन्द्रियों, स्नायुओं और मस्तिष्ककी क्षमतासे भी कहीं बढ़ी-चढ़ी है, इतना ही नहीं, हमारे सामान्य विचार और चेतनाके लिये भी ये शारीरिक अंग उनके अभ्यस्त उपकरणमात्र हैं, उनको उत्पन्न करने-वाले नहीं। चेतना मस्तिष्कका उपयोग करती है, चेतनाके ऊर्ध्वमुखी प्रयासोंने ही मस्तिष्कको उत्पन्न किया है, मस्तिष्कने चेतनाको उत्पन्न नहीं किया और न वह चेतनाका उपयोग ही करता है। ऐसे असाधारण उदाहरण भी हैं जो यह प्रमाणित करते हैं कि हमारे शारीरिक अंग सम्पूर्णतया अपरिहार्य उपकरण नहीं हैं,—जीवनके लिये न तो हृदयका

स्पन्दन नितान्त आवश्यक है, न श्वास-प्रश्वास ही, और न विचारके लिये संगठित मस्तिष्क-कोष ही नितान्त आवश्यक है। हमारा शारीरिक अवयव-संस्थान उतनी ही मात्रामें विचार और चेतनाका कारण हो सकता है या उनकी व्याख्या कर सकता है जितने प्रमाणमें इंजिनका निर्माण बिजली या भापकी चालक शक्तिका कारण हो सकता है या उसकी व्याख्या कर सकता है। स्थूल करण नहीं, बल्कि शक्ति प्राक्तन है।

इससे अनेक महत्वपूर्ण तर्कसंगत परिणाम निकलते हैं। सर्वप्रथम हम यह पूछ सकते हैं कि जहाँ हम निष्प्राणता और जड़ता देखते हैं वहाँ भी मनकी चेतनाका अस्तित्व रहता है, इसलिये क्या यह संभव नहीं है कि भौतिक पदार्थोंमें भी कोई विश्वव्यापी अवचेतन मन विद्यमान हो, भले ही वह आवश्यक इन्द्रियोंके अभावमें क्रिया कर सकनेमें या बाहरी तल तक अपने-आपको व्यक्त करनेमें असमर्थ हो? क्या जड़ावस्था चेतना-शून्यता है या वह चेतनाकी सुषुप्ति ही है—भले ही विकासक्रमकी दृष्टिसे वह आदि निद्रा हो, मध्यवर्ती निद्रा नहीं? मनुष्यका उदाहरण हमें बताता है कि निद्रासे हमारा अभिप्राय चेतनाका स्थगित होना नहीं, वरन् उसका बाह्य वस्तुओंके आघातोंको सचेतन स्थूल प्रत्युत्तर देनेसे विमुख होकर, अन्तरकी ओर एकत्रित होना है। और जो कोई भी ऐसी सत्ता है जिसने अभीतक बाह्य स्थूल जगत्के साथ बाह्य संसर्गके साधन विकसित नहीं किये हैं, उस सारी सत्ताका स्वरूप क्या ऐसा ही नहीं है? क्या कोई चिन्मय अन्तरात्मा, कोई पुरुष नहीं है जो तब भी सदा जागता रहता हो जब सब कुछ निद्रावस्थामें होता है?

हम और भी आगे जा सकते हैं। जब हम अवचेतन मनकी बात करते हैं तो इस शब्दसे हमारा अभिप्राय किसी ऐसी वस्तुसे होना चाहिये जो बाह्य मानसतासे भिन्न नहीं है, किन्तु केवल यह है कि वह जागृत मनुष्यके लिये अज्ञात रहती है, सतहके नीचे क्रियाशील रहती है, यद्यपि, उसी अर्थमें, शायद वह अधिक गहराईमें गोता लगाती है और उसका क्षेत्र विशालतर होता है। किन्तु अवगूढ़ पुरुषके व्यापार ऐसी परिभाषाकी सीमाओंका बहुत दूरतक अतिक्रमण कर जाते हैं। वहाँ ऐसी क्रियाएँ भी सम्मिलित होती हैं जो हमें हमारी जागृत सत्तामें मानसिकता ज्ञात होनेवाली चीजकी अपेक्षा क्षमतामें केवल अति उत्कृष्ट ही नहीं, वरन् बिलकुल भिन्न प्रकारकी होती हैं। अतएव हमें यह अनुमान करनेका अधिकार है कि हमारे अन्दर जैसे एक अवचेतन है, वैसे एक अतिचेतन भी है, सचेतन क्षमताओंका एक ऐसा प्रसार और अंतःचेतनाका एक

ऐसा संगठन है जो उस मनोभूमिसे कहीं ऊँचे उठे हुए हैं जिसे हम मानसताका नाम देते हैं। और जब कि हमारे अन्दरका अवगूढ़ पुरुष इस प्रकार मानसतासे ऊपर अतिचेतनामें उठ जाता है, तो क्या वह मानसताके नीचे अवचेतनामें भी नहीं डूब सकता? क्या हममें और जगत्‌में चेतनाके ऐसे रूप नहीं हैं जो मनसे नीचे हैं, जिन्हें हम प्राणिक और स्थूल चेतनाके नाम दे सकते हैं? यदि ऐसा है तो हमें मानना होगा कि वनस्पति और धातुमें भी एक शक्ति है जिसे हम चेतनाका नाम दे सकते हैं, यद्यपि यह मनुष्य या पशुकी मानसता नहीं है, जिसके लिये अभीतक हमने चेतनाकी परिभाषाका एकाधिकार सुरक्षित कर रखा है।

यह केवल संभव ही नहीं, वरन् वस्तुओंपर निष्पक्षतासे विचार करें तो निश्चित है। हमारे अपने अन्दर ऐसी प्राणिक चेतना है जो शरीरके कोशाणुओंमें तथा स्वचलित प्राणिक क्रियाओंमें सक्रिय रहती है, जिसके कारण हम ऐसी उद्देश्यपूर्ण गतियोंमेंसे गुजरते हैं और ऐसे आकर्षणों, विकर्षणोंके अधीन होते हैं जिनसे हमारा मन अपरिचित होता है। यह प्राणिक चेतना पशुओंमें और भी अधिक महत्वपूर्ण तत्व होती है। वनस्पतिमें भी संबोधिके द्वारा इस चेतनाकी विद्यमानता स्पष्ट होती है। पौधेकी चाह और कुंचन, उसका सुख और दुःख, उसकी निद्रा और उसकी जाग्रतावस्था, और वह सारा विचित्र जीवन, जिसकी सत्यता एक भारतीय वैज्ञानिकने कड़ी वैज्ञानिक पद्धतियोंसे प्रकाशमें लायी है, ये सब चेतनाकी गतियाँ हैं, किन्तु जहाँतक हम देख सकते हैं, मानसिकताकी नहीं। तो फिर एक अवमानसिक, एक प्राणिक चेतना है जिसकी आरंभिक प्रतिक्रियाएँ ठीक वैसी ही हैं जैसी कि मनकी, किन्तु स्वानुभूतिके संघटनमें यह चेतना भिन्न होती है, उसी तरह जैसेकि अतिचेतना स्वानुभूतिके संघटनमें मनोमय सत्तासे भिन्न होती है।

हम जिसे चेतना कह सकते हैं उसका प्रसार क्या वनस्पतिके साथ, उस वस्तुके साथ समाप्त हो जाता है जिसके अन्दर हम पशुसे नीचेके प्राणका भी अस्तित्व पाते हैं? यदि ऐसा है तो हमें मानना होगा कि प्राण और चेतनाकी ऐसी कोई शक्ति है जो जड़तत्वसे मूलतः विजातीय है और उसमें प्रविष्ट और व्याप्त हो गयी है,—संभवतः एक अन्य लोकसे आकर,[1] अन्यथा कहाँसे उसका आना हो सकता था? प्राचीन चिन्तकोंका

---

1. आजकल यह विचित्र कल्पना फैली हुई है कि प्राणने पृथ्वीपर अन्य लोकसे नहीं, किसी अन्य ग्रहसे प्रवेश किया था। चिंतकके लिये इसका अर्थ कुछ भी नहीं होता। मूल प्रश्न यह है कि जड़तत्वके अन्दर प्राण आता ही कैसे है; यह नहीं कि वह किसी ग्रह-विशेषके जड़तत्वमें प्रविष्ट कैसे होता है।

विश्वास था कि ऐसे अन्य लोक विद्यमान हैं जो शायद हमारे लोकमें प्राण और चेतनाका पोषण करते हैं या अपने दबावके द्वारा उन्हें अभिव्यक्त भी करते हैं, किन्तु अपने प्रवेशसे उनकी सृष्टि नहीं करते। जड़-तत्वसे ऐसी कोई भी वस्तु विवर्तित नहीं हो सकती जो पहलेसे उसके अन्दर निर्वर्तित न हो।

किन्तु यह माननेका कोई कारण नहीं है कि जो कुछ हमें शुद्धतः भौतिक लगता है जीवन और चेतनाकी परिधि वहींतक सीमित और समाप्त हो जाती है। आधुनिक अनुसंधान और विचारका विकास यह इंगित करता प्रतीत होता है कि जीवनका आरंभ एक प्रकारसे तमसावृत रहा है और धातुमें, मृत्तिकामें और अन्य "निष्प्राण" रूपोंमें भी एक प्रकारकी निस्पंद या निरुद्ध चेतना रहती है, या कम-से-कम इतना तो है कि जो वस्तु हमारे अन्दर चेतना बन जाती है उसका प्राथमिक उपादान वहाँ विद्यमान रहता है। केवल इतना है कि जिसे हमने प्राणिक चेतना कहा है, उसे हम वनस्पतिमें तो धूमिल रूपसे पहचान सकते हैं और उसकी धारणा कर सकते हैं, परन्तु जड़-तत्वकी, जड़ निस्पंद रूपकी चेतनाको समझना या उसकी कल्पना करना हमारे लिये निस्संदेह कठिन होता है, और जिसे समझना या जिसकी कल्पना करना हमें कठिन लगता है, उसे अस्वीकार करना हम अपना अधिकार समझते हैं। तथापि जब हम चेतनाका अनुसरण इतनी गहराईमें कर चुकते हैं तब यह अविश्वसनीय हो जाता है कि प्रकृतिमें ऐसी कोई आकस्मिक खाई हो। जहाँ एकको छोड़ अन्य सभी श्रेणियोंके व्यापार कोई एकता प्रकट करते हैं, और उस एक श्रेणीमें भी उस एकताका निषेध तो नहीं किया गया है, अपितु उसमें वह अधिक प्रच्छन्न भर है, वहाँ उस एकताको मान लेनेका अधिकार विचारको है। और, यदि हम इस एकताको अखंडित मानते हैं तो इस परिणामपर पहुँचते हैं कि जो शक्ति जगत्के अन्दर क्रियाशील है उसके सभी रूपोंके अन्दर चेतनाका अस्तित्व रहता है। यदि कोई ऐसा चेतन या अतिचेतन पुरुष न भी हो जो समस्त रूपोंमें निवास करता हो, फिर भी उन रूपोंके अन्दर सत्ताकी कोई सचेतन शक्ति तो है ही जिसमें उनके बाह्य अंग भी प्रत्यक्ष रूपसे या जड़ भावसे भाग लेते हैं।

ऐसी दृष्टिको स्वीकार करनेसे चेतना शब्दका अर्थ अवश्य परिवर्तित हो जाता है। अब चेतना मानसिकताका पर्यायवाची शब्द नहीं रह जाती, बल्कि उसमें सत्ताकी एक आत्म-संविद् शक्तिका संकेत मिलता है, मानसिकता जिसका मध्य पर्व है। मानसिकतासे नीचे जाकर चेतना

प्राणिक और जड़ तत्वकी गतियोंमें डूब जाती है जो हमारे लिये अवचेतन हैं, वह ऊपर उठकर अतिमानसमें जाती है जो हमारे लिये अतिचेतन है। किन्तु सबके अन्दर वह वही एक ही वस्तु है जो भिन्न-भिन्न रूपोंमें अपने-आपको संगठित करती है। और एक बार फिर, भारतीय धारणाके अनुसार चित्का स्वरूप यही है, वह शक्ति-रूपमें जगतोंकी सृष्टि करता है। सारतः हम उसी एकत्वपर जा पहुँचते हैं जिसे भौतिक विज्ञान दूसरे छोरसे देखता है जब कि वह यह प्रतिपादित करता है कि मन भी जड़तत्वके अतिरिक्त अन्य कोई शक्ति नहीं हो सकता, मनको अवश्य ही जड़ शक्तिका विकास और परिणाममात्र होना चाहिये। दूसरी ओर, भारतीय विचारधारा जब अपनी गभीरतम गहराईमें पहुँचती है तो यह पुष्ट करती है कि मन और जड़तत्व एक ही शक्तिकी भिन्न श्रेणियाँ हैं, सत्की एक ही सचेतन शक्तिके विभिन्न संगठन हैं।

किन्तु हमें यह माननेका क्या अधिकार है कि "चेतना" शब्दसे इस शक्तिका ठीक-ठीक वर्णन हो सकता है? क्योंकि, चेतनामें एक प्रकारकी बुद्धि, एक प्रयोजन, एक आत्मज्ञान ध्वनित है, भले ही वे वे रूप न लेवें जिनसे हमारी मानसिकता परिचित है। इस दृष्टिकोणसे भी हर वस्तु एक विश्वव्यापी चित्-शक्तिके भावका विरोध न करके उसका समर्थन ही करती है। उदाहरणके लिये, पशुके अन्दर हमें एक पूर्ण सप्रयोजनताकी क्रियाएँ दिखायी देती हैं और एक यथातथ्य, वस्तुतः वैज्ञानिक-सूक्ष्मदर्शी ज्ञान दिखायी देता है, जो पशुकी मानसिकताकी क्षमताओंसे बिलकुल परे हैं और जिन्हें स्वयं मनुष्य भी लम्बे अनुशीलन और शिक्षणके द्वारा ही प्राप्त कर सकता है और तब भी वह उनका व्यवहार अपेक्षाकृत बहुत कम निर्भ्रान्त क्षिप्रताके साथ कर सकता है। हमें इस सामान्य तथ्यमें यह प्रमाण माननेका अधिकार हो जाता है कि पशु और कीटके अन्दर एक ऐसी सचेतन शक्ति क्रियाशील है जो अभीतक पृथ्वीपर किसी भी वैयक्तिक रूपके अन्दर अभिव्यक्त हुई उच्चतम मानसताकी अपेक्षा अधिक बुद्धिमान और उद्देश्यपूर्ण है, जो अपने अभिप्रायों, अपने लक्ष्यों, अपने साधनों और अपनी अवस्थाओंसे अधिक अवगत है। और निर्जीव प्रकृतिकी क्रियाओंमें भी हम एक परम निगूढ़ बुद्धिका, अपनी ही क्रियाओंके गुणमें निगूढ़,—"स्वगुणैर्निगूढ़म्"—बुद्धिका वही व्यापक चिह्न पाते हैं।

इस उद्देश्यपूर्ण कार्यके लिये, बुद्धिमत्ता, निर्वाचन, अनुकूलन और अन्वेषणके इस कार्यके लिये कोई सचेतन और प्रज्ञावान् मूल है, इसके विरुद्ध एक ही तर्क है, वह है प्रकृतिके क्रिया-कलापोंमें विद्यमान वह बड़ा

तत्व जिसे हम अपव्ययका नाम देते हैं। किन्तु स्पष्टतः यह आपत्ति हमारी मानवीय बुद्धिकी सीमाओंपर आधारित है जो अपनी स्व-विशिष्ट यौक्तिकताको, जो सीमित मानव उद्देश्योंके लिये काफी संतोषप्रद है, विश्व-शक्तिकी सामान्य क्रियाओंपर भी लादना चाहती है। हम प्रकृतिके उद्देश्यका कोई भाग ही देख पाते हैं और जो कुछ उस भागके लिये उपयोगी नहीं होता उसे हम अपव्यय कहते हैं। लेकिन हमारा अपना मानव-कर्म भी प्रतीयमान अपव्ययसे भरा पड़ा है, कम-से-कम, वैयक्तिक दृष्टिकोणसे ऐसा ही प्रतीत होता है, किन्तु हम निश्चित रूपसे कह सकते हैं, वह कार्य भी विशाल और विश्वव्यापी क्षेत्रके उद्देश्यके लिये भली-भाँति उपयोगी होता है। प्रकृतिके अभिप्रायके जिस भागको हम देख पाते हैं उसे वह निश्चित रूपसे कार्यान्वित करा लेती है, और अपने प्रतीयमान अपव्ययके बावजूद, या शायद वस्तुतः उसीके द्वारा करा लेती है। उसके अभिप्रायके बाकी भागके विषयमें, जिसे हम अभी नहीं देख पाते हैं, हम प्रकृतिपर अच्छी तरह भरोसा कर सकते हैं।

अन्तमें, पशुके अन्दर, वनस्पतिके अन्दर और निर्जीव वस्तुओंके अन्दर विश्व-शक्तिकी क्रियाओंके लक्षणोंमें जो निर्धारित लक्ष्यका संवेग है, उनकी प्रतीयमान अंध-प्रवृत्तिमें जो निर्देशन है, अभिप्रेत लक्ष्यपर तत्काल या अन्ततः पहुँचनेकी उनकी जो निश्चित क्रिया है, उनकी उपेक्षा करना असंभव है। जबतक वैज्ञानिक मनके लिये जड़तत्व ही अथ और इति था तबतक बुद्धिको बुद्धिकी जननी स्वीकार करनेकी अनिच्छा एक ईमानदारीसे भरी कठिनाई थी। किन्तु आजके दिन यदि यह प्रतिपादन किया जाय कि मानव चेतना, बुद्धि और प्रभुता एक निर्बुद्ध और अंधतासे गतिमान निश्चेतनासे प्रकट हुई हैं, जिसके अन्दर उनके किसी भी रूप या तत्वका अस्तित्व पहले कभी नहीं था, तो ऐसा कहना एक जीर्ण-शीर्ण विरोधाभासके अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा। मनुष्यकी चेतना प्रकृतिकी चेतनाका ही एक रूप होनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकती। वह मनसे नीचे अन्य संवृत रूपोंमें भी विद्यमान है, वह मनमें उन्मज्जित होती है, वह ऊपर उठती हुई मनके परे और भी श्रेष्ठतर रूपोंमें जा पहुँचेगी। क्योंकि जो शक्ति जगत्का निर्माण करती है वह चिन्मयी शक्ति है, जो सत् उनके अन्दर अपने-आपको अभिव्यक्त करता है वह चिन्मय पुरुष है और उसकी संभावनाओंका रूपके अन्दर पूर्ण उन्मज्जन ही वह एकमात्र लक्ष्य है जिसकी युक्तिसंगत धारणा हम उसके द्वारा इस रूप-जगत्की अभिव्यक्ति की जानेके लिये कर सकते हैं।

अध्याय ग्यारह

अस्तित्वका आनन्द : समस्या

को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।

यदि अस्तित्वका आनन्द उस आकाश जैसा न होता जिसमें हम निवास करते हैं, तो कौन जी सकता या श्वास ले सकता?

—तैत्तिरीय उपनिषद्
2.7

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।।

आनन्दसे ही ये समस्त भूत उत्पन्न होते हैं, आनन्दके द्वारा ही ये जीवित रहते और वर्द्धित होते हैं, आनन्दमें ही ये वापस जाते हैं।

—तैत्तिरीय उपनिषद्
3.6

किन्तु यदि हम यह मान भी लें कि यह शुद्ध सत्, यह ब्रह्म, यह सत् ही विश्वका एकमात्र आदि, अन्त और आधार है और ब्रह्ममें एक आत्म-चेतना अन्तर्निहित है जो उसकी सत्तासे पृथक् नहीं की जा सकती और अपने-आपको चेतनाकी गतिकी शक्तिके रूपमें बाहरकी ओर प्रक्षिप्त करती है और वह शक्ति शक्तियों, रूपों और जगतोंकी स्रष्ट्री है, तो भी हमें इस प्रश्नका उत्तर नहीं मिलता कि ब्रह्म, जो कि पूर्ण, निर्विशेष, अनन्त है, जिसे कोई आवश्यकता नहीं, जिसे कोई कामना नहीं, वह भला अपने अन्दर रूपोंके इन जगतोंकी सृष्टि करनेके लिये चेतनाकी शक्तिका प्रक्षेपण क्यों करता है? कारण, हमने इस समाधानका निराकरण कर दिया है कि सृष्टि करनेके लिये वह अपने ही शक्ति-स्वभावसे बाध्य होता है, रूपमें प्रवेशके लिये गति और रूपायणकी अपनी ही शक्यतासे विवश होता है। यह सत्य है कि उसमें यह शक्यता है, किन्तु वह

इस शक्यताके द्वारा सीमित, वद्ध या वाध्य नहीं है, वह स्वतंत्र है। अतः यदि उसे यह स्वतंत्रता है कि वह गतिमान हो या शाश्वत रूपसे निश्चल रहे, रूपोंके अन्दर प्रक्षिप्त हो या रूपकी शक्यताको अपने अन्दर ही धारण किये रहे, फिर भी वह अपनी गति और रूपायणकी शक्तिका उपयोग करता है तो इसका कारण एक ही हो सकता है,—आनन्द।

यह आद्य, अंतिम और शाश्वत सत्, जैसा कि वेदांतियोंने देखा है, केवल सत्तामात्र ही नहीं है, न वह कोई ऐसी चिन्मय सत्ता ही है जिसकी चेतना कोई असंस्कृत शक्ति या वल हो; वह तो ऐसा चिन्मय सत् है जिसकी सत्ताका स्वयं तात्पर्य और जिसकी चेतनाका स्वयं स्वरूप आनन्द ही है। जिस प्रकार परम पूर्ण सत्में कोई शून्यता नहीं हो सकती, निश्चेतनाकी रात्रि नहीं हो सकती, कोई न्यूनता, अर्थात्, शक्तिकी कोई अपर्याप्तता नहीं हो सकती,—क्योंकि यदि इनमेंसे कोई भी हो तो वह परम पूर्ण नहीं हो सकता,—वैसे ही उसमें कोई कष्ट नहीं हो सकता, आनन्दका प्रत्याख्यान नहीं हो सकता। चिन्मय सत्ताकी पूर्णता या निर्विशेषताका अर्थ है चिन्मय सत्ताका असीमेय आनन्द, ये दोनों एक ही वस्तुके भिन्न-भिन्न नाम हैं। समस्त असीमता, समस्त अनन्तता, समस्त निरपेक्षता शुद्ध आनन्द है। हमारी सापेक्षिक मानवताको भी यह अनुभव होता है कि समस्त असंतुष्टिका अर्थ है एक सीमाका, एक वाधाका होना,—संतुष्टि आती है किसी रोक रखी गयी वस्तुकी उपलब्वि होनेसे, सीमाके अतिक्रमणसे, वाधापर विजय प्राप्त करनेसे। इसका कारण यह है कि हमारी मूल सत्ता वह निर्विशेष है जिसे अपनी अनन्त तथा असीम आत्म-चेतना एवं आत्म-शक्ति सम्पूर्ण रूपसे अधिगत रहती है। इस आत्म-वत्ताका ही दूसरा नाम आत्मानन्द है। और सापेक्ष जिस अनुपातमें उस आत्मवत्ताके समीप आता है, उतना ही वह तृप्तिकी ओर अग्रसर होता है, आनन्दका स्पर्श करता है।

तथापि, ब्रह्मका आत्मानन्द केवल उसकी निर्विशेष आत्मसत्ताकी निस्पंद तथा निश्चल स्थितिसे सीमित नहीं रहता। जैसे उसकी चेतनाकी शक्ति अपने-आपको अनन्त रूपसे और अमित वैचित्र्यके साथ रूपोंमें प्रक्षिप्त करनेमें समर्थ है, इसी प्रकार उसका आत्मानन्द भी अपने-आपके उस अनन्त प्रवाह और परिवर्तनीयतामें गति करने, वैचित्र्य लाने और आह्लाद पानेमें समर्थ है जिसके प्रतिरूप ये असंख्य कोटि ब्रह्मांड हैं। अपने आत्मानन्दकी इस अनन्त गति और वैचित्र्यको उन्मुक्त करना

और उसका उपभोग करना ही उसकी शक्तिकी व्यापक अथवा सर्जक क्रीड़ाका उद्देश्य है।

अन्य शब्दोंमें, रूपके अन्दर जो कुछ प्रक्षिप्त हुआ है वह सत्, चित् और आनन्दका त्रयी, सच्चिदानन्द है, जिसकी चेतना स्वभावत: स्रष्ट्री या बल्कि आत्म-अभिव्यक्तिकारी शक्ति है, जो अपनी आत्म-सचेतन सत्ताके प्रपंच और रूपमें अनन्त वैचिञ्य लाने और उस वैचित्र्यके आनन्दका अनन्त रूपसे भोग करनेमें समर्थ है। अत: यह परिणाम निकलता है कि जितनी वस्तुओंका अस्तित्व है, वे जो कुछ भी हैं, उसी सत्से सत्तावान् हैं, उसी चित्-शक्तिसे चिन्मय हैं, सत्ताके उसी आनन्दसे नंदित हैं। जैसे हम सब वस्तुओंको एक ही अपरिवर्तनीय सत्ताके परिवर्तनीय रूप, एक ही अनन्त शक्तिके सांत परिणाम पाते हैं, वैसे ही हम देखेंगे कि सारी वस्तुएँ आत्म-सत्ताके एक ही अपरिवर्तनशील और सर्वालिंगनकारी आनन्दकी परिवर्तनशील आत्माभिव्यक्ति ही हैं। जो कुछ है, उसमें प्रत्येकके अन्दर चित्-शक्ति निवास करती है, और उस चित्-शक्तिके कारण ही उसका अस्तित्व है, और वह जो कुछ है उस चित्-शक्तिके कारण ही है। वैसे ही, जो कुछ है उसमेंसे प्रत्येकके अन्दर सत्ताका आनन्द निवास करता है और उस आनन्दसे ही उसका अस्तित्व है और जो कुछ भी वह है उस आनन्दसे ही है।

विश्वके उद्गमके इस प्राचीन वैदान्तिक मतका सामना मानव-मानसमें तत्काल दो प्रबल प्रतिवादोंसे होता है, दु:खकी भावयय और संवेदनात्मक चेतना और अशुभकी नैतिक समस्या। कारण, जगत् यदि सच्चिदानंदकी अभिव्यक्ति है, केवल सत्की नहीं जो कि चित्-शक्ति है,—क्योंकि इसे आसानीसे स्वीकार किया जा सकता है,—वरन् उस सत्की जो अनंत आत्मानंद भी है, तो दु:ख, संताप और कष्टकी विश्वव्यापी विद्यमानताकी क्या व्याख्या हो सकती है? वस्तुत:, यह जगत् हमें सत्ताके आनंदका जगत् नहीं लगता, बल्कि दु:खका ही जगत् दिखायी देता है। किन्तु निश्चय ही जगत्के प्रति यह दृष्टि अतिशयोक्तिपूर्ण है, संदर्शकी भूल है। यदि हम उसे तटस्थ होकर और केवल ठीक-ठीक भावुकताहीन मूल्यांकनके लिये ही देखें तो पायेंगे कि विपरीत आभासों और वैयक्तिक उदाहरणोंके बावजूद जीवनके सुखका कुलयोग जीवनके कष्टके कुलयोगसे कहीं अधिक है, और हम देखेंगे कि जीवनका सक्रिय या निष्क्रिय तलके ऊपर या तलके नीचे रहनेवाला सुख प्रकृतिकी स्वाभाविक स्थिति है, कष्ट एक विपरीत घटना है जो उस स्वाभाविक स्थितिको कुछ समयके लिये स्थगित कर देती

है या उसपर आच्छादित हो जाती है। किन्तु ठीक इसी कारण कष्टकी न्यूनतर राशि सुखकी गुरुतर राशिकी अपेक्षा हमें अधिक तीव्रतासे प्रभावित करती है और प्रायः अधिक बड़ी बनकर छा जाती है। सुख स्वाभाविक है, ठीक इसी कारण हम उसे मूल्यवान् नहीं समझते, हमें उसका भान तबतक नहीं होता जबतक वह तीव्र हो कर निजके किसी अधिक तीक्ष्ण रूपमें, सुखकी तरंगकी नाईं, हर्ष या उल्लासके शिखर-रूपमें नहीं आता। हम इन्हीं चीजोंको आनंदका नाम देते और इन्हींकी खोजमें रहते हैं और जीवनकी सामान्य संतुष्टि, जो घटना और विशेष कारण या विषयसे स्वतंत्र रहकर सदा विद्यमान रहती है, उसका बोध हमें कुछ ऐसी तटस्थ वस्तुके रूपमें होता है जो न सुख है, न कष्ट। वह विद्यमान तो है ही, यह एक महान् व्यावहारिक तथ्य है, क्योंकि इसके बिना आत्म-संरक्षणकी विश्वव्यापी और प्रबल सहजप्रवृत्ति नहीं आ पाती, किंतु हमें इसकी खोज नहीं करनी होती, अतः हम इसे अपने भावुक और संवेदनात्मक लाभ-हानिके हिसाबमें नहीं गिनते। इस हिसाबमें हम एक ओर तो केवल प्रयत्नसाध्य सुखोंको जोड़ते हैं और दूसरी ओर असुविधा और कष्टको। कष्ट हमें अधिक तीव्रतासे प्रभावित करता है क्योंकि वह हमारी सत्ताके लिये अस्वाभाविक है, हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तिके विपरीत है, और कष्टका अनुभव हमें ऐसे होता है मानो वह हमारे जीवनपर किया गया अत्याचार है, हम जो कुछ हैं और होना चाहते हैं उसपर कोई आघात या बाह्य आक्रमण है।

तथापि दुःख-कष्टकी अवस्था असामान्य होनेसे या उसकी राशि कम या अधिक होनेसे दार्शनिक प्रश्नपर प्रभाव नहीं पड़ता। कम हो या अधिक, उसका अस्तित्वमात्र ही समस्या बन जाता है। सब कुछ सच्चिदा-नंद होते हुए दुःख और कष्टका अस्तित्व ही कैसे हो सकता है? यही वास्तविक समस्या है और वह प्रायः तब और भी उलझ जाती है जब विश्वसे बाहरके एक व्यक्तिगत ईश्वरकी धारणासे आरंभ करके एक मिथ्या प्रश्न उठ खड़ा होता है और एक दूसरा उपप्रश्न आता है नैतिक कठिनाईके रूपमें।

यह युक्ति दी जा सकती है कि सच्चिदानंद ईश्वर है, एक चिन्मय पुरुष है जो सत्ताका निर्माता है। फिर ईश्वरके हाथों ऐसे जगत्का निर्माण कैसे हो पाया जिसमें उन्होंने अपने सृष्ट प्राणियोंपर दुःख लाद दिया, कष्टको अनुमति दे दी, बुराईको प्रवेश करने दिया? ईश्वरके सर्व-शिव होते हुए कष्ट और बुराईकी रचना किसने की? यदि हम कहें कि कष्ट एक जाँच और अग्नि-परीक्षा है तो भी हम नैतिक समस्याका समाधान

नहीं कर पाते, हम एक अनैतिक या निर्नैतिक ईश्वरपर जा पहुँचते हैं,—जो शायद एक उत्कृष्ट विश्वकर्मा, एक चतुर मनोवैज्ञानिक तो है किंतु शुभ और प्रेमका ईश्वर नहीं जिसकी पूजा की जा सके, वह मात्र शक्तिशाली ईश्वर है, हमें जिसके नियमोंके अधीन रहना होगा या हम जिसकी सनकको संतुष्ट करनेकी आशा कर सकते हैं। क्योंकि जो कोई भी जाँच या अग्नि-परीक्षाके रूपमें उत्पीड़नका आविष्कार करता है वह विवेचित क्रूरता या नैतिक असंवेदनशीलताका अपराधी ठहरता है, और यदि वह नैतिक पुरुष हो भी, तो अपने ही बनाये प्राणियोंकी उच्चतम सहजप्रवृत्तिसे नीचा सिद्ध होता है। और यदि इस नैतिक कठिनाईसे बचनेके लिये हम यह कहें कि कष्ट नैतिक बुराईका अनिवार्य परिणाम और स्वाभाविक दंड है, तो न तो यह व्याख्या जीवनके तथ्योंसे ही तबतक मेल खायगी जब तक हम कर्म और पुनर्जन्मका सिद्धांत न मान लें जिसके अनुसार जीव इस जन्मसे पूर्व अन्य शरीरोंमें रहकर किये गये पापोंके लिये दुःख पाता है, और न इससे हम नैतिक समस्याकी जड़का निराकरण ही कर पाते हैं, अर्थात् जिस नैतिक बुराईका परिणाम दुःख और कष्ट होता है उसकी सृष्टि किसने की, या क्यों और कहाँसे हुई? और यह देखते हुए कि नैतिक बुराई वास्तवमें एक प्रकारका मानसिक रोग या अज्ञान है, यह प्रश्न उठता है कि इस विधान या अनिवार्य संबंधकी रचना किस व्यक्ति या किस वस्तुने की जो मानसिक रोग या अज्ञानमय कर्मको इतनी भीषण प्रतिक्रियासे, प्रायः इतने चरम और दानवी उत्पीड़नोंसे दंडित करता है? कर्मका अटल विधान एक परम नैतिक और व्यक्तिगत ईश्वरसे मेल नहीं खाता, अतः बुद्धके स्पष्ट तर्कने किसी स्वतंत्र और सर्वशासक व्यक्तिगत ईश्वरके अस्तित्वको माननेसे इंकार कर दिया, उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि समस्त व्यक्तित्व अज्ञानकी रचना है और कर्मके अधीन है।

सचमुचमें, इस पैने रूपमें उपस्थित की गयी कठिनाई केवल तब उत्पन्न होती है जब हम ऐसे व्यक्तिगत ईश्वरका अस्तित्व मानते हैं जो जगत्से बाहर है, स्वयं विश्व नहीं है, जिसने अपने सृष्ट भूतोंके लिये शुभ और अशुभ, दुःख तथा कष्टकी रचना की है, किन्तु जो स्वयं उनसे ऊपर और उनसे अप्रभावित रहता है, कष्ट पाते हुए संघर्षरत जगत्को देखता रहता है, उसपर शासन करता है और उसमें अपनी इच्छा बरतता रहता है, या यदि यह न कहें कि वह अपनी इच्छा बरत रहा है और यह कहें कि वह जगत्को एक अटल विधानसे चालित होने देता है, उसकी सहायता नहीं करता या

प्रभावहीन सहायता देता है, तो फिर वह ईश्वर नहीं है, सर्वशक्तिमान्, सर्व-शिव और सर्व-प्रेममय नहीं है। विश्वसे बाहर रहनेवाले नैतिक ईश्वरके आधारपर बना कोई भी मत अशुभ और कष्टकी,—अशुभ और कष्टकी रचनाकी,—व्याख्या नहीं कर सकता। वह इसकी व्याख्या तभी कर सकता है यदि वह एक ऐसे असंतोषदायी छलका सहारा ले जिसके द्वारा वह समस्यागत प्रश्नका उत्तर देनेके बदले उससे बचता रहे अथवा स्पष्ट रूपसे या अस्पष्ट रूपसे मैनिकी[1] मतको मान ले जो ईश्वरके कार्योंका औचित्य सिद्ध करने या उन्हें क्षम्य बतानेके प्रयासमें ईश्वरत्वको व्यवहारत: रद्द कर देता है। किन्तु ऐसा ईश्वर वेदान्तका सच्चिदानंद नहीं है। वेदांतका सच्चिदानन्द एकमेवाद्वितीय सत्ता है, जो कुछ भी है वह सब वही ईश्वर है। अत: यदि बुराई और कष्ट है, तो भूतोंके अन्दर शरीर धारण करनेवाला स्वयं सच्चिदानंद ही उनके अंदर बुराई और कष्ट सहन करता है। तब समस्या एकदम बदल जाती है। तब यह प्रश्न नहीं रह जाता कि ईश्वरने अपने सृष्ट भूतोंके लिये ऐसे कष्ट और अशुभकी रचना कैसे की जो स्वयं उसके लिये संभव नहीं है और फलस्वरूप जिनसे वह अस्पृष्ट है, बल्कि प्रश्न यह उठता है कि उस एकमेवाद्वितीय अनन्त सत्-चित्-आनंदने अपने अन्दर उस चीजको कैसे आने दिया जो आनंद नहीं है, जो उसका सुनिश्चित नकार ही प्रतीत होती है।

नैतिक कठिनाईका आधा अंश, इस कठिनाईका वह रूप जिसका उत्तर न दिया जा सके, अब विलुप्त हो जाता है। वह कठिनाई अब नहीं उठती, अब उसे उपस्थित नहीं किया जा सकता। दूसरोंके प्रति निर्दयता, जब कि मैं अछूता रहूँ या बादमें पश्चात्ताप या देरीसे दया करके उनके कष्टोंमें भाग ही लूँ, यह एक चीज है; किंतु कष्टका अपने-आपपर आरोप, जब कि मैं ही एकमात्र सत्ता हूँ, यह बिलकुल अलग चीज है। किंतु अब भी नैतिक कठिनाई एक आपरिवर्तित रूपमें वापस लायी जा सकती है :—सर्वानन्दमय अवश्य ही सर्व-शिव और सर्व-प्रेममय भी है, फिर, अशुभ और कष्ट सच्चिदानंदमें कैसे रह सकते हैं, जब कि वह कोई यंत्रवत् सत्ता नहीं, वरन् स्वतंत्र और चिन्मय पुरुष है,—और अशुभ और कष्टका तिरस्कार और वर्जन करनेको भी समर्थ है। हमें यह मानना होगा कि इस प्रकार व्यक्त किया गया प्रश्न भी मिथ्या है क्योंकि वह आंशिक उक्तिके शब्दोंको

---

1. तीसरी सदीमें मैनिकियसने फारसमें यह मत चलाया था कि हर चीजकी उत्पत्ति दो प्रधान तत्वोंसे, अन्धकार और प्रकाश, अच्छे और बुरेसे हुई है। —अनु०

इस प्रकार प्रयुक्त करता है मानों वे सम्पूर्णपर लागू हों। क्योंकि बात यह है कि हम सर्व-आनंदमयकी धारणामें शुभ और प्रेमके जो भाव ले आते हैं उनका उद्‌गम वस्तुओंकी द्वैतात्मक और विभाजनात्मक धारणासे होता है, उनका सम्पूर्ण आधार जीवके साथ जीवके संबंध होते हैं, और फिर भी हम उन्हें ऐसी समस्यापर प्रयुक्त करनेका आग्रह करते हैं, जो इस धारणासे विपरीत, 'एक' को ही सर्व मानकर प्रारंभ होती है। हमें प्रथम यह देखना है कि विभिन्नताके अंदर एकत्व है, इस आधारपर अपने आदि शुद्ध रूपमें, यह समस्या कैसी दीखती है या उसका समाधान कैसे हो सकता है, केवल हम तभी निरापद रूपसे उसके अंगों और विकासोंकी, उदाहरणस्वरूप, विभाजन और द्वैतपर आधारित जीव और जीवके बीजके संबंधोंकी मीमांसा कर सकेंगे।

यदि हम इस भाँति समग्रको देखें, और अपने-आपको मानव-कठिनाई और मानव-दृष्टिकोणसे सीमित न करें, तो हमें मानना होगा कि हम एक नैतिक जगत्‌में नहीं रह रहे हैं। मनुष्यको यथार्थ ज्ञान और सम्पूर्ण दृष्टितक पहुँचनेसे रोकनेमें सबसे प्रभावी चीजें हैं उसकी स्वेच्छाकृत तथा हठी आत्म-संभ्रमकी चेष्टाएँ, सारी वस्तुओंके अंदर उसके अपने-आपको, अपने सीमित मानव-स्वरूपको देखने और उसने व्यक्तिगत रूपसे जो दृष्टिकोण विकसित किये हैं उन्हींके द्वारा सबको जाँचनेके उसके दयनीय प्रयत्न। मानव-विचारका समूची प्रकृतिके अन्दर एक नैतिक अभिप्राय जबर्दस्ती प्रविष्ट करनेका प्रयत्न ऐसी ही चेष्टाओं और प्रयत्नोंमेंसे एक है। भौतिक प्रकृति नैतिक नहीं है, उसे जो नियम शासित करता है वह ऐसे बँधे हुए अभ्यासोंका सहयोजन है जिन्हें अच्छे और बुरेका ध्यान नहीं रहता, उन्हें केवल शक्तिसे प्रयोजन है, उस शक्तिसे, जो सृष्टि करती है, व्यवस्था और संरक्षण करती है, अव्यवस्था और विनाश करती है,—बिना किसी नैतिक विचारके, निष्पक्ष भावसे, अपने अन्दर निहित रहस्यमयी इच्छा-शक्तिके अनुसार, अपने रूपायणों और आत्म-विघटनोंमें उस इच्छाके मूक संतोषके लिये। पशु-प्रकृति, प्राण-प्रकृति भी नीतिशून्य होती है, यद्यपि जैसे-जैसे वह प्रगति करती है वह उस कच्चे उपादानको प्रकट करती है जिसके अन्दरसे उच्चतर कोटिका पशु नैतिक प्रेरणाको विकसित करता है। बाघ अपने शिकारको मार डालता और निगल जाता है, इसके लिये हम उसे दोष नहीं देते, जैसे हम तूफानको नाश करनेके कारण दोषी नहीं ठहराते या अग्निको पीड़ा पहुँचाने और प्राण लेनेके कारण दोष नहीं देते; न ही तूफान, अग्नि या बाघके अन्दर

रहनेवाली चित्-शक्ति अपने-आपको इसके लिये दोष देती या धिक्कारती है। दोष देना और धिक्कारना, या बल्कि अपने-आपको दोष देना और धिक्कारना सच्चे नीतिशास्त्रका आरंभ है। जब हम अपने-आपपर वही नियम लागू किये बिना औरोंको दोष देते हैं तब हम सच्चे नैतिक विवेचनकी भाषा नहीं बोलते, बल्कि नीतिशास्त्रने हमारे लिये जिस भाषाको विकसित किया है उसका उपयोग ऐसी चीजोंके लिये करते हैं जो हमें अप्रसन्नता देती या चोट पहुँचाती हैं और जिनके प्रति हमारे अन्दर भावुकतापूर्ण प्रतिक्षेप या जुगुप्साका उद्वेग पैदा होता है।

यह जुगुप्सा या विराग नैतिकताका प्रथम मूल है किंतु वह स्वयं नैतिक नहीं है। मृगको बाघसे जो भय होता है, सबल प्राणीको अपने आक्रमणकारीपर जो क्रोध होता है, वह जीवनपर संकट लानेवालेके प्रति अस्तित्वके वैयक्तिक आनन्दकी प्राणिक जुगुप्सा है। मानसिकताकी प्रगतिमें यही चीज परिमार्जित रूपमें घृणा, नापसंद, अस्वीकृति बन जाती है। जो कुछ हमपर संकट लाता या हमें चोट पहुँचाता है उसकी अस्वीकृति, जो कुछ हमें प्रसन्न और संतुष्ट करता है उसका अनुमोदन, यह सब परिमार्जित होकर अच्छे और बुरेकी धारणा बन जाता है, यह धारणा अपने संबंधमें, समाजके संबंधमें, अपने-आपसे भिन्न अन्य जनोंके संबंधमें, अपने समाजसे भिन्न अन्य समाजोंके संबंधमें बनती जाती है, और अंततः अच्छेके सर्वसामान्य अनुमोदन और बुरेकी सर्वसामान्य अस्वीकृतिका रूप ले लेती है। किंतु इस चीजका मूलगत स्वरूप सर्वत्र वही रहता है। मनुष्य चाहता है आत्म-अभिव्यक्ति, आत्म-विकास, या अन्य शब्दोंमें, अपने अंदर सत्ताकी चित्-शक्तिकी प्रगतिशील क्रीड़ा; यही उसका मूलगत आनन्द है। उस आत्म-अभिव्यक्तिको, आत्म-विकासको, उसके प्रगतिमान आत्माकी संतुष्टिको जो कुछ चोट पहुँचाता है, वह उसके लिये बुरा बन जाता है; जो कुछ उसे सहायता और अनुमोदन देता है, उसे उन्नीत, वर्द्धित और उदात्त बनाता है, वही उसके लिये अच्छा बन जाता है। हाँ, केवल उसकी आत्म-विकासकी धारणा बदलती रहती है, वह उच्चतर और विशालतर होती जाती है, अपने सीमित व्यक्तित्वका अतिक्रमण करना, अपने दायरेके अंदर औरोंको भी लेना, सबको परिवेष्टित करना आरंभ करती है।

अन्य शब्दोंमें, नैतिकता क्रमविकासमें आनेवाली एक मंजिल है। परंतु सब मंजिलोंमें जो चीज सामान्य रूपसे रहती है, वह आत्म-अभिव्यक्तिके लिये सच्चिदानंदकी प्रेरणा है। यह प्रेरणा पहले निर्नैतिक होती है, फिर पशुमें अवनैतिक होती है, फिर बुद्धिमान् पशुमें नैतिकता-विरोधी भी होती

है क्योंकि वह हमें दूसरोंको चोट पहुँचानेका अनुमोदन करने देती है जब कि स्वयं हमपर वही चोट हो तो हम उसका अनुमोदन नहीं करते। इस संबंधमें मानव अब भी अर्ध-नैतिक ही है। और, जैसे जो कुछ हमसे नीचे है अवनैतिक है, वैसे ही यह संभव है कि हमारे ऊपर जो है, जहाँ हम अंततः जा पहुँचेंगे, वह अतिनैतिक हो, उसे नैतिकताकी आवश्यकता ही न हो। नैतिक प्रेरणा और अभिवृत्ति, जो मानवताके लिये इतनी सर्व-महत्व-पूर्ण है, उसके लिये एक साधन ही है। निश्चेतनापर आधारित और प्राणके द्वारा वैयक्तिक असंगतियोंमें खंडित निम्नतर सामंजस्य और विश्वात्मकतामेंसे निकलनेका प्रयास इस साधनके द्वारा करती हुई मानवता सकल भूतोंके साथ सचेतन एकत्वपर आधारित उच्चतर सामंजस्य और विश्वात्मकताकी ओर जाती है। उस लक्ष्यपर पहुँच जानेके बाद यह साधन आवश्यक नहीं रह जायगा, या शायद संभव भी न रहेगा क्योंकि जिन गुणों और विरोधोंपर वह निर्भर करता है वे उस अंतिम संगतिके अंदर स्वभावतः विघटित और लुप्त हो जायँगे।

तो, यदि नैतिक दृष्टिकोणका उपयोग बस एक विश्वात्मकतासे निकलकर अन्य विश्वात्मकतामें जानेके एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण किंतु अस्थायी मार्ग-रूपमें ही है तो हम उसका प्रयोग विश्वकी समस्याके सम्पूर्ण समाधानके लिये नहीं कर सकते, उसे समाधानके एक तत्त्वके रूपमें ही मान सकते हैं। इससे अन्यथा करनेसे इस बातका भय है कि हम अपनी किसी सामयिक दृष्टि और वस्तुओंकी उपयोगिता-संबंधी किसी अर्धविकसित दृष्टिकी सुविधाके लिये कहीं विश्वके सारे तथ्योंको और हमसे पीछे और हमसे आगेके विकासक्रमके आशयको मिथ्या न कर दें। जगत्के तीन स्तर हैं: अवनैतिक, नैतिक और अतिनैतिक। हमें उसकी खोज करनी होगी जो सबके अन्दर विद्यमान है, क्योंकि तभी हम समस्याका समाधान कर सकेंगे।

हम देख आये हैं कि जो सभीमें विद्यमान है वह है सत्की चित्-शक्तिकी संतुष्टि जो रूपोंके अंदर अपने-आपको विकसित कर रही है और उस विकासमें अपना आनंद खोज रही है। यह स्पष्ट है कि चित्-शक्तिने इस संतुष्टि या आत्म-सत्ताके आनन्दसे ही आरंभ किया था, क्योंकि यही उसके लिये स्वाभाविक है, उसीसे वह चिपकी रहती है और उसीको अपना आधार बनाती है, किन्तु वह अपने-आपके नये रूप खोजती जाती है और उच्चतर रूपोंके मार्गमें दुःख और कष्टका व्यापार आता है जो उसकी सत्ताके मूलगत स्वरूपके विपरीत जाता प्रतीत होता है। यह और केवल यही मूल समस्या है।

इसका समाधान कैसे किया जाय? क्या हम यह कहें कि सच्चिदानंद विश्वका आदि और अंत नहीं है, वरन् शून्य ही आदि और अंत है, एक ऐसा निष्पक्ष शून्य, जो स्वयं तो कुछ भी नहीं है, किंतु अपने अन्दर सत् या असत्की, चेतना या अचेतनाकी, आनंद या निरानंदकी सारी शक्यताओंको समाये हुए है? हम चाहें तो यह उत्तर स्वीकार कर सकते हैं, किंतु इसके द्वारा प्रत्येक वस्तुकी व्याख्या करना चाहते हुए भी हम प्रत्येक वस्तुका समावेश भर किये होते हैं, व्याख्या किसीकी भी नहीं। ऐसा शून्य, ऐसी रिक्तता जो सारी शक्यताओंसे भरपूर है, शब्दों और वस्तुओंका संभव हो सकनेवाला अधिक-से-अधिक संपूर्ण विरोध है और इस प्रकार हमने एक लघु प्रतिवादकी व्याख्या एक अधिक बड़े प्रतिवादको लाकर, वस्तुओंके आत्म-प्रतिवादको उनकी चरम सीमातक पहुँचाकर की होती है। शून्य है रिक्तता, जहाँ कोई शक्यताएँ नहीं रह सकतीं, सारी शक्यताओंका एक निष्पक्ष अनिर्दिष्ट होता है महा अव्यवस्था। और इस प्रकार हमने बस उस महा अव्यवस्थाको शून्यके अंदर पहुँचा दिया होता है, किंतु हम यह व्याख्या नहीं कर पाते कि वह वहाँ पहुँची कैसे? तो अब हम सच्चिदानंदकी अपनी मूल धारणापर वापस आयें और यह देखें कि उस नींवपर एक सम्पूर्णतर समाधान संभव है या नहीं।

प्रथम हमें यह बात स्पष्ट रूपसे समझ लेनी चाहिये कि जैसे, जब हम विश्व-चेतनाकी चर्चा करते हैं तब हमारा अभिप्राय मानव-प्राणीकी जागृत मनोमय चेतनासे भिन्न, किसी सत्यतर और विशालतर वस्तुसे रहता है, वैसे ही जब हम अस्तित्वके विश्वानंदकी चर्चा करते हैं तो हमारा अभिप्राय वैयक्तिक मानव-जीवके सामान्य भावमय और संवेदनात्मक सुखसे भिन्न, सत्यतर और विशालतर वस्तुसे रहता है। सुख, हर्ष और आनन्द, इन शब्दोंका उपयोग मनुष्य जैसे करता है, ये सीमित और नैमित्तिक गतियाँ हैं, जो कुछ अभ्यासगत कारणोंपर निर्भर हैं, और अपने विरोधी तत्त्वों दुःख और कष्टकी भाँति, जो इन्हींकी तरह समान रूपसे सीमित और नैमित्तिक गतियाँ हैं, अपने-आपसे भिन्न किसी और पृष्ठभूमिसे उद्‌गत होती हैं। सन्मात्रका आनंद विश्वव्यापी, असीम और स्वयंभू है, वह विशेष कारणोंपर निर्भर नहीं है, वह सब पृष्ठभूमियोंकी पृष्ठभूमि है, जिससे सुख, कष्ट और अन्य अधिक तटस्थ अनुभव उद्‌भूत होते हैं। जब सन्मात्रका आनंद संभूतिके आनंदके रूपमें रूपायित होना चाहता है तब वह शक्तिकी गतिमें स्पंदित होता है और स्वयं ही गतिके भिन्न रूप अपनाता है, सुख और दुःख जिसके भावात्मक और अभावात्मक

प्रवाह होते हैं। जड़तत्वके अंदर अवचेतन, मनसे परे अतिचेतन रहता हुआ यह आनंद, संभूतिमें उन्मज्जित होकर, गतिकी वर्द्धमान आत्म-चेतनामें, मन और प्राणमें रूपायित होना चाहता है। उसके प्रथम व्यापार द्वैत और अविशुद्ध होते हैं, वे सुख और कष्टके ध्रुवोंके वीच गतिमान रहते हैं, किंतु उसका लक्ष्य होता है सत्ताके स्वयंभू, विषय तथा कारणसे स्वतंत्र, परम आनंदकी विशुद्धताके अंदर आत्म-प्राकट्य। जैसे सच्चिदानंद व्यक्तिके अंदर विश्व-सत्ताकी ओर तथा शरीर और मनके रूपमें रूपातीत चेतनाकी उपलब्धिकी ओर अग्रसर होता है, वैसे ही यह आनंद भी विशेष अनुभवों और विषयोंके प्रवाहके अंदर सर्वगत, स्वयंभू और विषयरहित आनंदकी ओर अग्रसर होता है। अभी हम उन विषयोंकी खोज एक क्षणिक सुख और संतुष्टिके उद्दीपक निमित्तोंके रूपमें करते हैं, स्वतंत्र, आत्मवान् हो जानेपर हमें उनकी खोज नहीं रहेगी; वरन् हम उनके स्वामी होंगे और वे आनंदके निमित्त-रूप न होकर एक शाश्वत अस्तित्वशाली आनंदके प्रतिबिंबक होंगे।

अहमात्मक मानव-सत्तामें, जड़तत्त्वके प्रकाशहीन कवचमेंसे उद्‌गत होते मनोमय पुरुषमें अस्तित्वका आनंद तटस्थ, अर्थ-प्रच्छन्न है, अब भी अवचेतनकी छायामें है, वह शायद ऐसी समृद्ध प्रच्छन्न भूमिसे अधिक कुछ नहीं है जिसे कामनाने विषैले घास-पात और लगभग वैसे ही विषैले फूलोंकी घनी उपजसे, हमारे अहमात्मक जीवनके दुखों और सुखोंसे ढक रखा है। हमारे अन्दर गुप्त रूपसे क्रिया करती हुई दिव्य चित्-शक्ति जब कामनाकी इन उपजोंको निगल चुकेगी, ऋग्वेदके रूपकमें, जब ईश्वरकी अग्नि पृथ्वीके कामनांकुरोंको भस्मीभूत कर चुकेगी, तभी इन सुखों और कष्टोंके मूलमें जो गुप्त तत्त्व है, जो उनका कारण और उनकी गुप्त सत्ता है, उनके अंदर जो आनंदका रस है, वह नये रूपोंमें उद्‌गत होगा, कामनाके रूपोंमें नहीं, अपितु स्वयंभू संतुष्टिके रूपोंमें, और फलस्वरूप मर्त्य सुखके स्थानपर 'अमर'का आनन्द आयेगा। और यह रूपांतर संभव है, क्योंकि संवेदन और भावावेगकी ये उपजें, जैसे सुख वैसे ही कष्ट भी, अपनी मूलभूत सत्तामें अस्तित्वका वह आनंद ही हैं जिसे वे खोजते तो हैं किंतु प्रकट करनेमें विफल होते हैं। विफलताका कारण है विभाजन, आत्म-अज्ञान और अहंभाव।

अध्याय बारह

अस्तित्वका आनन्द : समाधान

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यम् ।

उस तत्का नाम आनंद है, हमें आनंद-रूपमें ही उसकी उपासना और खोज करनी चाहिये ।

केनोपनिषद्
4.6

अस्तित्वके आनंदकी एक अविच्छेद्य फल्गु-धारा है और सारे बाह्य या ऊपरी संवेदन उसकी भावात्मक, अभावात्मक या तटस्थ क्रीड़ा हैं, उस अनंत सागरकी लहरें और फेन हैं। इस धारणासे हमें उस समस्याका समाधान मिल जाता है जिसकी हम परीक्षा कर रहे हैं। एक अनंत अविभाज्य सत्ता ही सकल वस्तुओंका आत्मस्वरूप है, उस सत्ताका स्वभाव या स्वशक्ति आत्म-चेतन सत्ताकी एक अनंत अविनाशी शक्ति है; और उस आत्मचेतनाका मूलगत स्वरूप या अपने-आपका ज्ञान, सत्ताका एक अनंत अविच्छेद्य आनंद होता है। रूपहीनतामें और सारे रूपोंमें, अनंत और अविभक्त सत्ताकी शाश्वत संवित्में और सांत विभाजनकी बहुविध प्रतीतियोंमें यह स्वयंभू सत्ता अपना आत्मानंद शाश्वत बनाये रखती है। हमारा अन्तरात्मा अपने ऊपरी संस्कार और आत्म-चेतन सत्ताके विशेष गुणके बन्धनसे निकलता हुआ जैसे जड़की प्रतीयमान निश्चेतनाके अंदर यह ढूँढ़ लेता है कि उसके अंदर वही अनंत चित्-शक्ति नित्य, अचल, तपोमग्न है, वैसे ही जड़तत्त्वकी प्रतीयमान संवेदनहीनताके अंदर वह एक अनंत, चिन्मय, अविचल, उल्लासमय, सर्वालिंगनकारी आनंदको ढूँढ़ लेता है और उसके साथ समस्वर हो जाता है। यह आनंद आत्माका अपना आनंद है, यह आत्मा सबके अंदर स्थित उसीका आत्मा है, किंतु निजके और वस्तुओंके विषयमें हमारी सामान्य दृष्टि जो केवल ऊपरी सतहोंपर ही जागती और चलती है, उसके लिये वह आनंद प्रच्छन्न, निगूढ़ और अवचेतन ही रहता है; और जैसे वह सब रूपोंके अंदर है, वैसे

ही वह सारे अनुभवोंके अंदर भी है, चाहे वे सुखद हों या दुःखद अथवा तटस्थ। वहाँ भी प्रच्छन्न, निगूढ़ और अवचेतन वही आनंद है जो आनंद वस्तुओंको अपना अस्तित्व वनाये रखनेके लिये समर्थ और वाध्य करता है। यही आनंद अस्तित्वके प्रति चिपटे रहनेकी उस प्रवृत्तिका, अस्तित्वकी उस सर्वशासिका इच्छाका कारण है जो प्राणमें आत्म-संरक्षणकी सहज-प्रवृत्तिके रूपमें अनूदित होती है, स्थूलमें जड़-तत्वकी अविनाशिताके रूपमें प्रकट होती है, मनमें अमरत्व-वोधके रूपमें रहती है, रूपायित सत्ताके आत्म-विकासकी सभी अवस्थाओंमें सत्ताके साथ रहती है और उसमें यदि कभी-कभी आत्म-विनाशका आवेग उठता है तो वह भी उसका एक उल्टा रूप ही होता है, जो सत्ताकी एक अन्य स्थितिके प्रति आकर्षणका, और परिणामतः, सत्ताकी वर्तमान स्थितिके प्रति जुगुप्साका रूप होता है। आनंद ही अस्तित्व है, आनंद ही सृष्टिका रहस्य है, आनंद ही जन्मका मूल है, आनंद ही अस्तित्व वनाये रखनेका कारण है, आनंद ही जन्मका अंत है और आनंद ही वह है जिसमें सृष्टिका पर्यवसान होता है। उपनिषद् कहती है, आनंदसे ही समस्त भूतोंका जन्म होता है, आनंदसे ही वे जीवित रहते और वर्द्धित होते हैं और आनंदमें ही उनका प्रयाण होता है।

जव हम मूल सत्के इन तीन पक्षोंकी ओर दृष्टिपात करते हैं जो हैं तो एक, किंतु हमारी मानसिक दृष्टिको त्रिविध दीखते हैं, परंतु केवल प्रतिभासमें, विभक्त चेतनाके व्यापारोंमें ही पृथक् किये जा सकते हैं, तव हम प्राचीन दर्शनशास्त्रोंके विभिन्न सूत्रोंको उनके सही स्थानपर रखनेमें समर्थ होते हैं जिससे वे सम्मिलित होकर एक हो जाते हैं और उनका दीर्घकालीन वादविवाद समाप्त हो जाता है। क्योंकि, यदि हम जगत्-सत्ताको केवल उसके प्रत्यक्ष रूपोंमें और विशुद्ध, अनंत, अविभाज्य और अपरिवर्तनीय सत्ताके साथके संवंधोंके आधारपर ही देखते हैं तो हमें उसे माया-रूपमें समझने, वर्णन करने और अनुभव करनेका अधिकार हो जाता है। अपने मूल अर्थमें माया शब्दका आशय एक ऐसी अवधारक और अंतर्विष्टकारी चेतनासे था जो आलिंगन करनेमें, परिमित और सीमित करनेमें समर्थ है और इसीलिये रचनाकारी है। यह वही चेतना है जो रूपरेखा बनाती है, मापती है, अरूपमें रूप ढालती है, मनोमय रूप देती है और अज्ञेयको ज्ञेय वनाती मालूम होती है, यह ज्यामितिक रूप देती है और अमेयको मेय वनाती मालूम होती है। वादमें यह शब्द ज्ञान, निपुणता और बुद्धिमत्ताके मूल अर्थसे हटकर चालाकी, धोखे या भ्रमके हीन अर्थमें व्यवहृत होने लगा और दर्शनशास्त्रोंमें इसका प्रयोग इन्द्रजाल या भ्रमके रूपमें होने लगा।

जगत् माया है। जगत् इस अर्थमें अवास्तविक नहीं है कि उसका *किसी भी प्रकारका अस्तित्व नहीं है, क्योंकि यदि वह ब्रह्मका एक स्वप्न ही* हो, तो भी ब्रह्ममें स्वप्न-रूपसे तो उसका अस्तित्व होगा ही, वह वर्तमानमें ब्रह्मके लिये वास्तविक होगा, भले ही अंततः अवास्तविक हो। हमें यह भी नहीं कहना चाहिये कि जगत् इस अर्थमें अवास्तविक है कि उसका किसी प्रकारका शाश्वत अस्तित्व नहीं है, क्योंकि, यद्यपि ऐसा हो सकता है या होता भी है कि विशेष जगत् और विशेष रूप स्थूलतः विघटित हो जाते हैं और मानसिक रूपमें अभिव्यक्तिकी चेतनासे निकलकर अव्यक्ततामें वापस चले जाते हैं, फिर भी रूप और जगत् दोनों तत्त्व-रूपमें शाश्वत है। अव्यक्ततासे वे व्यक्ततामें अनिवार्यतः वापस आ जाते हैं, उनका यदि शाश्वत सातत्य न भी हो तो भी शाश्वत पुनरावर्तन तो है ही, साथ ही जब कि वे व्यष्टि-भावमें और प्रतिभासमें नित्य क्षर हैं, अपने समष्टि-भावमें और आधारमें वे शाश्वत रूपसे अक्षर हैं। न हमें इस बातका कोई निश्चय हो सकता है कि कालके अन्तर्गत ऐसा कोई समय कभी आया था या आयगा जब शाश्वत चिन्मय सत्में विश्वका कोई भी रूप, सत्ताकी कोई भी क्रीड़ा उसके सामने प्रतिभासित नहीं होती हो, वरन् हमें केवल यह संबोधिमूलक बोध होता है कि हम जिस जगत्को जानते हैं वह उस तत्से आविर्भूत हो सकता है और होता है और उसीके अन्दर लीन हो जाता है, यह गति अविच्छिन्न चलती रहती है।

फिर भी जगत् माया है, क्योंकि वह अनंत सत्ताका स्वरूप-सत्य नहीं है, अपितु आत्म-चेतन सत्ताकी एक सृष्टि ही है; यह शून्यके अन्दर सृष्टि नहीं है, यह असत्के अंदरसे या असत्मेंसे बनी हुई सृष्टि नहीं है वरन् यह उस स्वयंभू सत्ताके सनातन सत्यमें और उसीसे बनी हुई सृष्टि है; सद्ब्रह्मका स्वरूप-तत्त्व ही उसका आधार, मूल और उपादान है, इस सृष्टिके रूप उस तत्के स्वानुभवकी भूमिकामें ही उसकी अपनी सर्जनात्मक चिन्मय शक्तिके द्वारा निर्धारित उसके परिवर्तनशील आत्म-रूपायण हैं। उनमें अभिव्यक्तिकी सामर्थ्य है, अव्यक्तताकी सामर्थ्य है और अन्य रूपोंमें अभिव्यक्त होनेकी सामर्थ्य भी है। अतः हम चाहें तो उन्हें अनंत चेतनाके भ्रम कह सकते हैं, इस तरह हम भूल और अक्षमताके अधीन रहनेके अपने मानसिक बोधकी छायाको उसपर फेंकनेकी धृष्टता करेंगे जो मनसे महत्तर होनेके कारण मिथ्यात्व और भ्रमकी अधीनतासे परे है। किंतु यह देखते हुए कि सत्का सार और तत्त्व झूठा नहीं है और हमारी विभक्त चेतनाकी सारी भूलें और विकृतियाँ अविभाज्य आत्म-चेतन सत्ताके किसी

सत्यका प्रदर्शन करती हैं, हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि जगत् उस तत्का मूलभूत सत्य नहीं है, बल्कि उस तत्की स्वच्छंद विविधता और अनन्त बाह्य परिवर्तनशीलताका प्रपंचात्मक सत्य है, उस तत्की मूलगत और अपरिवर्तनशील एकताका सत्य नहीं।

यदि, दूसरी ओर, हम जगत्-सत्ताको केवल चेतनाके और चेतनाकी शक्तिके सम्बन्धमें देखें तो हम उसे इस रूपमें देख सकते हैं या उसका वर्णन और अनुभव कर सकते हैं मानो वह शक्तिकी एक गति है जो किसी गुप्त इच्छाकी आज्ञाका पालन कर रही है या अपनी अधिष्ठात्री अथवा साक्षी चेतनाके अस्तित्वमात्रके कारण उसपर आरोपित कोई अनिवार्यता है। ऐसी दशामें यह जगत्-सत्ता प्रकृतिकी, यानी कार्यकारिणी शक्तिकी क्रीड़ा है जो पुरुषको, साक्षी और भोक्ता पुरुषको संतुष्ट करना चाहती है, या वह पुरुषकी ही क्रीड़ा है जो शक्तिकी गतियोंमें प्रतिबिंबित होती है और पुरुष उन गतियोंके साथ अपने-आपको एकात्म किये रहता है। तो जगत् विश्व-जननीकी क्रीड़ा है जो अपने-आपको अनंत रूपोंके अंदर नित्य ढालते जानेके लिये प्रवृत्त हुई हैं और सदा नवीन अनुभवोंको व्यक्त करनेके लिये उत्सुक हैं।

फिर, यदि हम जगत्-सत्ताको नित्य विद्यमान शाश्वत सत्-पुरुषके आत्मानंदके संबंधमें देखें तो हम उसे इस रूपमें देख सकते हैं, उसका वर्णन और अनुभव कर सकते हैं कि यह लीला है, सर्वभूतांतरात्माका खेल है, उसका बालकका आनंद, कविका आनंद, अभिनेताका आनंद और यांत्रिकका आनंद है, यह आत्मा चिर किशोर और चिर अक्षय है, यह आत्म-सर्जन और आत्म-रूपायणके अहैतुक आनन्दके लिये ही अपने-आपको अपने अन्दर सृष्ट और पुनर्सृष्ट करता रहता है, वह स्वयं खेल है, वही खिलाड़ी है और वह अपने-आप ही खेलका मैदान भी है। शाश्वत एवं स्थाणु, अपरिवर्तनशील सच्चिदानंदके संबंधकी भूमिकामें सत्ताकी क्रीड़ाके विषयमें ये तीन सर्वसामान्य मत बन जाते हैं, उनका आरंभ माया, प्रकृति और लीलाकी तीन धारणाओंसे होता है जो हमारे दार्शनिक सिद्धान्तोंमें परस्पर-विरोधी रूपमें प्रकट होती हैं, किंतु वस्तुतः उनमें एक-दूसरीके साथ पूर्ण संगति है, जगत् और जीवनकी सर्वांगीण दृष्टिके लिये अपनी समग्रतामें वे एक-दूसरीके लिये आवश्यक और पूरक हैं। हम जिस जगत्के अंग हैं, वह सबसे अधिक प्रत्यक्ष रूपमें शक्तिकी एक गति है, किंतु वह शक्ति, जब हम उसके प्रत्यक्ष रूपोंका भेदन कर मर्ममें जाते हैं, सर्जनशील चेतनाकी सतत और फिर भी परिवर्तनशील छन्दोबद्धता प्रमाणित होती है जो अपनी

अनंत और शाश्वत सत्ताके प्रपंचात्मक सत्योंको अपने अंदर उत्क्षिप्त और प्रक्षिप्त करती है, और इस छंदका सार, कारण और उद्देश्य सत्ताके अनंत आनंदकी क्रीड़ा है जो सदा अपने असंख्य आत्म-निरूपणोंमें व्यस्त है। विश्वको समझ पानेके लिये हमें सदा इस त्रयात्मक या त्रिविध दृष्टिको अपना आरंभिक स्थल वनाना होगा।

तो, चूंकि सत्ताके शाश्वत और अपरिवर्तनशील आनंदका संभूतिके अनंत और परिवर्तनशील आनंदमें स्पंदित हो आना ही सारे विषयका मूल है, अतः हमें एक अविभाज्य चिन्मय सत्पुरुषकी धारणा करनी होगी जो हमारे सारे अनुभवोंके पीछे है, उन्हें अपने अक्षर आनंदसे अवलंवन देता है और हमारी संवेदनात्मक सत्तामें सुख, दुःख और तटस्थ उदासीनताकी विविधताओंको अपनी गतिके द्वारा संपादित करता है। वह सत् ही हमारा वास्तविक आत्मा है, त्रिविध स्पंदनके अधीन रहनेवाला मनोमय पुरुष हमारे वास्तविक आत्माका एक प्रतिरूप मात्र हो सकता है जिसे वस्तुओंके उस संवेदनात्मक अनुभवके कार्योंके लिये सामने रखा गया है, जो विश्वके वहुविध सम्पर्कोंको प्रत्युत्तर देनेवाली और प्रतिक्रिया करनेवाली हमारी विभाजित चेतनाका प्रथम छन्द होता है। यह अपूर्ण प्रत्युत्तर होता है, एक उलझा हुआ और विषमतासे भरा छन्द होता है जो हमारे अंदर चिन्मय सत्के सम्पूर्ण और एकताबद्ध खेलकी तैयारी करता और उसकी भूमिका वनता है, यह वह सच्ची और पूर्ण समस्वरता नहीं है जो हमें तव प्राप्त हो सकती है जव हम सारे परिवर्तन-वैचित्र्योंके भीतर उस 'एक'के साथ सामंजस्य प्राप्त कर लें और अपने-आपको विश्वातीत तथा विश्वव्यापी सुर-सप्तकके साथ समस्वर कर दें।

यदि यह दृष्टि ठीक है तो कुछ निष्कर्ष अनिवार्य रूपसे निकलते हैं। प्रथमतः, चूंकि अपनी गहराइयोंमें स्वयं हम वही 'एक' हैं, चूंकि अपनी सत्ताकी वास्तविकतामें हम वह अविभाज्य सर्व-चैतन्य हैं और इस कारण अक्षर सर्वानंद हैं, अतएव हमारे संवेदनात्मक अनुभवका सुख, कष्ट और उदासीनताके तीन कम्पनोंमें संयोजित होना एक ऊपरी आयोजन ही हो सकता है जिसकी रचना हमारे उस सीमित अंगने की है जो हमारी जागृत चेतनामें सवसे वाहरके भागमें रहता है। हमारे अंदर पीछेकी ओर भी कुछ-न-कुछ होगा,—ऊपरी चेतनाकी अपेक्षा वहुत विशालतर, गभीरतर, सत्यतर,—जो सारे अनुभवोंमें निष्पक्षतासे आनन्द लेता है। यह वही आनंद है जो वाहरी मनोमय पुरुषको गुप्त रूपसे अवलंवन देता है और संभूतिकी विक्षुब्ध गतिके सारे श्रम, कष्ट और अग्नि-परीक्षाओंके

बीच चलते जानेके लिये क्षमता प्रदान करता है। हम जिसे अपना आपा कहते हैं वह सतहपर काँपती हुई एक किरणमात्र है। इसके पीछे सारा विशाल अवचेतन, विशाल अतिचेतन है जो सतहके सारे अनुभवोंसे लाभ उठाता है और उन्हें अपनी उस बाह्य सत्तापर आरोपित करता है जिसे वह जगत्के सम्पर्कोंके सामने एक प्रकारके संवेदनात्मक आवरणके रूपमें प्रकट करता है, स्वयं पर्देमें रहकर वह उन सम्पर्कोंको ग्रहण करता है और उन्हें एक सत्यतर, गभीरतर, आधिपत्यकारी और सृजनशील अनुभवके मूल्योंमें आत्मसात् करता है। वह उन्हें अपनी गहराइयोंमेंसे वल, चरित्र, ज्ञान, कर्मावेगके रूपमें सतहपर वापस भेजता है जिनकी जड़ें हमारे लिये रहस्यमय बनी रहती हैं, क्योंकि हमारा मन सतहपर ही चलता और प्रकंपित होता है, उसने गहराइयोंमें संकेन्द्रित होना और रहना नहीं सीखा है।

यह सत्य हमारे सामान्य जीवनमें हमसे छिपा रहता है या कभी-कभी केवल उसकी धूमिल झाँकी मिल जाती है या हम उसे अपूर्ण रूपसे ही पकड़ पाते और उसकी धारणा कर सकते हैं। किंतु, यदि हम अंदर रहना सीख जायँ तो अवश्यमेव हम अपने अंदरकी इस दिव्य विद्यमानताके प्रति जाग्रत् होते हैं जो हमारा अधिक सत्यतर आत्मा है। यह विद्यमानता निगूढ़, गभीर, स्थिर, आनंदपूर्ण और शक्तिशाली होती है और जगत् इसका स्वामी नहीं है; वह यदि स्वयं परम प्रभु नहीं भी है, तो अंदरके प्रभुका विकिरण तो अवश्य है। हमें इस विद्यमानताकी इस रूपमें संवित् होती है कि वह, अंत:स्थित रहती हुई, प्रतीयमान और बहिरात्माको आधार और सहायता देती है और उसके सुख और कष्टपर इस भाँति मुस्कराती है जैसे छोटे वच्चेकी भूल और उसके आवेशोंपर। और यदि हम अपने अंदर वापस जा सकें और अपने-आपको अपने ऊपरी अनुभवके साथ नहीं, बल्कि भगवान्की उस ज्योतिर्मयी उपच्छायाके साथ एकात्म कर सकें, तो हम जगत्के सम्पर्कोंके संबंधमें उसी अभिवृत्तिके साथ रह सकते हैं और अपनी सम्पूर्ण चेतनामें शरीर, प्राण-सत्ता और मनके सुख और कष्टसे अलग हटकर उन्हें ऐसे अनुभवोंके रूपमें ग्रहण कर सकते हैं जिनका स्वरूप ऊपरी होनेके कारण हमारे अंतस्तत्व और यथार्थ सत्ताको स्पर्श नहीं करता, उनपर अपने-आपको आरोपित नहीं करता। इसे सम्पूर्णतासे व्यक्त करने-वाले संस्कृत शब्दोंमें कहें तो मनोमयके पीछे एक आनंदमय है, सीमित मनोमय पुरुषके पीछे एक वृहत् आनन्दमय पुरुष है, मनोमय आनंदमयका एक छाया-प्रतिरूप और क्षुव्ध प्रतिविव ही होता है। हमारे स्वरूपका सत्य अंतरमें रहता है, वाहर सतहपर नहीं।

फिर, चूँकि सुख, दुःख और उदासीनताका यह त्रिविध कम्पन बाहरी है, हमारे अपूर्ण विकासका संयोजन और परिणाम है, अतः ये कम्पन निरपेक्ष, ध्रुव या अनिवार्य नहीं हो सकते। हमारे ऊपर कोई वास्तविक बाध्यता नहीं है कि हम किसी विशेष संपर्कके प्रति किसी सुख, दुःख या उदासीन प्रतिक्रियाका विशेष प्रत्युत्तर दें, बाध्यता बस अभ्यासकी होती है। किसी विशेष संपर्कमें हम जो सुख या दुःख अनुभव करते हैं उसका कारण यह होता है कि हमारी प्रकृतिने उसका अभ्यास बना लिया है, उस संपर्कके प्रति ग्रहणकर्ताने वैसा सतत संबंध बना लिया है। यह हमारे सामर्थ्यके अंदर है कि हम बिलकुल विपरीत, जहाँ कष्ट होता था, वहाँ सुखका, जहाँ सुख होता था वहाँ कष्टका प्रत्युत्तर दें। उसी तरह यह भी हमारे सामर्थ्यमें है कि हम अपनी बाह्य सत्ताको इसका अभ्यास करा दें कि वह सुख, कष्ट और उदासीनताकी यंत्रवत् प्रतिक्रिया-ओंके स्थानपर अक्षर आनंदका वह मुक्त उत्तर दे जो हमारे अंदरके सच्चे और विशाल आनंद-पुरुषका सतत अनुभव है। और, यह चीज ऊपरी तलकी अभ्यस्त प्रतिक्रियाओंको गहराईमें प्रसन्न और निष्पक्षभावसे ग्रहण करनेकी अपेक्षा एक बड़ी विजय है, एक गभीरतर और अधिक संपूर्ण आत्मवत्ता है। कारण, अब यह केवल दासतारहित स्वीकृति ही नहीं रह जाती, अनुभवके सदोष मूल्योंको स्वाधीनतासे दी गयी मान्यता भी नहीं रह जाती, वरन् हमें अपूर्णको पूर्णमें, मिथ्या मूल्योंको सच्चे मूल्योंमें परिणत करनेकी योग्यता देती है। यह है मनोमय पुरुषके अनुभूत द्वन्द्वोंके स्थानपर आत्माके द्वारा निखिल वस्तुओंका सतत किन्तु सच्चा आनंद-पान।

मनके व्यापारोंमें यह देख पाना कठिन नहीं कि सुख और दुःखकी प्रतिक्रियाएं नितांत अभ्यासजन्य और सापेक्ष होती हैं। वास्तवमें हमारी स्नायविक सत्ताको यह अभ्यास हो जाता है कि इन प्रतिक्रियाओंका होना निश्चित-नियत है, और उसपर उनके निरपेक्ष होनेका एक मिथ्या संस्कार पड़ जाता है। उसके लिये सब प्रकारकी विजय, सफलता, मान, सौभाग्य आदि चीजें अपने-आपमें निरपेक्ष रूपसे सुखद होती हैं, और जैसे चीनी अवश्य मीठी होगी वैसे ही इनसे हर्ष भी अवश्य उत्पन्न होगा। इसी तरह सब प्रकारकी पराजय, विफलता, निराशा, अपमान, दुर्भाग्य आदि चीजें अपने-आपमें और निरपेक्ष रूपसे असुखद होती हैं, और जैसे नीम अवश्य कड़ुई होगी, उसी तरह इनसे शोक अवश्य उत्पन्न होगा। इन प्रत्युत्तरोंमें परिवर्तन करना उसकी दृष्टिमें तथ्यसे भटक जाना है, असाधारण

और अस्वस्थ अवस्था है, क्योंकि स्नायविक सत्ता अभ्यासकी दासी होती है, प्रकृतिने उसे प्रतिक्रियाके सातत्य, अनुभवकी समरूपता और जीवनके प्रति मनुष्यके संबंधोंकी व्यवस्थित योजना निर्धारित करनेके लिये साधन-रूपमें नियुक्त किया है। दूसरी ओर मनोमय पुरुष स्वाधीन है, क्योंकि वह वह साधन है जिसे प्रकृतिने नमनीयता और वैचित्र्यके लिये, परिवर्तन और प्रगतिके लिये नियुक्त किया है, वह तभीतक अधीन रहता है जब-तक कि वह अधीन रहना पसन्द करता है, या अमुक अभ्यासके स्थानपर किसी अन्य अभ्यासमें निवास करना चाहता है, या जब तक कि वह अपने-आपको अपने स्नायविक यंत्रके अधिकारमें रहने देता है। वह पराजय, अपमान या हानिसे शोक पानेको बाध्य नहीं है : वह इन चीजोंका और सब चीजोंका सामना पूर्ण उदासीनताके साथ, यहाँ तक कि पूर्ण प्रसन्नताके साथ भी कर सकता है। अतः मनुष्य देखता है कि वह जितना अपने शरीर और स्नायुओंके अधिकारमें रहना अस्वीकार करता है, जितना ही वह अपने-आपको अपने शारीरिक और प्राणिक अंगोंकी लपेटमेंसे खींच निकालता है, उतनी ही महत्तर उसकी निर्मुक्ति होती है। तब वह बाह्य स्पर्शोंका दास न रहकर, जगत्के सम्पर्कोंके प्रति अपने प्रत्युत्तरोंका स्वामी हो जाता है।

इस सार्वभौम सत्यको शारीरिक सुख और पीड़ाके संबंधमें लागू करना अधिक कठिन होता है, क्योंकि यह स्नायुओं और शरीरका अपना क्षेत्र है, यह हमारे अन्दर उस सत्ताका केन्द्र और आसन है जिसका स्वभाव है बाह्य सम्पर्क और बाह्य चापसे शासित होना। तथापि, यहाँ भी हमें सत्यकी झाँकियाँ मिलती हैं। इसका प्रमाण हम इस तथ्यमें देखते हैं कि अभ्यासके अनुसार एक ही दैहिक संस्पर्श केवल भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंमें ही नहीं, वरन् एक ही व्यक्तिकी भिन्न-भिन्न दशाओं अथवा विकासकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें सुखद या कष्टप्रद हो सकता है। इसका प्रमाण हम इस तथ्यमें देखते हैं कि बड़ी उत्तेजना या ऊँचे भावोत्कर्षके समय मनुष्य उन्हीं सम्पर्कोंके कष्टके प्रति शारीरिक रूपसे उदासीन या अचेतन हो जाता है जो साधारण अवस्थामें तीव्र यंत्रणा या वेदना पहुँचाते हैं। कई बार तो ऐसा होता है कि कष्टका बोध तब वापस आता है जब स्नायुएँ फिरसे अपना अधिकार जमा पाती हैं और मनुष्यकी मानसिकताको कष्ट अनुभव करनेकी अभ्यासगत बाध्यताका स्मरण कराती हैं। किंतु इस अभ्यासगत बाध्यताकी ओर वापस आना अनिवार्य नहीं होता, यह मात्र अभ्यासगत वस्तु है। हम देखते हैं कि सम्मोहनके व्यापारमें सम्मोहित व्यक्तिको घाव या वेधनके कष्टका

अनुभव करनेसे सफलतापूर्वक केवल तभीतक नहीं रोका जा सकता जबतक कि वह उस असाधारण स्थितिमें हो, वरन् जब वह जग जाता है, तब भी कष्टकी अभ्यासगत प्रतिक्रियाकी ओर वापस जानेसे उसे उतनी ही सफलतासे रोका जा सकता है। इस व्यापारका कारण बिलकुल सरल है। सम्मोहन करनेवाला व्यक्ति स्नायविक अभ्यासोंकी दासी बनी हुई अभ्यासगत जागृत चेतनाको स्थगित कर देता है और वह गहराइयोंमें रहनेवाले अवगूढ़ मनोमय पुरुषका, आंतरिक मनोमय पुरुपका आश्रय लेनेमें समर्थ होता है जो, चाहे तो, स्नायु और शरीरका स्वामी हो सकता है। किंतु यह स्वातंत्र्य, जो कि सम्मोहनके द्वारा असामान्य रूपमें, तेजीसे, सच्चे अधिकारके बिना, एक अन्य व्यक्तिकी शक्तिके द्वारा फलीभूत होता है, समान रूपसे, किंतु सामान्य दशामें भी, क्रमशः, सच्चे अधिकारके सहित और अपनी निजकी इच्छा-शक्तिके द्वारा जीता जा सकता है जिससे शरीरकी अभ्यासगत स्नायविक प्रतिक्रियाओंपर मनोमय पुरुपकी विजय अंशतः या सम्पूर्णतः साधित हो सके।

मन और शरीरका कष्ट प्रकृतिका, अर्थात्, क्रियाशील शक्तिका एक साधन है जो प्रकृतिके ऊर्ध्वमुखी विकासक्रममें एक निश्चित संक्रमणकालीन उद्देश्यका अनुसेवी होनेको अभिप्रेत है। व्यक्तिके दृष्टिकोणसे जगत् बहुसंख्यक शक्तियोंका खेल और जटिल आघात है। इस जटिल खेलके बीच व्यक्ति एक सीमित रूपसे निर्मित सत्ताके रूपमें अवस्थित होता है जिसकी शक्ति परिमाणमें सीमित है। वह उन असंख्य आघातोंके प्रति खुला रहता है जो उस निर्माणको, जिसे वह अपना आपा कहता है, क्षत, विकल, खंडित या विघटित कर सकते हैं। किसी संकटपूर्ण या हानिकारक सम्पर्ककी ओरसे एक प्रकारका स्नायविक और शारीरिक 'पीछे हटना', यही पीड़ाकी प्रकृति है। उपनिषद् जिसे जुगुप्सा कहती है पीड़ा उसीका अंग है। वह सीमित सत्ताका उस चीजसे संकोचन या खिचाव है जो उसके लिये अनात्मा है और जिसकी सहानुभूति या संगति उसके साथ नहीं है, यह 'पर' के विरुद्ध आत्म-रक्षाकी प्रवृत्ति है। इस दृष्टिकोणसे वह प्रकृतिके द्वारा उस वस्तुका संकेत होती है जिससे बचना चाहिये, और अगर उससे सफलतापूर्वक बचा न जा सके तो उसका उपचार करना चाहिये। विशुद्ध जड़ जगत्में पीड़ाका अस्तित्व तबतक नहीं आता जबतक उसमें प्राणका प्रवेश नहीं हो जाता, क्योंकि तबतक यांत्रिक विधियाँ पर्याप्त होती हैं। उसका व्यापार तब आरंभ होता है जब प्राण जड़तत्वपर अपूर्ण अधिकारकी प्राप्ति और अपनी दुर्वलताको साथ लेकर दृश्यपटपर प्रवेश करता है। प्राणके अंदर मनके

विकासके साथ-साथ यह व्यापार वर्द्धित होता जाता है। उसका व्यापार तबतक चलता है जबतक मन प्राण और शरीरसे आवद्ध रहता है, जिनका वह व्यवहार तो करता है किन्तु अपने ज्ञानके लिये और कर्मके साधनके लिये उनपर निर्भर करता और उनकी सीमाओंके और उन सीमाओंसे उत्पन्न अहमात्मक आवेगों और उद्देश्योंके आधीन रहता है। किन्तु, यदि और जब मनुष्यका मन मुक्त और अहंभावहीन हो सकेगा और अन्य सारी सत्ताओंके साथ तथा विश्व-शक्तियोंके खेलके साथ सामंजस्य प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकेगा, तब कष्टका उपयोग और कार्य घट जायगा और अंतमें उसके अस्तित्वका आधार-हेतु ही नहीं रहेगा और वह केवल प्रकृतिकी एक परम्परागत अनुवृत्तिके रूपमें, अपनी उपादेयताकी अवधिके बाद भी बने रहनेवाले अभ्यासके रूपमें, उच्चतरके अबतक अपूर्ण संगठनमें निम्नतरके अड़े रहनेके रूपमें रह सकेगा। जड़तत्त्वके प्रति जो अधीनता है और मनमें जो अहमात्मक परिसीमन है, इनपर अंतरात्माकी विजय नियत है, और कष्टका अंतिम विलोपन इस विजयके लिये एक आवश्यक तत्त्व होगा।

यह विलोपन संभव है, क्योंकि स्वयं सुख और दुःख अस्तित्वके आनंदकी तरंगें हैं, एक अपूर्ण, दूसरी विकृत, किन्तु फिर भी हैं उसकी तरंगें ही। इस अपूर्णता और विकृतिका कारण यह है कि मापनेवाली और सीमित करने-वाली मायाके कारण व्यक्ति अपनी चेतनामें सत्ताका आत्म-विभाजन कर लेता है और परिणाम-स्वरूप सम्पर्कोंका विश्वव्यापी रूप ग्रहण करनेके स्थानपर उन्हें अहमात्मक और खंड-खंड रूपमें ग्रहण करता है। विश्वात्माके लिये सारी वस्तुओंमें और वस्तुओंके सारे सम्पर्कोंमें आनंदका सार निहित रहता है जिसका उत्तम वर्णन संस्कृत सौन्दर्यशास्त्रके शब्द 'रस'के द्वारा होता है, इसके दो अर्थ साथ-साथ हैं, वस्तुका अंतःसार और उसका स्वाद। जब हमसे किसी वस्तुका सम्पर्क होता है तब हम उसका सार नहीं खोजते, वरन् केवल यह देखते हैं कि उसका हमारी कामनाओं और हमारे भयपर, हमारी चाह और हमारे विरागपर किस भाँति प्रभाव पड़ता है; इस कारण वह रस शोक और कष्टका, अपूर्ण और भंगुर सुख या उदासीनताका रूप ले लेता है, अर्थात् सारको ग्रहण करनेकी कोरी अक्षमता हो जाती है। यदि हम मन और हृदयमें सम्पूर्णतः अनासक्त हो सकें और उस अनासक्ति-भावको स्नायु-सत्तापर आरोपित कर सकें, तो रसके इस अपूर्ण और विकृत रूपोंका अधिकाधिक विलोपन संभव हो जायगा और समस्त वैचित्र्यके अन्दर अस्तित्वके अविच्छेद्य आनंदका सच्चा

सारभूत रस हमारी पहुँचके अन्दर आ जायगा। कला और काव्यमें वस्तुओंकी जो सौन्दर्यवोधात्मक ग्रहणशीलता प्रदर्शित होती है उसमें हमें इस वैविध्यमय किंतु भूमानंदकी क्षमताका कुछ अंश प्राप्त होता है, जिससे हम उसमें करुण, भयानक और यहाँतक कि वीभत्स रसका भी आनंद ले सकते हैं। इसका कारण यह है कि हम उस समय तटस्थ और उदासीन रहते हैं, अपने या आत्म-रक्षा (जुगुप्सा) के संवंधमें नहीं सोचते वल्कि केवल उस वस्तुको और उसके सारको विचारगत करते हैं। सम्पर्कोंका यह सौन्दर्यबोधात्मक ग्रहण अवश्य ही शुद्ध आनंदकी ठीक प्रतिमूर्ति या प्रतिच्छाया नहीं है, क्योंकि वह शुद्ध आनंद अतिमानसिक और सौन्दर्य-वोधातीत है, वह दुःख, भय, वीभत्सता और विरक्तिका उनके कारणों समेत अंत कर देता है, जब कि सौन्दर्यबोध उन तत्त्वोंको स्वीकार करता है: किंतु यह प्रवृत्ति सबमें रहनेवाले विश्वात्माके वर्द्धमान आनंदकी अभिव्यक्तिकी एक स्थितिका आंशिक और अपूर्ण रूपसे प्रतिनिधित्व करती है और यह हमारी प्रकृतिके एक भागमें अहमात्मक संवेदनसे वियुक्त होनेकी उस अवस्थाको सूचित करती है और उस वैश्व अभिवृत्तिमें प्रवेश कराती है जिसके द्वारा वह एक विश्वात्मा उन स्थानोंपर सौन्दर्य और सामंजस्य देखता है जहाँ हम विभाजित सत्तावाले जीव वल्कि अव्यवस्था और असंगतिका अनुभव करते हैं। हमें परिपूर्ण मुक्ति तभी प्राप्त हो सकती है जब हमारे सारे अंगोंमें वैसी ही मुक्ति आ जायगी, सार्वत्रिक सौन्दर्यबोध और ज्ञानका सार्विक दृष्टिकोण आ जायगा, हमारी स्नायविक और भावमय सत्तामें समस्त वस्तुओंके प्रति सार्विक अनासक्ति और साथ ही सहानुभूति भी होगी।

तो, दुःखका स्वरूप है हमारे अन्दर चित्-शक्तिका जीवनके आघातोंका सामना न कर पाना और परिणाम-रूपमें जुगुप्सा (संकोचन और सिकुड़न) का होना। उसका मूल है उस ग्रहणकारी और अविकृतकारी शक्तिकी विषमता। उस विषमताका कारण है हमारा अहंकार-जनित आत्म-परि-सीमन। और यह अहंकार हमारे अपने सच्चे आत्माके प्रति, सच्चिदानंदके प्रति अज्ञानी रहनेका परिणाम है। अतएव दुःखका विलोपन करनेके लिये पहले जुगुप्साके स्थानपर तितिक्षाको लाना होना, संकोचन और सिकुड़नके स्थानपर जीवनके आघातोंका सामना करना होगा, उन्हें सहन करना और जीतना होगा। इस तितिक्षा और विजयसे हम ऐसी समताकी ओर आगे वढ़ते हैं जो या तो सारे सम्पर्कोंके प्रति समान रूपसे उदासीन-ताका या सारे सम्पर्कोंके अन्दर समान रूपसे प्रसन्नताका रुप ले सकती

है। और फिर, जो अहं-चेतना अभी सुख और दुःख भोगती है, उसके स्थानपर सच्चिदानंद-चेतनाको प्रतिष्ठित करके, जो कि सर्वानंद-चेतना है, उसीकी नींवपर इस समताको अपना दृढ़ आश्रय पाना होगा। सच्चिदानंद-चेतना विश्वातीत और विश्वसे अलग हो सकती है और दूरस्थ आनंदकी इस स्थितिके लिये समान उदासीनता ही मार्ग है; यह संन्यासीका मार्ग है। या सच्चिदानंद-चेतना एक साथ ही विश्वातीत और विश्वव्यापी भी हो सकती है। इस विद्यमान तथा सर्वालिंगनकारी आनंदके लिये मार्ग है। समर्पण, विश्व-चेतनामें अहंका खो जाना और एक सर्वव्यापी समरस आनंदकी प्राप्ति; यह प्राचीन वैदिक मुनियोंका मार्ग है। किंतु जीवके आत्मानुशासनका पहला सीधा और स्वाभाविक परिणाम है सुखके अपूर्ण और कष्टके विकृत स्पर्शके प्रति उदासीनताकी प्राप्ति, उसका समरस आनंदकी अवस्थामें परिवर्तन साधारणतः बादमें ही होता है। त्रिविध कम्पनोंका सीधे आनंदमें रूपांतरित हो जाना, यह संभव तो है किन्तु मानव-प्राणीके लिये कम सहज है।

तो वेदांतके अखंड सिद्धांतके आधारपर विश्वका दर्शन इस प्रकार होता है। एक अनन्त, अविभाज्य सत्, जो अपनी शुद्ध आत्मचेतनामें सर्वानंदमय है अपनी मूलभूत शुद्धतासे निकलकर शक्तिके वैचित्र्यपूर्ण खेलमें चला जाता है, प्रकृतिके परिस्पंदमें प्रवेश करता है; वह शक्तिचेतना है, वह प्रकृति-परिस्पंद मायाका खेल है। उसकी सत्ताका आनंद पहले भौतिक विश्वके आधारमें आत्म-समाहित, लीन, अवचेतन रहता है. फिर तटस्थ स्पंदनके महापुंज रूपमें उन्मज्जित होता है, वह स्पन्दन अभीतक उस रूपमें नहीं है जिसे संवेदन कहते हैं। फिर वही आनंद, मन और अहंकी वृद्धिके साथ-साथ, सुख, कष्ट और उदासीनताके त्रिविध कम्पनमें प्रकट होता है। इस त्रिविध कम्पनका जन्म रूपमें रहनेवाली चेतनाकी शक्तिके सीमित होनेसे और विश्व-शक्तिके आघातोंके प्रति उसके खुले रहनेसे होता है,—इस विश्व-शक्तिको वह रूपस्थ चेतना-शक्ति विजातीय और अपने माप और मानदंडसे मेल न खानेवाली मानती है। अंतमें पूर्ण सच्चिदानंदका अपनी सृष्टियोंमें विश्वात्मकता, समता, आत्मवत्ता और प्रकृति-विजयके द्वारा सचेतन रूपसे उन्मज्जन। यही जगत्‌की धारा और गति है।

अब यदि यह पूछा जाय कि उस एकमेव सत्‌को ऐसी गतिमें आनंद क्यों, तो इसका उत्तर इस तथ्यमें है कि उस सत्‌की अनंततामें सारी संभावनाएँ अंतर्निहित हैं और अस्तित्वका आनंद,—उसकी अपरिवर्तनशील

सत्तामें नहीं, परिवर्तनशील संभूतिमें,—यथार्थ रूपसे उसकी संभावनाओंकी विविधतामय चरितार्थतामें है। और यहाँ विश्वमें, जिसके हम एक अंग हैं, जो संभावना चरितार्थ की जा रही है उसका आरंभ होता है सच्चिदानंदकी 'उस' में छिप जानेसे जो उसके स्वयंके विपरीत प्रतीत होता है और फिर उसी विपरीतकी अभिधाओंके बीच भी उसकी आत्मोपलब्धिमें। अनंत सत् अपने-आपको असत्के रूपमें खो देता है और फिर ससीम जीवके प्रतिभासमें उन्मज्जित होता है; अनंत चेतना अपने-आपको एक विराट् अव्याकृत निश्चेतनाके प्रतिभासमें खो देती है और एक उपरितलीय सीमित चेतनाके प्रतिभासमें उन्मज़्जित होती है; अनंत स्वाश्रित शक्ति अपने-आपको अणुओंकी अव्यवस्थाके प्रतिभासमें खो देती है और एक जगत्के असुरक्षित संतुलनके प्रतिभासमें उन्मज्जित होती है; अनंत आनंद अपने-आपको एक असंवेदन-शील जड़तत्वके प्रतिभासमें खो देता है और विविधतापूर्ण कष्ट, सुख और तटस्थ भाव, प्रेम, घृणा और उदासीनताके विषमतामय छंदके प्रतिभासमें उन्मज्जित होता है; अनंत एकत्व अपने-आपको बहुत्वकी अव्यवस्थाके प्रतिभासमें खो देता है और उन शक्तियों और सत्ताओंके वैषम्यमें उन्मज्जित होता है जो एक-दूसरीको अधिकृत, विघटित और कवलित करके ही एकत्वकी पुनःप्राप्ति करना चाहती हैं। इस सृष्टिमें यथार्थ सच्चिदानंदको उन्मज्जित होना है। मानव व्यक्तिको वैश्व पुरुष बनना और वैश्व पुरुषकी नाईं जीना है, उसकी सीमित मनश्चेतनाको विशाल होकर अतिचेतन एकत्व हो जाना है जहाँ प्रत्येक सर्वका आलिंगन करता है; उसके संकीर्ण हृदयको असीम आलिंगन सीखना है और अपनी वासनाओं और असंगतियोंके स्थानपर उसे विश्व-प्रेम प्रतिष्ठित करना है और उसकी सीमित प्राण-सत्ताको अपने ऊपर होते हुए विश्वके समग्र आघातको सहने योग्य और विश्वानंदके लिये समर्थ होना है; उसकी शारीरिक सत्ताको अपने-आपको इस रूपमें जानना है कि वह कोई पृथक् इकाई नहीं, वरन् जो अविभाज्य शक्ति सब कुछ है, उसके समग्र प्रवाहके साथ वह एकात्म है और उसे वह अपने अंदर धारण किये हुए हैं; उसकी सारी प्रकृतिको व्यक्तिके अंदर परम सत्-चित्-आनंदके एकत्व, सामंजस्य और सर्वानुस्यूत 'एक' को मूर्त करना होगा।

इस सारी लीलाका मर्म-सत्य सदा एक ही रहता है, वह है अस्तित्वका अखंड समरस आनंद। व्यक्तिके उद्गमनके पूर्वकी अवचेतन निद्राके आनंदमें वही है, फिर व्यक्तिको केन्द्र बनाकर अर्धचेतन स्वप्नकी भूलभूलैयोंके बीच, अपने-आपको पानेके प्रयासका जो संघर्ष है और उसके जितने भी वैविध्य,

उलटफेर, विकार, परिवर्तन और प्रत्यावर्तन हैं, उन सबके आनंदमें भी वही है, और जिस शाश्वत अतिचेतन आत्मवत्तामें व्यक्तिको जागृत होना होगा और वहाँ अविभाज्य सच्चिदानंदके साथ एक हो जाना होगा, उसके आनन्दमें भी वही है। प्रमुक्त एवं प्रबुद्ध ज्ञानमें, यह भौतिक विश्व, बौद्धिक दृष्टि-कोणसे, उस एकमेवाद्वितीय, प्रभु, सर्वब्रह्मकी ऐसी लीला ही प्रदर्शित होता है।

अध्याय तेरह

दिव्य माया

तदिन्वस्य वृषभस्य धेनोरा नामभिर्ममिरे सक्म्यं गोः।
अन्यदन्यदसुर्यं वसाना नि मायिनो ममिरे रूपमस्मिन्॥

उस परमदेव और उन परादेवीके नामोंसे उन्होंने ज्योतिकी माताकी शक्तिको आकार दिया और मापा, उस पराशक्तिके एकके अनंतर एक बलको, वस्त्रके समान धारण करते हुए, मायाके प्रभुओंने इस सत्‌में रूपको आकार दिया।

—ऋग्वेद 3. 38. 7

मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमा दधुः॥

मायाके प्रभुओंने परमदेवकी मायासे सबको आकार दिया, दिव्य दृष्टिशाली पितरोंने उस परमदेवका गर्भस्थ शिशुकी भाँति अपने अन्दर आधान किया।

—ऋग्वेद 9. 83. 3

अपनी चित्-सत्ताकी शक्तिके द्वारा और उस सत्ताके आनंदमेंसे क्रिया और सृष्टि करनेवाला सत् ही हमारा सत्य स्वरूप है, हमारे समस्त भावों और भंगिमाओंका आत्म-स्वरूप है और हमारे समस्त कर्म, संभूति और रचनाका कारण, उद्देश्य और लक्ष्य है। जैसे, जब कवि, कलाकार या संगीतज्ञ कोई रचना करता है तो वह वस्तुतः अपने आत्मामें ही रहनेवाली किसी अव्यक्त शक्यताको अभिव्यक्त करके विकसित करता है, और जैसे, मनीषी, राजनीतिज्ञ और यंत्रकार वस्तुओंके रूपमें केवल उसे ही प्रकट करते हैं जो स्वयं उनके अंदर छिपा हुआ था, स्वयं उनका स्वरूप था और रूपके अन्दर ढल जानेपर भी उन्हींका स्वरूप रहता है, यही बात जगत् और सनातन ब्रह्मके विषयमें भी है। समस्त सृष्टि या संभूति वस्तुतः यह आत्माभिव्यक्ति ही है, और कुछ नहीं। बीजके अन्दरसे

उसीका विकास होता है जो वीजके अंदर विद्यमान है, सत्तामें पहलेसे ही अस्तित्ववान् है, उसकी संभूतिके संकल्पमें पूर्वनिर्दिष्ट है, संभूतिके आनंदमें पूर्व-व्यवस्थित है। वादमें फलीभूत होनेवाले जीवको आदिम जीव-द्रव्यने अपनी सत्ताकी शक्तिमें धारण कर रखा था। वस्तुतः सदा वही प्रच्छन्न, अंतर्वर्त्ती, अन्तःसंज्ञा शक्ति निजके ही अंतर्गूढ़ रूपको अभिव्यक्त करनेके अदम्य आवेगके कारण उद्यम करती रहती है। केवल यह होता है कि जो व्यक्ति अपने अंदरसे सर्जन या विकास करता है वह अपने अंदर क्रिया करनेवाली शक्ति, अपनी कृतिके उपादान और स्वयं अपने बीच भेद करता है। वस्तुतः वह शक्ति स्वयं वह व्यक्ति है, वह व्यक्तिभावा-पन्न चेतना जिसे वह शक्ति उपकरण बनाती है वह भी स्वयं वह व्यक्ति है, वह जिस उपादानको व्यवहृत करती है वह भी स्वयं वही व्यक्ति है, और परिणामतः जो रूप वनता है वह भी स्वयं वह व्यक्ति ही है। अन्य शब्दोंमें, एक ही सत् है, एक ही शक्ति है, सत्ताका एक ही आनंद है जो विभिन्न विंदुओंपर संकेन्द्रित होता है, प्रत्येकके बारेमें कहता है "यह मैं हूँ" और आत्म-रूपायणके नानाविध खेलके लिये आत्म-शक्तिके नानाविध खेलके द्वारा उसमें क्रिया करता है।

यह सन्मात्र जो कुछ उत्पन्न करता है वह स्वयं वही है और उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता, वह अपनी ही सत्ता, चेतनाकी शक्ति और अस्तित्वके आनन्दका एक खेल, एक छंद, एक विकास कार्या-न्वित करता है। अतः जो कुछ जगत्में आता है, उसमें बस 'होने'की चाह, भवैषणा रहती है, वह अभिप्रेत रूपतक पहुँचना चाहता है, अपनी आत्म-सत्ताको उस रूपमें विस्तृत करना चाहता है, उसके अंदर जो चेतना और वल है उसे अनंत रूपसे विकसित, अभिव्यक्त, वर्द्धित और चरि-तार्थ करना चाहता है, अभिव्यक्तिमें आनेका आनंद, सत्ताके रूपका आनंद, चेतनाके छंदका आनंद, शक्तिके खेलका आनंद प्राप्त करना चाहता है, और जो भी साधन संभव हो, जिस किसी दिशामें हो, उसकी गभीरतम सत्तामें सक्रिय सत्, चित्-शक्ति, आनंद अपने-आपका जो भी विचार सुझाये उसके द्वारा उस आनंदको वर्द्धित और पूर्ण करना चाहता है।

और यदि कोई लक्ष्य है, कोई सम्पूर्णता है जिस ओर वस्तुओंकी प्रवृत्ति है, तो,—व्यक्तिके अन्दर और उस समष्टिके अन्दर जिसका निर्माण व्यक्तियोंसे होता है,—यह सम्पूर्णता उसकी आत्म-सत्ताकी, उसकी शक्ति और चेतनाकी और उसकी सत्ताके आनंदकी सम्पूर्णता ही हो सकती है। किन्तु वैयक्तिक रूपायणकी सीमाओंके अंदर केन्द्रित वैयक्तिक चेतनामें

ऐसी सम्पूर्णता संभव नहीं, सांतके अंदर पूर्ण सम्पूर्णता व्यवहार्य नहीं, क्योंकि वह सांतकी आत्म-धारणासे विजातीय वस्तु है। अतः जो एक-मात्र अंतिम लक्ष्य संभव है वह है व्यक्तिके अन्दर अनन्त चेतनाका आविर्भाव, आत्म-ज्ञान और आत्मोपलब्धिके द्वारा अपने-आपके सत्यकी पुनः-प्राप्ति, सत्तामें जो 'अनंत' है, चेतनामें जो 'अनंत' है, आनंदमें जो 'अनंत' है, उस 'अनंत'कें सत्यकी अपने निजके आत्म-स्वरूपवत् पुनःप्राप्ति, सांत जिसका छद्मवेश और नानाविध अभिव्यक्तिके लिये साधन मात्र है।

तो, सच्चिदानंदने अपनी अमेय सत्ताका विस्तरण देश और काल-रूपमें करके जगत्-लीलाको जैसा चरितार्थ किया है, उसका स्वरूप ही ऐसा है कि हमें पहले यह धारणा बनानी होगी कि धातुकी घनता और अनंत विभाज्यतामें चित्-सत्ता निर्वर्तित और आत्म-लीन हो गयी है, अन्यथा सांत वैविध्य संभव ही नहीं हो सकता; फिर स्वतोनिरुद्ध शक्ति-का रूपमय सत्ता, प्राणमय सत्ता, चिंतनशील, मनोमय सत्तामें उन्मज्जन होता है और अंतमें गठित चिंतनशील, मनोमय सत्ताको विमोचन मिलता है जब वह उन्मुक्त रूपसे अपने-आपको, जगत्के अन्दर लीला करते हुए एकमेवाद्वितीय और अनंतके रूपमें अनुभूत करती है और इस विमो-चनके द्वारा असीम सत्-चित्-आनंदको पुनः प्राप्त करती है जो वह अभी भी गुप्त, यथार्थ और शाश्वत रूपसे है। यह त्रिविध गति ही जगत्-के रहस्यकी सारी कुंजी है।

वेदांतका प्राचीन और शाश्वत सत्य विश्वमें होनेवाले विकास-क्रमके आधुनिक और प्रातिभासिक सत्यको इसी भाँति अपने अंदर ग्रहण करके आलोकित करता है, उसे न्याय्य प्रमाणित करता और उसका सम्पूर्ण अर्थ प्रदर्शित करता है। विश्वमय अपने-आपको कालके अन्दर उत्तरो-त्तर विकसित कर रहे हैं, यह जो प्राचीन सत्य है वही क्रमविकासका आधुनिक सत्य है, किंतु आधुनिकने उस प्राचीन सत्यको शक्ति और जड़-तत्वके अध्ययनके द्वारा अस्पष्टतासे ही देखा है; वह अपना पूरा अर्थ और अपना न्याय-समर्थन भी केवल तभी पा सकेगा यदि वह वेदान्ती शास्त्रों-में हमारे लिये अब भी संरक्षित प्राचीन और शाश्वत सत्यके आलोकसे अपने-आपको आलोकित करेगा। प्राचीन पूर्वीय और नवीन पाश्चात्य ज्ञानके संलयनसे इस पारस्परिक आत्म-अन्वेषण और आत्म-दीपनकी ओर जगत्की विचारधारा मुड़ भी रही है।

तो भी, केवल यह देख चुकनेपर कि सब वस्तुएँ सच्चिदानंद हैं सब कुछकी व्याख्या नहीं हो जाती। हम विश्वके परम सत्तत्वको तो

जान लेते हैं किन्तु अभीतक उस प्रक्रियाको नहीं जानते जिसके द्वारा उसने अपने-आपको इस प्रपंचमें परिवर्तित किया। हमें पहेलीकी कुंजी तो मिल गयी, किन्तु अभी उस तालेको खोजना बाकी है जिसमें वह लगायी जा सके। क्योंकि यह सच्चिदानन्द सीधे क्रिया नहीं करता, न वह अपने शब्दकी आज्ञामात्रसे परम दायित्वहीनताके साथ जगतों और विश्वोंका निर्माण करनेवाले जादूगरकी भाँति कार्य करता है। हम एक प्रक्रिया देखते हैं, हमें एक विधानका बोध होता है।

यह सत्य है कि जब हम इस विधानका विश्लेषण करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह शक्तियोंके खेलका एक संतुलन और उस खेलका आकस्मिक विकास-धारा और भूतकालकी संसिद्ध शक्तिकी गतानुगतिकता-से क्रियाकी सुनिश्चित रेखाओंमें एक निर्धारण है। किंतु यह प्रतीय-मान और गौण सत्य हमारे लिये तभीतक अंतिम रहता है जबतक कि हम केवल शक्तिकी ही धारणा करते हैं। जब हम यह देख लेते हैं कि शक्ति सत्की एक आत्माभिव्यक्ति है, तो हम यह देखनेको भी बाध्य होते हैं कि शक्तिके प्रवाहने जो यह धारा ली है वह उस सत्के किसी आत्म-सत्यसे सादृश्य रखती है जो उसके निर्दिष्ट मोड़ और गन्तव्य-को शासित और निर्धारित करता है। और चूंकि चेतना आद्य सत्का स्वभाव है और उसकी शक्तिका सार है, अतः यह सत्य चित्पुरुषमें अवश्य ही आत्म-प्रत्यक्षणके रूपमें रहना चाहिये, और शक्तिके द्वारा अप-नायी गयी दिशाका निर्धारण अवश्य ही चेतनाके अन्तरमें निहित आत्म-निर्देशनकारी ज्ञानके बलका परिणाम होना चाहिये, जिससे उसमें अपनी स्व-शक्तिका निर्देशन अनिवार्य रूपसे मूल आत्म-प्रत्यक्षणकी युक्तिसंगत रेखाके अनुसार करनेकी समर्थता आती है। अतएव विश्व-चेतनाके अन्दर रहनेवाली एक आत्मनिर्धारणकारी शक्ति है, अनंत सत्की आत्म-संवित्में यह सामर्थ्य है कि वह अपने अंदर किसी सत्यको प्रत्यक्ष देखे और अपनी सर्जक शक्तिको उस सत्यकी रेखाके सहारे निर्देशित करे, इसीने वैश्व अभिव्यक्तिकी अध्यक्षता की है।

किंतु स्वयं अनंत चेतना और उसकी क्रियाओंके परिणामके मध्य हम किसी विशेष शक्ति या क्षमताको क्यों बीचमें लाते हैं? क्या अनन्तकी यह आत्म-संवित् उन्मुक्त गतिसे उन रूपोंकी रचना नहीं कर सकती जो बादमें तबतक खेलमें रहते हैं जबतक उन्हें खेल बंद करनेका आदेश न मिले, जैसा कि प्राचीन यहूदी शास्त्र कहता है, "ईश्वरने कहा प्रकाश हो जाय, और प्रकाश हो गया"? किन्तु जब हम कहते हैं, "ईश्वरने कहा कि

प्रकाश हो जाय", तो हम चेतनाकी एक ऐसी शक्तिकी क्रियाको मान लेते हैं, जो प्रकाशको ऐसी अन्य हर वस्तुसे पृथक् निर्धारित कर लेती है जो प्रकाश नहीं है, और जब हम कहते हैं "और प्रकाश हो गया" तो हम मान लेते हैं कि एक निर्देशक क्षमता है, मूल प्रत्यक्षण-बलसे सादृश्य रखनेवाली एक सक्रिय शक्ति है जो यह व्यापार घटित करती है और मूल प्रत्यक्षकी रेखाके अनुरूप प्रकाशको क्रियान्वित करती हुई उसे अपनेसे भिन्न सारी अनन्त संभावनाओंसे अभिभूत हो जानेसे बचाती है। अनंत चेतना अपनी अनंत क्रियामें केवल अनंत परिणाम ही उत्पन्न कर सकती है, एक नियत सत्यपर या सत्योंकी व्यवस्थापर स्थिर होने, और जो नियत हुआ है उसके अनुरूप एक जगत्का निर्माण करनेके लिये, ज्ञानकी एक ऐसी निर्वाचनकारी क्षमताकी आवश्यकता है जो अनंत सद्-वस्तुमेंसे सांत रूपको आकार देनेको नियोजित हो।

वैदिक ऋषि इस शक्तिको ही माया कहते थे। उनके लिये माया-का अर्थ था अनंत चेतनाकी वह शक्ति जो अनंत सत्के बृहत् असीम्य सत्यको अपने अंदर धारण करती है, अंतर्विष्ट रखती है, और उसे मापती है, अर्थात् उसमेंसे नाम और आकार निर्मित करती है—क्योंकि रूपायित करना ही परिसीमित करना है। मायाके द्वारा ही स्वरूप-सत्ता-का निश्चल सत्य सक्रिय सत्ताका व्यवस्थित सत्य बन जाता है,—या, इसे यदि अधिक तत्त्वमीमांसीय भाषामें कहें तो जिस परम सत्में समष्टि समष्टि होकर रहती है, पृथगात्मक चेतनाके अवरोधसे रहित है, उसमेंसे प्रातिभासिक सत्ता प्रकट होती है जिसमें सत्ताके साथ सत्ताकी, चेतनाके साथ चेतनाकी, शक्तिके साथ शक्तिकी, आनंदके साथ आनंदकी क्रीड़ाके लिये प्रत्येकमें सर्व और सर्वमें प्रत्येक रहता है। प्रत्येकमें सर्वका और सर्वमें प्रत्येकका यह खेल प्रारंभमें मानसिक क्रीड़ा या मायाके भ्रमसे छिप जाता है जिससे प्रत्येकको ऐसा लगने लगता है कि वह तो सर्वके अन्दर है किंतु सर्व उसके अन्दर नहीं है और यह कि वह सर्वके अन्दर ऐसी सत्ताके रूपमें नहीं है जो बाकी समूची सत्ताके साथ सदा अविच्छेद्य रूप-से एक रहती है, बल्कि एक पृथक् सत्ताके रूपमें है। बादमें हमें इस भूलसे निकलकर अतिमानसिक क्रीड़ामें या मायाके सत्यमें जाना होता है जहाँ "प्रत्येक" और "सर्व" उस अद्वय सत्य और बहुविध प्रतीककी अविच्छेद्य एकतामें सह-अस्तित्व रखते हैं। पहले निम्नतर, वर्तमान और भ्रमकारी मनोमायाका आलिंगन करना होता है, फिर उसे जीतना होता है; क्योंकि यह विभाजन और अंधकार और परिसीमन, कामना और

संघर्ष और कष्टके साथ ईश्वरका खेल है जिसमें ईश्वर अपने-आपको उस शक्तिके अधीन कर देता है जो उसीसे निकली हुई है और उस अंधकारावृत शक्तिके द्वारा अपने-आपको भी अंधकारावृत होने देता है। और जिस अन्य मायाको यह मनोमाया छिपाये रहती है, उसे भी पार करना होगा और फिर उसका आलिंगन करना होगा, क्योंकि यह ईश्वर-का सत्ताकी अनंतताओंका, ज्ञानके वैभवोंका, अधिकृत शक्तिकी महिमाओं-का और असीम प्रेमके उल्लासोंका खेल है, वहाँ ईश्वर शक्तिकी पकड़-से बाहर निकल आता है, बदलेमें उस पर अधिकार कर लेता है और उस प्रकाशदीप्त शक्तिमें उस लक्ष्यकी परिपूर्ति करता है जिसके लिये वह सर्वप्रथम उससे निःसृत हुई थी।

निम्नतर और उच्चतर, परा और अपरा मायाके बीचका यह भेद चिंतनमें और वैश्व तथ्यमें वह कड़ी है जो निराशावादी और माया-वादी दार्शनिक सिद्धांतोंसे छूटी या उपेक्षित रहती है। उनके अनुसार मनोमायाने, या शायद एक अधिमानसने ही, जगत्की सृष्टि की है, और मनोमायाके द्वारा सृष्ट जगत् निस्संदेह एक ऐसा विरोधाभास होगा जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती, वह सचेतन जीवनका निर्धारित किंतु फिर भी प्रवहमान दुःस्वप्न ही रहेगा जिसे हम न तो भ्रमकी श्रेणीमें रख सकते हैं न सद्वस्तुकी। हमें यह देखना है कि मन तो बस सर्जन करनेवाले नियंता ज्ञान और अपनी क्रियाओंमें वंदी रहनेवाले जीवके बीच एक मध्यवर्ती भूमिका है। सच्चिदानंद अपनी निम्नतर गतियोंमेंसे एकके द्वारा शक्तिकी आत्म-विस्मृतिकारी निमग्नतामें निर्वतित होता है, वह शक्ति अपनी स्वक्रियाओंके रूपमें खो जाती है, और सच्चिदानंद उस आत्म-विस्मृतिसे निकलकर अपनी ओर वापस आता है। इस अवतरण और आरोहणमें मन सच्चिदानंदके उपकरणोंमेंसे एक उपकरणमात्र होता है। मन अवतरण करती हुई सृष्टिका एक उपकरण है, न कि उसका गुप्त स्रष्टा,—वह आरोहणकी यात्रामें एक संक्रमणकालीन स्थिति है, न कि हमारा उच्च मूल-उद्गम और विश्व-जीवनकी अंतिम सीमा।

जो दर्शनशास्त्र एकमात्र मनको जगत्का स्रष्टा मानते हैं या किसी आद्य तत्त्वको मानते हैं और मनको उस आद्य तत्त्व और विश्व-रूपोंके बीचका एकमात्र मध्यस्थ मानते हैं, उन्हें 'शुद्ध-तत्त्ववादी' (Noumenal) और 'भाववादी' (Idealistic) इन दो श्रेणियोंमें बाँटा जा सकता है। शुद्ध-तत्त्ववादी दर्शन विश्वमें मात्र मन, विचार, भावकी क्रियाको मानता है: किन्तु भाव विशुद्धतया स्वेच्छाचारी हो सकता है, और हो

सकता है कि सत्ताके किसी वास्तविक सत्यसे उसका कोई सारगत संबंध न हो, और यदि ऐसे किसी सत्यका अस्तित्व है तो उसे मात्र ऐसा निर्विशेष माना जा सकता है जो सब संबंधोंसे अलग है और संबंधात्मक जगत्‌से उसका मेल नहीं बैठ सकता। भाववादी व्याख्या पीछे स्थित सत्य और सामनेके धारणात्मक प्रपंचके बीच एक संबंधको मानती है, यह संबंध केवल विपरीतता और विरोधका नहीं होता। मैं जो दृष्टि रख रहा हूँ वह भाववादमें और आगे जाती है, वह स्रष्टा भावको देखती है 'सत्-भाव'के रूपमें, अर्थात् ऐसा भाव जो कि चित्-शक्तिका सत्पुरुष-को अभिव्यक्त करनेवाला एक वीर्य है, सत्पुरुषसे उत्पन्न हुआ है और उसका स्वभावधर्मी है, वह न शून्यकी संतान है, न कोरी कल्पनाएँ बुननेवाला। वह चिन्मय सद्वस्तु है जो अपने-आपको अपनी अपरिवर्तनशील और अक्षर स्वरूप-धातुके परिवर्तनशील रूपोंमें प्रक्षिप्त करती है। अतः जगत् वैश्व मनकी धारणाकी मिथ्या कल्पना नहीं, वरन् मनसे जो परे है उसका अपने रूपोंमें सचेतन जन्म ही है। चित्-सत्ताका एक सत्य इन रूपोंको अवलम्ब देता और अपने आपको उनके अंदर प्रकट करता है, और इस प्रकार जो सत्य अभिव्यक्त हुआ है उसका तदनुरूप ज्ञान अतिमानसिक ऋत-चित्[1]के रूपमें राज्य करता है, वह सत्-भावोंको मनोमय-प्राणमय-अन्नमय साँचेमें ढलनेके पहले पूर्ण सामंजस्यमें संगठित करता है। मन, प्राण और शरीर एक निम्नतर चेतना हैं, एक आंशिक अभिव्यक्ति हैं जो एक नानाविध विकासक्रमके साँचेमें निजकी उस श्रेष्ठतर अभिव्यक्तिपर पहुँचनेका उद्योग करती है जो 'मानसातीत'के लिय पहलेसे विद्यमान है। जो 'मानसातीत'में है वह मूल-भाव है जिसे वह स्वयं अपनी अवस्थाओंमें सिद्ध करनेका श्रम कर रही है।

अपनी ऊर्ध्वमुखी दृष्टिसे हम कह सकते हैं कि जो कुछ भी अस्तित्व रखता है उसके पीछे वह सत् मध्यभूमिमें अपने-आपको एक 'मूल-भाव'-के रूपमें प्रकट करता है जो उसका ही समंजस सत्य होता है और वह 'मूल-भाव' वैचित्र्यमयी चेतन-सत्ताकी एक दृग्विषयक वास्तविकताको प्रक्षिप्त करता है, जो अपने स्वरूप-सत्यकी ओर अनिवार्यतः आकर्षित होती है और उसे अंतमें उग्रतासे छलांग भरकर, या उस 'मूल-भाव'के द्वारा, जिसने

---

1. यह शब्द मैंने ऋग्वेदसे लिया है,—ऋत-चित्का अर्थ है सत्ताके स्वरूप-सत्यकी चेतना (सत्यं), सक्रिय सत्ताके व्यवस्थित सत्यकी चेतना (ऋत) और वृहत् आत्म-संवित् (वृहत्) केवल जिसके अन्दर यह चेतना संभव है।

उसे जन्म दिया था, स्वाभाविक तौरपर, सम्पूर्ण रूपसे पुनः प्राप्त करनेका प्रयत्न करती है। मनको मानव-जीवनकी वास्तविकता जैसी अपूर्ण दीखती है उसकी व्याख्या इसी तथ्यसे होती है, मनोमय पुरुषके अन्दर, अपने-आपसे सदा परे रहनेवाली पूर्णताकी संसिद्धिके लिये, उस 'मूल-भाव' के प्रच्छन्न सामंजस्यके लिये जो सहजप्रवृत्तिगत अभीप्सा होती है उसकी व्याख्या इसीसे होती है, और मूल-भावसे परे विश्वोत्तरके लिये आत्माकी उठती परम हिलोरकी व्याख्या भी इसीसे होती है। हमारी चेतनाकी स्वयं वृत्तियोंमें, उसकी प्रकृति और उसकी नियतिमें इस त्रयीका छंद ध्वनित रहता है, वे एक शुद्ध 'निरपेक्ष' और एक शुद्ध सापेक्षिकताके वीचके द्विविध और असमाधेय विरोधका खंडन करती हैं।

विश्व-सत्ताकी व्याख्याके लिये मन पर्याप्त नहीं है। पहले अनंत चेतनाको अपने-आपको ज्ञानकी अनन्त क्षमतामें, या हमारे दृष्टिकोणसे जो सर्वज्ञता है उसमें अनूदित करना होगा। किंतु मन न तो ज्ञानका वाहन है, न वह सर्वज्ञताका ही यंत्र है, वह ज्ञानकी खोज करने और जितना ज्ञान वह पा सके उसे सापेक्षिक विचारके कुछ रूपोंमें प्रकट करने और उसे कर्मकी कुछ समर्थताओंके लिये व्यवहृत करनेका ही वाहन है। मन जव ज्ञानको पाता भी है तव भी उसे अधिकृत नहीं करता, वह सत्यकी चालू मुद्राका—स्वयं सत्यका नहीं—एक निर्दिष्ट कोप स्मृतिके वैंकमें रखता है और आवश्यकतानुसार उसका सहारा लेता रहता है। वस्तुतः, मन जानता नहीं, जाननेका प्रयास करता है और जव जानता है तो शीशेमें धुँधलेपनकी तरह। मन वह शक्ति है जो वस्तुओंकी एक विशेष व्यवस्थामें व्यावहारिक दृष्टिसे विश्व-जीवनके सत्यका अपने ढंगसे प्रयोग करती है; वह वह शक्ति नहीं है जो उस जीवनको जानती और उसे प्रदर्शित करती है। अतः वह वह शक्ति नहीं हो सकता जिसने उसकी सृष्टि की हो या उसे अभिव्यक्त किया हो।

किन्तु, यदि हम एक ऐसे अनन्त मनकी कल्पना करें जो हमारे परिसीमनोंसे स्वतंत्र हो, तो कम-से-कम वह तो भलीभाँति विश्वका स्रष्टा हो ही सकता है न? किंतु ऐसा मन हमारे जाने मनकी परिभाषासे बिलकुल भिन्न होगा: वह मानसिकतासे परेकी कोई वस्तु होगा, वह अतिमानसिक सत्य होगा। हमारी ज्ञात मानसिकताके तत्त्वोंमें निर्मित अनंत मन तो अनंत अव्यवस्थाकी ही रचना करेगा जिसमें संयोग, आकस्मिक घटना और उतार-चढ़ावका विशाल संघर्ष एक अनिर्दिष्ट अंतकी ओर भटकता जायगा, जिसके लिये वह सदा परीक्षण-रूपमें टटोलता और

अभीप्सा करता रहेगा। एक अनंत, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् मन मन होगा ही नहीं, वह होगा अतिमानसिक ज्ञान।

मन, जैसा हम उसे जानते हैं, एक प्रतिबिंबकारी दर्पण है जो ऐसे पूर्व-विद्यमान सत्य या तथ्यके प्रतिरूपों या मूर्तियोंको ग्रहण करता है जो या तो उससे बाहर या कम-से-कम उससे विशालतर हों। जो प्रपंच विद्यमान है या हो चुका है उसे वह क्षण-प्रतिक्षण अपने सामने प्रत्यु-पस्थित करता है। उसमें यह क्षमता भी है कि अपने सामने प्रकट होनेवाले वास्तविक तथ्यके प्रतिरूपोंसे भिन्न अन्य संभव प्रतिरूपोंका निर्माण भी अपने अन्दर कर ले, अर्थात् वह अपने सामने केवल उस प्रपंचको ही प्रत्युपस्थित नहीं करता जो हो चुका है वरन् उसे भी जो कि हो सकता है: ध्यान रहे कि वह अपने सामने उस प्रपंचको प्रत्युपस्थित नहीं कर सकता जो निश्चित रूपसे होकर रहेगा, जबतक कि वह किसी ऐसे प्रपंचकी निश्चित पुनरावृत्ति न हो जो कि है या होता रहा है। अंतमें, मनमें नये आपरिवर्तनोंकी पूर्वकल्पना करनेकी क्षमता रहती है, वह इनका निर्माण, जो होता आ रहा है और जो हो सकता है उनके मेलसे, जो संभावना पूरी हो चुकी है और पूरी नहीं हुई है उन्हें मिलाकर करनेका प्रयत्न करता है, यह एक ऐसी वस्तु है जिसे वह कभी-कभी न्यूनाधिक याथातथ्यके साथ निर्मित करनेमें सफल होता है, कभी उसे उपलब्ध करनेमें विफल होता है, किंतु सामान्यत: वह देखता है कि उसने जिन रूपोंकी पूर्वकल्पना की थी वह वस्तु उनसे भिन्न रूपोंमें ढल गयी है और जिन उद्देश्योंकी उसने इच्छा की थी या जिनसे उसका अभिप्राय था उनसे भिन्न उद्देश्योंकी ओर अभिमुख हो गयी है।

ऐसे गुणधर्मवाला अनंत मन शायद संघर्षकारी संभावनाओंका एक संयोगघटित विश्व निर्मित कर सके और उसे किसी ऐसी वस्तुका रूप दे सके जो चलायमान, सदा अनित्य और अपने प्रवाहमें सदा अनिश्चित होगी, जो न वास्तविक होगी, न अवास्तविक, जिसका कोई निश्चित उद्देश्य या लक्ष्य नहीं होगा, अपितु क्षणिक लक्ष्योंका अंतहीन क्रमानु-वर्तन होगा, क्योंकि ज्ञानकी किसी श्रेष्ठतर संचालिका शक्तिका वहाँ अभाव होगा,—ये लक्ष्य अंतमें कहीं भी नहीं पहुँचायेंगे। ऐसे शुद्ध तत्त्ववाद-का एकमात्र युक्तिसंगत परिणाम शून्यवाद या मायावाद या उनका सजा-तीय कोई अन्य दार्शनिक सिद्धांत ही हो सकता है। इस प्रकारसे निर्मित विश्व ऐसी वस्तुका उपस्थापन या प्रतिबिंब होगा जो वह स्वयं नहीं है, किन्तु सदा और अंततक एक मिथ्या उपस्थापन, एक विकृत प्रतिबिंब

ही होगा; सारा विश्व-जीवन ऐसा मन होगा जो अपनी कल्पनाओंको पूरी तरह क्रियान्वित करनेके लिये उद्यम कर रहा है किन्तु उसमें सफल नहीं होता, क्योंकि उन कल्पनाओंको आत्म-सत्यका कोई अनिवार्य आधार नहीं होगा, वह अपनी ही भूतकालकी शक्तियोंकी धाराके द्वारा अभि-भूत होगा और वे उसे बहाती रहेंगी, वह अनिर्देश्य रूपसे नित्य आगे-की ओर ले जाया जाता रहेगा पर वह किसी किनारेपर नहीं पहुँचेगा, यह क्रम तबतक चलता रहेगा जबतक वह आत्मघात न कर ले या शाश्वत निश्चलतामें न जा पड़े। इस विचारधाराके मूलतक चलते जायँ तो यही शून्यवाद और मायावाद है, और यदि हम यह मान लें कि हमारी मानव-मानसिकता या उसकी सगोत्रीय कोई वस्तु ही सर्वोच्च वैश्व शक्ति और विश्वमें क्रिया करनेवाली मूल कल्पना है, तो यही एक-मात्र बुद्धिमत्ता भी है।

किन्तु जिस क्षण ज्ञानकी आदि शक्तिमें हमें एक ऐसी शक्ति मिलती है जो उस शक्तिसे उच्चतर है जिसका प्रतिनिधित्व हमारी मान-वीय मानसिकता करती है, उसी क्षण विश्वके संबंधमें यह धारणा अप-र्याप्त और परिणामस्वरूप अमान्य हो जाती है। इसकी अपनी सत्यता है, किंतु वह सम्पूर्ण सत्य नहीं है। यह विश्वके तात्कालिक रूपका विधान तो है, किंतु उसके आदि सत्य और अंतिम तथ्यका नहीं। क्योंकि मन, प्राण और शरीरकी क्रियाके पीछे हमें कुछ ऐसी वस्तु प्रत्यक्ष होती है जो शक्तिके प्रवाहके आलिंगनमें नहीं जाती, बल्कि वही उस प्रवाह-का आलिंगन और नियंत्रण करती है; कुछ ऐसी वस्तु नहीं जो उस जगत्का अर्थ खोजना चाहती है जिसमें उसने जन्म लिया है, वरन् ऐसी वस्तु जिसने कि अपनी सत्तामें एक जगत्की रचना की है जिसके बारेमें वह सर्वज्ञ है; कुछ ऐसी वस्तु नहीं जो अपने अन्दरसे कोई अन्य वस्तु रूपायित करनेका शाश्वत श्रम करती रहती है जब कि वह अपने वशके बाहर हो गयी भूतकालकी शक्तियोंकी अभिभूतकारिणी तंरगमें बहती जाती है, वरन् ऐसी वस्तु, जिसकी चेतनामें उसका अपना एक पूर्ण रूप विद्य-मान है और जिसे वह यहाँ क्रमशः प्रकट कर रही है। जगत् एक पूर्व-दृष्ट 'सत्य'को प्रकट करता है, एक पूर्वनिर्धारणकारी 'इच्छा'का अनुसरण करता है, और एक मौलिक रूपायणकारी आत्म-दृष्टिको चरितार्थ करता है,—वह एक दिव्य सृष्टिका वर्द्धमान प्रतिरूप है।

जबतक हम प्रतीयमान रूपोंके द्वारा शासित होनेवाली मानसिकता-के माध्यमसे ही कार्य करते हैं, तबतक यह परे और पीछे अवस्थित,

किन्तु फिर भी नित्य अनुस्यूत रहनेवाली वस्तु केवल एक अनुमानका विषय या अस्पष्टतासे अनुभूत उपस्थिति ही हो सकती है। हमें चक्राकार प्रगतिके एक विधानका बोध होता है और हम किसी वस्तुकी नित्य वर्द्धनशील पूर्णताका अनुमान कर सकते हैं जो कहींपर पहलेसे ज्ञात है। क्योंकि सर्वत्र हम आत्म-सत्ताके अन्दर 'विधान'को प्रतिष्ठित देखते हैं और जब हम उसकी प्रक्रियाके मूल हेतुके भीतर प्रवेश करते हैं तो यह पाते हैं कि वह विधान एक सहज ज्ञानकी अभिव्यक्ति है, उस ज्ञानकी अभिव्यक्ति जो कि सत्तामें अंतर्निहित है और अपने-आपको प्रकट कर रहा है और उस शक्तिमें अंतःस्थ है जो कि उसे प्रकट करती है, और जब ज्ञानके द्वारा विधान इस भाँति विकसित होता है कि प्रगति हो सके तो एक दिव्य दृष्टिसे देखा हुआ लक्ष्य उसके अंदर अभिप्रेत रहता है, जिसकी ओर गतिका संचालन होता है। हम यह भी देखते हैं कि हमारी बुद्धि हमारी मानसिकताके असहाय बहावसे बाहर निकलना चाहती है और उसपर आधिपत्य करना चाहती है और हम इस बोधपर पहुँच जाते हैं कि बुद्धि अपनेसे परेकी एक महत्तर चेतनाका दूत, एक प्रतिनिधि या एक छाया भर है, उस महत्तर चेतनाको तर्क करनेकी आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि वह सर्व है और वह जो कुछ है उसे जानती है। और तब हम यह अनुमान कर सकते हैं कि बुद्धिका यह मूल उस ज्ञानसे अभिन्न है जो जगत्में विधान-रूपमें कार्य करता है। यह ज्ञान अपना स्व-विधान प्रभुताके साथ निर्धारित करता है क्योंकि वह जो कुछ हुआ है, है और होगा, उसे जानता है, क्योंकि वह शाश्वत रूपसे है, और उसे अपने-आपका अनंत रूपसे संबोध है। वह सत्पुरुष, जो अनंत चैतन्य है, वह अनंत चैतन्य, जो सर्वशक्तिमान् शक्ति है, वह जब एक जगत्को,—अर्थात् अपने-आपके एक सामंजस्यको—अपनी चेतनाका विषय बनाता है, तब वह हमारी विचारशक्तिके द्वारा एक ऐसी वैश्व सत्ताके रूपमें ग्राह्य हो जाता है जो अपने स्व-सत्यको जानती है और जिसे जानती है उसे रूपोंमें संसिद्ध करती है।

किन्तु जब हम तर्क छोड़ देते हैं और अपने अन्दर गहरे जाते हैं, उस गुहामें जाते हैं जहाँ मनकी क्रियाशीलता निश्चल हो जाती है, केवल तभी यह अन्य चेतना हमारे सामने यथार्थतः अभिव्यक्त होती है, चाहे मनकी प्रतिक्रिया और मनकी सीमाओंके लंबे संस्कारके कारण वह कितने ही अपूर्ण रूपमें क्यों न अभिव्यक्त हो। जिसकी अनिश्चित धारणा हमने बुद्धिकी फीकी टिमटिमाती रोशनीसे बनायी थी उसे हम तब एक

वर्द्धमान प्रकाशमें निश्चिततासे जान सकते हैं। ज्ञान मन और बौद्धिक तर्कणासे परे आसीन है, असीम्य आत्मदृष्टिके ज्योतिर्मय वृहत्में सिंहासनस्थ वह प्रतीक्षा करता है।

अध्याय चौदह
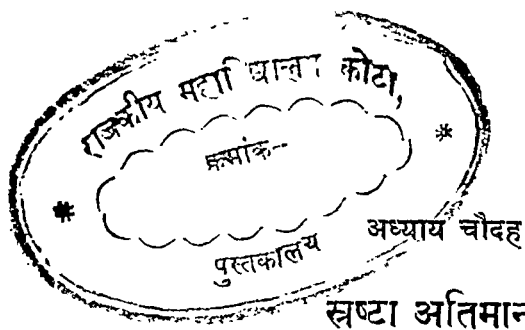
स्रष्टा अतिमानस

जानीहि (विश्वानि) विज्ञानविजृम्भितानि ।।

समस्त वस्तुएं विज्ञान (दिव्य ज्ञान) के आत्म-प्रसरण हैं।

—विष्णुपुराण
2. 12. 39

तो, सक्रिय इच्छा और ज्ञानका एक तत्त्व जो मनसे श्रेष्ठतर है और लोकोंका स्रष्टा है, वही 'एकमेव'की उस आत्मवत्ता और 'बहु'के इस प्रवाहके बीचकी सत्ताकी एक मध्यवर्ती शक्ति और स्थिति है। यह तत्त्व हमसे सम्पूर्णत: विजातीय नहीं है, न वह हमसे किसी सम्पूर्णतया अनात्मीय सत्पुरुषका ऐकांतिक तत्त्व है जिससे व्यवहार न किया जा सके, न वह सत्ताकी कोई ऐसी स्थिति है जहाँसे हम रहस्यमय रूपसे जन्मके अन्दर प्रक्षिप्त और साथ ही परित्यक्त भी हुए हों और वहाँ वापस जानेमें अक्षम हों। यदि वह हमसे सुदूर ऊंचाइयोंपर अवस्थित प्रतीत होता है तो भी वे ऊँचाइयाँ हमारी अपनी सत्ताकी हैं और हमारे पग वहाँ पहुंच सकते हैं। हम उस परम सत्यका केवल अनुमान ही नहीं कर सकते, उसकी झांकी ही नहीं पा सकते, बल्कि उसकी उपलब्धि करनेमें भी सक्षम हैं। हम वर्द्धमान रूपसे प्रसारित होते हुए, या किसी आकस्मिक ज्योतिर्मय आत्म-अतिक्रमणके द्वारा अविस्मरणीय क्षणोंमें, उन शिखरोंपर चढ़ सकते हैं या महत्तम अतिमानवीय अनुभूतिकी घड़ियाँ या दिन वहाँ बिता सकते हैं। हम जब फिर नीचे उतर आते हैं, तो सम्पर्कके ऐसे द्वार रहते हैं जिन्हें हम सदा खुले रख सकते हैं, यदि वे हमेशा बंद होते रहें तो भी हम उन्हें बार-बार खोल सकते हैं। पर जब हमारी विकसनशील मानव-चेतना आत्मविलयकी नहीं, पूर्णताकी खोज करती है, तो अंतमें, सृष्ट और स्रष्टा सत्ताके इस चरम और उच्चतम शिखर पर स्थिर रूपसे निवास करना ही हमारा चरम आदर्श होता है। क्योंकि, जैसा हम देख आये हैं, यही वह आदि 'भाव' और चरम सामंजस्य और

सत्य है जहाँ हमारी जगत्में क्रमशः होनेवाली आत्माभिव्यक्ति वापस जाती है और जिसे प्राप्त करनेको वह अभिप्रेत है।

फिर भी हमें संदेह हो सकता है कि क्या अभी या कभी यह संभव है कि मानव-बुद्धिको इस स्थितिका कोई विवरण दिया जा सके या उसकी दिव्य क्रियाओंको मानव ज्ञान और कर्मके उन्नयनके लिये किसी ज्ञापनीय और व्यवस्थापनीय विधिसे व्यवहृत किया जा सके। इस संदेहका कारण केवल इस दिव्य क्षमताकी मानव-चरितार्थताको प्रकट करनेवाले ज्ञात व्यापार की विरलता या संदिग्धता ही नहीं है, न केवल वह दूरी ही है जो इस क्रियाको सामान्य मानवजातिके अनुभव और प्रमाण्य ज्ञानसे पृथक् करती है वल्कि मानव-मानसता और दिव्य अतिमानसके बीच उनके मूल-तत्त्व और क्रियामें जो प्रत्यक्ष विरोध है वह इस संदेहकी ओर बलपूर्वक संकेत करता है।

और निश्चय ही, यदि मनके साथ इस चेतनाका कोई संबंध ही न होता, मनोमय पुरुषके साथ उसकी कहीं कोई एकात्मता न होती तो हमारी मानव-धारणाओंके सामने उसका कोई भी विवरण देना असंभव होता। या यदि उसका स्वरूप ज्ञानकी दृष्टिमात्र होता, ज्ञानका क्रियात्मक बल बिलकुल न होता, तो हम उसके सम्पर्कसे केवल मानसिक आलोककी एक आनंदमयी स्थितिको पानेकी आशा कर सकते, जगत्के कार्योंके लिये किसी महत्तर प्रकाश और बलकी नहीं। किंतु, चूंकि यह चेतना जगत्की स्रष्ट्री है अतः वह केवल ज्ञानकी स्थिति नहीं, वरन् ज्ञानका बल भी अवश्य है, और केवल प्रकाश और दृष्टिकी ओर अभिमुख इच्छा ही नहीं, वरन् बल और कर्मकी ओर अभिमुख इच्छा भी है। और चूंकि मनकी सृष्टि भी इसीके अंदरसे हुई है, तो मन भी, अवश्य ही, परम चेतनाकी इस आद्य क्षमता और इस मध्यस्थ क्रियासे ही परिसीमनके द्वारा विकसित हुआ होगा, और अतएव, विस्तरणकी विपरीत प्रक्रियाके द्वारा उसी चेतनाके अन्दर वापस समाहित हो जानेमें सक्षम होता होगा। क्योंकि, मन सार-स्वरूपमें अवश्य ही अतिमानसके साथ सदा एकात्म रहता होगा और अपने अन्दर अतिमानसकी संभाव्यताको छिपाये रखता होगा, चाहे अपने वास्तविक रूपोंमें और क्रियाकी निर्धारित विधियोंमें वह कितना भी भिन्न या विपरीत ही क्यों न हो गया हो। तो संभव है कि हमारे बौद्धिक ज्ञानके दृष्टिकोणसे और उसकी परिभाषाओंमें अति-मानसका कोई भाव पानेकी ओर सादृश्य और वैषम्यकी विवेचनाके द्वारा अग्रसर होनेका प्रयास अयौक्तिक या निरर्थक प्रयत्न न होगा। वह भाव, वे परिभाषायें भले ही अपर्याप्त हों, फिर भी वे प्रकाशकी अंगुलीके रूपमें हमें ऐसे मार्गपर आगे बढ़ा सकती हैं जिसपर हम कुछ दूर तो जा ही

सकते हैं। और फिर, मनके लिये यह संभव है कि वह अपने-आपसे परे चेतनाके ऐसे शिखरों या स्तरोंपर जा पहुंचे जो अतिमानसिक चेतनाकी किसी आपरिवर्तित ज्योति या शक्तिको अपने अन्दर ग्रहण करते और दीप्ति, संबोधि या अपरोक्ष संपर्क अथवा अनुभूतिके द्वारा उस अतिमानसिक चेतना को जानते हैं, यद्यपि उसके अन्दर निवास करना, वहाँसे देखना और क्रिया करना एक ऐसी विजय है जो कि अबतक मनुष्यके लिये संभव नहीं हो पायी है।

और पहले, हम एक क्षण रुककर अपने-आपसे पूछ सकते हैं, क्या भूतकालसे कोई ऐसा प्रकाश नहीं मिल सकता जो हमें इन प्रदेशों की राह दिखाये जिनका अभी तक भली भांति अन्वेषण नहीं हुआ है ? हमें एक नामकी और एक आरंभ-बिन्दुकी आवश्यकता है। कारण, चेतनाकी इस स्थितिको हमने अतिमानस कहा है, किन्तु यह शब्द अनेक अर्थ देता है, क्योंकि, उससे ऐसा अर्थ लगाया जा सकता है कि वह स्वयं मानस ही है जो सामान्य मानसिकतासे ऊपर उठा हुआ और अति उच्च है किन्तु उसमें कोई आमूल परिवर्तन नहीं हुआ है, या इसके विपरीत, उसमें वह सब समा सकता है जो मानससे परे है और इस प्रकार उसमें एक अति विस्तृत व्याप्ति आ जायगी जिसके अन्दर स्वयं वह अनिर्वचनीय भी आ जायगा। एक सहायकारी वर्णन देनेकी आवश्यकता है जो उसके अर्थको अधिक ठीक रूपमें मर्यादित करेगा।

यहाँ वेदके रहस्यमय मंत्र हमारे सहायक होते हैं, क्योंकि उनमें दिव्य और अमर अतिमानसका संदेश, भले ही प्रच्छन्न रूपसे, विद्यमान है, और हमें पर्देमेंसे कुछ प्रकाशदायक झलकें मिल जाती हैं। इन वचनोंसे हमें इस अतिमानसका परिचय इस प्रकार मिलता है कि वह हमारी चेतनाके सामान्य नभोमंडलके परेकी एक बृहत्ता है जिसमें सत्ताका सत्य अपने-आपको अभि-व्यक्त करनेवाले तत्त्वोंके साथ ज्योतिर्मय रूपमें एक होता है और जहाँ दृष्टि, रूपायण, व्यवस्था, शब्द, क्रिया और गतिका सत्य और अतएव गतिके परिणामका, क्रिया और अभिव्यक्तिके परिणामका सत्य भी, अचूक विधि या धर्म भी, अनिवार्य रूपसे निश्चित रहते हैं। बृहत् सर्वव्यापकता; उस बृहत्तामें सत्ताका ज्योतिर्मय सत्य और सामंजस्य, न कि कोई अस्पष्ट अव्यवस्था या आत्म-गूढ़ अंधकार; सत्ताके उस सामंजस्यपूर्ण सत्यको व्यक्त करनेवाले धर्म और कर्म और ज्ञानका सत्य; ये ही वैदिक विवरणके सारभूत सूत्र प्रतीत होते हैं। देवगण, जो अपने उच्चतम गूढ़ स्वरूपमें इस अतिमानस की शक्तियाँ हैं और उसीसे उत्पन्न हैं, उसमें इस भांति अवस्थित हैं मानों

अपने स्वधाममें हों, वे अपने ज्ञानमें "ऋत-चिन्मय" हैं और कर्ममें "कवि-क्रतुः"। कर्म और सृष्टिकी ओर मुड़ी हुई उनकी चेतन शक्ति, जो करना है उसके और उसके सार तथा विधानके पूर्ण एवं अपरोक्ष ज्ञानके द्वारा अधिकृत और निर्देशित होती है,—यह ज्ञान एक सम्पूर्णतया प्रभावी इच्छाको निर्धारित करता है जो कि अपनी प्रक्रिया या अपने परिणाममें न तो विच्युत होती है, न डगमगाती है, वरन् दिव्य दृष्टिमें जो कुछ देखा गया है, उसे वह कर्ममें सहज और अनिवार्य रूपसे अभिव्यक्त और परिपूर्ण करती है। यहाँ ज्योति शक्तिके साथ एक है, ज्ञानके स्पंदन इच्छाशक्तिके छंदके साथ एक हैं, और दोनों पूर्ण रूपमें एक हैं; एकताके लिये उन्हें खोजना, टटोलना या प्रयास करना नहीं पड़ता और परिणाम निश्चित रहता है। दिव्य प्रकृतिमें द्विविध बल है, एक तो सहज रूपसे आत्म-रूपायण और आत्म-विन्यास करने-वाला जो अभिव्यक्त की गयी वस्तुके सारसे स्वाभाविक रूपसे फूट निकलता है और उसके आदि सत्यको प्रकट करता है, दूसरे, ज्योतिकी आत्म-शक्ति, जो स्वयं उस वस्तुमें अंतर्निहित है और उसके स्वतःस्फूर्त और अनिवार्य आत्म-विन्यासका मूल है।

कुछ गौण, परंतु महत्वपूर्ण विवरण हैं। ऐसा लगता है कि वैदिक ऋषि "ऋत-चिन्मय" जीवकी दो मुख्य क्षमताओंकी बात कहते हैं, दृष्टि और श्रुति, जिनसे उनका अभिप्राय अंतर्निहित ज्ञानकी अपरोक्ष क्रियाओंसे है, जिनका वर्णन सत्य-दर्शन और सत्य-श्रवण कहकर किया जा सकता है और जो बहुत दूरसे हमारी मानवीय मानसिकतामें सत्य-प्रकाश और सत्य-प्रेरणाकी क्षमतामें प्रतिबिंबित होती हैं। इसके अतिरिक्त ऐसा लगता है कि अतिमानसकी क्रियाओंमें दो प्रकारके ज्ञानोंमें भेद किया गया है, एक तो है सर्वाविधारक और सर्वगत चेतना द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान जो तादात्म्य द्वारा प्राप्त विषयीगत ज्ञानसे बहुत समीप होता है, दूसरा है प्रक्षिप्त होती, सामने जाती प्रज्ञान-चेतनाके द्वारा प्राप्त ज्ञान, यह विषयवृत्त संबोधका प्रारंभ है। ये वैदिक संकेत हैं, और इस प्राचीन अनुभवके सहारे हम अधिक लचीले शब्द अतिमानसके सामान्य अर्थको मर्यादित करनेके लिये सहकारी शब्द "ऋत-चित्" को स्वीकार कर सकते हैं।

हम तुरंत यह देख पाते हैं कि ऐसी चेतना, जिसका वर्णन ऐसे गुणों द्वारा किया गया है, अवश्य ही एक मध्यवर्ती रचना होगी जो अपने पीछे, ऊपरके एक प्रान्तकी ओर, और अपने आगे, नीचेके एक प्रान्तकी ओर निर्देश करती है, साथ ही हम यह भी देखते हैं कि स्पष्टतः वह एक कड़ी और साधन है जिसके द्वारा निम्नतर श्रेष्ठतरमें से विकसित होता

है और समान रूपसे उसे वह कड़ी और साधन होना चाहिये जिसके द्वारा विकसित होकर वह अपने मूलकी ओर फिरसे वापस जा सके। ऊपरका प्रान्त है शुद्ध सच्चिदानंदकी अखंड-अद्वय या अविभाज्य चेतना जिसमें पृथक्कारी भेद नहीं होते, नीचेका प्रान्त है मनकी विश्लेषणकारी या विभाजनकारी चेतना जो पृथक्त्व और भेदके द्वारा ही जान सकती है और जिसे एकता और अनंतताका, अधिक-से-अधिक एक अस्पष्ट और गौण बोध ही हो सकता है, क्योंकि, यद्यपि वह अपने विभाजनोंको समन्वित कर सकती है, वह सच्ची समग्रतापर नहीं पहुंच सकती। इन दोनोंके बीच यह सर्वव्यापी और स्रष्टा चेतना है। अपने सर्वविधारक और सर्वगत ज्ञानकी शक्तिके नाते वह उस तादात्म्य-जनित आत्मसंवित्‌की संतान है जो ब्रह्मकी स्थिति है, और अपनी प्रज्ञान-शक्ति, अर्थात् प्रक्षिप्त होने, सामने जानेकी शक्तिके नाते वह भेद-जनित संवित्‌की जननी है जो कि मनकी प्रक्रिया है।

ऊपर, शाश्वत-स्थाणु और अक्षर एकमेवाद्वितीयका तत्त्व है, नीचे बहुका तत्त्व है जो शाश्वत रूपसे क्षर रहता हुआ वस्तुओंके परिवर्तन-प्रवाहमें एक स्थिर और अविचल आधारको खोजता तो है किन्तु पाता कदाचित् ही है, बीचमें स्थली है सकल त्रिपुटीकी, सकल द्विदलकी, उस सबकी जो एक-में-बहु होता है और फिर भी बहु-में-एक रहता है क्योंकि मूल रूपमें वह 'एक' था जो शक्य रूपमें सर्वदा 'बहु' है। अतः यह मध्यवर्ती तत्त्व ही समस्त सृष्टि और आयोजनका आदि और अंत है, अथ और इति है, यही समस्त भेदकरणका आरंभ-स्थल तथा समस्त एकीकरणका उपकरण है, समस्त संसिद्ध हुए या संसिद्ध हो सकनेवाले सामंजस्योंका प्रवर्तक, कर्त्ता और निष्पादक है। उसे एकमेवाद्वितीयका ज्ञान है, किंतु वह उसके अंदर छिपे हुए बहुत्व की रचना करनेमें भी सक्षम होता है, वह बहुको अभिव्यक्त तो करता है किन्तु उसके भेदोंमें अपने-आपको खो नहीं देता। और क्या हम यह नहीं कह सकते कि उसका अस्तित्व मात्र ही किसी ऐसी वस्तुकी ओर वापस संकेत करता है जो हमारे उस वर्णनातीत एकत्वके परम बोधसे परे है,—'ऐसी वस्तु', जो वर्णनातीत है, और अपनी एकता और अविभाज्यताके कारण नहीं, अपितु हमारे मनके इन निरूपणोंसे भी मुक्त होनेके कारण मनके लिये अगम्य है,—ऐसी वस्तु, जो एकत्व और बहुत्व दोनोंसे परे है? परम निर्विशेष और सत् ही 'वह वस्तु' होगा और, फिर भी, उससे हमारे ईश्वर-ज्ञान और जगत्-ज्ञान दोनोंको सार्थकता मिलेगी।

किन्तु ये शब्द व्यापक हैं और समझनेमें कठिन हैं, हम सुनिश्चित

भावोंपर आयें। हम उस 'एक'को सच्चिदानंद कहते हैं, किन्तु स्वयं इस वर्णनमें हम तीन ईकाइयोंको सामने रखकर एक त्रिक पर पहुंचनेके लिये उन्हें एकीवद्ध कर देते हैं। हम कहते हैं "सत्, चित्, आनन्द", और तब कहते हैं, "वे एक हैं"। यह मनकी प्रक्रिया है। किंतु अद्वैत चेतनाके लिये ऐसी प्रक्रिया मान्य नहीं है, सत् है चेतना, और उन दोनोंमें कोई भेद नहीं हो सकता; चेतना है आनन्द, और उनमें कोई भेद नहीं हो सकता; और चूंकि यह भेद भी नहीं है, अतः कोई जगत् भी नहीं हो सकता। यदि वही एकमात्र सद्वस्तु है तो फिर जगत् नहीं है, उसका कभी अस्तित्व नहीं था, उसकी कभी धारणा नहीं की जा सकती थी; क्योंकि, अविभाज्य चेतना अविभाजनकारी चेतना है और वह विभाजन तथा भेदका आरंभ नहीं कर सकती। किन्तु यह असंभवापत्ति है; हम इसे तब तक नहीं स्वीकार कर सकते जव तक हम सारी चीजको असंभव विरोधाभास और एक विसंवादी प्रतिपक्षके आधारपर ही प्रतिष्ठित करनेमें सन्तुष्ट न हों।

दूसरी ओर, मन विभाजनोंके वास्तविक होनेकी धारणा सुनिश्चित रूपसे बना सकता है, वह एक समन्वयात्मक समग्रताकी या अपने-आपको अनिश्चित रूपसे विस्तृत करते सांतकी धारणा कर सकता है, वह विभाजित वस्तुओंके समाहारको और उनके आधारमें रहती समरूपताको ग्रहण कर सकता है; किन्तु परम एकत्व और पूर्ण अनंतता उसके वस्तु-विषयक विवेकके लिये अमूर्त विचार और अग्राह्य परिणाम हैं, वे ऐसी वस्तु नहीं हैं जो उसकी पकड़के लिये वास्तविक हों, एकमात्र सद्वस्तु होनेकी वात तो और दूर रहती है। तो यहां अखंड चेतनाका स्वयं विपरीत तत्त्व मिलता है; मूलभूत और अविभाज्य एकत्वका सामना करता हुआ हमें एक मूलभूत वहुत्व मिलता है जो अपने-आपको नष्ट किये बिना एकत्वपर नहीं पहुंच सकता और इस प्रक्रियामें वह स्वीकार कर वैठता है कि वस्तुतः उसका अस्तित्व कभी रह ही नहीं सकता था। फिर भी वह था तो सही, क्योंकि उसीने एकत्वकी प्राप्ति की है और अपने-आपको नष्ट किया है। और हमें फिर असंभवापत्ति मिलती है जो विचारको स्तम्भित कर उसे विश्वास दिलानेकी चेष्टा करनेवाले उग्र विरोधाभासकी, विसंवादी और मेल न खा सकनेवाले प्रतिपक्षकी पुनरावृत्ति करती है।

यदि हम अनुभव कर लें कि मन हमारी चेतनाका एक प्रारंभिक पर्व ही है तो नीचेकी भूमिकाकी कठिनाई मिट जाती है। मन मूल तत्त्वके ज्ञानका नहीं, विश्लेषण और संश्लेषणका उपकरण है। मनका कार्य है अज्ञात स्वयम्भू सद्वस्तुका कोई अंश अनिर्दिष्ट रूपसे काट लेना और उसके

इस सीमांकन या मापको समग्र मानना, और उस समग्रका फिर उसके विभिन्न अंगोंमें विश्लेषण करना,—और उन अंगोंको वह पृथक्-पृथक् मानसिक विषय मानता है। मन अंगों और अतात्त्विक गुणोंको ही निश्चित रूपसे देख सकता है और उन्हें, अपनी ही विधिसे, जान सकता है। समग्रके संबंधमें उसका एकमात्र निश्चित विचार यही बनता है कि वह अंगोंका समवाय या गुण-धर्मों और अतात्त्विक गुणोंकी समष्टि है। समग्रको किसी अन्य वस्तुके अंगके रूपमें न देखना, या उसे उसके खंडों, गुण-धर्मों और अतात्त्विक गुणोंके रूपमें न देखकर अन्य किसी रूपमें देखना मनके लिये एक अस्पष्ट आभाससे अधिक नहीं होता। उस समग्रताका विश्लेषण करके उसे एक पृथक् निर्मित वस्तुके रूपमें, एक वृहत्तर समग्रताके अंदर एक समग्रता-के रूपमें प्रतिष्ठित करके ही मन अपने-आपसे कह सकता है, "अब मैं इसे जानता हूँ।" पर वस्तुतः वह नहीं जानता। वह तो बस उस विषयके अपने विश्लेषणको जानता है और उसने जो पृथक् खंड और गुण-धर्म देखे हैं, उनके संश्लेषणसे उसने जो भाव बनाया है उसे जानता है। उसकी स्वभाव-विशिष्ट शक्ति, उसकी निश्चित क्रिया यहीं तक है, और हमें यदि महत्तर, गंभीरतर और यथार्थ ज्ञान चाहिये,—ज्ञान, न कि कोई तीव्र किंतु आकारहीन भावना, जैसी कि कभी-कभी हमारी मानसिकताके किन्हीं गंभीर किंतु अव्यक्त अंगोंमें आती है,—तो मनको एक ऐसी अन्य चेतनाके लिये स्थान खाली करना होगा जो मनका अतिक्रमण करके मनको परिपूर्ण करेगी या उससे आगे छलांग लगाकर उसकी क्रियाओंको उल्टा मोड़ देकर सुधारेगी, मनके ज्ञानका शिखर तो बस कूदनेका एक तख्ता है, जहाँसे वह छलांग लगायी जा सकती है। मनका सर्वोच्च कार्य है जड़तत्त्वके अंधेरे बंदीगृहसे निकली हुई हमारी अस्पष्ट चेतनाको शिक्षित करना, उसकी अंध सहज-प्रवृत्तियों, आकस्मिक संबोधिकी झलकों, अस्पष्ट प्रत्यक्षोंको तब तक आलोकित करना जब तक कि वह इस महत्तर प्रकाश और इस उच्चतर आरोहणके योग्य न हो जाय। मन तो मार्ग है, अंतकी मंजिल नहीं।

दूसरी ओर, अद्वैत चेतना या अविभाज्य एकत्व वह असंभव सत्ता, वह चीज नहीं हो सकती जो सर्वशून्य या सर्वरिक्त है, फिर भी सब कुछ उसके अन्दरसे निसृत है, और उसीके अन्दर विलीन और विनष्ट हो जाता है। यह अवश्य ही एक ऐसा आदि आत्म-संहरण होना चाहिये जिसमें सब कुछ समाया है परन्तु इस कालगत और देशगत अभिव्यक्ति से भिन्न रूपमें। जिसने अपने-आपको इस भांति संहृत किया है वह सर्वथा वचनातीत और धारणातीत सत् है जिसे शून्यवादी अपने मनके

समक्ष इस रूपमें चित्रित करता है मानों वह, हम जो कुछ जानते हैं और हैं, उस सवका प्रतिषेधात्मक शून्य है; किन्तु, तुरीयवादी समान रूपसे युक्ति करता हुआ उसी सत्को अपने मनके समक्ष इस रूपमें चित्रित कर सकता है मानों वह सत्, हम जो कुछ जानते हैं और हैं, उस सवकी भावात्मक और अविभेद्य सद्वस्तु है। वेदांत कहता है कि आरंभमें एक ही सत् था, कोई द्वितीय नहीं, "एकमेवाद्वितीयम्", किंतु आरंभसे पहले और वादमें, अभी, सर्वदा और कालसे परे वह है जिसका वर्णन हम "एक" कहकर भी नहीं कर सकते, भले ही हम यह भी कहें कि उस "तत्"के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। हमें संवित् हो सकती है प्रथमतः उसके आद्य आत्म-संहरणकी, जिसे हम अविभाज्य 'एक'के रूप में अनुभव करनेका प्रयास करते हैं; द्वितीयतः उसके एकत्वमें जो संहृत था उस सवके विसरण और प्रतीयमान विघटनकी, जो कि विश्वके संबंध-में मनकी धारणा है; और तृतीयतः, ऋत-चित्में उसके दृढ़ आत्म-विस्तार-की। ऋत-चित् ही इस विसरणको समाये और धारण किये रहता है और उसे वास्तविक विघटन होनेसे वचाता है, अधिकतम वैचित्र्यके बीच एकताको और अधिकतम क्षरताके वीच स्थाणुत्वको वनाये रखता है, एक सर्वव्यापी संघर्ष और संघटनके आभासके बीच सामंजस्यपर आग्रह करता है, जहाँ मन अपने-आपको रूपायित करनेके प्रयास चिर-काल करके अव्यवस्था तक ही पहुंच पाता है, वहाँ यह शाश्वत विश्वको संरक्षित रखता है। यही है अतिमानस, ऋत-चित्, सत्-भाव जो अपने-आपको जानता है और वह जो कुछ वन जाता है उस सबको भी जानता है।

अतिमानस विश्वाधार और विश्व-विकासक ब्रह्मका वृहत् आत्म-प्रसरण है। महाभावके द्वारा वह सत्, चित् और आनन्दके त्रिक तत्वको उनकी अविभाज्य एकतामेंसे विकसित करता है। वह उनमें भेद करता है, किन्तु विभाजन नहीं। वह एक त्रिमूर्तिकी प्रतिष्ठा करता है, मनकी भांति तीनसे चलकर एकपर नहीं पहुँचता, वरन् तीनोंको एकमेंसे अभि-व्यक्त करता है,—क्योंकि वह अभिव्यक्ति और विकास करनेवाला है—और फिर भी उन्हें एकतामें वनाये रखता है—क्योंकि वह ज्ञाता और धारक है। भेदकरणके द्वारा वह उनमेंसे किसी एक या दूसरे तत्त्वको कर्त्री विभूतिके रूपमें सामने ला पाता है जो दूसरोंको अपने अंदर संवृत या प्रकट रूपमें धारण किये रहती है। इसी पद्धतिको वह अन्य समस्त भेदकरणका आधार वनाता है। और, इस सर्वोपादान त्रित्वमेंसे वह

जिन-जिन तत्त्वों और संभावनाओंको विकसित करता है उन सबपर वह इसी विधिसे क्रिया करता है। उसमें प्रचय, विकास और व्यक्त करनेकी शक्ति रहती है और वह शक्ति संवरण, आच्छादन और अव्यक्त करनेकी उस अन्य शक्तिको साथ लिये रहती है। एक अर्थमें सारी सृष्टिको दो निवर्तनोंके बीच होनेवाली गति कहा जा सकता है; आत्मा,—जिसके अन्दर सब कुछ संवृत है और जिसके अंदरसे सब कुछ नीचेकी ओर जड़तत्त्वके दूसरे ध्रुवकी दिशामें क्रमशः विकसित होता है, और जड़तत्त्व,—जिसके अंदर भी सब कुछ संवृत है और जिसमेंसे सब कुछ ऊपरकी ओर आत्माके अन्य ध्रुवकी दिशामें विवर्तित होता है।

तो, विश्व-सृष्टिके मूलमें सत्-भावकी जो विभेदकरणकी प्रक्रिया है उसका सारा स्वरूप यह है कि वह तत्त्वों, शक्तियों और रूपोंको आगे रखती है। विज्ञान-चेतनाके लिये तो सत्ताका सारा परिशेष इन तत्त्वों, शक्तियों और रूपोंके अंदर समाया रहता है, परंतु प्रज्ञान-चेतनाके लिये सत्ताका सारा परिशेष उनके नेपथ्यमें अस्फुट रहता है। अतः, प्रत्येकके अंदर सब-कुछ है और सब-कुछके अन्दर प्रत्येक है। अतः, वस्तुओंका हर बीज विविध संभावनाओंकी सारी अनंतता अपने अंदर लिये रहता है, किन्तु 'इच्छा'के द्वारा, अर्थात् उस चिन्मय पुरुषकी ज्ञान-शक्तिके द्वारा वह प्रक्रिया और परिणामके एक ही विधानके अन्तर्गत रखा जाता है, जो चिन्मय पुरुष कि अपने-आपको अभिव्यक्त कर रहा है और अपने अंदर भावकी निश्चितता रखते हुए उसके द्वारा अपने रूपों और गतियोंको पूर्वनिर्धारित करता है। यह स्वयंभू सत् अपनी स्व-सत्ताका जो सत्य अपने अंदर देखता है वही बीज है, आत्म-दर्शनके उस बीजका परिणाम होता है आत्म-क्रियाका ऋत, और विकास, रूपायण और कर्मका प्राकृतिक धर्म जो आत्म-दर्शनके पीछे अनिवार्य रूपसे आता है और आद्य सत्यमें संवृत रहनेवाली प्रक्रियाओंके अनुसार होता है। तो, चिन्मय पुरुष आरंभमें जिस 'भाव'के अंदर प्रक्षिप्त हुआ है उसके समग्र अनिवार्य सत्यको शक्ति और रूपमें उद्भूत करनेके लिये वह क्रियारत है और सारी प्रकृति इस चिन्मय पुरुषका कवि-क्रतु और ज्ञान-शक्ति ही है।

महाभावका यह परिचय मनश्चेतना और ऋत-चित्के मूलगत भेदकी ओर संकेत करता है। हम विचारको जीवनसे पृथक् वस्तुके रूपमें देखते हैं,—ऐसा कुछ जो अमूर्त और निःसत्व है और सत्-तत्त्वसे भिन्न है, ऐसा कुछ जिसके बारेमें हम यह नहीं जानते कि वह कहाँसे प्रकट होता है, जो विषयगत सत्यताका निरीक्षण करने, उसे समझने और उसके बारेमें

निर्णय करनेके लिये अपने-आपको उससे अलग करता है। हमारी सर्व-विभाजनकारी, सर्व-विश्लेषणकारी मानसिकताको विचार ऐसा ही प्रतीत होता है और अतः उसके लिये ऐसा ही है। मनका पहला कार्य है 'विविक्त' करना, विवेक करनेकी अपेक्षा कहीं अधिक दरारें बनाना, और इस भांति विचार और सद्‌वस्तुके बीच उसने यह पंगुकारक दरार बना दी है। किन्तु, अतिमानसमें सारी सत्ता चेतना है, सारी चेतना सत्ताकी है, और भाव, जो कि चेतनाका एक फलगर्भ प्रकंपन है, समरूपसे एक ऐसी सत्ताका प्रकंपन है जो अपने-आपसे गर्भित है, जो अस्रष्टा आत्म-संवित्‌में घनीभूत पड़ा था, यह स्रष्टा आत्म-ज्ञानमें उसका प्रथम आविर्भाव है। वह आविर्भाव ऐसे भावके रूपमें आता है जो एक सद्‌वस्तु है, और उस भावकी वह सद्‌वस्तु ही अपने-आपको विकसित करती है, सर्वदा अपनी शक्ति और चेतनासे, सर्वदा आत्म-चेतन रहती हुई, सर्वदा भावमें अंतर्निहित इच्छा-शक्तिके द्वारा आत्म-विस्तार करती हुई, सर्वदा अपने प्रत्येक प्रवेगमें अन्तर्निहित ज्ञानके द्वारा आत्मोपलब्धि करती हुई। यही समस्त सृष्टिका, समस्त विकासका सत्य है।

हमारे मनकी क्रियाओंमें सत्ता, ज्ञान-चेतना और इच्छा-चेतना विभाजित प्रतीत होती हैं, किंतु अतिमानसमें ऐसा नहीं है, वहाँ वे एक त्रिक हैं, बस एक ही गति हैं जिसके तीन प्रभावी पक्ष हैं। प्रत्येकका अपना प्रभाव है। सत्ताका प्रभाव है अधिष्ठान-धातु; चेतनाका प्रभाव है ज्ञान, आत्म-निर्देशनकारी और रूपकारी भाव, विज्ञान और प्रज्ञान; इच्छाका प्रभाव है आत्म-परिपूर्तिकारी शक्ति। किन्तु भाव उस सद्‌वस्तुकी ज्योति है जो कि अपने-आपको आलोकित कर रही होती है, वह न तो मनका विचार है न कल्पना ही, प्रत्युत वह फलप्रसू आत्म-संवित् है। वह है सत्-भाव।

अतिमानसमें भावके अंदर रहनेवाला ज्ञान भावके अन्दर रहनेवाली इच्छासे वियुक्त नहीं है. वरन् उसके साथ एक है—वैसे ही जैसे वह सत्ता या स्वरूप-धातुसे भिन्न नहीं है, वरन् सत्ताके साथ, स्वरूप-धातुकी प्रकाशमय शक्तिके साथ एक है। जैसे जलती अग्नि-शिखाकी शक्ति अग्निके सत्त्वसे भिन्न नहीं है, वैसे ही भावकी शक्ति सत्‌की उस स्वरूप-धातुसे भिन्न नहीं है जो भावमें और उसके विकासमें अपने-आपको कार्यान्वित करती है। हमारी मानसतामें ये सब भिन्न-भिन्न हैं। हमारे अंदर भाव उठता है और उसके अनुरूप एक इच्छा होती है, या इच्छाका कोई संवेग होता है और उससे विमुक्त होता हुआ कोई और भाव

होता है, किंतु कार्यतः हम भावका इच्छासे और दोनोंका अपने-आपसे विभेद करते हैं। मैं हूँ; यह भाव एक ऐसी रहस्यमयी अमूर्तता है जो मेरे अंदर प्रकट होती है। इच्छा एक और रहस्य है, यह वह शक्ति है जो मूर्तताके समीप रहती है किन्तु मूर्त नहीं होती, वह सर्वदा ऐसी वस्तु रहती है जो मेरा स्व नहीं है, कुछ ऐसी वस्तु है जो मेरी है या मुझे प्राप्त होती है या जो मुझे पकड़े है, किन्तु वह मैं नहीं हूँ। मैं अपनी इच्छा, उसके साधन और प्रभावके बीच एक खाई बना देता हूँ, क्योंकि मैं इन्हें अपनेसे बाहर और भिन्न संहत वास्तविकताओंके रूपमें देखता हूँ। अतः न तो स्वयं मैं, न मेरे अन्दरका भाव न मेरे अंदरकी इच्छा ही आत्म-प्रभावी होते हैं। यह संभव रहता है कि भाव मुझसे अलग छिटक पड़े, इच्छा विफल हो जाय, साधनकी कमी हो जाय, इसमेंसे किसी या सभी न्यूनताओंके कारण स्वयं मैं सम्पूर्तिसे वंचित रह जाऊं।

किन्तु, अतिमानसमें ऐसा कोई पंगुकारी विभाजन नहीं है, क्योंकि ज्ञान आत्म-विभाजित नहीं है, शक्ति आत्म-विभाजित नहीं है, सत्ता आत्म-विभाजित नहीं है जैसे कि मनमें सब कुछ विभाजित रहता है; वे न अपने-आपमें खंडित हैं, न एक-दूसरेसे वियुक्त। क्योंकि अतिमानस है 'वृहत्'; वह विभाजनसे नहीं, एकत्वसे आरंभ करता है, वह मूलतः सर्वाविधारक है, विभेदकरण उसकी गौण क्रिया ही है। अतः सत्ताका जो कोई भी सत्य प्रकट किया गया हो, भाव ठीक उसके सदृश रहता है, इच्छा भावके सदृश रहती है,—क्योंकि शक्ति चेतनाका ही बल है—और परिणाम इच्छाके सदृश होता है। और जैसा मनुष्य और उसके जगत्‌में होता है, वहाँ अन्य भावोंके साथ किसी भावका संघर्ष नहीं होता, न इच्छा और शक्तिकी किसी अन्य इच्छा या शक्तिसे टक्कर होती है; क्योंकि वहाँ एक ही वृहत् चेतना होती है जो समस्त भावोंको अपने निजी भावोंके रूपमें अपने अंदर समाये और संवंधित रखती है, एक ही वृहत् इच्छा रहती है जो अन्य ऊर्जाओंको अपनी ही ऊर्जाओंके रूपमें समाये और संबंधित रखती है। अतिमानस किसीको पीछे रखता है, किसीको आगे करता है, किंतु यह होता है उसके अपने पूर्व-कल्पनाकारी भाव-ग्रनुके अनुसार ही।

दिव्य सत् पुरुषकी सर्वव्यापकता, सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ताके जो धार्मिक विचार प्रचलित हैं उनका आधार यही है। इन विचारोंका अयौक्तिक कल्पना होना तो दूर रहा, वे पूर्णतः युक्ति-संगत हैं और

किसी भी भांति सर्वाविधारक दार्शनिक सिद्धान्तके तर्क या निरीक्षण और अनुभवके विपरीत नहीं जाते। भूल जो होती है वह है ईश्वर और मनुष्यके बीच, ब्रह्म और जगत्के बीच, न पट सकनेवाली खाई बना डालनेकी। सत्ता, चेतना और शक्तिमें जो वर्तमान और व्यावहारिक विभेद है उसे यह भूल एक मूलगत विभाजनका रूप दे देती है। किन्तु प्रश्नके इस पहलूको हम बादमें लेंगे। अभी हम ऐसे दिव्य और स्रष्टात्मक अतिमानसकी मान्यता पर पहुंच गये हैं और उसकी कुछ धारणा बना पाये हैं जिसके अनुसार उस अतिमानसमें सब कुछ सत्ता, चेतना, इच्छा और आनन्दमें एकात्म है, फिर भी उसमें विभेदकी अनंत समर्थता है जो एकत्वका प्रविस्तार करती है, किन्तु उसे विनष्ट नहीं करती,—जिसमें सत्य ही स्वरूप-धातु है, सत्य ही भावमें उद्भूत होता है, सत्य ही रूपमें बाहर आता है और ज्ञान तथा इच्छाका एक ही सत्य होता है, और, क्योंकि समस्त आत्म-संपूर्ति सत्ताकी संतुष्टि ही है, अतः आत्म-संपूर्तिका और आनन्दका एक ही सत्य होता है। इसी कारण, सर्वदा, समस्त परिवर्तनों और संयोजनोंके बीच रहता है एक स्वयंभू और अविच्छेद्य सामंजस्य।

अध्याय पन्द्रह

परम ऋत-चित्

सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्....
एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य ।।

अतिचेतनाकी सुषुप्तिनें वह एकीभूत, प्रज्ञानघन, आनन्दमय और आनन्दका भोक्ता.......वही सर्वशक्तिमान् है, वही सर्वज्ञ है, वही अन्तर्यामी है, वही सबका उत्स है।

—माण्डूक्योपनिषद्
5, 6

अतएव हमें इस सर्वधारक, सर्वमूल, सर्व-पूर्णकारक अतिमानसको परम पुरुषका स्वभाव मानना चाहिये, अवश्य ही अपने निर्विशेष स्वयम्भूत्वमें स्थित परम पुरुषका स्वभाव नहीं, वरन् अपने जगतोंके प्रभु और स्रष्टावत् कार्य करते परम पुरुषका स्वभाव। हम जिसे ईश्वर कहते हैं उसका सत्य यही है। यह तो स्पष्ट ही है कि वह सामान्य पाश्चात्य धारणाका कोई अति वैयक्तिक और सीमित 'देव' या कोई विशालित और अलौकिक मनुष्य नहीं है, क्योंकि वह धारणा स्रष्टा अतिमानस और अहंके बीच रहनेवाले विशेष संबंधकी एक अत्यन्त मानवीय छाया-मूर्ति निर्मित कर लेती है। निस्सन्देह, हमें उन 'देव'के वैयक्तिक रूपका बहिष्कार नहीं करना है, क्योंकि निर्व्यक्तिकता सत्ताका केवल एक पक्ष है, भगवान् सर्व-सत्ता हैं, किंतु वह अद्वितीय सत् भी हैं,—वह एकमात्र चिन्मय पुरुष हैं, किन्तु फिर भी पुरुष तो हैं ही। परन्तु, अभी तो हम इस पहलूकी चर्चा नहीं कर रहे हैं, अभी हम दिव्य चेतनाके किसी निर्व्यक्तिक मनोवैज्ञानिक सत्यकी थाह लेनेकी कोशिश कर रहे हैं: इसी सत्यको हमें एक विशाल और मार्जित धारणामें प्रतिष्ठित करना है।

ऋत-चित् विश्वमें सर्वत्र एक ऐसे व्यवस्थाजनक आत्मज्ञानके रूपमें विद्यमान है जिसके द्वारा वह 'एक' अपने अनंत बहुत्वकी शक्यताके सामंजस्योंको अभिव्यक्त करता है। इस व्यवस्थाकारी आत्मज्ञानके बिना

अभिव्यक्ति केवल एक चलायमान अव्यवस्था होती, ठीक इस कारण कि शक्यता अनंत है और उसे यदि केवल अकेली रहने दिया जाता तो एक अनियंत्रित और असीम 'संयोग'की क्रीड़ा ही होती। यदि केवल अनंत शक्यता रहती, साथमें निर्देशनकारी सत्य और सामंजस्यपूर्ण आत्म-दृष्टि-का धर्म न रहता, विकासके लिये छितराये गये वस्तुओंके बीजमें ही यदि पूर्व-निर्धारणकारी भाव न रहता, तो जगत् एक प्रपूर्ण, अनियताकार, संभ्रमित, अनिश्चितताके अतिरिक्त और कुछ न होता। परन्तु जो ज्ञान सृष्टि करता है,—इस कारण कि वह जो कुछ सृष्ट या उन्मुक्त करता है, सब उसके अपने रूप और शक्तियाँ हैं, उससे भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं,—अपनी सत्तामें सत्य और विधानकी उस दृष्टिका स्वामी रहता है जो प्रत्येक शक्यताको शासित करती है, और साथ-ही-साथ उसे अन्य शक्यताओंके प्रति अपने संबंधकी और उनके बीच संभव रहनेवाले सामंजस्योंकी अंतःस्थ संवित् रहती है। वह इस सबको एक सामान्य निर्धारणकारी सामंजस्यमें पूर्वचित्रित किये रहता है, वह सामंजस्य अवश्य ही विश्वके छन्दोबद्ध भावमें, उसके जन्म और आत्म-कल्पनाके क्षणसे ही रहता है, अतः वह सामंजस्य अनिवार्यतः अपने घटकोंकी पारस्परिक क्रीड़ाके द्वारा क्रियान्वित होगा। वह ज्ञान ही जगत्के धर्मका उत्स और संरक्षक है, क्योंकि वह धर्म कोई स्वेच्छाचारी वस्तु नहीं है,—वह एक आत्म-स्वभावकी अभिव्यंजना है जिसका निर्धारण सत्-भावके उस बाध्यकारी सत्यसे होता है जो प्रत्येक वस्तुका मूल स्वरूप है। अतः सारा विकास उसके आत्म-ज्ञानमें आरंभसे ही और उसकी आत्म-क्रियामें हर क्षण पूर्वनिर्धारित रहता है; हर क्षण अपने मूल अंतर्निहित सत्यके द्वारा, उसे जो होना चाहिये, ठीक वही होता है। वह अपने उसी मूल अंतर्निहित सत्यके द्वारा, उसे अगले क्षण जो होना चाहिये उसकी ओर गति कर रहा है, और अंतमें वह वही होगा जो उसके बीजमें समाया और अभिप्रेत था।

अपनी स्व-सत्ताके किसी मूल सत्यके अनुसार जगत्के इस विकास और उसकी प्रगतिके होनेमें, कालका एक अनुक्रम, देशके अन्दर एक संबंध और देशके अन्दर संबंधित वस्तुओंकी एक नियमित पारस्परिक क्रीड़ाका होना निहित रहते हैं जिसे काल-अनुक्रम कारणताका रूप देता है। तत्त्व-मीमांसक काल और देशके अस्तित्वको केवल धारणात्मक मानता है, यथार्थ नहीं, किन्तु केवल ये ही नहीं, समस्त वस्तुएँ चिन्मय पुरुषके द्वारा अपनी ही चेतनामें धारण किये गये रूप हैं, अतः यह भेद बहुत महत्व

नहीं रखता। काल और देश वही एक चिन्मय पुरुष हैं जो अपने-आपको विस्तारमें देख रहा है, विषयीगत रूपसे कालवत् और विषयीगत रूपसे देशवत्। इन दोनों श्रेणियोंके संबंधमें हमारी जो मानसिक दृष्टि है वह मापके भावसे निर्धारित होती है जो कि मनकी विश्लेषणात्मक विभाजनकारी गतिकी क्रियाके अन्दर निहित रहता है। मनके लिये काल एक गतिशील विस्तार है, जिसका माप भूत, वर्तमान और भविष्यके द्वारा किया जाता है, जिसमें मन किसी विशेष आधार-बिन्दुपर अवस्थित होता है और वहाँसे वह आगे और पीछेकी ओर देखता है। देश एक स्थाणु विस्तार है जिसका माप उपादान-धातुकी विभाजकताके द्वारा किया जाता है; मन इस विभाज्य विस्तारमें किसी विशेष बिन्दुपर अवस्थित होता है और उसके चारों ओरकी व्यवस्थापर दृष्टिपात करता है।

वास्तविक आचरणमें मन कालका माप घटनाके द्वारा और देशका जड़तत्त्वके द्वारा करता है। किन्तु शुद्ध मानसिकताके अन्दर यह सम्भव है कि घटनाकी गतिको और वस्तु-व्यवस्थाको न देखा जाय और चिन्मय-शक्तिकी शुद्ध गतिकी ही अनुभूति की जाय जो देश तथा कालकी स्वरूप-धातु है। तब देश और काल चेतनाकी विश्वव्यापी शक्तिके दो पक्ष मात्र रह जाते हैं जो अपनी गुँथी हुई पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियामें उस शक्तिकी स्वयं अपने ऊपर होती क्रियाके ताने-बाने होते हैं। और मन-से उच्चतर जो चेतना है, जो भूत, वर्तमान और भविष्यको एक ही दृष्टिके अंतर्गत करेगी, जो उनको अपने अन्दर धारण करेगी, न कि उनके अन्दर समायी होगी, जो अपनी दूरदृष्टिके लिये कालके किसी विशेष क्षणपर अवस्थित नहीं होगी, उसके लिये काल भली भाँति एक शाश्वत वर्तमानके रूपमें खड़ा हो सकता है। और वही चेतना जब देशके किसी विशेष बिन्दुपर स्थित न होकर अपने ही अन्दर समस्त बिन्दुओं और प्रदेशोंको समाये रहती है, तो उसके सामने देश भी विषयीगत और अविभाज्य विस्तार-रूपमें खड़ा हो सकता है,—कालकी अपेक्षा कम विषयीगत नहीं। कुछ विशेष क्षणोंमें हमें एक ऐसी अविभाज्य दृष्टि-की संवित् हो सकती है जो अपने अपरिवर्तनीय आत्म-चेतन एकत्वके द्वारा विश्वके परिवर्तनोंको धारण किये रहती है। किन्तु अब हमें यह प्रश्न नहीं करना चाहिए कि देश और कालकी अन्तर्वस्तुएँ अपने तुरीय सत्यमें वहाँ किस रूपमें सामने आती हैं, क्योंकि हमारा मन इसकी धारणा नहीं कर सकता,—और वह यह कहनेको भी तैयार है कि जगत्को

जाननेके लिये हमारे मन और इन्द्रियोंकी विधिके अतिरिक्त अन्य कोई साधन उस अविभाज्यके लिये भी संभव नहीं है।

हमें जो अनुभव करना है और हम जिसकी कुछ हदतक धारणा कर सकते हैं वह वह अखंड दृष्टि और सर्वावधारक दर्शन है जिसके द्वारा अतिमानस कालके अनुक्रमों और देशके विभाजनोंको आलिंगनमें लेता और एकतावद्ध करता है। और प्रथमतः, यदि कालानुक्रमोंका यह तत्त्व न होता, तो कोई परिवर्तन या प्रगति न होती, एक पूर्ण सामंजस्य शाश्वत रूपसे अभिव्यक्त रहता, एक प्रकारके शाश्वत क्षणमें वह अन्य सामंजस्योंके साथ समसामयिक रहता, भूतसे भविष्यकी ओर होनेवाली गतिके परवर्ती क्रममें न आता। इसके स्थानपर हमें एक विकसित होते सामंजस्यकी सतत क्रम-धारा मिलती है, जिसमें अपने पूर्वगामी सुरसे भिन्न सुर निकलता है जो अपने अन्दर उसको छिपाये होता है जिसके स्थानपर वह आया है। या, यदि आत्माभिव्यक्ति विभाज्य देशके तत्त्व-के विना अस्तित्व रखती, तो रूपोंका कोई परिवर्तनशील संबंध या शक्तियोंका पारस्परिक घात-प्रतिघात न होता,—सव-कुछका अस्तित्व तो रहता किन्तु वह क्रियान्वित न होता,—एक देशातीत, सम्पूर्णतया विषयी-गत आत्म-चेतना एक अनंत विषयीगत पकड़में समस्त वस्तुओंको समाये रहती। यह ऐसी अवस्था होती जैसी कि वैश्व कवि या स्वप्न-द्रष्टाके मनमें रहती है, किन्तु वह चेतना अपने-आपको एक अनिर्दिष्ट विषय-गत आत्म-विस्तारके अन्दर सवके द्वारा वितरित न कर पाती। या फिर, यदि एकमात्र काल ही यथार्थ होता, तो उसकी क्रमधारा एक ऐसा शुद्ध विकास होती जिसमें संगीतकी स्वर-माला या काव्य-रूपकोंके क्रमकी भाँति एक विषयीगत उन्मुक्त नैसर्गिकतामेंसे क्रमशः एकके वाद दूसरा स्वर निकलता जाता। इसके स्थानपर हमें कालके द्वारा रूप और शक्तिके तत्त्वोंसे क्रियान्वित होता हुआ सामंजस्य मिलता है जो एक सर्वाधार देशीय विस्तारमें एक-दूसरेसे संवद्ध रहते हैं, हमें विश्व-जीवनका जो दर्शन होता है उसमें वस्तुओं और घटनाओंकी शक्तियों और रूपों-का एक सतत अनुक्रम चलता रहता है।

काल और देशके इस क्षेत्रमें विभिन्न शक्यताएं मूर्त होतीं, स्थान पातीं और संबंधित रहती हैं, प्रत्येककी अपनी शक्तियाँ और संभावनाएँ होती हैं जो अन्य शक्तियों और संभावनाओंका सामना करती हैं, और परिणामस्वरूप कालके अनुक्रम मनके सामने इस भाँति प्रकट होते हैं मानों वस्तुएँ एक स्वतःस्फूर्त अनुक्रममें नहीं, वल्कि आघात और संघर्षके द्वारा क्रियान्वित हो

रही हैं। वास्तवमें वस्तुएँ अन्दरसे स्वतःस्फूर्त रूपसे क्रियान्वित होती हैं और बाह्य आघात और संघर्ष इस क्रिया-विस्तरणका बाह्य दृश्य मात्र हैं। क्योंकि, अखंड और समग्रका आंतरिक और अंतर्निहित विधान, जो अनिवार्यतः एक सामंजस्य होता है, टकराते दीखनेवाले अंगों या रूपोंके बाह्य और प्रक्रियात्मक विधानोंको अनुशासित करता है, और सामंजस्यका यह श्रेष्ठतर और गम्भीरतर सत्य अतिमानसिक दृष्टिके लिये सदैव विद्यमान रहता है। चूँकि मन प्रत्येक वस्तुपर उसके पृथक् रूपमें विचार करता है, अतः उसकी दृष्टिमें जो असंगति दीखती है वह अतिमानसके लिये एक सामान्य नित्य-विद्यमान और नित्य-विकासमान सामंजस्यका तत्त्व होती है, क्योंकि अतिमानस समस्त वस्तुओंको एक बहुत्वमय एकत्वमें देखता है। इसके अतिरिक्त, मन एक निर्दिष्ट काल और देशको ही देखता है, उस काल और देशमें उसे बहुत सारी संभावनाएँ अस्तव्यस्त अवस्थामें दीखती हैं, वे सारी सभावनाएँ न्यूनाधिक रूपमें साध्य दीखती हैं, किन्तु दिव्य अतिमानस काल और देशके सारे विस्तारको देखता है और वह मनकी सारी संभावनाओंका और मनके लिये अदृश्य रहनेवाली बहुत सारी अन्य संभावनाओंका भी समालिंगन कर सकता है, किन्तु वह कोई भूल नहीं करता, उसे टटोलना नही पड़ता, उसे संभ्रम नहीं होता, क्योंकि वह हर शक्यताको उसकी अपनी शक्तिमें, स्वरूप-नियति में और अन्योंके साथ उसके सही संबंधमें देखता है और उसकी क्रमिक और अन्तिम दोनों संसिद्धियोंके काल, स्थान और परिस्थितिको देखता है। वस्तुओंको अविचलतासे देखना और उनके समग्र रूपमें देखना मनके लिये संभव नहीं है, किन्तु तुरीय अतिमानसका तो यह स्वभाव ही है।

यह अतिमानस अपनी चिन्मयी दृष्टिमें केवल अपने-आपके उन सारे रूपोंको ही समाविष्ट नहीं करता जिनकी सृष्टि उसकी चित्-शक्ति करती है, प्रत्युत, वह उनमें अंतर्निवासिनी विद्यमानता और आत्म-उद्भासिका ज्योतिके रूपमें व्याप्त रहता है। भले ही प्रच्छन्न रूपमें, किंतु वह विश्वके प्रत्येक रूप और शक्तिमें विद्यमान रहता है। वही प्रभुत्वके साथ और नैसर्गिक रीतिसे रूप, शक्ति और क्रियाको निर्धारित करता है; वह जिन वैचित्र्योंको प्रेषित करता है उन्हें सीमित भी करता है; वह जिस ऊर्जाका उपयोग करता है उसे एकत्रित, वितरित और परिवर्तित भी करता है; और यह सब उन प्रथम धर्मोंके[1] अनुसार किया जाता है जिन्हें उसके आत्मज्ञानने

---

1 यह वैदिक वर्णन है। देवता प्रथम धर्मोंके अनुसार कार्य करते हैं, जो आद्य और अतः परम हैं, जो वस्तुओंके सत्यके धर्म हैं।

रूपके उत्पत्ति-क्षणमें ही शक्तिके आरंभिक विन्दुपर ही निर्धारित किया था। वह सर्व भूतोंके मर्ममें स्थित प्रभुकी भाँति प्रत्येक वस्तुमें आसीन हैं, वह अपनी माया-शक्तिसे उन्हें मानो यंत्रारूढ़ घुमाता रहता है[2]। वह उनके अन्दर है और उनका आलिंगन करता है, उस दिव्य द्रष्टाकी भाँति जिसने सनातन कालसे वस्तुओंको विविधता से, प्रत्येकको उसके स्वधर्मके अनुसार ठीक-ठीक व्यवस्थित और आयोजित किया है।[3]

अतः, प्रकृतिकी प्रत्येक वस्तु, चाहे सजीव हो या निर्जीव, चाहे वह मनतः आत्म-सचेतन हो या आत्म-सचेतन न हो, अपनी सत्ता और अपनी क्रियाओंमें एक अंतर्निवासी दृष्टि और शक्तिके द्वारा शासित होती है, जो हमारे लिये अवचेतन या निश्चेतन भले ही हो क्योंकि हम उसके प्रति सचेतन नहीं होते, किन्तु अपने-आपके लिये निश्चेतन नहीं होती, वल्कि गम्भीर और विश्व-व्यापी रूपसे सचेतन होती है। अतएव प्रत्येक वस्तु वुद्धिके कार्य करती प्रतीत होती है, भले ही उसे वुद्धि प्राप्त न हो, क्योंकि वह अपने अन्दरके दिव्य अतिमानसके सत्-भावका अनुसरण, वनस्पतियों और पशुओंकी नाईं अवचेतन रूपमें या मनुष्योंकी नाईं अर्धचेतन रूपमें, करती है। परन्तु यह मनोमय वुद्धि नहीं है जो समस्त वस्तुओंको अनुगर्भित और संचालित करती हो, यह कार्य सत्ताके एक आत्म-संविन्मय सत्यका है जिसमें आत्म-ज्ञान आत्म-सत्तासे अवियोज्य रहता है; यह वह ऋत-चित् है जिसे वस्तुओंके वारेमें सोच-विचार नहीं करना होता, वरन् जो उन्हें एक और एकमात्र आत्म-परिपूर्तिकारी सत्की निर्दोष आत्म-दृष्टि और अनिवार्य शक्तिके अनुसार ज्ञानके साथ कार्यान्वित करता है। मनोमय वुद्धि विचार करती है, क्योंकि वह चेतनाकी एक प्रतिविंवक शक्ति मात्र है, जो जानती नहीं, किन्तु जानना चाहती है; वह कालमें अपनेसे ऊँचे ज्ञानकी क्रियाका क्रमशः अनुसरण करती है, यह उच्चतर ज्ञान नित्य, एक और अखण्ड है, वह कालको अपनी पकड़में रखता है, एक ही दृष्टिमें भूत, वर्तमान और भविष्यको देखता है।

तो यह है दिव्य अतिमानसका प्रथम क्रियाशील तत्त्व; यह एक वैश्व दृष्टि है,—सर्वाविधारक, सर्वव्यापी, सर्वाधिवासी। चूँकि यह दृष्टि समस्त वस्तुओंको सत्तामें और प्रत्यक्, देशातीत, कालातीत, निश्चल आत्म-संवित्में समाविष्ट करती है, अतः वह समस्त वस्तुओंको क्रियात्मक ज्ञानमें समाविष्ट करती और देश तथा कालमें उनके विषयगत आत्म-देहधारणको शासित करती है।

---

2 गीता 18-61

3 ईशा०—8, कविर्मनीषी परिभूःस्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।

इस चेतनामें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय भिन्न-भिन्न सत्ताएँ नहीं, वरन् मूलतः एक हैं। हमारी मानसिकता इन तीनोंमें भेद करती है क्योंकि वह भेद किये विना आगे नहीं वढ़ सकती। वह अपने उचित साधन और क्रियाका मौलिक विधान खोकर गतिहीन और निष्क्रिय हो जाती है। अतः जब मैं अपने-आपको मनके द्वारा देखता हूँ तब भी मुझे यह भेद करना पड़ता है। ज्ञाताके रूपमें मैं हूँ; मैं अपने-आपके अन्दर जो देखता हूँ, उसे अपने ज्ञानका विषय, उसे अपना 'स्व' और फिर भी अपने 'स्व' से भिन्न मानता हूँ; और ज्ञान वह क्रिया है जिसके द्वारा मैं ज्ञाताको ज्ञातसे संवद्ध करता हूँ। किन्तु इस क्रियाकी कृत्रिमता, इसका विशुद्ध व्यावहारिक और उपयोगात्मक स्वरूप प्रत्यक्ष है, यह स्पष्ट है कि वह वस्तुओंका मौलिक सत्य नहीं है। यथार्थतः ज्ञाता रूपमें मैं वही चेतना हूँ जो जानती है; वही चेतना, मेरा स्व, क्रियमाण रूपमें ज्ञान है; जो ज्ञेय है वह भी मेरा ही स्व है, उसी चेतनाका एक रूप या उसकी गति है। ये तीनों स्पष्टतः एक ही सत्ता, एक ही गति हैं। वह सत्ता, वह गति अविभाज्य हैं, यद्यपि विभक्त प्रतीत होती हैं, वे अपने रूपोंमें वितरित नहीं हैं यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने-आपको वितरित किया है और प्रत्येकके अन्दर पृथक्-पृथक् मौजूद हैं। तथापि, यह ऐसा ज्ञान है जहाँ मन पहुँच तो सकता है, उसके वारेमें मीमांसा कर सकता है और उसे अनुभव कर सकता है, किन्तु आसानी से उसे अपनी बौद्धिक क्रियाओंका व्यावहारिक आधार नहीं वना सकता। और, चेतनाके जिस रूपको मैं अपना स्व कहता हूँ उससे वाहर रहनेवाले विषयोंके संबंधमें कठिनाई लगभग असाध्य हो जाती है; उस क्षेत्रमें एकत्वका अनुभव करनेमें ही एक असाधारण प्रयास होता है, और उस भावको वनाये रखना, सदा उसके आधारपर क्रिया करना तो मनके लिए एक नवीन और विजातीय कर्म होगा जो उसका स्वधर्म नहीं है। मन अधिक-से-अधिक यह कर सकता है कि इस एकत्वको वह किसी समझे हुए सत्यके रूपमें सँजोये रखे ताकि उसके द्वारा अपनी निजकी अव भी विभाजनपर आश्रित रहनेवाली सामान्य क्रियाशीलताओंकी भूलोंको सुधार सके और उन्हें आपरिवर्तित कर सके; जैसे कि वौद्धिक रूपसे हम जानते हैं कि पृथ्वी सूर्यकी परिक्रमा करती है और इस ज्ञानसे हम इस कृत्रिम और स्थूलतः व्यावहारिक आयोजनकी भूलको सुधार तो पाते हैं किन्तु विनष्ट नहीं कर पाते जिसके द्वारा हमारी इन्द्रियाँ यह माननेका हठ करती हैं कि सूर्य ही पृथ्वीकी परिक्रमा कर रहा है।

एकत्वका यह सत्य मनके लिए एक गौण या अर्जित गुण है, उसकी दृष्टिका स्वयं स्वरूप-गुण नहीं है, किन्तु यह सत्य अतिमानसके नित्य अविकारमें

रहता है और वह सर्वदा मूलतः इसी सत्यके आधारपर क्रिया करता है। अतिमानस विश्व और उसके आधेयको ज्ञानकी एक अविभाज्य क्रियामें अपने ही रूपमें देखता है, यह क्रिया उसका प्राण है, उसकी आत्म-सत्ताकी गति ही है। अतः इस सर्वविधारक दिव्य चेतनाका 'इच्छा'-रूप वैश्व जीवनके विकासका उतना निर्देशन या शासन नहीं करता जितना कि शक्तिकी क्रियासे उसे अपने अन्दर निष्पन्न करता है। उसकी यह शक्ति-क्रिया ज्ञानकी क्रियासे और आत्म-सत्ताकी गतिसे अविभाज्य है, यथार्थतः वह एक ही और अभिन्न क्रिया है। हम यह देख ही चुके हैं कि विश्व-शक्ति और विश्व-चेतना एक हैं, विश्व-शक्ति विश्व-चेतनाकी क्रिया है। इसी भाँति दिव्य ज्ञान और दिव्य इच्छा एक हैं, वे सत्ताकी वही मौलिक गति या क्रिया हैं।

हमें यदि विश्वको समझना है और अपनी विश्लेषणात्मक मानसताकी प्रारंभिक भूलसे छुटकारा पाना है, तो इस सत्यपर सर्वदा आग्रह रखना होगा कि सर्वविधारक अतिमानस अपने स्व-एकत्वको किसी प्रकार भी कम किये बिना समस्त बहुत्वको धारण किये रहता है और अविभाज्य है। बीजसे वृक्ष विकसित होता है जो कि बीजमें निहित था, और बीज वृक्षसे निकलता है। अभिव्यक्तिके जिस रूपको हम वृक्ष कहते हैं उसके चिरत्वमें एक बँधे नियमका, एक अपरिवर्तनीय प्रक्रियाका राज्य रहता है। इस व्यापारको, वृक्षके इस जन्म, जीवन और पुनरुत्पादनको मन इस रूपमें देखता है जैसे कि वह अपने-आपमें एक वस्तु हो और इसी आधारपर उसका अध्ययन करता है, उसे वर्गीकृत करता है और उसकी व्याख्या करता है। वह बीजके द्वारा वृक्षकी और वृक्षके द्वारा बीजकी व्याख्या करता है; वह प्रकृतिका एक नियम उद्घोषित करता है। किन्तु इस भाँति वह व्याख्या किसीकी भी नहीं कर पाता, केवल एक रहस्यकी प्रक्रियाका विश्लेषण और अंकन भर करता है। यदि यह भी मान लिया जाय कि मनको यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि एक प्रच्छन्न सचेतन शक्ति ही इस रूपका 'आत्मा' है, उसकी यथार्थ सत्ता है और बाकी सब-कुछ उस शक्तिकी एक सुनिश्चित क्रिया और अभिव्यक्ति मात्र है, तब भी उसमें यह माननेकी प्रवृत्ति रहती है कि वह रूप एक पृथक् सत्ता है, उसका अपना पृथक् धर्म है और उसके विकास-की पृथक् प्रक्रिया है। पशुमें और सचेतन मानसतावाले मनुष्यमें मनकी यह पृथक्कारिणी प्रवृत्ति मनसे यह मनवा लेती है कि वह अपने-आपको भी एक पृथक् सत्ताकी भाँति, सचेतन विषयीकी भाँति और अन्य रूपोंको अपनी मानसताके पृथक् विषयोंकी भाँति देखे। यह उपयोगी आयोजन जीवनके लिए और उसके सारे व्यवहारके प्रथम आधारके लिए

आवश्यक है, परंतु, मन उसे एक यथार्थ तथ्यकी नाई स्वीकार कर लेता है और वहींसे अहंकी सारी भूल शुरू होती है।

किन्तु अतिमानस भिन्न प्रकारसे क्रिया करता है। यदि वृक्ष एक पृथक् सत्ता होता तो वृक्ष और उसकी प्रक्रिया वैसे न होते जैसे वे हैं, वास्तवमें उनका अस्तित्व ही न होता। रूप जैसे हैं, वैसे वे विश्व-सत्ताकी शक्तिके कारण हैं, उनका जैसा विकास होता है वह, उस सत्ताके साथ और उसकी अन्य सारी अभिव्यक्तियोंके साथ उनका जो संबंध है, उसके कारण होता है। उनकी प्रकृतिका पृथक् नियम निखिल प्रकृतिके सार्वभौम धर्म और सत्यका विनियोग मात्र है; उनकी विशिष्ट विकासधाराका निर्धारण सामान्य विकासमें उनके स्थानके द्वारा होता है। बीजकी व्याख्या वृक्षसे नहीं होती, न वृक्षकी बीजसे; दोनोंकी व्याख्या होती है विश्वसे, और विश्वकी व्याख्या ईश्वरसे होती है। अतिमानस एक ही साथ बीज और वृक्ष और सभी विषयोंमें व्याप्त रहता और निवास करता है, वह इस महत्तर ज्ञान में निवास करता है जो एक और अविभाज्य है, यद्यपि उसकी अविभाज्यता और एकता शुद्ध अनादि रूपमें न होकर आपरिवर्तित हुई रहती है। इस सर्वविधारक ज्ञानमें सत्ताका कोई स्वतंत्र केन्द्र नहीं है, कोई वैयक्तिक पृथक् अहं नहीं है जैसा हम अपने अंदर देखते हैं; उसकी आत्म-संवित्के लिए समस्त सत्ता एक समव्याप्त विस्तार है, एकतामें अद्वय है, बहुत्वमें अद्वय है, सब परिस्थितियोंमें और सर्वत्र अद्वय है। यहाँ एक और सर्व एक ही अस्तित्व हैं, वैयक्तिक सत्ता सर्व सत्ताओंके साथ और उस एक सत्-पुरुषके साथ अपने तादात्म्यको न तो खोती है और न खो सकती है, क्योंकि वह तादात्म्य अतिमानसिक संबोधमें अंतर्निहित है, अतिमानसिक आत्म-प्रत्ययका एक अंग है।

एकत्वकी इस विस्तीर्ण समतामें सत्-पुरुष विभाजित और विकसित नहीं है, उसका आत्म-विस्तरण समव्याप्त है, अपने विस्तरणमें वह अद्वय रूपमें व्याप्त रहता है, रूपोंके वहुत्वमें वह अद्वय रूपमें निवास करता है, वह सर्वत्र एक साथ ही एक और सम ब्रह्म है। वस्तुतः, काल और देशमें इस सत्-पुरुषके विस्तरण, परिव्याप्ति और अंतर्वासका उस निर्विशेष अद्वयतासे घनिष्ठ संबंध रहता है जहाँसे उसका उद्गम हुआ है, इसका उस परम अविभाज्यके साथ घनिष्ठ संबंध है जिसमें न कोई केन्द्र है, न कोई परिधि, प्रत्युत केवल कालातीत और देशातीत एकमेवाद्वितीय है। अविस्तृत ब्रह्ममें एकत्वका जो घनीभूत संहरण है वह विस्तरणमें अवश्य ही इस समव्याप्त संकेन्द्रण, समस्त वस्तुओंके इस अविभाज्य ज्ञान, इस अविभक्त विश्वानुस्यूति, इस एकत्व द्वारा अनूदित होगा जिसे वहुत्वकी कोई भी

क्रीड़ा न तो नष्ट कर सकती है, न क्षीण। "ब्रह्म सब वस्तुओंमें है, सब वस्तुएँ ब्रह्ममें हैं, सब वस्तुएं ब्रह्म हैं", यह सर्वविधारक अतिमानसका त्रिसूत्र है, यह आत्माभिव्यक्तिके तीन पक्षोंवाला मात्र एक सत्य है, इन्हें वह अपनी आत्म-दृष्टिमें मूलभूत ज्ञानरूपमें एकत्र और अपृथक्य रूपसे रखता है जहाँसे वह विश्वलीलाकी ओर अग्रसर होता है।

किंतु, मानसताका मूल क्या है? और, मन, प्राण और जड़के त्रिविध तत्त्वोंमें इस निम्नतर चेतनाका जो संगठन हमारी दृष्टिमें विश्व है, उसका मूल क्या है? चूँकि यह आवश्यक है कि जिन वस्तुओंका अस्तित्व है, वे सारीकी सारी, सर्वसमर्थ अतिमानसकी क्रियासे, सत्, चित्-शक्ति एवं आनंदके तीन आदि तत्त्वोंमें होती अतिमानसकी क्रियासे उद्गत हुई हों, अतः स्रष्टा ऋत-चेतनाकी कोई क्षमता होगी ही जो इस भाँति क्रिया करती है कि वे इन नये तत्त्वोंमें, मानसता, प्राण-सत्ता और जड़धातुकी निम्नतर त्रिमूर्तिमें ढल जाते हैं। इस क्षमताको हम स्रष्टा ज्ञानकी एक गौण शक्ति में पाते हैं, उसकी प्रक्षिप्त होती, सामने जाती, प्रज्ञान-चेतनाकी शक्तिमें पाते हैं, जिसमें ज्ञान अपने-आपको संकेन्द्रित करता है और अपने कार्योंको देखने के लिये उनसे पीछे हटकर खड़ा होता है। और हम जब केन्द्रीयकरणकी बात कहते हैं तो हमारा अभिप्राय, हमने अबतक चेतनाके जिस समव्याप्त संकेन्द्रणकी बात कही है उससे भिन्न एक असमान संकेन्द्रणसे रहता है, जिसमें आत्म-विभाजनका—या उसके व्यावहारिक रूपका—आरंभ होता है।

सर्वप्रथम, ज्ञाता अपने-आपको ज्ञानके अन्दर विषयीके रूपमें संहृत रखता है और अपनी चेतनाकी शक्तिको इस भाँति देखता है मानो वह निरन्तर उससे उद्गत होकर उसके अपने-आपके रूपमें जाती रहती हो, निरन्तर उसमें क्रिया करती रहती हो, निरन्तर उसमें वापस आती रहती हो, और फिर निरन्तर निःसृत होती जाती हो। आत्म-आपरिवर्तनकी इस एकमात्र क्रियासे सारे व्यावहारिक विभेद उद्गत होते हैं जिनपर विश्वकी सापेक्षिक दृष्टि और सापेक्षिक क्रिया आधारित हैं। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयके बीच, परमेश्वर, उनकी शक्ति और उस शक्तिकी संतानों और क्रियाओंके बीच, भोक्ता, भोग और भोग्यके बीच, ब्रह्म, माया और ब्रह्मकी संभूतियोंके बीच एक व्यावहारिक भेदकी रचना की गई है।

द्वितीयतः, ज्ञानमें समाहित यह चिन्मय पुरुष, अपने अन्दरसे निःसृत शक्ति (अपनी शक्ति)का या अपनी प्रकृतिका निरीक्षण और शासन करता हुआ यह पुरुष अपने-आपको अपने प्रत्येक रूपमें दुहराता रहता है। वह मानों अपनी चेतनाकी शक्तिके कर्मोंमें उसके संग-संग जाता है और वहाँ

आत्म-विभाजनकी क्रियाकी पुनरुत्पत्ति करता है जिससे इस प्रज्ञान-चेतनाका जन्म होता है। यह पुरुष प्रत्येक रूपके अन्दर अपनी प्रकृतिके साथ रहता है और चेतनाके उस कृत्रिम और व्यावहारिक केन्द्रसे अपनेको अन्य रूपोंमें देखता है। सबके अन्दर वही आत्मा है, वही दिव्य पुरुष है; केन्द्रोंका बहुगुणन चेतनाकी एक व्यावहारिक क्रियामात्र है जिसका अभिप्राय है विभिन्नताकी, पारस्परिकताकी, पारस्परिक ज्ञानकी, शक्तिके पारस्परिक आघातकी, पारस्परिक भोगकी क्रीड़ाका समारंभ करना; ऐसी विभिन्नताकी, जो स्वरूपगत एकतापर आधारित है और वह एकता ऐसी है जो विभिन्नता के एक व्यावहारिक आधारपर रूपायित होती है।

सर्वव्यापी अतिमानसकी इस नयी स्थितिके संबंधमें हम कह सकते हैं कि यह वस्तुओंके एकात्मक सत्यसे और उस अविभाज्य चेतनासे एक अभिनव प्रच्युति होती है जो विश्व-सत्ताके स्वभावभूत एकत्वको अक्षर रूपसे निर्मित करती है। हम देख सकते हैं कि थोड़ा आगे बढ़नेपर वह वस्तुतः वह महान अज्ञानरूपी अविद्या बन सकती है जो बहुत्वको मूलभूत सद्वस्तु मानकर आरंभ करती है और जिसे सच्चे एकत्वतक वापस जानेकी यात्रा करनेके लिए अहंके मिथ्या एकत्वसे प्रारंभ करना पड़ता है। हम यह भी देख सकते हैं कि यदि एक बार वैयक्तिक केन्द्रको निर्धारक अधिष्ठान-बिन्दुके रूपमें, ज्ञाताके रूपमें स्वीकार कर लिया जाय, तो मानसिक संवेदन, मानसिक बुद्धि और मनकी इच्छा-क्रिया और उसके परिणाम आये बिना नहीं रह सकते। किन्तु हमें यह भी देखना है कि जबतक पुरुष अतिमानसमें क्रिया करता है तब तक अविद्याका आरंभ नहीं होता; तबतक ऋत-चित् ही ज्ञान और कर्मका क्षेत्र रहता है, तबतक एकत्व ही आधार रहता है।

क्योंकि, ब्रह्म अभी तक अपने-आपको इस रूपमें देखता है कि वह सबके अन्दर अद्वय-रूप है और सारी वस्तुओंको वह अपने अन्दर और अपनी संभूतियोंकी तरह देखता है। ईश्वर अभीतक अपनी शक्तिको इस रूपमें जानता है कि वह स्वयं ही क्रियमाण है, और सर्व भूतोंमें प्रत्येकको वह इस भाँति जानता है कि उसके अंतरात्मा-रूपमें स्वयं वह है और बाह्य रूपमें भी स्वयं वह है। तबतक परम भोक्ता ही अपनी सत्ताका भोग कर रहा होता है, भले ही बहुत्वके अन्दर। एक यथार्थ परिवर्तन, जो कि हो चुकता है, वह है चेतनाके संकेन्द्रणमें एक विषमता और शक्तिका बहुविध वितरण। चेतनामें एक व्यावहारिक भेद तो आ गया है, किन्तु चेतनाका कोई स्वरूप-भूत विभेद नहीं हुआ है, न उसकी अपनी दृष्टिमें कोई सच्चा विभाजन आया है। ऋत-चित् एक ऐसी स्थितिपर आ गया है जो हमारी मानसताको

तैयार तो करती है, किन्तु अबतक हमारी मानसताकी नहीं हुई है। और, यदि हमें मनको उसके उद्गम-स्थानपर, उस बिन्दुपर पकड़ना है जहाँ उसका ऋत-चित्की उच्च और वृहत् विशालतासे महा पतन होता है और वह विभाजन और अविद्यामें जा पड़ता है, तो हमें इसीका अध्ययन करना चाहिये। जिस सुदूरतर सिद्धिको हम बुद्धिकी अपनी अपर्याप्त भाषामें व्यक्त करनेका अबतक उद्यम करते रहे हैं, उसकी अपेक्षा, सौभाग्यवश, यह प्रज्ञान-चेतना हमारे समीप है, हमारी मानसिक क्रियाओंकी पूर्व-छाया है, और इस कारण हमारी पकड़के लिये बहुत अधिक आसान है। इसके बीच जो व्यवधान पार करना है वह कम विकट है।

अध्याय सोलह

अतिमानसकी त्रिपुटी

भूतभृत्.....ममात्मा भूतभावनः ।
अहमात्मा.....सर्वभूताशयस्थितः ।

मेरा आत्मा वह है जो भूतभृत (सर्व भूतोंका भर्ता) और भूत-भावन (उनके अस्तित्वका उपादान) है......मैं वह आत्मा हूँ जो सर्व भूतोंके अंदर स्थित है।

—गीता 9. 5, 10. 20

त्र्यर्यमा.......त्री रोचना दिव्या धारयन्त ।

ज्योतिकी तीन शक्तियाँ तीन दिव्य लोकोंको धारण करती हैं।
—ऋग्वेद 5. 29. 1

जिस जगत्में हम निवास करते हैं उसे प्रज्ञान-चेतनाके दृष्टिकोणसे,—जो चेतना कि वस्तुओंको इस भाँति देखती है जैसे मनकी सीमाओंसे मुक्त और दिव्य अतिमानसकी क्रियामें भाग लेनेका अधिकारी वैयक्तिक जीव देखेगा,—अधिक आसानीसे समझनेकी कोशिश करनेसे पहले हमें थोड़ा रुकना चाहिए और संक्षेपमें उस अनुभवको दुहरा लेना चाहिये जिसे हमने भगवान्के, आत्मसत्ताके आद्य घनीभूत एकत्वमेंसे अपनी मायाद्वारा जगत्-सृष्टि करनेवाले, ईश्वर-रूपकी चेतनाके बारेमें प्राप्त किया है और अब भी कर सकते हैं।

हम इस दृढ़ोक्तिको लेकर चले हैं कि निखिल अस्तित्व एक अखंड सन्मात्र है जिसका स्वरूप है चेतना, वह अद्वय चेतना जिसका स्वधर्म है शक्ति या इच्छा, और यह सन्मात्र आनन्द है, यह चेतना आनन्द है, यह शक्ति या इच्छा भी आनंद है। सत्ताका शाश्वत और अविच्छेद्य आनंद, चेतनाका आनंद, शक्ति या इच्छाका आनंद, वह चाहे अपने अन्दर घनीभूत और विश्रामावस्थामें हो, या सक्रिय और सृजनात्मक हो, वह ईश्वर ही है और वही हमारी प्रतिभास-निर्मुक्त सत्तामें हमारा आत्म-स्वरूप

है। आत्म-समाहित अवस्थामें वह शाश्वत एवं अक्षर स्वरूपानंदका स्वामी है, वल्कि वह स्वयं वही आनंद है; सक्रिय और सृजनात्मक रूपमें वह सत्ताकी क्रीड़ाके आनंदका, चेतनाकी क्रीड़ाके आनन्दका, शक्ति और इच्छाकी लीलाके आनन्दका स्वामी होता है, वल्कि वह स्वयं ही वह आनंद हो जाता है। वह लीला ही विश्व है और वह आनंद ही विश्व-सत्ताका एकमात्र कारण, प्रवर्तक और उद्देश्य है। भागवत चेतना शाश्वत और अक्षर रूपसे उस लीला तथा आनंदकी स्वामिनी होती है; हमारी सार सत्ता, हमारा यथार्थ आत्मा जो मिथ्या आत्मा या मनोमय अहंके द्वारा प्रच्छन्न है, वह भी उस लीला और उस आनंदका भोग शाश्वत और अविच्छेद्य रूपसे करता है और चूँकि उसकी सत्ता भागवत चेतनाके साथ एक है, इसलिये इससे भिन्न कुछ वह कर भी नहीं सकता। अतः, यदि हम दिव्य जीवनकी अभीप्सा करते हैं तो उसकी प्राप्तिका मार्ग इससे भिन्न नहीं हो सकता कि हम अपने अंदर आवृत इस आत्माको अनावृत करें, मिथ्या आत्मा या मनोमय अहंगत अपनी वर्तमान स्थितिसे ऊपर उठकर सच्चे आत्माकी उच्चतर स्थितिमें प्रवेश करें, भागवत चेतनाके संग एकत्वमें प्रवेश करें जिसका भोग हमारे अंदर कोई अतिचेतन वस्तु सदैव करती है,—अन्यथा हमारा अस्तित्व ही नहीं रह सकता था,—किंतु जिससे हमारी सचेतन मानसताने अपने-आपको वंचित कर रखा है।

किंतु हम जब इस भाँति एक ओर सच्चिदानंदके इस एकत्वका, और दूसरी ओर, इस विभाजित मानसताका प्रतिपादन करते हैं तो हम दो विरोधी सत्ताएँ स्थापित करते हैं, जिनमेंसे एक सत्य मानी जाय तो दूसरी अवश्य ही असत्य होगी, जिनमेंसे एकका भोग करना हो तो दूसरीको अवश्य विनष्ट करना होगा। तथापि, पृथ्वीपर हमारा अस्तित्व मनमें और उसके प्राण तथा शरीर-रूपमें ही होता है, और यदि उस अखंड सत्, चित् और आनंदतक पहुँचनेके लिए हमें मन, प्राण और शरीरकी चेतनाको अवश्यमेव विनष्ट करना होता हो, तो पृथ्वीपर दिव्य जीवनका होना असंभव हो जाता है। तव पुनः तुरीय हो जानेके लिए या उसका भोग करनेके लिए हमें विश्व-जीवनको भ्रम कहकर उसका पूर्ण परित्याग कर देना होगा। इस समाधानसे तव तक नहीं वचा जा सकता जवतक कि इन दोनोंके वीच कोई ऐसी मध्यवर्ती कड़ी न मिल जाय जो दोनोंको एक-दूसरेका विवरण दे और उनके वीच ऐसा संवंध स्थापित कर दे जो हमारे लिए मन, प्राण और शरीरके सांचेमें उस एक सत्, चित् और आनंदको उपलव्ध करना संभव वना दे।

और, मध्यवर्ती कड़ी है भी। हम इसे अतिमानस या ऋत-चित् कहते हैं, क्योंकि वह मनसे श्रेष्ठतर तत्त्व है और वह मनकी भाँति वस्तुओंके प्रतीयमान रूपों और प्रातिभासिक विभाजनोंमें नहीं, प्रत्युत वस्तुओंके मूलगत सत्य और एकत्वमें रहता, कार्य करता और आगे बढ़ता है। हमने जिस आधारसे आरंभ किया है, अतिमानसका अस्तित्व उससे सीधे उद्‌गत होनेवाला युक्तियुक्त अनिवार्य परिणाम है। क्योंकि, सच्चिदानंद अपने स्वरूपमें अवश्य ही चिन्मय अस्तित्वका वह देश-कालातीत निर्विशेष होगा जो कि आनंद है, किन्तु इसके विपरीत, जगत् तो काल और देशमें एक विस्तरण है, काल और देशमें कारणताके द्वारा संबंधों और संभावनाओंकी गति, चरितार्थता और विकास है, या यूँ कहें कि हमें ऐसा प्रतीत होता है। इस कारणताका सच्चा नाम है ऋत या दिव्य विधान और उस विधानका सार है वस्तुके सत्यका एक अनिवार्य आत्म-विकास, जो सत्य कि, जो कुछ भी विकसित हुआ है, उसके स्वयं सारतत्त्वमें भाव-रूपसे विद्यमान है, यह अनंत संभावनाके उपादानमेंसे रचित सापेक्षिक गतियोंका पूर्व-निश्चित निर्धारण है। निखिल वस्तुओंका इस प्रकार विकास करना अवश्य ही ज्ञानात्मिका इच्छा या चित्-शक्तिका काम होना चाहिये, क्योंकि विश्वकी सारी अभिव्यक्ति चित्-शक्तिकी एक लीला है जो सत्ताका स्व-भाव है। किंतु जो ज्ञानात्मिका इच्छा विकसित हो रही है वह मानसिक नहीं हो सकती, क्योंकि मन इस विधानको न तो जानता है, न मन उसका स्वामी या शासक है, प्रत्युत वह उसके द्वारा शासित होता है, उसके परिणामोंमेंसे एक परिणाम होता है, आत्मविकासके प्रतिभासमें घूमता रहता है, किंतु उसके मूल तक नहीं जाता, वह विकासके परिणामोंको विभाजित वस्तुओंके रूपमें देखता है और उनके मूल तथा सत्यता तक पहुँचनेका व्यर्थ उद्योग करता है। तथापि, इस ज्ञानात्मिका इच्छाको, जो सबका विकास करती है, अवश्य ही इन वस्तुओंके एकत्वपर अधिकार होगा और वह उसीमेंसे वस्तुओंके बहुत्वको अभिव्यक्त करती होगी; किंतु यह एकत्व मनके अधिकारमें नहीं होता, मनको तो बहुत्वके किसी अंगपर एक अपूर्ण अधिकार ही प्राप्त होता है।

अतः मनसे श्रेष्ठतर कोई तत्त्व अवश्य होना चाहिये जो वे शर्तें पूरी करता हो जिनमें मन असफल हो जाता है। निस्संदेह, स्वयं सच्चिदानंद ही यह तत्त्व है, किन्तु वह सच्चिदानंद नहीं जो अपनी शुद्ध अनंत अपरिवर्तनशील चेतनामें अवस्थित है, वरन् वह सच्चिदानंद, जो इस आद्या स्थितिसे चलकर, बल्कि उसीको आधार बनाकर उसपर, और आधेय

बनकर उसमें, ऐसी गतिके अंदर आ जाता है जो उसकी ऊर्जाका रूप और विश्व-सृष्टिका उपकरण होती है। चेतना और शक्ति सत्ताके शुद्ध वीर्यके युगल स्वरूपभूत पक्ष हैं, अतः ज्ञान और इच्छा अवश्य ही वह रूप होंगे जिसे वह वीर्य काल और देशके विस्तारमें संबंधोंके जगत्की सृष्टि करते हुए धारण करता है। यह ज्ञान और यह इच्छा अवश्य ही अद्वय, अनंत, सर्वालिंगनकारी, सर्व-अधिगतकारी, सर्व-रूपायणकारी होनी चाहिये, वह अपने अंदर उस तत्त्वको शाश्वत रूपसे धारण किये होगी जिसे वह गति और रूपमें ढालती है। तो, अतिमानस एक निर्धारक आत्म-ज्ञानमें निर्गत होनेवाला सत्-पुरुष है, जो अपने कुछ सत्योंको देखता है और उन्हें अपनी ही कालातीत और देशातीत सत्ताके कालगत और देशगत विस्तारोंमें चरितार्थ करनेकी इच्छा करता है। जो कुछ भी उसकी अपनी सत्तामें है वह आत्मज्ञानका, ऋत-चित्का, सत्-भावका रूप लेता है, और चूंकि वह आत्म-ज्ञान आत्म-शक्ति भी है, अतएव वह अनिवार्य रूपसे अपने-आपको काल और देशमें निष्पन्न या चरितार्थ करता है।

यही दिव्य चेतनाके स्वरूपका परिचय है। वह चेतना सारी वस्तुओंका सर्जन अपनी चित्-शक्तिकी क्रियाके द्वारा अपने अन्दर करती है। उनके विकासको वह चेतना शासित करती है आत्म-विवर्तनके द्वारा, सत्ताके सत्यमें अन्तर्निहित ज्ञानात्मिका इच्छा या सत्-भावसे, जिसने कि उन वस्तुओंको रचा है। जो सत् इस भाँति सचेतन है उसे हम ईश्वर कहते हैं और यह स्पष्ट है कि उस ईश्वरको सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान होना चाहिये। सर्वव्यापक, क्योंकि सभी रूप उसीकी चित्-सत्ताके रूप हैं जिन्हें उसीकी गतिकी शक्तिने देश और काल-रूपमें विस्तीर्ण होते हुए सृष्ट किया है; सर्वज्ञ, क्योंकि सारी वस्तुएँ उसकी चित्-सत्ताके अंदर विद्यमान हैं, उसके द्वारा रूपायित होती हैं और उसीके अधीन रहती हैं; सर्वशक्तिमान्, क्योंकि यह सर्वाधिपति चेतना एक सर्वाधिपति शक्ति भी है और सबके अन्दर प्रवहमान इच्छा भी। और, इस इच्छा तथा ज्ञानमें आपसमें विरोध भी नहीं है जैसे कि हमारी इच्छा और ज्ञान आपसमें लड़नेमें समर्थ रहते हैं, क्योंकि वे भिन्न-भिन्न नहीं हैं, वरन् उसी सत्ताकी अभिन्न गति हैं। न ही उनका प्रतिवाद अन्दर या बाहरकी किसी अन्य इच्छा, शक्ति या चेतनाके द्वारा हो सकता है; क्योंकि उस एकमेवाद्वितीयके बाहर कोई चेतना या शक्ति नहीं है, और अन्दरकी सारी ऊर्जाएँ और ज्ञानकी रचनाएँ उससे भिन्न नहीं हैं, बल्कि उस एक सर्व-निर्धारिका इच्छा और उस एक सर्व-सामंजस्यकारी ज्ञानकी लीला मात्र हैं। हम जिसे इच्छा और

शक्तियोंके संघर्ष-रूपमें देखते हैं, क्योंकि हम विशेष और विभक्तमें निवास करते हैं और समग्रको नहीं देख पाते, उसे अतिमानस एक पूर्वनिर्धारित सामंजस्यके तत्त्वोंके समवाय-रूपमें देखता है, यह सामंजस्य उसके लिए सदा वर्तमान रहता है, क्योंकि वस्तुओंकी समग्रता शाश्वत रूपसे उसकी दृष्टि के अधीन रहती है।

दिव्य चेतनाकी क्रिया चाहे जो स्थिति या रूप ले उसका स्वरूप सर्वदा यही रहेगा। किंतु, चूँकि उसकी सत्ता अपने तईं निर्विशेष है; उसकी सत्ताकी शक्ति भी अपने विस्तारमें निर्विशेष है, इसलिये वह क्रियाकी किसी एक स्थिति या एक रूपसे बंधी हुई नहीं है। हम, मानव-प्राणी, प्राति-भासिक रूपसे काल और देशके अधीन, चेतनाके एक विशिष्ट रूप हैं, और अपनी जिस ऊपरी चेतनाको हम अपने सम्पूर्ण स्वके रूपमें जानते हैं उसमें हम एक समयमें एक ही वस्तु, एक ही रूपायण, सत्ताकी एक ही स्थिति, अनुभवकी एक ही समष्टि हो सकते हैं; और वही एक वस्तु हमारे लिए, हमारे स्वका वह सत्य होती है जिसे हम स्वीकार करते हैं; बाकी सब कुछ या तो सत्य नहीं है या सत्य नहीं रह गया है क्योंकि वह भूतकालमें जाता हुआ हमारी दृष्टिसे विलीन हो चुका है, या वह अभी तक सत्य नहीं हुआ है क्योंकि वह भविष्यमें प्रतीक्षा कर रहा है और अभी तक हमारी दृष्टिमें नहीं आया है। किन्तु दिव्य चेतना इस भाँति किसी विशेष ढाँचेके अंदर बँधी नहीं है, न वह इस भाँति सीमित ही है, वह एक ही समय बहुत सारी वस्तुएँ हो सकती है और चिरकालके लिए भी एकसे अधिक स्थायी स्थितियाँ अपना सकती है। हम देखते हैं कि स्वयं अतिमानसके तत्त्वमें उसकी जगत्-संस्थापिका चेतनाकी तीन सामान्य स्थितियाँ या तीन सत्र होते हैं। प्रथम स्थिति वस्तुओंके अविच्छेद्य एकत्वको आधार देती है, दूसरी उस एकत्वको इस प्रकार आपरिवर्तित करती है कि एकमें वहु और वहुमें एककी अभिव्यक्तिको अवलंब प्राप्त होता है; तीसरी उसे इस भाँति और आपरिवर्तित करती है कि नानाविध व्यष्टिके विकासक्रमको अवलंब प्राप्त होता है, यह व्यष्टि ही अविद्याकी क्रियाके द्वारा निम्नतर स्तरपर, हमारे अंदर पृथक् अहंका भ्रम वन जाती है।

हम देख चुके हैं कि अतिमानसकी जो प्रथम और आरंभिक स्थिति वस्तुओंके अविच्छेद्य एकत्वको प्रस्थापित करती है उसका स्वरूप क्या है। वह शुद्ध अद्वैत चेतना नहीं है, क्योंकि वह चेतना सच्चिदानंदकी अपने-आपके अन्दर एक कालातीत और देशातीत संहृत अवस्था है, जिसमें चित्-

विशिष्ट हो, और साथ-साथ वे सारे परिणाम आयँगे जो ऐसे द्वैतके निर्वाह और क्रियासे उद्‌भूत होंगे।

कहा जा सकता है कि प्रथम परिणाम होगा अविद्याके अज्ञानमें स्खलन जो बहुत्वको अस्तित्वका यथार्थ तथ्य मानता है और उस 'एक'-को बहुके विश्व-समाहारके रूपमें ही देखता है। किन्तु ऐसा स्खलन आवश्यक नहीं है। क्योंकि, जीवात्मा फिर भी अपने-आपके प्रति इस रूपमें सचेतन रहेगा कि वह उस एकका और उस एककी सचेतन आत्म-विसृष्टि-की शक्तिका, अर्थात् उसके बहुत्वमय आत्म-संकेन्द्रणका परिणाम है, जिसकी कल्पना इस प्रकार की जाती है कि वह 'एक' अपने बहुविध अस्तित्वका काल और देशके अन्दर होनेवाले विस्तरणमें नाना प्रकारसे शासन और भोग कर सके; यह सच्चा आध्यात्मिक व्यक्ति अपने-आपको स्वतंत्र या पृथक् अस्तित्व माननेकी धृष्टता नहीं करेगा। वह तो बस स्थायी एकत्वके सत्यके संग-संग भेदक गतिके सत्यको मान्यता देगा, उन्हें उसी सत्यके ऊपर और नीचेके दो ध्रुवोंके रूपमें देखेगा, उसी दिव्य लीलाकी आधारशिला और शिखरके रूपमें देखेगा, और, एकत्वके आनन्दकी परि-पूर्णताके लिए विभिन्नताके आनंदको आवश्यक मानता हुआ, उसपर आग्रह करेगा।

स्पष्टतः ये तीनों पाद उसी सत्यके साथ व्यवहार करनेकी तीन विभिन्न भंगियाँ मात्र हैं; सत्ताके उसी सत्यका संभोग होगा, उसके भोग-की विधि, वल्कि उसका भोग करनेमें आत्माकी भंगिमा भिन्न होगी। आनंदमें भिन्नता आयगी, किन्तु वह सर्वदा ऋत-चित्की स्थितिमें निवास करेगा, उसका मिथ्यात्व और अज्ञानमें स्खलन नहीं होगा। क्योंकि, अतिमानसने अपने आद्य पादमें जिसे दिव्य एकत्वकी अभिधामें ग्रहण कर रखा था, अपने द्वितीय और तृतीय पादमें वह उसको दिव्य बहुत्वकी भाषामें विकसित और चरितार्थ करेगा, इन तीनों स्थितियोंमेंसे किसी पर भी हम मिथ्यात्व और भ्रामकताका कलंक नहीं लगा सकते। उच्च-तर अनुभवके इन सत्योंके लिए प्राचीन परम प्रमाण उपनिषदें हैं। उप-निषदें जब अपने-आपको अभिव्यक्त करनेवाले दिव्य सत्की चर्चा करती हैं तो उनकी भाषामें इन सारे अनुभवोंकी सार्थकता मान्य रहती है। हम केवल यह दृढ़ोक्ति कर सकते हैं कि एकत्व बहुत्वसे पूर्व है, यह प्राक्त-नता कालमें नहीं, चेतनाके संबंधमें होती है, और एकत्वकी इस प्राक्त-नताको या एकपर बहुकी शाश्वत निर्भरताको परम आध्यात्मिक अनुभव-का कोई भी कथन, कोई भी वेदांतिक दर्शन अस्वीकार नहीं करता।

'वहु'की सत्यताको जो अस्वीकार किया जाता है उसका कारण यह है कि कालमें 'वहु' शाश्वत नहीं, प्रत्युत उस 'एक'से उद्‌गत होते और अपने मूल रूप उस 'एक'के अन्दर वापस जाते लगते हैं। किन्तु समान रूपसे यह युक्ति भी दी जा सकती है कि कालमें अभिव्यक्तिकी शाश्वत स्थिति, या चाहें तो यों कहें, उसकी शाश्वत पुनरावृत्ति इस वातका प्रमाण है कि दिव्य बहुत्व कालातीत परमका एक शाश्वत तथ्य होनेमें दिव्य एकत्वसे कम नहीं है, अन्यथा, कालमें अनिवार्य शाश्वत पुनरावृत्ति-का लक्षण उसे प्राप्त नहीं हो सकता था।

वास्तवमें, जव हमारी मानव मानसिकता आध्यात्मिक अनुभवके किसी एक पक्षपर ऐकांतिक वल देती है, यह प्रस्थापित करती है कि वही एक-मात्र शाश्वत सत्य है और इसे हमारे सर्व-विभाजनकारी मानसिक तर्ककी भाषामें व्यक्त करती है, केवल तभी दर्शनशास्त्रके परस्परतः विनाशक सम्प्रदायोंकी आवश्यकता उद्‌गत होती है। इस भाँति, अद्वैत चेतनाके एकमात्र सत्यपर बल देते हुए, हम दिव्य एकत्वकी क्रीड़ाको देखते हैं, जिसे हमारी मानसिकता यथार्थ भिन्नताकी भाषामें व्यक्त करनेकी भूल करती है, किन्तु मनकी इस भूलको एक उच्चतर तत्त्वके सत्यके द्वारा सुधारनेसे संतुष्ट न रहकर हम यह प्रतिपादित करते हैं कि स्वयं वह क्रीड़ा ही एक भ्रम है। या, वहुमें एककी क्रीड़ापर वल देते हुए हम एक विशिष्टाद्वैतकी घोषणा करते हैं और व्यष्टि-अन्तरात्माको परमेश्वर-का एक आत्मा-रूप मानते हैं, किन्तु साथ ही इस विशिष्ट सत्ताकी शाश्वतताको प्रस्थापित करते हैं और अवशिष्ट एकत्वमें किसी शुद्ध चेतना-की अनुभूतिको विलकुल अस्वीकार करते हैं। या, फिर, विभिन्नताकी क्रीड़ापर वल देते हुए, हम यह दृढ़ोक्ति करते हैं कि परमेश्वर और मानव-आत्मा शाश्वत रूपसे भिन्न-भिन्न हैं और जो अनुभूति उस भिन्नताका अतिक्रमण करती है और उसे विनष्ट करती प्रतीत होती है उसकी सार्थ-कताको अस्वीकार करते हैं। किन्तु, अव हमने दृढ़ताके साथ जो स्थिति अपनायी है वह हमें इन नकारों और वहिष्कारोंकी आवश्यकतासे मुक्त करती है: हम देखते हैं कि इन सारी स्वीकृतियोंके पीछे एक सत्य रहता है, किन्तु साथ ही एक अतिरेक भी रहता है जो अधूरे आधारवाले निषेधकी ओर ले जाता है। जैसा कि हमने किया है, उस तत्की परम निर्विशेषताको मान्यता देते हुए, अपने एकत्व-संवंधी भावोंसे सीमित न होते हुए, अपने वहुत्व-संवंधी भावोंसे भी सीमित न होते हुए, एकत्वको वहुत्व-की अभिव्यक्तिके आधार-रूपमें स्वीकार करते हुए और एकत्वकी ओर

वापस जानेके लिए और दिव्य अभिव्यक्तिमें एकत्वका भोग करनेके लिए बहुत्वको भी आधार रूपमें स्वीकार करते हुए, हमें अपने वर्तमान कथन-को इन विवादोंसे भारी बनानेकी आवश्यकता नहीं है, न हमें दिव्य अनंतकी परम स्वतंत्रताको अपने मानसिक विभेदों और परिभाषाओंके अधीन करनेका व्यर्थ परिश्रम करना है।

अध्याय सत्रह

दिव्य आत्मा

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।।

जिसका आत्मा सकल भूत हो गया है, कारण उसने ज्ञान प्राप्त किया है, जिसे सर्वत्र 'एकत्वका दर्शन होता है, उसे मोह कहाँसे हो सकता है, उसे शोक कहाँसे हो सकता है ?

—ईशोपनिषद् 7

अतिमानसके संबंधमें हमने जो धारणा बनायी है, और जिस मानसता-पर हमारी मानव-सत्ता आधारित है उससे अतिमानसका जो विरोध है, इनके द्वारा हम दिव्यता और दिव्य जीवनके संबंधमें एक अस्पष्ट भावके स्थानपर एक सुव्यक्त भाव बनानेमें समर्थ हुए हैं; अन्यथा, हम इन शब्दोंका व्यवहार, एक वृहत् किंतु लगभग स्पर्शातीत अभीप्साके धूमिल शब्दोंकी भाँति, शिथिलतासे करनेके लिए बाधित रहते। इसके अतिरिक्त हम इन भावोंको दार्शनिक युक्तिका दृढ़ आधार भी दे पाये हैं, इन्हें मानवता और मानव-जीवनके साथ,—एकमात्र जिसका भोग हम अभी करते हैं,—एक स्पष्ट संबंधमें रख पाये हैं और अपनी आशा तथा अभीप्सा का समर्थन जगत्के स्वयं स्वरूपके द्वारा, अपने निजके पूर्वगामी वैश्व इतिहास और अपने विकासक्रमके अनिवार्य भविष्यके द्वारा कर पाये हैं। भगवान् क्या हैं, शाश्वत सद्वस्तु क्या है, यह हमने बुद्धिके द्वारा ग्रहण करना आरंभ किया है, और यह समझना शुरू किया है कि जगत् इनसे कैसे निकला। हमें यह प्रत्यक्ष होना भी आरंभ हुआ है कि जो कुछ भगवान्से निकला है वह किस प्रकार भगवान्की ओर अवश्य वापस जायगा। अब हम भली भाँति पूछ सकते हैं और स्पष्टतर उत्तर पानेकी संभावना भी है कि यदि हमें भगवान् तक केवल अपनी सत्ताकी गह-राइयोंमें ऐकांतिक और आनन्दमयी सिद्धिके द्वारा ही नहीं, वरन् अपनी

प्रकृतिमें, अपने जीवनमें और अन्योंके साथके संबंधोंमें भी पहुँचना है तो हमें कैसे परिवर्तित होना होगा और क्या बनना होगा? निश्चय ही, हमारे आधार-वाक्योंमें अभी तक कोई त्रुटि है; क्योंकि अबतक अपने लिए हम सीमित प्रकृतिकी ओर अवतरित होते हुए ब्रह्मकी परिभाषा बनानेका प्रयास करते रहे हैं, जब कि आत्म-स्वरूपमें हम जीव-अभिनिविष्ट ब्रह्म ही हैं, जो सीमित प्रकृतिके ऊपर आरोहण करता हुआ, वापस अपनी दिव्यताकी ओर जाता है। गतिका यह अंतर देवोंके जीवन और मनुष्यके जीवनके बीच एक अंतर लायगा; एक ओर वे देव, जिन्होंने कभी पतन नहीं जाना है, दूसरी ओर मनुष्य जिसने उद्धार प्राप्त किया है, खोये देवत्वको जीता है और जो निपट अधोगतिमें उतर जाना स्वीकार करनेका अनुभव, और संभवतः, इस प्रकार एकत्रित की गयी नवीन संपदाएं अपने अंदर लिये चलता है। तथापि, मूलस्थ गुणोंमें कोई अंतर नहीं हो सकता, केवल ढाँचे और रंगका भेद ही हो सकता है। हम जिन परिणामोंपर पहुँच चुके हैं उनके आधारपर अपने अभीप्सित दिव्य जीवनका स्वरूप जाननेमें समर्थ हो गये हैं।

तो उस दिव्य आत्माका जीवन कैसा होगा जो जड़तत्त्वमें आत्माके अवतरण और जड़ प्रकृतिके द्वारा जीवके तमोग्रस्त होनेके नाते अज्ञानमें न उतरा हो? वह दिव्य आत्मा स्वयं दिव्य सत्‌की भाँति, वस्तुओंके आद्य सत्यमें, अक्षर एकत्वमें, अपनी ही अनंत सत्ताके जगत्‌में निवास करता है, किंतु दिव्य मायाकी लीलाके द्वारा और ऋत-चित्‌के विज्ञान तथा प्रज्ञानके विभेदके द्वारा भगवान्‌के साथ एकत्वका भोग करनेके साथ-साथ उनसे विभेदका भी भोग कर पाता है, और विभेदका आलिंगन करता हुआ, वह बहुधा-रूपायित अद्वय स्वरूपकी अनन्त लीलामें अन्य दिव्य आत्माओंके साथ एकत्वका भी आलिंगन कर पाता है; ऐसे आत्माकी चेतना कैसी होगी?

स्पष्ट है कि ऐसे आत्माका जीवन सच्चिदानंदकी सचेतन लीलामें सर्वदा स्वतःपूर्ण होगा। वह अपनी सत्तामें शुद्ध और अनंत स्वयंभू-सत् होगा; अपनी संभूतिमें वह एक अमर जीवनकी लीला होगा, जिसपर मृत्यु, जन्म और शरीर-परिवर्तनका आक्रमण नहीं होगा, क्योंकि उसपर अज्ञानके बादल आच्छादित नहीं होंगे और न वह हमारी जड़ सत्ताके अंधकारमें निमज्जित होगा। अपनी ऊर्जामें वह एक शुद्ध और असीम चैतन्य होगा, शाश्वत और ज्योतिर्मय प्रशांतिको आधार बनाकर अवस्थित होगा, और साथ ही, ज्ञान और सचेतन शक्तिके रूपोंके साथ

स्वच्छंदतासे खेलनेमें सक्षम होगा, प्रशांत होगा, मानसिक भूलोंकी ठोकरों और हमारी प्रयत्नशील इच्छाकी भ्रान्त पकड़ोंसे अछूता रहेगा, क्योंकि वह सत्य और एकत्वसे कभी नहीं हटता, अपनी दिव्य सत्ताके अंतर्निहित प्रकाश और स्वाभाविक सामंजस्यसे कभी च्युत नहीं होता। अंततः, वह अपने शाश्वत आत्मानुभवमें एक शुद्ध और अक्षर आनन्द होगा और कालमें आनंदका एक उन्मुक्त वैविध्य होगा जो नापसंदगी, घृणा और असन्तोष और दुखकी विकृतियोंसे अप्रभावित रहेगा, क्योंकि वह अपनी सत्तामें अविभक्त होगा, प्रमादी स्वैरसे व्यर्थ नहीं होगा, कामनाकी अज्ञानमयी उत्तेजनासे विकृत न होगा।

उसकी चेतना अनन्त सत्यके किसी भी अंगकी ओरसे बन्द नहीं होगी, न वह किसी ऐसी स्थिति या भंगिमासे सीमित होगा जिसे वह दूसरोंके साथ अपने संबंधोंमें धारण करता हो, न वह किसी विशुद्धतया प्रातिभासिक व्यक्तित्व और व्यावहारिक विभेदक क्रीड़ाको स्वीकार करने पर आत्म-ज्ञान खोनेके लिये विवश होगा। वह आत्मानुभवमें निर्विशेषके सान्निध्यमें शाश्वत निवास करेगा। निर्विशेष हमारे लिए अनिर्देश्य सत्ताकी बौद्धिक धारणा मात्र है। बुद्धि हमें बस यह बता देती है कि एक ब्रह्म है जो परात्पर है, उच्चतमसे भी उच्चतर है, एक अज्ञेय है जो अपने-आपको हमारे ज्ञानकी अपेक्षा अन्य विधिसे जानता है; किंतु बुद्धि हमें इसके सान्निध्यमें नहीं ला सकती। इसके विपरीत, वस्तुओंके सत्यमें निवास करते हुए दिव्य आत्माको अपने-आपके बारेमें सर्वदा यह सचेतन भाव रहेगा कि वह उस निर्विशेषकी एक अभिव्यक्ति है। अपने अक्षर अस्तित्वके बारेमें उसे यह संवित् होगी कि वह उन तुरीयका, सच्चिदानंदका आदि स्वरूप है, अपनी चित्-सत्ताकी क्रीड़ाके संबंधमें उसे यह संवित् होगी कि यह सच्चिदानन्दके रूपोंमें उस तत्की ही अभिव्यक्ति है। अपनी प्रत्येक ज्ञान-स्थिति या ज्ञान-क्रियामें उसे यह संवित् रहेगी कि परिवर्तनशील आत्म-ज्ञानके किसी प्रकारके द्वारा वह अज्ञेय अपने-आपको ही जान रहा है; वीर्य, इच्छा या शक्तिकी अपनी प्रत्येक स्थिति या क्रियामें उसे यह संवित् रहेगी कि सत्ता और ज्ञानके चिन्मय वीर्यके किसी प्रकारके द्वारा वह तुरीय अपने-आपको ही उपलब्ध कर रहा है; आनन्द, हर्ष या प्रेमकी अपनी प्रत्येक स्थिति या क्रियामें उसे यह संवित् होगी कि सचेतन आत्म-भोगके किसी प्रकारके द्वारा तुरीय अपने-आपका ही आलिंगन कर रहा है। निर्विशेषका यह सान्निध्य उसके साथ किसी ऐसे अनुभवकी भांति नहीं रहेगा जिसकी झांकी यदा-कदा मिलती हो,

या जहाँ अंततः वह पहुँच पाया हो और जिसे वह कठिनाईसे धृत किये हुए हो, या उसकी सत्ताकी सामान्य स्थितिपर ऊपरसे आरोपित कोई जोड़, उपलब्धि या परिणति हो : वह तो उसके एकत्वमें, और विभेदमें भी, उसकी सत्ताकी सच्ची भित्ति होगा। वह उसकी समस्त ज्ञान-क्रिया, इच्छा-क्रिया, कर्म और भोगमें विद्यमान रहेगा; वह न तो उसके कालातीत आत्मासे अनुपस्थित होगा, न किसी कालिक क्षणसे, न उसकी देशातीत सत्तासे अनुपस्थित होगा, न उसकी विस्तारित सत्ताके किसी निर्धारणसे, न समस्त कारण और परिस्थितिसे अतीत निरुपाधिक पवित्रतासे अनुपस्थित होगा, न परिस्थिति, उपाधि और कारणताके किसी संबंधसे। निर्विशेषका यह सतत सान्निध्य उसके अनन्त स्वातंत्र्य और आनन्दका आधार होगा, लीलामें उसकी सुरक्षा आश्वस्त करेगा और उसकी दिव्य सत्ताका मूल, रस और सार प्रदान करेगा।

और इसके अतिरिक्त, ऐसा दिव्य आत्मा सच्चिदानंदके शाश्वत अस्तित्वके दोनों छोरोंमें, निर्विशेषके आत्म-अनावरणके दोनों अवियोज्य ध्रुवोंमें, जिन्हें हम एक और बहु कहते हैं, एक साथ निवास करेगा। वास्तवमें समस्त सत्ता इसी भाँति रहती है, किंतु हमारी विभक्त आत्म-संवित्‌को इन दोनोंके बीच एक असंगति, एक खाई दीखती है जो हमें इनमेंसे किसी एकका निर्वाचन कर लेनेकी ओर ले जाती है, यह कि हम या तो बहुत्वमें निवास करें जो उस 'एक'की प्रत्यक्ष और समग्र चेतनासे निर्वासित हो, या उस 'एकत्व'में निवास करें जो कि बहुत्वकी चेतनाका प्रत्याख्यान करता हो। किंतु दिव्य आत्मा इस विच्छेद और द्वैतका दास नहीं होगा। उसे अपने अंदर एक साथ ही आत्म-संहरण और अनंत आत्म-विस्तरण तथा विसरणकी संवित् रहेगी। उसे एक ही साथ उस 'एक'की संवित् रहेगी जो कि अपनी अद्वैत चेतनामें असंख्य बहुत्वको अपने अंदर मानों शक्य और अनभिव्यक्त रूपमें धारण किये रहता है जिस कारण उस स्थितिकी हमारी मानस-अनुभूतिको वह बहुत्व अस्तित्वहीन लगता है, और उस 'एक'की भी संवित् होगी जो अपनी विसृत चेतनामें बहुत्वको इस भाँति धारण करता है कि वह उस 'एक'की ही चित्-सत्ता, इच्छा तथा आनन्दकी लीलाके रूपमें प्रक्षिप्त और सक्रिय है। उसे समान रूपसे बहुके बारेमें यह संवित् होगी कि वहु उस एकको अपनी ओर नीचे खींच रहे हैं जो वहुके अस्तित्वका शाश्वत मूल और उनकी यथार्थता है, साथ ही बहुके बारेमें उसे यह संवित् भी होगी कि वे सर्वदा उस एककी ओर आकर्षित हो ऊपर उठ रहे हैं जो उनकी सारी भेद-

क्रीड़ाका शाश्वत पर्यवसान और आनन्दमय सार्थक्य है। यह बृहत् दर्शन-भंगिमा ही ऋत-चित्का स्वभाव है, बृहत् सत्य और ऋतकी आधार-शिला है जिसका गान वैदिक ऋषियोंने किया है, विरोधकी इन सारी अभिधाओंका यह एकत्व ही वास्तविक अद्वैत है, अज्ञेयके ज्ञानका परम सर्वाविधारक शब्द है।

सत्ता, चेतना, इच्छा और आनन्दके जितने वैविध्य हैं उनकी संवित् दिव्य आत्माको इस भाँति होगी कि वे उस आत्म-संहृत एकत्वका बहि-र्प्लावन, विस्तरण, विसरण हैं जो अपने-आपको विभेद और विभाजनके अन्दर नहीं, प्रत्युत अनन्त एकत्वके एक अन्य, एक विस्तृत रूपमें विकसित कर रहा है। अपने सत्ता-स्वरूपमें वह स्वयं सर्वदा एकत्वमें संहृत रहेगा, अपनी सत्ताके विस्तारमें वह सर्वदा वैचित्र्यमें अभिव्यक्त होगा। उसके अन्दर जो कुछ भी रूपायित होगा वह उस 'एक'की अभिव्यक्त शक्य-ताओंके रूपमें होगा, नामहीन निःशब्दतामेंसे स्पंदित होता हुआ शब्द या नाम होगा, अरूप तत्त्वको संसिद्ध करनेवाला रूप होगा, प्रशांत शक्ति-से निःसृत सक्रिय इच्छा या वीर्य होगा, कालातीत आत्म-संवित्के सूर्यसे विकीर्ण होती आत्म-संवित्की किरण होगा, शाश्वततः आत्म-चित् रहने-वाले सत्मेंसे आत्म-सचेतन अस्तित्वके आकारमें उद्गत होती संभूतिकी लहर होगा, शाश्वत निश्चल आनन्दमेंसे चिर उत्सारित होता हर्ष और प्रेम होगा। यह उस निर्विशेषका अपने आत्म-प्रस्फुटनमें द्विदलीय होना होगा, उसमें प्रत्येक सापेक्षता अपने-आपके लिए निरपेक्ष होगी, क्योंकि उसे अपनी संवित् इस भाँति होगी कि वह अभिव्यक्त निर्विशेष ही है, किन्तु उसके साथ वह अज्ञान नहीं रहेगा जो अन्य सापेक्षताओंको अपनी सत्तासे विजातीय या अपने-आपसे कम संपूर्ण मानकर बहिष्कृत करता है।

विस्तरणमें दिव्य आत्माको अतिमानसिक सत्ताकी तीनों श्रेणियोंकी संवित् होगी,—उस रूपमें नहीं जिसमें हम मनके द्वारा देखनेके लिए बाधित हैं, सच्चिदानंदकी आत्माभिव्यक्तिकी श्रेणियोंकी नाईं नहीं, प्रत्युत उसके त्रयात्मक तथ्यके रूपमें। वह उनका आलिंगन एक ही और उसी सर्वग्राही आत्मोपलब्धिमें करनेमें समर्थ रहेगा,—क्योंकि बृहत् सर्वव्यापकता ऋत-चिन्मय अतिमानसकी नींव है। वह निखिल वस्तुओंकी धारणा, उनका प्रत्यक्षण, उनका संवेद इस दिव्य रूपसे कर पायगा कि वे सब आत्मा हैं, उसका अपना आत्मा हैं, सबका आत्मा एक है, सब एक ही आत्म-सत्ता तथा आत्म-संभूति हैं; किन्तु आत्मा अपनी संभूतियोंमें विभक्त नहीं है, वस्तुतः उसकी अपनी आत्म-चेतनासे पृथक् उनका अस्तित्व ही नहीं है। वह

सर्व भूतोंकी धारणा, उनका प्रत्यक्षण, उनका संवेद इस दिव्य रूपसे कर पायगा कि वे उस एकके आत्मा-रूप हैं, जिनमेंसे प्रत्येककी उस 'एक'के अन्दर अपनी सत्ता है, उस 'एक'में अपना-अपना आधार-बिन्दु है, अनंत एकत्वके वासी अन्य सकल भूतोंके साथ अपना संबंध है, किंतु सबके सब उस 'एक' पर निर्भर हैं, उस 'एक'की अपनी अनन्ततामें उसीकी सचेतन आकृतियाँ हैं। इन सकल भूतोंके व्यष्टि-रूपकी, उनके अपने-अपने आधार-बिंदु-रूपकी धारणा, उसका प्रत्यक्षण, उसका संवेद वह इस दिव्य रूपसे कर पायेगा कि वे सकल भूत व्यष्टि-भगवान्‌की भाँति रह रहे हैं, प्रत्येकके अन्दर वह एक और परम ब्रह्म निवास कर रहा है, अतः उनमेंसे प्रत्येक सर्वथा कोई भ्रम या छाया नहीं है, वस्तुतः किसी वास्तविक समग्रका भ्रमात्मक अंग नहीं है, एक निश्चल सागरकी सतह पर उठती कोई फेनिल तरंग मात्र नहीं है,—क्योंकि ये सब अंततः मन-की कल्पित अपर्याप्त प्रतिमाओंके अतिरिक्त कुछ नहीं हैं,—वरन् प्रत्येक उस समग्रमें एक समग्र है, अनन्त सत्यकी पुनरावृत्ति करनेवाला एक सत्य है, एक तरंग है जो सारा सागर भी है, एक सापेक्ष है जो तब स्वयं निरपेक्ष प्रमाणित होता है जब कि हम रूपके पीछेकी ओर अवलोकन करते और उसे उसकी सम्पूर्णतामें देखते हैं।

वस्तुतः, ये तीनों उस एक ही सत्‌के पहलू हैं। प्रथम उस आत्म-ज्ञानपर आधारित है, जिसे हमारी भगवान्‌की मानव-उपलब्धिमें, उपनिषद् यह कह कर वर्णित करती है कि हमारे अन्दरका आत्मा सकल भूत हो जाता है, दूसरा उसपर आधारित है जिसका वर्णन सर्व भूतोंका आत्माके अन्दर दिखायी देना कहकर किया गया है, और तीसरा उसपर जिसका वर्णन आत्माका सर्व भूतोंके अन्दर दिखायी देना कहकर किया गया है। आत्मा-का सकल भूत हो जाना सबके साथ हमारे एकत्वका आधार है; आत्माका सर्व भूतोंको अपने अन्दर समाये रखना विभिन्नतामें हमारे एकत्वका आधार है, आत्माका सर्व भूतोंमें निवास करना विश्वके अन्दर हमारी वैयक्तिकताका आधार है। यदि हमारी मानसताकी त्रुटि, उसकी ऐकांतिक संकेन्द्रणकी आवश्यकता, उसे आत्म-ज्ञानके इन पक्षोंमेंसे अन्योंका बहिष्कार करके किसी एक पक्षपर अवस्थित होनेको बाध्य करती है, यदि कोई अपूर्ण, और साथ ही, ऐकांतिक रहनेवाली उपलब्धि हमें सदा इस ओर चालित करती है कि हम स्वयं सत्यके अंदर भूलका और सर्वाविधारक एकत्वके अन्दर संघर्ष और पारस्परिक प्रतिषेधका मानवीय तत्त्व प्रविष्ट कर दें, तो भी अति-मानसके स्वरूप-स्वभावके कारण, जो कि सर्वाविधारक एकत्व और अनंत

समग्रता है, दिव्य अतिमानसिक पुरुषके लिए ये तीनों एक अनुभव-त्रिपुटी और वस्तुतः त्रयात्मक अनुभूतिकी नाईं उपस्थित होंगे।

यदि हम यह कल्पना करें कि यह आत्मा व्यष्टि-भगवान्‌की चेतना-में अपना अवस्थान, अपना केन्द्र बना रहा है, "दूसरों"के साथ स्पष्ट संबंधमें रह रहा और कार्य कर रहा है, तो भी उसे अपनी चेतनाकी नींवमें वह सम्पूर्ण एकत्व प्राप्त रहेगा जिससे सब कुछ निर्गत होता है, और उस चेतनाकी पृष्ठभूमिमें उसे वह विस्तृत और आपरिवर्तित एकत्व प्राप्त रहेगा और उसमें यह क्षमता रहेगी कि वह इनमेंसे किसीके भी पास वापस चला जाय और वहाँसे अपनी वैयक्तिकताका अवलोकन करे। वेदमें ये सारी स्थितियाँ देवताओंकी कही जाती हैं। स्वरूपतः देवगण एक ही सत्ता हैं जिसे ऋषि-गण विभिन्न नामोंसे पुकारते हैं; किंतु बृहत् सत्य एवं ऋतपर आश्रित और वहाँसे उद्‌गत होती उनकी क्रियाओंके लिए यह कहा जाता है कि अग्नि या और कोई देव ही अन्य सारे देव है, वह वह "एक" है जो कि सब हो जाता है; साथ ही यह कहा जाता है कि अन्य सारे देवता उसके अंदर इस भाँति हैं जिस भाँति चक्केकी नाभिमें अर रहते हैं, वह वह 'एक' है जो सबको समाये रहता है; और तब भी अग्निके रूपमें उसका वर्णन एक पृथक् देवता-की भाँति किया जाता है, ऐसा देवता, जो दूसरोंकी सहायता करता है, शक्ति और ज्ञानमें उनसे अधिक है, परन्तु वैश्व पदमें उनसे नीचे रहता है और उनके द्वारा दूत, पुरोहित और कर्मीके रूपमें नियुक्त होता है,—जगत्‌का स्रष्टा और पिता होता हुआ भी वह हमारे कर्मोंसे उत्पन्न पुत्र होता है; अन्य शब्दोंमें, वह अनादि और अभिव्यक्त अन्तर्वासी आत्मा या ब्रह्म है, वह वही 'एक' है जो सर्वत्र निवास करता है।

ईश्वर या अपने परम आत्माके साथ और अन्य रूपोंमें स्थित अपने अन्य आत्माओंके साथ दिव्य आत्माके जितने संबंध होंगे वे इस सर्वाव-धारक आत्म-ज्ञानके द्वारा निर्दिष्ट होंगे। ये संबंध सत्ताके चेतना और ज्ञानके, इच्छा और शक्तिके, प्रेम और आनन्दके संबंध होंगे। उनमें वैचित्र्यकी अनंत शक्यता होगी, भेदका हर प्रकारका दृश्य होते हुए भी, उन्हें आत्मा और आत्माके बीच हो सकनेवाले किसी भी ऐसे सम्बन्धका वर्जन करनेकी आवश्यकता न होगी जो एकताके अविच्छेद्य भावके संर-क्षणके साथ मेल खाता हो। इस प्रकार, भोगके संबंधोंमें दिव्य आत्मा-को समस्त स्वानुभवका स्वरूपानंद प्राप्त होगा; उसे दूसरोंके साथके संबंधके सारे अनुभवका आनन्द विश्वके अन्दर वैचित्र्यमय लीलाके लिए

रचे गये अन्य रूपोंमें स्थित अन्य आत्माओंके साथ एक संगमकी नाईं होगा; उसे अपने अन्य आत्माओंके अनुभवोंका आनंद भी इस भाँति मिलेगा मानों वे स्वयं उसीके हों—जैसे कि वे वस्तुतः हैं। और, यह सारी सामर्थ्य उसे इसलिये प्राप्त रहेगी कि उसे यह संवित् होगी कि उसके अपने सारे अनुभव, दूसरोंके साथ उसके संबंध और स्वयं उसके साथ दूसरोंके संबंध उस 'एक'का, परम आत्माका, उसके निजके आत्माका अखंड आनन्द हैं और उसकी अपनी सत्तामें समाविष्ट इन रूपोंमें भेद इसलिये है कि उनका अधिवास पृथक्-पृथक् है, परंतु तब भी, उस भेदके मध्य भी वे एक ही हैं। चूँकि यह एकत्व उसके सारे अनुभवका आधार है, अतएव, वह हमारी विभक्त चेतनाके, अज्ञान और पृथक्कारी अहंभावके द्वारा विभाजित चेतनाके असामंजस्योंसे मुक्त रहेगा, ये सारे आत्मा और उनके संबंध एक-दूसरेके हाथोंमें सचेतन रूपसे क्रीड़ा करेंगे; वे एक शाश्वत संगतिके असंख्य सुरोंकी भाँति निकलेंगे और एक-दूसरेमें घुलमिल जायेंगे।

और वही नियम दूसरोंकी सत्ता, ज्ञान और इच्छाके साथ उसकी सत्ता, ज्ञान और इच्छाके संबंधोंपर लागू होगा। कारण, उसका सब अनुभव और आनन्द सत्ताकी एक आनन्दमयी चित्-शक्तिकी लीला होगा जिसमें एकत्वके इस सत्यके शासनके कारण न तो इच्छाका ज्ञानसे और न इनमेंसे किसीका आनन्दसे संघर्ष हो सकता है। न ही किसी एक आत्माके ज्ञान, इच्छा और आनन्दका संघर्ष किसी अन्य आत्माके ज्ञान, इच्छा और आनन्दसे होगा, क्योंकि उनकी अपनी एकताकी संवित्का यह परिणाम होगा कि हमारी विभाजित सत्तामें जो चीजें संघर्ष, संघट्ट और वैषम्य हैं, वे एक अनन्त संगतिके विभिन्न सुरोंका मिलन, संग्रंथन और पारस्परिक खेल हो जायेंगी।

परमात्माके साथके, ईश्वरके साथके अपने संबंधोंमें दिव्य आत्माको अपनी सत्ताके साथ विश्वातीत एवं वैश्व भगवान्के एकत्वका बोध रहेगा। वह अपने व्यक्तिभावमें निजके साथ और विश्वभावमें अपने अन्य आत्माओंके साथ ईश्वरके उसी एकत्वका संभोग करेगा। उसके ज्ञानके संबंध दिव्य सर्वज्ञता की लीला होंगे, क्योंकि ईश्वर ज्ञान है, और जो हमारे समीप अज्ञान है वह वहाँ सचेतन आत्म-संवित्के विश्राममें ज्ञानको पीछेकी ओर रोके रहना होगा, ताकि उस आत्म-संवित्के कुछ विशेष रूप ज्योतिकी क्रियाशीलतामें आगे लाये जा सकें। वहाँ उसके इच्छा-शक्तिके संबंध दिव्य सर्वशक्तिमत्ताकी लीला होंगे, क्योंकि ईश्वर शक्ति, इच्छा और वीर्य है, और जो हमारे समीप

दुर्बलता और अक्षमता है वह वहाँ इच्छाको शान्त केन्द्रीभूत शक्तिमें पीछेकी ओर रोके रहना होगा ताकि दिव्य चित्-शक्तिके कुछ विशेष रूप 'वीर्य'के रूपमें आगे लाये जाकर अपने-आपको संसिद्ध करें। उसके प्रेम और आनन्दके संबंध दिव्य उल्लासकी लीला होंगे, क्योंकि ईश्वर प्रेम एवं आनन्द है, और हमारे समीप जो प्रेम और आनन्दका निषेध है वह आनन्दके प्रशांत सागरमें हर्षको पीछेकी ओर रोके रहना होगा ताकि दिव्य मिलन और भुक्तिके कुछ विशेष रूप आनन्द-तरंगोंके एक सक्रिय उभारमें सामने लाये जा सकें। इसी प्रकार उसकी सारी संभूति भी इन क्रियाशीलताओंके प्रत्युत्तरमें दिव्य सत्ताका रूपायण होगी, और जो हमारे लिए अवसान, मृत्यु और विनाश है वह सच्चिदानंदकी शाश्वत सत्तामें हर्षपूर्ण स्रष्ट्री मायाका विश्राम, संक्रमण या पीछेकी ओर रुके रहना होगा। साथ-ही-साथ, यह एकत्व ईश्वरके साथ, परमात्माके साथ आत्माके उन संबंधोंको वंचित नहीं करेगा जो विभेदके रस पर आश्रित होते हैं जब कि वह उस एकत्वका अन्य प्रकारसे भोग करनेके लिए अपने-आपको एकत्वसे पृथक् करता है। भागवत भुक्तिके जितने उत्कृष्ट रूप हैं, जो कि भगवान्को आलिंगनबद्ध करनेवाले भगवद्भक्तको परमानन्द देते हैं, उनमेंसे किसीकी भी संभावनाको यह एकत्व मिटायगा नहीं।

किन्तु वे अवस्थाएँ कौन-सी होंगी जिनमें और जिनके द्वारा दिव्य आत्माके जीवनका यह स्वरूप चरितार्थ होगा? दूसरोंके साथ संबंधके अन्दर होनेवाला सारा अनुभव सत्ताकी कुछ शक्तियोंके द्वारा आगे बढ़ता है जो कुछ साधनों के सहारे रूपायित होती हैं, जिन्हें हम धर्म, गुण, क्रियाशीलताएँ, क्षमताएँ कहते हैं। उदाहरणके लिए, मन मनःशक्तिके निर्णय, प्रेक्षण, स्मृति, सहानुभूति आदि विविध रूपोंमें प्रक्षिप्त हो जाता है जो उसकी अपनी सत्ताके लिए स्वाभाविक हैं, वैसे ही ऋत-चित् या अतिमानस आत्माके साथ आत्माके संबंधोंको अतिमानसिक सत्ताकी स्वाभाविक शक्तियों, क्षमताओं और क्रियाओं के द्वारा अवश्य प्रभावित करेगा; अन्यथा, विभेदकी क्रीड़ा न हो पायगी। ये क्रियाएँ क्या हैं, यह हम तब देखेंगे जब हम दिव्य जीवनकी अंतःकरणिक अवस्थाओंपर विचार करना शुरू करेंगे; अभी तो हम केवल उसकी तात्त्विक भित्ति, उसके स्वभाव और स्वधर्मपर विचार कर रहे हैं। अभी इतना देख लेना पर्याप्त होगा कि चेतनामें पृथक्कारी अहंभाव और प्रभावकारी विभाजनका अभाव या उन्मूलन ही दिव्य जीवनकी अद्वितीय मूलभूत शर्त है, अतः हमारे अन्दर उनकी उपस्थिति ही हमारी मर्त्यताका और ब्राह्मी स्थितिसे पतन होनेका कारण है। यही हमारा "आदि पाप" है, बल्कि अधिक दार्शनिक भाषामें कहें तो आत्माके सत्य और ऋतसे, उसके एकत्व

अखंडत्व और सामंजस्यसे हमारी विच्युति है जो अज्ञानके अन्दर उस महा अवगाहनके लिए आवश्यक शर्त थी; यही जगत्‌में जीवका अभियान है और इसीसे हमारी संतप्त और अभीप्सु मानवजातिका जन्म हुआ है।

अध्याय अठारह

मानस और अतिमानस

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्।

उसने जान पाया कि मन ब्रह्म है।

—तैत्तिरीय उपनिषद्, 3-4

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्॥

अविभक्त होता हुआ भी भूतोंमें विभक्त जैसा।

—गीता, 13.17

अब तक हम जो धारणा बनानेका प्रयत्न करते रहे हैं, वह अतिमानसिक जीवनके केवल सारतत्त्वकी है जो दिव्य आत्माको सच्चिदानंदकी सत्तामें सुरक्षित रूपसे अधिकृत रहता है, किन्तु जिसे मानव-जीवको मानसिक और भौतिक जीवनके साँचेमें ढले हुए, यहाँ रचित, सच्चिदानंदके इस शरीरमें अभिव्यक्त करना है। लेकिन जहाँ तक हम इस अतिमानसिक जीवनकी परिकल्पना कर सकते हैं उसका हमारे परिचित जीवनसे,—हमारी सामान्य सत्ताके दो प्रान्तों, मन और शरीरके दो आकाशोंके बीच सक्रिय रहनेवाले जीवनसे,—कोई संबंध या सादृश्य नहीं मालूम होता। वह सत्ताकी ऐसी स्थिति, चेतनाकी ऐसी स्थिति, सक्रिय संबंध और पारस्परिक उपभोगकी ऐसी स्थिति प्रतीत होता है जिसे विदेह हुए आत्मागण स्थूल रूपोंसे रहित लोकमें अधिकृत और अनुभव कर सकते हों, ऐसे लोकमें जिसमें आत्माओं की भिन्नता तो सम्पन्न हो गई है, किंतु शरीरोंकी भिन्नता नहीं, ऐसे लोकमें, जो सक्रिय और हर्षपूर्ण आनंत्योंका है, न कि रूप-बंदी आत्माओंका। अतः यह संशय करना बुद्धिसंगत हो जाता है कि शारीरिक रूपके परिसीमनमें, रूप-बंदी मन और रूप-बद्ध शक्तिके इस परिसीमनमें, जिसे हम अभी जीवनके रूपमें जानते हैं, ऐसा दिव्य जीवन संभव हो सकता है या नहीं।

वास्तवमें, हमने उस परम अनंत सत्ता, चित्-शक्ति और आत्मानंदकी किसी धारणा तक पहुँचनेका प्रयास किया है जिसकी एक सृष्टि हमारा जगत् है और एक विकृत रूप हमारी मानसता है। हमने यह समझनेका प्रयत्न किया है कि यह दिव्य माया क्या हो सकती है, यह ऋत-चित्, यह सत्-भाव क्या हो सकता है जिसके द्वारा विश्वातीत तथा विश्वक सत् अपनी सत्ताके अभिव्यक्त आनंदके ब्रह्माण्डकी, विश्वकी, उसकी व्यवस्थाकी कल्पना करता है, उन्हें रूपायित करता है, उनका शासन करता है। किंतु हमने अभी यह अध्ययन नहीं किया है कि इन चार महान् और दिव्य अभिधाओंका उस अन्य त्रयी, मन. प्राण और शरीरसे क्या संबंध है, एकमात्र जिनसे हमारा मानव-अनुभव परिचित है। हमने इस अन्य और प्रतीयमानतया अदिव्य मायाकी संवीक्षा नहीं की है जो हमारी सारी कृच्छ्र साधना और संतापका मूल है, न हमने यह देखा है कि उसका उद्‌गमन दिव्य सद्‌वस्तु या दिव्य मायासे ठीक-ठीक किस भाँति होता है। किंतु, जबतक हम ऐसा नहीं कर लेते, जबतक हम इस संबंधके खोये धागोंको बुन नहीं लेते, तब तक हमारा जगत् हमारे लिए अस्पष्ट ही रह जाता है और उस उच्चतर सत्ता तथा इस निम्नतर जीवनके बीच एकीकरणकी संभावनामें संशयके लिए आधार बना रहता है। हम जानते हैं कि हमारा जगत् सच्चिदानंदसे निर्गत हुआ है और उन्हींकी सत्तामें उसका निर्वाह है, हमारी यह धारणा भी है कि सच्चिदानंद ही इस जगत्‌में भोक्ता और ज्ञाता, प्रभु और आत्मा-रूपमें निवास करते हैं; हम यह भी देख चुके हैं कि हमारे संवेदन, मन, शक्ति और सत्ताके द्वन्द्वात्मक तत्त्व सच्चिदानंदके आनंदके, उनकी चित्-शक्तिके, उनकी दिव्य सत्ताके प्रतिरूप मात्र हो सकते हैं। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि सच्चिदानंद सत्यतः और लोकोत्तर रूपमें जो कुछ हैं, उससे ये सब इतने अधिक विपरीत हैं कि इन विपरीतताओंके कारणके बीच रहते हुए, जीवनके निम्नतर त्रिपदमें रहते हुए, हम दिव्य जीवनकी प्राप्ति नहीं कर सकते। हमें या तो इस निम्नतर सत्ताको उस उच्चतर स्थितिमें उन्नीत करना होगा या उस शुद्ध सत्ताका विनिमय यह शरीर देकर, चित्-शक्तिकी उस शुद्ध अवस्थाका विनिमय प्राण देकर, आध्यात्मिक सद्‌वस्तुके सत्यमें निवास करनेवाले उस शुद्ध आनंद और ज्ञानका विनिमय संवेदन और मानसिकता देकर करना होगा। और क्या इसका यह अर्थ नहीं होता कि समस्त पार्थिव या सीमित मानसिक जीवनको हमें किसी ऐसी वस्तुके लिए छोड़ देना होगा जो उससे विपरीत है?—या तो आत्माकी किसी शुद्ध स्थितिके लिए, या वस्तुओंके सत्यके किसी लोकके

लिए, यदि ऐसा कोई लोक हो, या दिव्य आनंद, दिव्य ऊर्जा, दिव्य सत्ताके लोकोंके लिए, यदि ऐसे लोक हों। ऐसी दशामें, मानवजातिकी पूर्णता स्वयं मानवजातिसे अन्यत्र कहीं है; उसके पार्थिव विकासक्रमका शिखर विलीन होती मानसताका एक सूक्ष्म सिरा ही हो सकता है, जहाँसे वह महान् छलाँग लगाकर या तो निराकार सत्तामें या देही मनकी पहुँचसे परेके लोकोंमें चला जाता है।

किन्तु हम जिसे अदिव्य कहते हैं वह सब वस्तुतः स्वयं उन चार दिव्य तत्त्वोंकी क्रिया ही हो सकता है, ऐसी क्रिया जो इस रूप-जगत्की सृष्टि करनेके लिए आवश्यक थी। उन रूपोंकी सृष्टि दिव्य सत्ता, चिन्मय शक्ति और आनन्दके बाहर नहीं, वरन् उनके अंदर हुई है, दिव्य सत्-भावकी क्रियाके बाहर नहीं, वरन् उसके अन्दर और उसके अंगकी नाईं हुई है। अतएव यह अनुमान करनेका कोई कारण नहीं कि रूप-जगत्में उच्चतर दिव्य चेतनाकी कोई यथार्थ क्रीड़ा नहीं हो सकती या कि रूप और उनके अव्यवहित आधार—मनश्चेतना, प्राणिक शक्तिकी ऊर्जा और रूप-धातु—जिसका प्रतिनिधित्व करते हैं उसे अवश्य विकृत ही करेंगे। यह संभावना है, वल्कि यह विश्वासयोग्य भी है कि मन, शरीर और प्राण अपने शुद्ध रूपमें स्वयं दिव्य सत्यमें ही मिलें, वे वस्तुतः वहाँ उसकी चेतनाकी अधस्तन क्रियाओंके रूपमें और जिस सम्पूर्ण साधनसे परम शक्ति सर्वदा क्रिया करती है उसके अंग-रूपमें विद्यमान हों। तब मन, प्राण और शरीर अवश्य ही दिव्यताके लिए सक्षम होने चाहियें। भौतिक विज्ञान पार्थिव विकासक्रमके संभवतः किसी एक ही चक्रको प्रदर्शित करता है; यह आवश्यक नहीं कि उस चक्रकी एक अल्प अवधिमें मन, प्राण और शरीरके जो रूप और क्रिया सामने आयें वे सजीव शरीरके अंदर इन तीन तत्त्वोंकी सारी शक्य क्रियाओंका प्रदर्शन कर रहे हों। वे जैसी क्रिया करते हैं, उसका कारण यह है कि जिस दिव्य सत्यसे वे निकले हैं उससे उनकी चेतना किसी प्रकार पृथक् हो गयी है। मानवतामें भगवान्की विस्तारित होती ऊर्जाके द्वारा यदि इस पृथक्करणका एक बार उच्छेद हो जाय तो उनकी वर्तमान क्रिया, ऋत-चित्में उनकी जो शुद्धतर क्रिया है उसमें भलीभाँति धर्मांतरित हो सकती है; निःसंदेह, एक परम विकासक्रम और प्रगतिके द्वारा यह धर्मांतर स्वाभाविक रूपसे हो जायगा।

ऐसी दशामें, मानव-मन और शरीरमें दिव्य-चेतनाको अभिव्यक्त करना और बनाए रखना ही संभव नहीं होगा, वरन् यह भी संभव है कि वह दिव्य चेतना, अंतमें, अपनी विजयोंकी वृद्धि करती हुई, स्वयं मन, प्राण

और शरीरको ही अपने शाश्वत सत्यके अविक पूर्ण प्रतिरूपमें रूपांतरित कर दे और पृथ्वीपर स्वर्गके अपने साम्राज्यको केवल अंतश्चेतनामें ही नहीं वरन् वस्तु-सत्तामें भी संसिद्ध करे। इन विजयोंमें पहली, आंतरिक विजय, पृथ्वीपर, निश्चय ही, कम या अविक मात्रामें कुछ लोगोंको, शायद वहुतोंको प्राप्त हुई है; दूसरी, वाहरी विजय, वह यदि अतीतके युगोंमें भावी युगचक्रोंके लिए एक प्राथमिक प्ररूपकी नाईं कभी कम या अविक मात्रामें संसिद्ध नहीं हुई है और अव भी पार्थिव प्रकृतिकी अवचेतन स्मृतिमें अवस्थित है, फिर भी, हो सकता है, वह मानव-जातिमें ईश्वरकी आनेवाली विजयकारिणी प्राप्तिके रूपमें अभिप्रेत हो। यह आवश्यक नहीं कि यह पार्थिव जीवन सदाके लिए अर्घ-हर्ष और अर्घ-वेदनासे पूर्ण प्रयासका चक्र वना रहे; लक्ष्य-प्राप्ति भी अभिप्रेत हो सकती है और ईश्वरकी महिमा और आनंद पृथ्वीपर अभिव्यक्त किये जा सकते हैं।

अव हमारी अगली विचारणीय समस्या यह है कि मन, प्राण और शरीर अपने परम मूलमें क्या हैं, और अत: वर्तमान अवस्थामें पार्थक्य और अज्ञानमें रहनेके कारण हम जिस सत्यसे वियुक्त रह रहे हैं उस सत्यसे अनुप्राणित होकर वे दिव्य अभिव्यक्तिकी सर्वांगीण सम्पूर्णतामें क्या होंगे? क्योंकि वहाँ उन्हें अपनी वह पूर्णता अवश्य प्राप्त रह रही होगी जिसकी ओर हम विकसित हो रहे हैं,—हम, जो कि जड़तत्त्वमें विकसित होते मनकी प्रथम पाशवद्ध गतिमात्र हैं, हम, जो कि अभी तक रूपके अन्दर आत्माके उस निवर्तनकी अवस्थाओं और प्रभावोंसे, अपनी ही छायाके अंदर महाज्योतिकी उस निमग्नताकी अवस्थाओं और प्रभावोंसे मुक्त नहीं हुए हैं जिसके द्वारा भौतिक प्रकृतिकी अंधकारमय जड़-चेतनाकी सृष्टि की गयी थी। हम जिस पूर्णताकी ओर वढ़ रहे हैं उस समस्त पूर्णताका प्ररूप, हमारे उच्चतम विकासक्रमके पद अवश्य ही दिव्य सत्-भावमें धारित विद्यमान होंगे, वे वहाँ अवश्य ही रूपायित और सचेतन रहते होंगे ताकि हम उनकी ओर और उनके रूपमें वढ़ सकें। क्योंकि, दिव्य ज्ञानके अंदरका वह पूर्व-अस्तित्व ही वह चीज है जिसे हमारी मानव-मानसिकता आदर्शका नाम देकर खोजती है। वह आदर्श एक शाश्वत सद्वस्तु है जिसे हमने अपनी सत्ताकी अवस्थाओंमें अभी तक चरितार्थ नहीं किया है, वह कोई ऐसा अस्तित्वविहीन तत्त्व नहीं है जो अभी तक शाश्वत और भगवान्‌के हाथ नहीं आया हो और हम अपूर्ण जीवोंने ही उसकी झांकी पायी हो और उसकी सृष्टि करना चाहते हों।

सर्वप्रथम मनको लें, जो कि हमारे मानव-जीवनका पाशवद्ध और

कुंठाग्रस्त राजा है। मन स्वरूपतः ऐसी चेतना है जो मित और सीमित करती है, अविभाज्य वस्तुओंके रूपोंको काटती और उन्हें अपने अंदर इस भाँति समाये रखती है मानो प्रत्येक एक पृथक् अखंड हो। जो कुछ स्पष्टतः अंग और अंश-रूपमें अस्तित्व रखता है उसके संबंधमें भी मन अपने सामान्य व्यापारकी यह कल्पना स्थापित करता है कि वे ऐसी वस्तुएँ हैं जिनसे वह किसी समग्रके पक्ष-मात्रके रूपमें नहीं, बल्कि पृथक्तः व्यवहार कर सकता है। क्योंकि, यह जानते हुए भी कि वे अपने आपतईं वस्तुएँ नहीं हैं, वह उनके साथ इस भाँति व्यवहार करनेको विवश होता है मानों वे अपने आपतईं वस्तुएँ हैं; अन्यथा वह उन्हें अपनी निजी विशिष्ट क्रियाशीलताके अधीन नहीं कर सकता। मनका यह मूलगत धर्म ही उसकी सारी कार्यकारिणी शक्तियोंकी क्रियाओंको शासित करता है, वह क्रिया चाहे धारणा हो, प्रत्यक्षण हो, संवेदन हो या सर्जनशील विचारके व्यवहार ही हों। वस्तुओंकी धारणा, उनका प्रत्यक्षण और संवेद वह इस भाँति करता है मानों वे किसी पृष्ठभूमि या पिंडमेंसे कठोर मुष्टिसे काटी गयी हों, और रचनाके लिए या अधिकृत रखनेके लिए दी गयी सामग्रीकी स्थिर-निर्धारित इकाइयोंके रूपमें उनसे व्यवहार करता है। उसके सारे कर्म और संभोग इस प्रकार वृहत्तर समग्रोंके अंग रहनेवाले समग्रोंसे व्यवहार करते हैं और ये उपाश्रित समग्र भी फिर भागोंमें खंडित किये जाते हैं जो अपने विशेष कार्यकी दृष्टिसे फिर समग्र माने जाते हैं। मन जोड़, बाकी, गुणा, भाग कर सकता है, किंतु गणितकी इन सीमाओंके आगे नहीं जा सकता। यदि वह आगे जाता है और किसी वास्तव समग्रकी धा.णा वनानेकी कोशिश करता है तो एक विजातीय तत्त्वमें खो जाता है; वह अपनी दृढ़ भूमिसे गिरकर अमूर्तताके सागरमें, अनन्तकी खाईमें जा गिरता है जहाँ न तो उसकी दृष्टि जा सकती है, न धारणा, न संवेद-शक्ति; न ही वहाँ रचना और भोगके लिए वह अपने विषयसे व्यवहार कर सकता है। क्योंकि, यदि कभी-कभी ऐसा लगता है कि मन अनंतको धारणागत, दृष्टिगत या संवेदगत कर रहा है या उसे अधिकृत करके उसका भोग कर रहा है तो यह प्रतीति मात्रमें ही और सर्वदा अनंतकी किसी आकृतिमें ही होता है, जिसे वह इस भाँति अस्पष्टतासे अधिकृत किये रहता है कि वह एक रूपहीन बृहत् मात्र है, न कि यथार्थ देशातीत अनंत। जिस क्षण वह उससे व्यवहार करना या उसे अधिकृत करना चाहता है उसी क्षण सीमाकरणकी अविच्छेद्य प्रवृत्ति प्रवेश कर जाती है और मन स्वयंको फिरसे प्रतिमाओं, रूपों और शब्दोंसे व्यवहार करता हुआ पाता है। मन

अनंतको अधिकृत नहीं कर सकता, अनंतके द्वारा भुक्त या अधिकृत ही हो सकता है; उसकी पहुँचके परे जो सत्ताके लोक हैं वहाँसे उस सत्की डाली गयी ज्योतिर्मयी छायाके नीचे मन बस असहाय रूपसे आनंदमें पड़ा रह सकता है। उन अतिमानसिक लोकोंमें आरोहण किये बिना अनंतपर अधिकार नहीं हो सकता, और न ही ऋत-चिन्मय परम सत्यके अवतरित होनेवाले संदेशोंके प्रति मनकी निस्पंद अधीनता हुए बिना, अनंतका ज्ञान ही हो सकता है ।

मनकी यह स्वरूपगत क्षमता और उसके साथ आनेवाली मूलगत परिसीमा ही मनका सत्य हैं और उसका स्वभाव और स्वधर्म निर्धारित करती हैं; यही भागवत आदेशका चिह्न है जो उसे परम मायाके सम्पूर्ण करण-समुच्चयमें उसका कार्य सौंपता है,—वह कार्य उसके स्वरूपसे निर्धारित होता है जो वह स्वयंभूकी आत्म-कल्पनासे हुई अपनी उत्पत्तिके क्षणसे ही है। वह कार्य है अनंतताको सदैव सांतकी अभिधाओंमें अनूदित करना, मापना, सीमित करना, खंड-खंड करना। वस्तुतः वह अनंतके सारे सच्चे बोधका बहिष्कार करके ही हमारी चेतनामें इस भाँति क्रिया करता है; अतः, मन महा अज्ञानकी ग्रंथि वन जाता है, क्योंकि वही विभाजन और वितरणका प्रवर्तक है, और यह माननेकी भूल भी की गयी है कि वही विश्वका कारण और सम्पूर्ण दिव्य माया है। किन्तु दिव्य मायामें विद्या और अविद्या, ज्ञान और अज्ञान दोनों ही समाविष्ट हैं। क्योंकि, यह स्पष्ट है कि चूँकि साँत अनंतका ही एक रूप है, उसकी क्रियाका परिणाम है, उसकी कल्पना-प्रसूत क्रीड़ा है और उसके द्वारा, उसके अंदर और उसकी पृष्ठभूमि पर ही उसका अस्तित्व रहता है, अन्यथा वह रह नहीं सकता, वह स्वयं उसी सार-वस्तुका आकार है और उसी शक्तिकी क्रिया है, अतः एक ऐसी आदि चेतना अवश्य होनी चाहिये जो दोनोंको एक साथ समा लेती और देखती हो और एक-दूसरेके सारे संबंधोंके प्रति अंतरंगतासे सचेतन रहती हो। उस चेतनामें कोई अज्ञान नहीं है, क्योंकि अनंत ज्ञात रहता है और साँत किसी स्वतंत्र सत्यताके रूपमें उससे पृथक् नहीं होता; किंतु, तब भी सीमांकनकी एक गौण प्रक्रिया रहती है,—नहीं तो किसी जगत्का अस्तित्व न होता,—ऐसी प्रक्रिया, जिसके द्वारा मनकी नित्य विभेदक और पुनः संयोजक चेतना, प्राणकी नित्य अपसारी और अभिसारी क्रिया और जड़की अनंत रूपसे विभाजित और आत्म-संकलनकारी वस्तु, सबके सब एक ही तत्त्व और आदि क्रियाके द्वारा गोचर सत्तामें आते हैं। वह जो शाश्वत द्रष्टा और मनीषी है, जो पूर्णतया ज्योतिर्मय

है, अपने तथा औरोंके बारेमें पूर्णतया संविन्मय है, जो भलीभाँति जानता है कि वह क्या कर रहा है, जिस सांतकी वह सृष्टि कर रहा है उसमें अनंतके प्रति सचेतन है, उसकी इस गौण प्रक्रियाको ही दिव्य मन कहा जा सकता है। और यह स्पष्ट है कि वह मन सत्-भावकी, अतिमानसकी यथार्थतः पृथक् नहीं, वरन् गौण क्रिया ही है, और हमने जिसका वर्णन ऋत-चित्की प्रज्ञान-गति कह कर किया है, उसीके द्वारा वह कार्य करेगा।

यह प्रज्ञान-चेतना, जैसा कि हम देख चुके हैं, उस अविभाज्य 'सर्व' की सक्रिय और रूपकारी क्रियाको उसी 'सर्व' की चेतनाके समक्ष स्रष्टा ज्ञानकी प्रक्रिया और उसके विषय-रूपमें रखती है; वह सर्व अपनी स्व-क्रियाका प्रवर्तक और ज्ञाता, प्रभु तथा साक्षी है। बात कुछ ऐसी है जैसे कि कविके सामने उसकी अपनी चेतनाकी रचनाओंको रखा जाय तो उन्हें वह अपनी चेतनामें इस भाँति देखता है मानों वे रचयिता और उसकी रचना-शक्तिसे भिन्न वस्तुएँ हों, किन्तु, यथार्थतः, सारे समय वे उसकी सत्ताकी अपने-आपमें आत्म-रूपायणकी लीला होनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं और वहाँ वे अपने रचयितासे अविभाज्य हैं। इस प्रकार प्रज्ञान वह मूलभूत विभाजन कर देता है बाकी सब जिसके परिणामस्वरूप आते हैं; उस विभाजनमें एक ओर है पुरुष, चिन्मय आत्मा, जो जानता और देखता है और अपनी दृष्टिसे सृष्टि करता और विधान बनाता है, दूसरी ओर है प्रकृति, चिन्मयी शक्ति, या चिन्मयी प्रकृति, जो उसका ज्ञान और उसका चक्षु है, उसकी सृष्टि और उसकी सर्वविधायिका शक्ति है। किन्तु ये दोनों एक ही सत्, एक ही सत्ता हैं और सृष्ट तथा दृष्ट रूप उसी सत्के बहुरूप हैं, जिन्हें वह सत् अपने ज्ञाता-भावमें अपने-आपके सामने ज्ञानकी भाँति रखता है, अपने स्रष्टा-भावमें अपने सामने शक्तिकी भाँति रखता है। इस प्रज्ञान-चेतनाकी अंतिम क्रिया तब होती है जब पुरुष अपनी सत्ताके सचेतन विस्तारमें व्याप्त होता हुआ, अपने हर बिंदुपर और साथ ही अपनी समग्रतामें विद्यमान रहता हुआ, प्रत्येक रूपमें निवास करता हुआ, उसने जितने अवस्थान ले रखे हैं उनमेंसे प्रत्येकसे समग्रको मानो पृथक्तया देखता है, अन्य आत्मा-रूपोंके साथ अपने प्रत्येक आत्मा-रूपके संबंधोंको वह प्रत्येक रूप-विशेषके उपयुक्त इच्छा और ज्ञानकी भूमिकासे देखता और शासित करता है।

विभाजनके तत्त्व इसी भाँति अस्तित्वमें आये। पहले, उस एककी अनंतताने अपने-आपको धारणात्मक काल और देशके विस्तरणमें अनूदित किया; फिर, उस आत्म-चेतन विस्तरणमें उस एककी सर्वव्याप्तिने अपने-

आपको चिदात्माके बहुत्वमें, सांख्यके बहु पुरुषोंमें अनूदित किया; तीसरे, आत्मा-रूपोंके बहुत्वने अपने-आपको विस्तृत एकताके एक विभक्त निवास-में अनूदित किया। यह विभक्त निवास उस क्षण अनिवार्य हो जाता है जब इन बहु-संख्यक पुरुषोंमेंसे प्रत्येक अपने-अपने पृथक् लोकमें निवास नहीं करता, प्रत्येक एक पृथक् विश्वका निर्माण करता हुआ एक पृथक् प्रकृतिका स्वामी नहीं बनता, बल्कि वे सबके सब उसी एक प्रकृतिका उपभोग करते हैं,—और यह आवश्यक भी है, क्योंकि वे सब अपने बलकी बहु सृष्टियोंकी अध्यक्षता करनेवाले उस 'एक'के आत्मा-रूप ही हैं,—फिर भी उस एक ही प्रकृतिके द्वारा रचित सत्ताके उस एक जगत्‌में एक दूसरेके साथ संबंध रखते हैं। प्रत्येक रूपके अंदर पुरुष अपने-आपको प्रत्येकके साथ सक्रिय रूपसे एकात्म करता है; वह अपने-आपको उस रूपमें सीमित करता है और अपने अन्य रूपोंको अपनी चेतनामें इस रूपके समक्ष इस भाँति खड़ा करता है मानों उसने अपने अन्य आत्माओं-को ऐसे धारण कर रखा है कि वे सत्तामें तो उसके साथ एकात्म हैं, किंतु संबंधमें भिन्न हैं, उस अद्वय वस्तु, शक्ति, चेतना और आनंदकी विविध मात्रामें, गतिके विविध परासमें और विविध दृष्टिमें भिन्न हैं, जिन्हें उनमेंसे प्रत्येक, कालके किसी निर्दिष्ट क्षणमें या देशके किसी निर्दिष्ट क्षेत्रमें, वस्तुतः प्रसारित कर रहा है। यह मानते हुए कि दिव्य सत् पूर्णतः आत्म-संविन्मय है, उसके लिये यह परिसीमन आबद्धकारी नहीं है, यह कोई वैसा तादात्म्य नहीं है पुरुष जिसका दास हो जाता हो और जिसे पुरुष पार न कर सकता हो, जैसे कि हम शरीरके साथ अपने तादात्म्य-के दास हो गये हैं, अपने सचेतन अहंके परिसीमनको पार करनेमें अक्षम हैं, देशमें हमारा विशेष क्षेत्र निर्धारित करती हुई अपनी काल-प्रवाहगत चेतनाकी किसी गति-विशेषसे बच पानेमें असमर्थ हैं; यह सब मानते हुए भी, क्षण-प्रति-क्षण एक स्वच्छंद तादात्म्य तब भी रहता है जिसे दिव्य आत्माका अक्षर ज्ञान ही इस बातसे रोकता है कि वह अपने-आपको पथक्ता और काल-अनुक्रमकी प्रतीयमान रूपसे कठोर शृंखलामें जड़ लेवे जिसमें हमारी चेतना जड़ी और आबद्ध प्रतीत होती है।

इस तरह खंड-लीला वहाँ विद्यमान मिलती है; रूपके साथ रूपका ऐसा संबंध मानों वे पृथक् सत्ताएँ हों, सत्ताकी इच्छाके साथ सत्ताकी इच्छाका ऐसा संबंध मानों वे पृथक् शक्तियाँ हों, सत्ताके ज्ञानके साथ सत्ताके ज्ञानका ऐसा संबंध मानों वे पृथक् चेतनाएँ हों, इनकी नींव पड़

चुकी है। अभी तक वह संबंध केवल "मानों" जैसा रहता है; क्योंकि दिव्य आत्मा भ्रान्त नहीं होता, उसे यह संवित् रहती है कि सब कुछ सत्ताका व्यापार है और वह अपने अस्तित्वको सत्ताकी सत्यतामें धृत रखता है; वह अपना एकत्व खो नहीं देता; वह मनको अनंत ज्ञानकी गौण क्रियाके रूपमें व्यवहारमें लाता है, वस्तुओंकी ऐसी परिभाषाके रूपमें, जो उसकी अनंतताकी संवित्के अधीन है, ऐसे सीमाकरणके रूपमें जो उसकी मूलभूत समग्रताकी संवित्पर आश्रित है, न कि संकलन और सामूहिक समाहारकी उस प्रतीयमान और बहुआत्मक समग्रतापर, जो मनका एक अन्य व्यापार मात्र है। इस प्रकार वहाँ यथार्थ परिसीमन नहीं है; वहाँ पुरुष सुविविक्त रूपों और शक्तियोंकी लीलाके लिये अपने विशेषणकारी सामर्थ्यको व्यवहृत करता है, वह स्वयं उस सामर्थ्यके द्वारा व्यवहृत नहीं होता।

अतः, ऐसे मनकी रचनाके लिये, जो स्वतंत्रतासे सीमा बनानेवाला न होकर विवशतासे सीमित हुआ मन होगा, अर्थात्, जो मन अपनी क्रीड़ाका स्वामी है और उसे उसकी सत्यतामें देखता है, उसके विपरीत उस मनकी रचनाके लिये जो अपनी क्रीड़ाके अधीन है और उससे छला जाता है, दिव्य मनके विपरीत जीव-मनकी रचनाके लिये, एक नये तत्त्व-की, चित्-शक्तिकी एक नयी क्रियाकी आवश्यकता रहती है; वह नया तत्त्व है अविद्या, वह आत्म-उपेक्षाकारी क्षमता जो मनकी क्रियाको अति-मानसकी क्रियासे पृथक् करती है, जब कि वह अतिमानसिक क्रिया ही उसका उत्स थी और अब भी परदेके पीछेसे उसे शासित करती है। इस भाँति पृथक् होकर, मन केवल विशेषको देखता है, न कि विश्वक को, या एक अनधिकृत विश्वकमें केवल विशेषकी धारणा करता है और विशेष तथा विश्वक दोनोंको इस रूपमें नहीं देख पाता कि वे अनंतकी अभिव्यक्ति हैं। इस प्रकार हमें सीमित मन मिलता है जो प्रत्येक दृग्विषयको अपने-आपतईं एक वस्तुके रूपमें देखता है, समग्रके एक पृथक् अंगके रूपमें देखता है और वह समग्र एक वृहत्तर समग्रमें अपना पृथक् अस्तित्व रखता है और इसी प्रकार यह क्रम चलता जाता है। मन अपने समाहारोंकी परिधिको इस प्रकार वढ़ाता तो जाता है किंतु सच्चे आनंत्यके बोधतक वापस नहीं पहुंच पाता।

मन, अनंतकी एक क्रिया होनेके नाते, खंडन और संहति दोनों याव-दनन्त करता है। वह सत्ताको समग्रोंमें काटता जाता है, नित्य लघुतर समग्रोंमें, अणुओंमें, और उन अणुओंको आदि परमाणुओंमें काटता जाता

है और उसकी चले तो वह उस आदि परमाणुको शून्यतामें विलीन कर देवे। किंतु वह ऐसा नहीं कर सकता, क्योंकि इस विभाजनकारी क्रिया-के पीछे अतिमानसका रक्षक ज्ञान है जो प्रत्येक समग्रको, प्रत्येक पर-माणुको इस रूपमें जानता है कि वह सर्व-शक्तिका, सर्व-चेतनाका, सर्व-सत्ताका अपने-आपके दृग्विषयक रूपोंके अंदर संकेन्द्रण ही है। मन एक अनंत शून्यताके अंदर समष्टिके जिस विलयपर पहुंचता मालूम होता है वह अतिमानसके लिये उस आत्म-संकेन्द्रणकारी चित्-सत्ताका अपने दृग्विषयक रूपमेंसे निकलकर अनन्त आत्म-सत्तामें वापस जाना ही है। उसकी चेतना चाहे जिस राहसे बढ़े, चाहे अनंत विभाजनकी राहसे, चाहे अनंत अभिवर्द्धनकी राहसे, वह केवल अपने-आपपर ही, अपने ही अनंत एकत्व और शाश्वत सत्ता पर पहुँचता है। और जब मनकी क्रिया अतिमानस-के इस ज्ञानपर सचेतन रूपसे आश्रित होती है, तो प्रक्रियाका सत्य भी उसे ज्ञात रहता है और उसके द्वारा जरा भी उपेक्षित नहीं होता; वहाँ कोई यथार्थ विभाजन नहीं होता, वरन् सत्ताके रूपोंमें और उनके पार-स्परिक संबंधके आयोजनमें अनंत रूपसे बहुमय संकेन्द्रण होता है जहाँ कि उनकी देशगत और कालगत क्रीड़ाके लिये आवश्यक प्रक्रियामें विभाजन गौण रूप लेता है। क्योंकि, हम चाहे जितना विभाजन कर लें, सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणुतक उतर जायँ या जगतों और लोक-मंडलोंका भीम-काय-विकटाकार संयोजन कर लें, हम इनमेंसे किसी भी विधिसे उस वस्तुके तत्त्वरूप तक नहीं पहुँच सकते। सभी शक्तिके रूप हैं, केवल वह शक्ति ही वास्तविक है और बाकी सब उस शाश्वत शक्ति-चेतनाके आत्म-प्रतिरूप या अभिव्यक्त होते आत्म-रूप होनेके नाते ही वास्त-विक हैं।

तो, परिसीमन करनेवाली इस अविद्याका अतिमानससे मनके पतन-का और परिणामस्वरूप यथार्थ विभाजनके भावका प्रारंभ मूलतः कहाँसे हुआ? अतिमानसिक क्रियाकी ठीक-ठीक किस विकृतिसे हुआ? इसका उद्‌गम वहाँ है जहाँ व्यष्टि-भावापन्न जीव प्रत्येक वस्तुको अन्य सबको छोड़कर केवल अपने दृष्टिकोणसे देखता है; अर्थात्, अविद्याका आरंभ होता है चेतनाके ऐकांतिक संकेन्द्रणसे, जीवके एक ऐसी विशेष कालगत और देशगत क्रियाके साथ ऐकांतिक रूपसे एकात्म होनेसे जो उसकी अपनी 'भूति'की-लीलाका एक अंग मात्र है। इसका आरम्भ तब होता है जब जीव इस तथ्यकी उपेक्षा करता है कि और सब भी स्वयं वही हैं, अन्य सारे कर्म भी उसीके कर्म हैं और सत्ता तथा चेतनाकी

अन्य सारी स्थितियाँ समान रूपसे उसकी अपनी ही स्थितियाँ हैं, जैसे कि काल-में किसी क्षण-विशेषका कर्म, देशमें कोई विशेष आधार-बिन्दु और वह विशेष रूप जिसमें वह अभी व्याप्त है। वह क्षणपर, क्षेत्रपर, रूपपर, गतिपर संकेन्द्रित होता है, और इस प्रकार बाकीको खो देता है; तब उसे क्षणोंके अनुक्रमको, देशके बिन्दुओंके अनुक्रमको, काल और देशमें रूपोंके अनुक्रमको, काल और देशमें गतियोंके अनुक्रमको आपसमें सम्बद्ध करते हुए बाकीको पुनः प्राप्त करना पड़ता है। इस भाँति उसने काल-की अविभाज्यताके सत्यको, शक्ति और वस्तुकी अविभाज्यताके सत्यको खो दिया है। यह स्पष्ट तथ्य भी उसकी दृष्टिसे ओझल हो गया है कि सारे मन एक ही मन हैं जो अनेक दृष्टिकोण अपनाता है, सारे प्राण एक ही प्राण हैं जो कि क्रियाशीलताकी अनेक धाराओंका विकास करता है, समस्त शरीर और रूप शक्ति और चेतनाकी एक ही धातुके बने हैं जो शक्ति और चेतनाके अनेक प्रतीयमान स्थाणुत्वोंमें केन्द्रीभूत होती है; किंतु वास्तवमें ये सारे स्थाणुत्व सत्यतः एक सतत गति-चक्रमात्र हैं जो किसी रूपकी पुनरावृत्ति करता और साथ ही उसे आपरिवर्तित करता जाता है; वे इससे अधिक कुछ नहीं हैं। कारण, मन प्रत्येक वस्तुको अनन्य रूपसे निर्धारित रूपों और प्रतीयमानतः अपरिवर्तनशील या अचल बाह्य तत्त्वोंमें जकड़नेका प्रयत्न करता है, क्योंकि अन्यथा वह क्रिया नहीं कर सकता और तब वह सोचता है कि वह जो चाहता है वह उसे मिल गया है; यथार्थमें सब कुछ परिवर्तन और पुनर्नवीकरणका प्रवाह है और रूपका अपना कोई ध्रुव तात्त्विक रूप नहीं है और न कोई बाह्य तत्त्व ही अपरिवर्तनशील है। केवल शाश्वत सत्-भाव ही ध्रुव है, जो वस्तुओं-के प्रवाहमें आकारों और संबंधोंका एक विशेष व्यवस्थित सातत्य बनाये रखता है; इसी सातत्यका अनुकरण करनेका व्यर्थ प्रयत्न मन तब करता है जब वह उसे ध्रुव मानता है जो कि नित्य चंचल है। मनको इन सत्योंका पुनः आविष्कार करना है; ये सत्य उसे सर्वदा ज्ञात तो रहते हैं, किन्तु उसकी चेतनाके छिपे हुए पृष्ठभागमें ही, उसकी आत्म-सत्ताके गुप्त आलोकमें ही; और वह आलोक उसके लिये अंधकार है, क्योंकि उसने अविद्याकी रचना की है, क्योंकि वह विभेदक मानसिकतासे विभक्त मान-सिकतामें च्युत हो गया है, क्योंकि वह अपनी ही क्रियाओंमें और अपनी ही रचनाओंमें ग्रस्त हो गया है।

और जब मनुष्य अपने-आपको शरीरके साथ एकात्म कर देता है तो यह अविद्या उसके लिये और भी गहरी हो जाती है। हमें ऐसा लगता

है कि मन शरीरके द्वारा निर्धारित हुआ है, क्योंकि वह शरीरके साथ अति व्यस्त और उन शारीरिक क्रियाओंमें अनुरक्त रहता है जिन्हें वह इस स्थूल, भौतिक, जड़ जगत्में अपनी सचेतन बाहरी क्रियाके लिये व्यवहृत करता है। शरीरके अंदर अपने निजके विकासके दौरानमें उसने मस्तिष्क और स्नायुओंकी जिस क्रियाका विकास किया है, उसका सतत उपयोग करता हुआ वह यह देखनेमें अति निमग्न हो जाता है कि यह शरीर-यंत्र उसे क्या दे रहा है और तब वह उससे हटकर अपनी शुद्ध क्रियाओंकी ओर वापस नहीं जा पाता; वे क्रियाएँ उसके लिये अधिकतर अवचेतन होती हैं। फिर भी हम ऐसे प्राण-मन या प्राण-पुरुषकी धारणा बना सकते हैं जो इस निमग्नताकी क्रमवैकासिक आवश्यकतासे परे चला गया हो और यह देख पाता हो, यहाँ तक कि अनुभव भी कर पाता हो, कि वह स्वयं शरीर-पर-शरीर धारण करता जाता है, न कि प्रत्येक शरीरमें पृथक् रूपसे रचा गया होता है, न ही शरीरके साथ उसका अंत होता है; क्योंकि जड़-तत्त्व पर मनकी स्थूल छापकी, शारीरिक मानसिकताकी ही रचना इस भाँति होती है, सम्पूर्ण मनोमय पुरुषकी नहीं। यह शारीरिक मानसिकता हमारे मनकी सतह मात्र है, केवल वह सम्मुख भाग है जिसे वह स्थूल अनुभवके सामने प्रदर्शित करता है। पीछे, हमारी पार्थिव सत्तामें भी, यह अन्य मन रहता है, जो हमारे लिये अवगूढ़ या अवचेतन है, वह अपने-आपको शरीरसे अधिक कुछ औरके रूपमें जानता है और कम स्थूल क्रिया करनेमें सक्षम होता है। हमारे ऊपरी मनकी जो बृहत्तर, गभीरतर, अधिक सबल और ऊर्जस्वी क्रिया होती है उसमेंसे अधिकांशका तात्कालिक उद्‌गम इस अवचेतन मनसे ही होता है। जब हम इसके प्रति या अपने-आपपर इसकी छापके प्रति सचेतन होते हैं तो यह अंतरात्मा या आंतरिक सत्ताके, पुरुषके[1] संबंधमें हमारी पहली धारणा या पहली उपलब्धि होती है।

किन्तु, यह प्राणमय मानस भी, यद्यपि वह शरीरकी भूलसे मुक्त हो जा सकता है, हमें मनकी सम्पूर्ण भूलसे मुक्त नहीं करता; वह अब भी अज्ञानकी उस मौलिक क्रियाके आधीन रहता है जिसके द्वारा व्यष्टि-भावापन्न जीव प्रत्येक वस्तुको अपने ही दृष्टिकोणसे देखता है और वस्तुओं के सत्यको उसी रूपमें देख सकता है जिसमें वे उसके सामने बाहरसे उपस्थित होती हैं, या जिस रूपमें वे उसकी पृथक् काल और देशकी

1. प्राणमय पुरुषके रूपमें अनुभूत।

चेतनापर आश्रित दृष्टिमें, भूत और वर्तमानके अनुभवके आकारों और परिणामोंकी भाँति उद्भूत होती हैं। अपने अन्य आत्माओंके प्रति वह अपने अस्तित्वके बारेमें दिये गये उनके बाह्य संकेतोंके द्वारा ही सचेतन हो पाता है। ये संकेत प्रकट किये गये विचार, वाणी, कर्म, कर्म-परिणाम के होते हैं, या प्राणिक टक्कर और संबंधके सूक्ष्मतर संकेत होते हैं जिनका सीधा अनुभव शारीरिक सत्ताको नहीं होता। वह समान रूपसे अपने बारे-में अज्ञानमें रहता है, क्योंकि वह अपने आत्माको केवल कालमें गतिके द्वारा और जीवनोंके अनुक्रमके द्वारा ही जानता है जिनमें उसने अपनी विविध रूपसे देहगत हुई ऊर्जाओंका व्यवहार किया है। जैसे हमारे शारी-रिक करण-मनको शरीरका भ्रम रहता है, वैसे ही इस अवचेतन क्रियात्मक मनको प्राणका भ्रम रहता है। वह उसीमें निमग्न और संकेन्द्रित रहता है, उसीके द्वारा सीमित होता है, और उसीके साथ अपनी सत्ताको एकात्म करता है। यहाँ हम अभी तक मन और अतिमानसके उस मिलन-स्थलतक और उस बिन्दुतक नहीं पहुँच पाये हैं, जहाँसे उनका प्रथम विच्छेद हुआ था।

किन्तु, क्रियात्मक और प्राणिक मनके पीछे, एक और, स्पष्टतर, चिंतन-शील मन भी रहता है जो प्राणमें इस तरह निमग्न होनेसे बचनेमें सक्षम रहता है। वह अपने-आपको इस रूपमें देखता है कि उसने इच्छा और विचारके द्वारा जिसे प्राप्त किया है उसे ऊर्जाके सक्रिय संबंधोंमें मूर्त करनेके लिये ही वह प्राण और शरीर धारण करता है। यह तत्त्व हमारे अन्दर शुद्ध मनीषीका उद्गम स्थल है; यह वह है जो मानसिकता-को उसके तत्त्व-रूपमें जानता है और जगत्को प्राण तथा शरीर-रूपमें नहीं, वरन् मन-रूपमें जानता है; यही है मनोमय पुरुष, जिसतक वापस पहुँचकर हम कभी-कभी उसे शुद्ध आत्मा माननेकी भूल कर बैठते हैं, जैसे कि हम क्रियात्मक मनको अंतरात्मा माननेकी भूल करते हैं। यह उच्चतर मन अन्य जीवोंको अपने शुद्ध आत्माके अन्य रूपोंकी नाईं देख सकता और उनके साथ उसी भाँति व्यवहार कर सकता है; उसमें यह सामर्थ्य रहता है कि उनका बोध केवल प्राणिक और स्नायविक आघात और स्थूल संकेतके द्वारा ही न करके शुद्ध मनोमय आघात और संचारके द्वारा करे। वह एकत्वकी एक मानसिक आकृतिकी धारणा भी कर लेता है, और अपनी क्रिया तथा इच्छामें वह अपने मन और प्राणमें और अन्य मनों और प्राणोंमें भी सर्जन कर सकता है और अधिकृत कर सकता है, अधिक अपरोक्ष रूपसे, केवल परोक्ष रूपसे नहीं, जैसा

कि सामान्य स्थूल जीवनमें होता है। किंतु, फिर भी, यह शुद्ध मन भी मनकी मूल भ्रान्तिसे नहीं वच पाता। कारण, वह अव भी अपनी पृथक् मानस-सत्ताको ही विश्वका निर्णायक, साक्षी और केन्द्र वनाता है और केवल उसीके द्वारा अपने-आपकी उच्चतर सत्ता और सत्यतातक पहुँचनेका प्रयास करता है; अन्य सव उसके लिये "अन्य" हैं जो उसके चारों ओर एकत्रित हुए हैं: वह जव मुक्त होना चाहता है तो यथार्थ एकत्वमें विलुप्त हो जानेके लिये उसे प्राण और मनसे पीछे हटना पड़ता है। वस्तुतः, अविद्या द्वारा रचे गये मन और अतिमानसकी क्रियाके वीचका आवरण अभी तक विद्यमान है; उसमेंसे सत्यका प्रतिविम्व ही आ पाता है, स्वयं सत्य नहीं।

जव यह आवरण विदीर्ण हो जाता है और विभक्त मनको एक अतिमानसिक क्रिया पराभूत, नीरव और निष्क्रिय कर देती है, केवल तभी मन वस्तुओंके सत्य तक वापस जा सकता है। वहाँ हमें एक ज्योतिर्मय मानस-सत्ता मिलती है। वह मन दिव्य सत्-भावका प्रतिविम्वक, अनुगामी और करण होता है। वहाँ हम देखते हैं कि जगत् यथार्थतः क्या है; हम हर प्रकारसे अपने-आपको अन्योंमें और अन्योंकी भाँति जानते हैं, अन्योंको अपनी भाँति और सवको विश्वव्यापी और वहुधा रूपायित "एक"के रूपमें जानते हैं। तव अनम्य रूपसे पृथक् रहनेवाला वैयक्तिक दृष्टिकोण, जो समस्त परिसीमन और भ्राँतिका मूल है, हमसे छूट जाता है। तथापि, हम यह भी देखते हैं कि जिसे मनके अज्ञानने सत्य समझा था वह वस्तुतः सत्य था, किंतु वह सत्य विपथ हुआ, प्रमाद-ग्रस्त हुआ और मिथ्या रूपसे कल्पित हुआ सत्य था। विभाजन, व्यष्टिकरण और आणविक सृष्टि, इन्हें हम देखते तव भी हैं, किन्तु हम उन्हें और अपने-आपको उस रूपमें जानते हैं जो वे और हम सत्यतः हैं। और इस प्रकार हमें प्रत्यक्ष होता है कि मन यथार्थतः ऋत-चित्की एक गौण क्रिया और उसका उपकरण था। जव तक मन आत्मानुभवमें आच्छादिका प्रभु-चेतनासे पृथक् नहीं होता और अपने लिये घर खड़ा करनेकी चेष्टा नहीं करता, जव तक वह एक अनुगत यंत्रकी नाईं सेवा करता है, अपने निजके लाभके लिये अधिकार करनेका प्रयत्न नहीं करता, तव तक मन अपना कार्य आलोकमय रूपसे संपादित करता रहता है, वह कार्य 'सत्य'में रूपोंको उनकी क्रियाके एक प्रातिभासिक, एक शुद्धतः रूपगत सीमायनके द्वारा एक-दूसरेसे अलग रखना है, जिसके पीछे सत्ताकी शासिका विश्वव्यापकता सचेतन और अछूती बनी रहती है। उसे

वस्तुओंके सत्यको ग्रहण करना है और एक परम तथा विश्वव्यापी चक्षु एवं इच्छाकी निर्भ्रान्त दृष्टिसे उस सत्यको वितरित करना है। उसे सक्रिय चेतना, आनन्द, शक्ति और उपादान-धातुके व्यष्टिभावको धारण करना है जो अपना सारा बल, यथार्थत्व और आनन्द पीछे रहनेवाले अक्षर विश्वभावसे पाता है। उसे उस "एक"के बहुत्वको प्रतीयमान विभाजनमें मोड़ना है जिसके द्वारा संबंध निर्धारित होते हैं और वे एक-दूसरेके समक्ष खड़े किये जाते हैं, ताकि उनका फिरसे मिलना हो और वे सयुंक्त हो जायँ। एक शाश्वत ऐक्य और अन्योन्य सम्मिश्रणके मध्य उसे पार्थक्य और संस्पर्शका आनन्द स्थापित करना है। उसे उस "एक"को ऐसा व्यवहार करनेमें समर्थ करना है मानों वह अन्य व्यक्तियोंके साथ व्यवहार करता हुआ एक व्यक्ति है, यद्यपि यह होगा सदा उसके अपने एकत्वमें ही, और यथार्थतः यही जगत् है। मन प्रज्ञानकी अंतिम क्रिया है जिसके द्वारा यह सब संभव होता है, और हम जिसे अज्ञान कहते हैं वह किसी नयी वस्तु और अमिश्रित मिथ्यात्वकी सृष्टि नहीं करता, वरन् केवल सत्यका गलत प्रदर्शन करता है। अज्ञान वह मन है जिसका ज्ञान अपने ज्ञान-मूलसे वियुक्त हो गया है और जिसे परम सत्यकी विश्व-अभिव्यक्तिकी सांमजस्यपूर्ण क्रीड़ामें एक मिथ्या अनम्यता दीखती और विरोध तथा संघर्षकी भ्रांत प्रतीति होती है।

तो, मनकी मूलगत भ्रांति है आत्म-ज्ञानसे यह च्युति जिसके कारण व्यष्टि-जीव अपनी वैयक्तिकताकी धारणा एकत्वके एक रूपमें करनेके बदले पृथक् तथ्यकी भांति करता है और अपने-आपको विश्वके एक संकेन्द्रण-रूपमें न जानकर निजको ही अपने-आपके विश्वका केन्द्र वना डालता है। उसकी सारी विशेष अज्ञानताएँ और सीमाएं उस मूल भ्रांतिके ही आनुषंगिक परिणाम हैं। क्योंकि, विश्वके प्रवाहको वह केवल उसी रूपमें देखता है जिस रूपमें वह स्वयं उसके ऊपर और उसमें बहता जाता है, वह सत्ताको परिसीमित कर लेता है, जिससे चेतना और परिणामतः ज्ञान भी परिसीमित हो जाते हैं, चेतन शक्ति और इच्छा, और अतएव शक्ति भी परिसीमित हो जाती हैं, आत्म-संभोग और अतएव आनंद भी परिसीमित हो जाते हैं। वस्तुओंके प्रति वह उसी रूपमें सचेतन होता और उन्हें जानता है जिसमें वे वस्तुएँ उसकी वैयक्तिकताके सामने आती हैं और अतः वह, जो कुछ बाकी है, उसके अज्ञानमें पड़ जाता है, और इस प्रकार, वह जिसे जानता हुआ प्रतीत होता है उसकी भी भ्रांत धारणामें ही जा पड़ता है; चूंकि समस्त सत्ता अन्योन्याश्रित है इसलिये किसी भी अंगके सम्यक्

ज्ञानके लिये समग्रका या स्वरूप-तत्त्वका ज्ञान आवश्यक रहता है। अतः समस्त मानव-ज्ञानमें भ्रांतिका एक तत्त्व रहता है। उसी भांति, सर्वेच्छाके बाकी भागके प्रति अज्ञानके कारण हमारी इच्छाका भी क्रियाकी भ्रांतिमें और असामर्थ्य तथा अशक्तताकी न्यूनाधिक मात्रामें पड़ जाना आवश्यक हो जाता है; जीवका स्वरूपानन्द और विषयानंद सर्वानन्दके प्रति अज्ञ रहनेके कारण और इच्छा तथा ज्ञानकी त्रुटिके कारण अपने जगत्पर अधिकार रखनेमें अक्षम रहता हुआ, अवश्य ही "स्वाधिकार-प्रमत्त" आनंदकी अक्षमतामें, और फलस्वरूप, कष्टमें जा पड़ता है। अतएव, आत्म-अज्ञान हमारे जीवनकी सारी विकृतियोंका मूल है और यह विकृति दृढ़-सुरक्षित हो जाती है आत्म-परिसीमनमें, अहंभावमें, जो आत्म-अज्ञानके द्वारा लिया गया रूप है।

तथापि, सारा अज्ञान और सारा विकार वस्तुओंके सत्य और ऋतकी विकृति मात्र हैं, न कि किसी अमिश्रित मिथ्यात्वकी क्रीड़ा। यह परिणाम मनकी क्रियाका है, जब वह निजको और अपने विभाजनोंको सच्चिदानंदके सत्यकी क्रीड़ाके करण और बाह्य रूपकी भांति न देखकर, वस्तुओंको अपने बनाये विभाजनमें—अविद्यायामन्तरे—देखता है। मन जिस सत्यसे आ गिरा है यदि उसतक वापस चला जाय, तो वह फिरसे ऋत-चित्की प्रज्ञान-प्रक्रियाकी अंतिम क्रिया बन जाता है और वह उस ज्योति तथा बलमें जिन संबंधोंकी रचना करनेमें सहायता देता है वे सत्यके संबंध होंगे, न कि सत्यकी विकृतिके। वैदिक ऋषियोंकी प्रांजल विवेक-वाणीमें वे ऋजु वस्तुएं होंगे, 'ऋजुनीत्या', न कि वक्र या कुटिल, 'धूर्त्ति'; अर्थात् वे दिव्य सत्ताके सत्य होंगे जिसकी आत्मधृत चेतना, इच्छा और आनंद उसके अंदर सामंजस्य-पूर्ण रूपसे गतिशील रहते हैं। अभी तो हमारे मन और प्राणकी बल्कि वक्र और टेढ़ी-मेढ़ी गति होती है; ये विकृतियां जीवके संघर्षसे रची होती हैं; वह जीव अपनी सच्ची सत्ताको कभी भुला बैठा था, पर अब वह संघर्ष करता है अपने स्वरूपको फिरसे पानेके लिये, समस्त भूल-भ्रांतिको उस सत्यमें पर्यवसित करनेके लिये जिसे हमारा सत्य और हमारी भूल-भ्रांति, हमारे सही और गलत कर्म दोनों ही सीमित या विकृत करते हैं, समस्त असामर्थ्यको उस बलमें पर्यवसित करनेके लिये जिसे धृत करनेको हमारा बल और हमारा दौर्बल्य दोनों ही शक्तिका संघर्ष होते हैं, समस्त कष्टको उस आनंदमें पर्यवसित करनेके लिये जिसे उपलब्ध करनेको हमारा हर्ष और हमारी व्यथा दोनों ही संवेदनाका उत्तेजनात्मक प्रयास होते हैं, समस्त मृत्युको उस अमरत्वमें पर्यवसित करनेके लिये जिसमें वापस जानेको हमारा जीवन और मरण दोनों ही हमारी सत्ताका सतत प्रयास होते हैं।

सहायता पाकर जिस ज्ञानको हम पुनः प्राप्त कर रहे हैं, वह हमें यह दिखलाना आरंभ कर रहा है कि इस शक्तिमें और जड़तत्त्वमें एक अवचेतन मन क्रिया कर रहा है जो, अवश्य ही, अपने-आपके उन्मज्जनके लिये उत्तरदायी है, प्रथमतः प्राणके रूपोंमें और द्वितीयतः स्वयं मनके रूपोंमें, पहले वनस्पति-जीवनकी और आरंभिक पशुकी स्नायविक चेतनामें, और फिर, विकसित पशुकी और मनुष्यकी सर्वदा-विकसनशील मानसतामें। और, जैसे हम ज्ञात कर चुके हैं कि जड़ तो शक्तिका वस्तु-रूप ही है, वैसे ही हमें यह भी ज्ञात होगा कि जड़-शक्ति मनका ऊर्जा-रूप मात्र है। जड़-शक्ति वस्तुतः इच्छा-शक्तिकी एक अवचेतन क्रिया है; इच्छा-शक्ति, जो कि हमें हमारे अंदर प्रकाशमें क्रिया करती लगती है, यद्यपि वह प्रकाश अर्ध-प्रकाशसे अधिक नहीं है, और जड़-शक्ति, जो हमें बुद्धिशून्यताके अंधकारमें क्रिया करती लगती है, यथार्थमें और सार-रूपमें ये दोनों एक ही हैं, जैसा कि भौतिकवादी विचारधारा वस्तुओंके गलत या निचले छोरसे सहजबोधके साथ सदा अनुभव करती रही है और जैसा कि आध्यात्मिक ज्ञान शिखरपरसे क्रिया करता हुआ बहुत पहले ज्ञात कर चुका है। अतः हम कह सकते हैं कि एक अवचेतन 'मन' या 'बुद्धि'ने ही, शक्तिको अपने चालक बल, अपनी कार्यकारिणी प्रकृति, अपनी प्रकृतिके रूपमें अभिव्यक्त करते हुए, इस भौतिक जगत्का सर्जन किया है।

किंतु, जैसा हम अभी देख चुके हैं, मन कोई स्वतंत्र और मौलिक तत्त्व नहीं है, प्रत्युत ऋत-चित् या अतिमानसकी एक अंतिम क्रिया मात्र है, अतः जहाँ कहीं मन है, वहाँ अतिमानस भी अवश्य होगा। अतिमानस या ऋत-चित् ही विश्व-सत्ताका यथार्थ स्रष्टात्मक अभिकर्त्ता है। मन जब अपनी निजी अंधकारग्रस्त चेतनामें अपने मूलसे पृथक् हो जाता है, तब भी वह विशालतर गतिधारा मनकी क्रियाओंमें सदा रहती है, उन्हें बाध्य करती है कि वे अपना उचित संबंध बनाये रखें, अपने अंदर धारित अनिवार्य परिणामोंको उत्पन्न करती रहें, सही बीजसे सही वृक्ष उत्पन्न करती रहें, और वह गति जड़-शक्ति जैसी मूढ़, तामसिक और अंधकारग्रस्त वस्तुकी क्रियाओंको भी विवश करती है कि उनके परिणामस्वरूप अन्यथा जो टकराते हुए संयोगों और अव्यवस्थाका जगत् आता, उसके बदले विधान, व्यवस्था और सही संबंधका जगत् आये। स्पष्ट है कि यह व्यवस्था और उचित संबंध सापेक्षिक ही हो सकते हैं, वे वह परम व्यवस्था और परम ऋत नहीं हो सकते जिनका राज्य तब होता यदि मन अपनी चेतनामें अतिमानससे पृथक् न हुआ होता; यह तो विभक्तकारी मनकी क्रियाके,

उसके पृथक्कारी विरोधोंके सृजनके, उसके उस एक ही सत्यके परस्पर-विरोधी द्वैत पक्षोंके सृजनके उपयुक्त और स्वाभाविक परिणामोंकी एक व्यवस्था, एक आयोजन है। भागवत चेतना अपने-आपके इस द्वैत या विभक्त प्रतिरूपके 'भाव'को कल्पित और सक्रिय करके अपने ही निम्नतर सत्यको, विविध संबंधके अनिवार्य परिणामको पृष्ठभूमिमें स्थित सम्पूर्ण ऋत-चित्‌की शासिका क्रियाके द्वारा उस 'भाव'से उद्‌धृत करके 'सत्-भाव'में लाती है और फिर उसे वहाँसे लाकर प्राण-तत्त्वमें व्यवहारतः व्यक्त करती है। वस्तुतः, जगत्‌में ऋत या सत्यका यह स्वभाव है कि वह उस तत्त्वको, दिव्य ज्ञानके देखनेके अनुसार, ठीक-ठीक क्रियान्वित करता और बाहर ले आता है जो सत्तामें समाया हुआ है, स्वयं उस वस्तुके सारतत्त्व और स्वरूपमें गर्भित है, उसके स्वभाव तथा स्वधर्ममें निभृत है। प्रकाश बिखेरते थोड़ेसे शब्दोंमें ज्ञानका जगत् भरनेवाले अद्‌भुत उपनिषद-सूत्रोंमेंसे एकको लें,—कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।। (ईशोपनिषद् 8),—उस स्वयंभूने ही, द्रष्टा और मनीषी रूपमें, सर्वत्र सब कुछ होते हुए, अपने अन्दर समस्त वस्तुओंको, जो कुछ वे हैं, उसके सत्यके अनुसार सनातन कालसे ठीक-ठीक आयोजित किया है।

फलस्वरूप, हम जिस त्रिलोकमें रहते हैं, मन-प्राण-शरीरके जगत्‌में, वह अपने विकासकी वर्तमान सम्पादित अवस्थामें ही त्रिधा है। जड़में निर्वर्तित प्राण विचारधर्मी और मनोमय रूपसे सचेतन प्राणके रूपमें उद्‌भूत हुआ है। किंतु, मनके साथ अतिमानस है, अतिमानस मनमें संवृत है, अतः प्राण और जड़में भी संवृत है; अतिमानस इन अन्य तीनोंका मूल और शासक है, और वह भी उन्मज्जित होकर रहेगा। जगत्‌के मूलमें हम एक बुद्धिकी खोज करते हैं, क्योंकि बुद्धि ही हमारी संवित्‌में आया हुआ उच्चतम तत्त्व है और बुद्धि ही हमारा शासन करती और हमारे निजके समस्त कर्म और सृजनकी व्याख्या करती मालूम होती है; अतः यदि विश्वमें कोई चेतना है भी, तो हम यह मानकर चलते हैं कि वह कोई 'बुद्धि', मनोमय चेतना ही होगी। किन्तु बुद्धि तो बस अपने आपसे श्रेष्ठतर सत्ताके एक 'सत्य'की क्रियाको अपने सामर्थ्यकी सीमाके अनुसार प्रत्यक्ष, प्रतिबिंबित और व्यवहृत करती है; अतः पीछे स्थित जो शक्ति कार्य करती है वह उस सत्यके अनुरूप चेतनाका अन्य और श्रेष्ठतर रूप होगी। हमें अपनी धारणाको इसीके अनुसार संशोधित करना होगा और यह बोलना होगा कि इस भौतिक विश्वका सृजन किसी अवचेतन मन या बुद्धिने नहीं, वरन् एक संवृत अतिमानसने किया है जो मनको शक्तिके

अंदर अवचेतन रहनेवाली अपनी ज्ञानात्मिका इच्छाके एक अव्यवहित-सक्रिय विशेष रूपकी भांति अपने सम्मुख रखता है और सत्ताके वस्तुतत्त्वमें अवचेतन रहनेवाली जड़-शक्ति या इच्छाको अपनी (कार्यकारिणी) प्रकृतिके रूपमें व्यवहृत करता है।

किंतु हम देखते हैं कि यहाँ मन शक्तिके एक विशिष्टीकरणमें अभिव्यक्त हुआ है जिसे हम प्राणका नाम देते हैं। तो प्राण क्या है? अतिमानसके साथ, सत्-भाव या ऋत-चित्के द्वारा सृष्टिमें क्रियमाण सच्चिदानंदकी इस परम त्रिपुटीके साथ प्राणका क्या संबंध है? उस त्रिपुटीके किस तत्त्वसे प्राणका जन्म होता है? या, सत्यकी अथवा भ्रमकी, दिव्य अथवा अदिव्य, किस आवश्यकतासे वह अस्तित्वमें आता है? सदियोंसे यह पुराना स्वर गूंजता आ रहा है कि जीवन एक बुराई है, एक भ्रांति है, एक उन्माद है, एक विक्षिप्तता है, जिससे भागकर हमें शाश्वत सत्की विश्रांतिमें जा पहुँचना है। क्या वास्तवमें ऐसा ही है? यदि है, तो ऐसा क्यों है? शाश्वतने क्यों अपने-आपपर, या अन्यथा अपनी कराल, सर्व-छलनामयी मायाके द्वारा अस्तित्वमें लाये गये जीवोंपर उच्छृंखलतासे इस बुराईको आरोपित किया है, इस उन्माद या विक्षिप्तताको लादा है? बल्कि, क्या कोई दिव्य तत्त्व ही है जो इस भांति अपने-आपको प्रकट कर रहा है, सनातन सत्ताके आनन्दकी कोई शक्ति ही है जिसे प्रकट होना था और जिसने अपने-आपको इस ब्रह्मांडमें स्थित असंख्य लोकोंमें बसनेवाले कोटि-कोटि प्राण-रूपोंके इस सतत् विस्फोटके द्वारा काल और देशके अंदर डाल दिया है?

जड़तत्वको आधार बनाकर पृथ्वीपर अभिव्यक्त होते हुए इस प्राणका अध्ययन जब हम करते हैं तो देखते हैं कि स्वरूपतः वह उस एक ही वैश्व ऊर्जाका एक रूप है, उसकी एक क्रियात्मक गति या धारा है, भावात्मक और अभावात्मक; वह उस शक्तिकी एक सतत क्रिया या क्रीड़ा है जो कि रूपोंका निर्माण करती, उद्दीपनके सतत स्रोतसे उन्हें ऊर्जस्वी करती रहती और उनके उपादानके विघटन और पुनर्नवीकरणकी अनवरत प्रक्रियाके द्वारा उन्हें बनाये रखती है। इससे यह देखा जा सकता है कि हम मृत्यु और जीवनके बीच जो स्वाभाविक विरोध खड़ा करते हैं वह हमारी मानसिकताकी एक भ्राँति है, उन मिथ्या विरोधोंमेंसे है,—आंतरिक सत्य-के लिये मिथ्या, यद्यपि ऊपरी व्यावहारिक अनुभवमें सार्थक,—जिन्हें हमारी मानसिकता प्रत्यक्ष रूपोंसे छली जाकर विश्वव्य.पी एकत्वके अंदर सतत रूपसे प्रविष्ट करती रहती है। जीवनकी एक प्रक्रिया होनेके

अतिरिक्त मृत्युकी और कोई वास्तविकता नहीं है। उपादानका विघटन और उसका पुनर्नवीकरण, रूपका संरक्षण और रूपका परिवर्तन, ये जीवनकी सतत प्रक्रिया हैं; मृत्यु तो बस एक द्रुत विघटन है जो जीवनके रूपगत अनुभवके परिवर्तन और वैचित्र्यकी आवश्यकताकी अनुसेविका है। शरीरकी मृत्युमें भी प्राणकी समाप्ति नहीं होती, केवल प्राणके एक रूपका उपादान प्राणके अन्य रूपोंका उपादान बननेके लिये खंडित किया जाता है। इसी प्रकार, हम प्रकृतिके नियमकी एकरूपताके बलपर यह विश्वास कर सकते हैं कि यदि शारीरिक रूपमें कोई मानसिक या चैत्यिक ऊर्जा है तो वह भी विनष्ट नहीं होती, अपितु वह देहांतरगमनकी या शरीरमें नवीन आत्मानुप्रवेशकी किसी प्रक्रियाके द्वारा दूसरे रूपोंको ग्रहण करनेके लिये एक रूपको भंग करती हुई उससे निकल पड़ती है। सब-कुछ नवायित होता है, कुछ भी नष्ट नहीं होता।

परिणामतः यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि एक सर्वव्यापी प्राण या क्रियात्मक ऊर्जा है; वही भौतिक विश्वके इन सारे रूपोंका सृजन करती है; स्थूल, भौतिक रूप उसकी बाह्यतम क्रिया ही है, वह प्राण अविनाशी और शाश्वत है। यदि विश्वकी समस्त आकृति नष्ट-भ्रष्ट हो जाय तब भी प्राण अस्तित्वमान रहेगा, उसके स्थानपर एक नया विश्व उत्पन्न करनेमें समर्थ रहेगा; वस्तुतः जबतक कोई उच्चतर शक्ति उसे किसी विश्रामकी स्थितिमें रोक न रखेगी या वह प्राण स्वयं ही अपने-आपको विश्राममें न रोके रखेगा, वह अनिवार्यतः सृजन करता जायगा। ऐसी दशामें प्राण उस शक्तिके अतिरिक्त कुछ नहीं है जो जगत्में रूपोंका निर्माण, संरक्षण और विनाश करती है; प्राण ही पृथ्वीके रूपमें अभिव्यक्त होता है जैसे वह पृथ्वीपर पनपनेवाली वनस्पतिमें और उन पशुओंमें अभिव्यक्त होता है जो अपना जीवन वनस्पतिकी या एक दूसरेकी प्राण-शक्तिका भक्षण कर बनाये रखते हैं। यहाँ सारा जीवन एक विश्वगत प्राण है जो जड़तत्त्वका रूप लेता है। उस उद्देश्यके लिये, हो सकता है कि अवमानसिक संवेदनशीलता और मनोभावापन्न प्राणिकतामें प्रकट होनके पूर्व, वह प्राण-प्रक्रियाको स्थूल, भौतिक प्रक्रियामें छिपा दे, किन्तु फिर भी सर्वत्र वह वही सर्जनकारी प्राण-तत्त्व रहेगा।

तथापि, यह कहा जायगा कि प्राणसे हमारा यह अभिप्राय नहीं है; हमारा अभिप्राय है विश्वव्यापी शक्तिके एक विशेष परिणामसे जिससे हम परिचित हैं और जो केवल वनस्पति और पशुमें ही अभिव्यक्त होता है, किंतु धातुखंड, पत्थर, गैसमें नहीं, और जो पशुके कोषाणुओंमें क्रिया करता

है, किंतु शुद्ध जड़ परमाणुमें नहीं। अतः हमें अपनी आधार-भूमिको सुनिश्चित करनके लिये यह जांच करनी होगी कि शक्तिकी क्रीड़ाके जिस विशेष परिणामको हम प्राण कहते हैं उसका स्वरूप ठीक-ठीक क्या है और निष्प्राण वस्तुओंमें शक्तिकी क्रीड़ाका जो अन्य परिणाम है, जिसके वारेमें हम कहते हैं कि वह प्राण नहीं है, उससे वह कैसे भिन्न होता है। हम तुरत ही देख पाते हैं कि यहाँ पृथ्वीपर शक्तिकी क्रीड़ाके तीन प्रदेश हैं; पहला, प्राचीन वर्गीकरणका पशु-जगत्, जिसमें हमारी गिनती है; दूसरा, वनस्पतिका; तीसरा, मात्र जड़, जिसे हम प्राणशून्य कहते हैं। हमारे अन्दरका प्राण वनस्पतिके प्राणसे किस प्रकार भिन्न है? और, वनस्पतिका प्राण 'निष्प्राण'से, उदाहरणके लिये धातु-जगत्के, प्राचीन भाषामें कहे जानेवाले खनिज जगत्के, या भौतिक विज्ञानद्वारा आविष्कृत नये रसायनिक जगत्के 'निष्प्राण'से किस तरह भिन्न है?

सामान्यतः हम जव प्राणकी चर्चा करते हैं तो हमारा अभिप्राय पशु-प्राणसे रहता है, जो चलता है, श्वास लेता है, खाता है, अनुभव करता है, कामना करता है, और हम यदि वनस्पतिके प्राणकी बात कहते हैं तो वह कोई वास्तविकता होनेकी अपेक्षा प्रायः रूपक जैसा रहा है, क्योंकि वनस्पतिके प्राणको एक जैव व्यापारकी अपेक्षा एक शुद्ध जड़ प्रक्रियाके ही रूपमें देखा जाता था। विशेषतः हमने प्राणको श्वासकी प्रक्रियाके साथ संबद्ध रखा है, प्रत्येक भाषामें कहा जाता था कि श्वास ही प्राण है। यह उक्ति सत्य भी है यदि हम 'विश्व-प्राणके श्वास'के अर्थकी अपनी धारणाको बदल दें। किंतु यह स्पष्ट है कि स्वतःस्फूर्त गति या चलना-फिरना, श्वास लेना, खाना, ये प्राणकी प्रकियाएं मात्र हैं, स्वयं प्राण नहीं; ये तो उस सतत उद्दीपन देती रहनेवाली ऊर्जा-को उत्पन्न या उन्मुक्त करनेके साधन हैं जो हमारी प्राण-शक्ति है, और ये विघटन और पुनर्नवीकरणकी उस प्रक्रियाके लिये साधन हैं जिसके द्वारा वह शक्ति हमारी वस्तुमय सत्ताको अवलंबन देती हैं; किन्तु हमारी प्राण-सत्ताकी ये प्रक्रियाएं हमारी श्वास-क्रिया और हमारे पोषण-साधनों-से भिन्न अन्य उपायोंसे भी चालू रखी जा सकती हैं। यह एक प्रमा-णित तथ्य है कि श्वासको, हृदय-स्पंदनको, और मानव-प्राणके लिये पहले अनिवार्य मानी जानेवाली अन्य अवस्थाओंको कुछ कालके लिये स्थगित कर दिये जाने पर भी मानव-प्राण शरीरमें टिका रह सकता है और पूरी चेतनाके साथ टिका रह सकता है। और ऐसे व्यापारोंके नवीन प्रमाण सामने आये हैं जिनसे यह प्रस्थापित होता है कि वनस्पतिमें,

जिसके बारेमें हम अब भी यह अस्वीकार कर सकते हैं कि उसकी कोई सचेतन प्रतिक्रिया होती है, और नहीं तो एक दैहिक प्राण तो रहता है जो हमारे दैहिक प्राणसे अभिन्न है, यहाँ तक कि हमारे अपने दैहिक प्राणकी भाँति मूलतः संगठित भी है, यद्यपि उसकी प्रत्यक्ष गठन हमसे भिन्न है। यदि यह बात सत्य प्रमाणित होती है तो अपनी प्राचीन हल्की और मिथ्या धारणाओंको पूरी तरह निकाल बाहर करना होगा और लक्षणों तथा बाह्य रूपोंसे आगे बढ़कर विषयके मूलमें पहुंचना होगा।

हालमें कुछ ऐसे आविष्कार[1] हुए हैं जिनके निष्कर्षोंको यदि स्वीकार कर लिया जाय तो जड़के अंदर प्राणकी जो समस्या है उसपर उनसे अवश्य तेज प्रकाश पड़ेगा। भारतके एक महान् भौतिक वैज्ञानिकने इस ओर ध्यान आकर्षित किया है कि उद्दीपनके तत्त्वके प्रति अनुक्रिया प्राण-के अस्तित्वका निर्भ्रांत चिह्न है। इस वैज्ञानिकके एकत्रित तथ्योंने विशेषतः वनस्पति-जीवनके व्यापारपर ही प्रकाश डाला है और वनस्पति-जीवनकी सारी सूक्ष्म क्रियाओंको चित्रित किया है; किंतु हमें यह न भूलना चाहिये कि मूल प्रश्नपर उस वैज्ञानिकने कहा है कि वनस्पतिकी भांति धातुके अन्दर भी प्राणके अस्तित्वका प्रमाण वही है, उद्दीपनके प्रति अनुक्रिया है, जीवनकी भावात्मक अवस्था है और अभा-वात्मक भी जिसे हम मृत्यु कहते हैं। निःसंदेह, धातु और वनस्पति-में यह तत्त्व समान प्रचुरतासे नहीं है, न वह इस प्रकार है कि उनमें

---

1. हालकी वैज्ञानिक गवेषणाओंसे लिये गये इन विचारोंको हम, जड़के अंदर प्राणकी जिस प्रकृति और प्रक्रियाका हम निरूपण कर रहे हैं, उसके उदाहरणोंके रूपमें रख रहे हैं, न कि उसके प्रमाणके रूपमें। भौतिक विज्ञान और तत्त्व-विज्ञान, (वह चाहे शुद्ध बौद्धिक परिकल्पनापर आधारित हो, चाहे, जैसा कि भारतमें रहा है, आध्यात्मिक दृष्टि और आध्यात्मिक अनुभवपर आधारित हो), प्रत्येकके अनुसंधानका अपना-अपना क्षेत्र और अपनी-अपनी पद्धति है। जैसे तत्त्व-विज्ञान अपने निष्कर्षोंको भौतिक विज्ञानपर आरोपित नहीं कर सकता, वैसे ही भौतिक विज्ञानको भी अपने निष्कर्षोंको तत्त्व-विज्ञानपर आरोपित करनेका अधिकार नहीं रहता। तथापि, हम यदि यह युक्तिसंगत विश्वास स्वीकार करते हैं कि पुरुष और प्रकृतिकी समस्त स्थितियोंमें सादृश्योंका तंत्र रहता है जो उनके आधारमें रहनेवाले सामान्य सत्यको प्रकट करते हैं, तो यह कल्पना करना न्याय्य है कि भौतिक विश्वके सत्य विश्वके अंदर क्रियाशील रहनेवाली शक्तिकी प्रक्रियापर और प्रकृतिपर भी कुछ प्रकाश डाल सकते हैं, किंतु सम्पूर्ण प्रकाश नहीं, क्योंकि भौतिक विज्ञान अपने अनुसंधानके क्षेत्रमें अनिवार्यतः अपूर्ण रहता है और उसके पास उस शक्तिकी गुह्य गतियोंमें जानेका अनुसंधान-सूत्र नहीं रहता।

प्राणका तत्त्वतः एक जैसा संगठन दिखायी दे, किंतु यह संभव है कि यदि सही प्रकारके और पर्याप्त सूक्ष्मताके यंत्रोंका आविष्कार किया जा सके तो धातु और वनस्पति-जीवनके बीच समरूपताकी अन्य बातोंका भी पता लग सकेगा; और यदि यह भी प्रमाणित हो जाय कि ऐसा नहीं है, तो इसका अर्थ यही हो सकता है कि उसके सदृश या कोई भी प्राण-संगठन अनुपस्थित है, किंतु प्राणका आरंभ फिर भी विद्यमान रह सकता है। परंतु धातुमें यदि प्राणका अस्तित्व है, उसके लक्षण चाहे कितने भी प्रारंभिक अवस्थावाले क्यों न हों, तो यह मानना होगा कि पृथ्वीमें या धातुके सजातीय अन्य जड़ पदार्थोंमें भी प्राण शायद संवृत रूपमें या आरंभिक और तात्त्विक रूपमें विद्यमान है। यदि हम अपने अनुसंधानको आगे बढ़ा सकें, अनुसंधानके हमारे वर्तमान यंत्र जहाँ विफल हो जाते हैं वहाँ रुकनेके लिए विवश न हों, तो अपने प्रकृतिके अटूट अनुभवके आधार पर हम निश्चित रूपसे कह सकते हैं कि इस प्रकार अनुसंधानमें लगे रहनेसे अंतमें यह प्रमाणित होगा कि न मिट्टी और उसमें बनी धातुके बीच, न धातु और वनस्पतिके बीच कोई विच्छेद हुआ है और न विभाजनकी कोई कड़ी रेखा ही खींची गयी है। और, इस समन्वयका आगे अनुसरण करनेसे यह प्रमाणित होगा कि न कोई विच्छेद या कड़ी रेखावाला विभाजन मिट्टी या धातुके उपादान-तत्त्वों और पर-माणुओं और उन तत्त्वों और उपादानोंसे बनी मिट्टी या धातुके बीच ही हुआ है। इस क्रमबद्ध सत्ताका हर डग अगलेको तैयार करता है, अपने-आपमें उसे धारण किये रहता है जो उसके बाद आनेवालेमें प्रकट होता है। प्राण सर्वत्र है, चाहे गुप्त हो या व्यक्त, संगठित हो या तत्त्वभूत, संवृत हो या विवर्तित, किंतु है विश्वगत, सर्वव्यापी, अविनाशी; केवल उसके रूप और संगठन भिन्न-भिन्न होते हैं।

हमें स्मरण रखना चाहिये कि उद्दीपनके प्रति शारीरिक अनुक्रियाका होना प्राणका एक बाह्य लक्षण ही है जैसे हमारे अंदर श्वास लेना और चलना-फिरना है। परीक्षण-कर्त्ता एक असाधारण उद्दीपनका प्रयोग करता है और सुस्पष्ट अनुक्रियाएं होती हैं जिन्हें हम परीक्षणके विषयके अंदर प्राण-तत्त्वकी विद्यमानताके संकेतोंके रूपोंमें तुरंत जान सकते हैं। किंतु अपने सारे जीवनके दौरानमें वनस्पति अपने परिपार्श्वसे आनेवाले उद्दीपनके सतत समूहके प्रति सतत अनुक्रिया करती रहती है; अर्थात् उसमें एक शक्ति सतत रूपसे संरक्षित रखी जाती है जो उसके परिपार्श्वसे प्रयुक्त होनेवाली शक्तिके प्रति अनुक्रिया करनेमें समर्थ रहती है। इसलिये

कहा जाता है कि वनस्पतिमें या अन्य सजीव गठनमें प्राणिक शक्तिकी विद्यमानताका विचार इन परीक्षणोंसे अप्रमाणित हो गया है। किंतु, जब हम कहते हैं कि वनस्पतिपर एक उद्दीपन प्रयुक्त किया गया है तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि एक ऊर्जित शक्ति, क्रियात्मक गति-वाली एक शक्ति उस पदार्थकी ओर मोड़ी गयी है, और जब हम यह कहते हैं कि अनुक्रिया हुई है, तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि उस आघातका उत्तर एक ऊर्जित शक्ति दे रही है जो क्रियात्मक गति और संवेदनात्मक स्पन्दनमें समर्थ है। यहाँ एक स्पन्दनशील ग्रहणशीलता और अनुक्रिया मिलती है, साथ ही वर्द्धित होनेकी और टिके रहनेकी इच्छा मिलती है, जो इसका संकेत है कि सत्ताके आकारमें चित्-शक्तिका एक अवमानसिक, एक प्राणिक-अन्नमय संगठन छिपा हुआ है। तो, तथ्य यह प्रतीत होता है कि जैसे विश्वमें एक सतत क्रियात्मक ऊर्जा गतिमान है, जो न्यूनाधिक सूक्ष्म या स्थूल, विभिन्न जड़-रूप धारण करती है, वैसे ही प्रत्येक जड़ शरीर या पदार्थमें, वनस्पति या पशु या धातुमें वही सतत क्रियात्मक शक्ति संचित और क्रियाशील रहती है; इन दोनों-का एक विशेष आदान-प्रदान ही वह व्यापार प्रस्तुत करता है जिसे हम प्राणके भावके साथ संयुक्त करते हैं। इसी क्रियाको हम प्राण-ऊर्जाकी क्रिया मानते हैं और जो अपने-आपको इस भाँति ऊर्जित करती है वह प्राण-शक्ति होती है। मानस-ऊर्जा, प्राण-ऊर्जा, जड़-ऊर्जा ये एक ही 'जगत्-शक्ति'की विभिन्न गति-धाराएँ हैं।

जब कोई रूप हमें मृत प्रतीत होता है तब भी यह शक्ति उसमें शक्यताके रूपमें उपस्थित रहती है, भले ही उसकी प्राणवत्ताकी परिचित क्रियाएं स्थगित हों और सदाके लिए समाप्त होने जा रही हों। जो मृत हो गया है, कुछ सीमाओंके अंदर उसे पुनर्जीवित किया जा सकता है; अभ्यस्त क्रियाओंको, अनुक्रियाको, सक्रिय ऊर्जाके संचरणको पुनः वापस लाया जा सकता है; और इससे यह प्रमाणित होता है कि हम जिसे प्राण कहते हैं वह शरीरमें तब भी विद्यमान था, किंतु अन्तर्प्रसुप्त; अर्थात् वह अपने सामान्य अभ्यासोंमें, सामान्य शारीरिक क्रियाके अभ्यासोंमें, स्नायविक क्रीड़ा और अनुक्रियाके अभ्यासोंमें, सचेतन मानसिक अनुक्रिया-के जांतव अभ्यासोंमें सक्रिय नहीं था। यह अनुमान करना कठिन है कि प्राण नामकी कोई पृथक् सत्ता है जो शरीरसे सम्पूर्णतः बाहर चली जाती है और उसके अन्दर तब वापस चली आती है जब वह अनुभव करती है कि उस रूपको कोई उद्दीप्त कर रहा है;—प्रश्न है, कैसे,

जबकि उसे शरीरसे संबद्ध करनेवाला कुछ भी नहीं है? कुछ दशाओंमें, जैसे मिरगीमें, हम देखते हैं कि प्राणके बाह्य शारीरिक चिह्न और क्रियाएं स्थगित हो जाती हैं, किंतु वहाँ मानसिकता आत्मवान् और सचेतन रहती है, यद्यपि वह स्वाभाविक शारीरिक अनुक्रियाएँ प्रेषित करनेमें असमर्थ होती है। निश्चय ही, तथ्य यह नहीं होता कि मनुष्यका शरीर मृत हो जाता है पर मन जीवित रहता है, या कि प्राण शरीरके बाहर चला जाता है जब कि मन फिर भी उसमें निवास करता रहता है। केवल इतना होता है कि सामान्य दैहिक क्रिया स्थगित हो जाती है जबकि मन सक्रिय बना रहता है।

इसी प्रकार, समाधिके कुछ प्रकारोंमें, शारीरिक और बाह्य मानसिक दोनों क्रियाएं स्थगित हो जाती हैं, किंतु बादमें शरीर और बाह्य मन अपनी क्रियाएं पुनः आरंभ कर देते हैं, कुछ दशाओंमें बाह्य उद्दीपनके द्वारा, किंतु अधिक सामान्यतः, अन्दरसे ही सहजस्फूर्त रूपसे क्रियाशीलता-की ओर पुनरागमन करते हुए करते हैं। यथार्थमें होता यह है कि ऊपरी मन-शक्ति अवचेतन मनके अंदर और ऊपरी प्राण-शक्ति अंतःक्रिय प्राणके अंदर खींच ली जाती है, और या तो सम्पूर्ण मनुष्य अवचेतन सत्तामें उतर आता है या अपने बाह्य जीवनको अवचेतन-में खींच लेता है, जब कि उसकी आंतर सत्ता अतिचेतनमें ऊपर उठ जाती है। किंतु अभी हमारे लिए मुख्य बात यह है कि शरीरमें प्राण-की क्रियात्मक ऊर्जाको बनाये रखनेवाली जो शक्ति है, वह चाहे जो कुछ हो, उसने अपनी बाह्य क्रिया निःसंदेह स्थगित कर दी है, किंतु संगठित जड़-धातुमें वह फिर भी अनुर्गभित रहती है। तथापि एक ऐसा बिन्दु आता है, जहाँ स्थगित की हुई क्रियाशीलताओंको पुनः वापस ले आना संभव नहीं रह जाता; और ऐसा तब होता है जब या तो शरीरपर कोई ऐसा आघात कर दिया गया हो कि शरीर या तो अनुप-योगी हो जाय या अभ्यस्त क्रियाओंमें असमर्थ; या यदि ऐसी कोई क्षति नहीं हुई हो तो ऐसा तब होता है जब विघटनकी प्रक्रियाका आरंभ हो जाता हो, अर्थात् तब जब वह शक्ति, जिसे प्राण-क्रियाका पुनर्नवीकरण करना चाहिये, परिपार्श्वकी शक्तियोंके चापके प्रति सम्पूर्णतः निश्चेष्ट हो जाती है, जब कि पहले उसे उनके उद्दीपक समूहसे सतत आदान-प्रदान रखनेका अभ्यास था। शरीरमें तब भी प्राण रहता है, किंतु ऐसा प्राण जो रूपायित वस्तुके विघटनकी प्रक्रियामें ही व्यस्त हो जाता है ताकि वह उसके तत्त्वोंके साथ निकल भागे और उनसे नये रूपोंका निर्माण

करे। वैश्व शक्तिमें रहनेवाली जिस इच्छाने रूपको संघटित रखा था, वह अब संघटनसे अलग हट जाती है और उसके बदले विसर्जनकी प्रक्रियाका साथ देती है। जबतक ऐसा नहीं होता शरीरकी यथार्थ मृत्यु नहीं होती।

तो, प्राण एक विश्वव्यापी शक्तिकी सक्रिय क्रीड़ा है, उस विश्वव्यापी शक्तिकी, जिसमें मानसिक चेतना और स्नायविक प्राण-सत्ता किसी-न-किसी रूपमें, अंततः अपने तत्त्व-रूपमें तो अवश्य ही, सदा अंतर्निहित रहती हैं; अतएव वे हमारे जगत्में जड़-तत्त्वके आकारोंमें प्रकट होती हैं और अपने-आपको संगठित करती हैं। इस शक्तिकी प्राण-क्रीड़ा अपने बनाये हुए उन विभिन्न रूपोंमें उद्दीपन और उद्दीपनके प्रति होती अनुक्रियाके आदान-प्रदानमें अभिव्यक्त होती है जिनमें वह अपना सतत क्रियात्मक स्पंदन बनाये रखती है। प्रत्येक रूप सर्वसामान्य शक्तिके श्वास और ऊर्जाको निरंतर अपने अंदर लेता और फिर बाहर निकालता रहता है; प्रत्येक रूप विविध उपायोंसे इससे आहार और पोषण पाता है, या तो परोक्ष रूपसे, ऐसे अन्य रूपोंको अपने अन्दर ले लेता हुआ जिनमें ऊर्जा संचित रहती है, या अपरोक्ष रूपसे, बाहरके ऊर्जस्वी विसर्जनको प्राप्त और आत्मसात् करता हुआ। यह सब प्राणकी क्रीड़ा है; किंतु हम मुख्यतः उसे तब पहचानते हैं जब उसका संगठन इतना पर्याप्त हो कि हम उसकी अधिक बाह्य और जटिल गतियोंको देख सकें, और विशेषतः वहाँ जहाँ वह हमारे अपने संघटनकी स्नायविक प्रकारकी प्राणिक ऊर्जाका रूप लेती है। यही कारण है कि हम वनस्पतिमें प्राणकी विद्यमानताको स्वीकार करनेके लिए काफी तैयार रहते हैं क्योंकि प्राणके प्रत्यक्ष व्यापार वहाँ विद्यमान हैं,—और यह तब और भी आसान हो जाता है जब यह दिखाया जा सके कि वनस्पति स्नायविकताके ऐसे लक्षण प्रकट करती और ऐसा प्राणिक संगठन रखती है जो हमारे लक्षणों और संगठनसे बहुत भिन्न नहीं हैं,—किन्तु, हम इन्हें धातुमें और मिट्टीमें और रासायनिक परमाणुमें माननेको अनिच्छुक रहते हैं जहाँ कि इन गोचर व्यापारोंका विकास देखना कठिन होता है या प्रतीयमानतः उनका अस्तित्व ही नहीं होता।

किन्तु, क्या इस विभेदको ऊँचा उठाकर उसकी गणना मूलस्थ भेदकी नाईं करनेमें कोई भी औचित्य है? उदाहरणके लिए, हमारे प्राण और वनस्पतिके प्राणमें कौनसी भिन्नता है? हम देखते हैं कि उनमें भिन्नताएँ हैं; पहली तो यह कि हममें चलने-फिरनेकी क्षमता रहती है, किंतु स्पष्ट है कि इसका प्राण-सत्ताके सार-तत्त्वसे कोई संबंध नहीं है, और

द्वितीयतः हममें सचेतन संवेदनकी क्षमता रहती है, जो, जहाँ तक हमें मालूम है, वनस्पतिमें अभी तक विकसित नहीं हुई है। हमारी स्नायविक अनुक्रियाके साथ-साथ, यद्यपि अवश्य ही न तो सर्वदा और न सम्पूर्ण रूपसे, किंतु अधिकतर, सचेतन संवेदनकी मानसिक अनुक्रिया आती है; स्नायु-तंत्रके लिए और स्नायविक क्रियासे आन्दोलित शरीरके लिए और मनके लिए भी उनका मूल्य रहता है। वनस्पतिमें स्नायविक संवेदनके लक्षण मालूम होते हैं, इनमें वे भी सम्मिलित हैं जो हममें सुख और दुःख, जागरण और निद्रा, प्रफुल्लता, खिन्नता और क्लान्तिके रूपमें अनूदित होते हैं, और शरीर भी स्नायविक क्रियासे आंदोलित होता है, किंतु वहाँ मानसिक रूपसे सचेतन संवेदनकी वास्तविक विद्यमानताका कोई चिह्न नहीं मिलता। किन्तु संवेदन संवेदन है, चाहे वह मनतः सचेतन हो या प्राणतः संवेदी, और संवेदन चेतनाका एक रूप है। जब संवेदनशील पौधा किसी सम्पर्कसे सिकुड़ता है तो यह प्रकट होता है कि वह स्नायविक रूपसे प्रभावित हुआ है, उसके अन्दर कोई वस्तु उस सम्पर्कको नापसंद करती है और उससे अलग हटनेकी कोशिश करती है; एक शब्दमें कहें तो वनस्पतिमें एक अवचेतन संवेदन है, और हम देख चुके हैं, हमारे अन्दर उसी प्रकारकी अवचेतन क्रियाएँ होती हैं। मानव-गठनमें यह संभव रहता है कि इन अवचेतन बोधों और संवेदनोंके घटित होने और स्नायु-प्रणाली पर उनका प्रभाव पड़ना समाप्त हो जानेके लम्बे कालके बाद भी उन्हें सतहपर लाया जा सके। फिर, प्रमाणोंके नित्य वर्द्धित होते हुए समूहने यह अकाट्य रूपसे स्थापित कर दिया है कि हमारे अन्दर एक अवचेतन मन विद्यमान है जो सचेतनसे अधिक वृहत् है। वनस्पतिमें बाहरी तलपर जागरूक मन नहीं रहता जिसे उसके अवचेतन संवेदनोंके मूल्यांकनके प्रति जागृत किया जा सके, अकेला यह तथ्य उस व्यापारकी मूलगत एकरूपतामें कोई अंतर नहीं लाता। चूंकि व्यापार वही हैं, अतः वे जिस वस्तुको अभिव्यक्त करते हैं वह भी एक ही होगी, और वह है अवचेतन मन। और यह भी बिलकुल संभव है कि अवचेतन इन्द्रिय-मनकी प्राण-क्रिया धातुमें एक अधिक आरंभिक अवस्थामें रहती है, यद्यपि धातुमें स्नायविक अनुक्रियाके अनुरूप कोई शारीरिक आन्दोलन नहीं होता; किन्तु, शारीरिक आंदोलनका न होना धातुके अन्दर प्राण-सत्ताकी विद्यमानतामें कोई मूलगत अंतर नहीं लाता जैसे कि शारीरिक चलनका न होना वनस्पतिके अंदर प्राण-सत्ताकी विद्यमानतामें कोई मौलिक अंतर नहीं लाता।

सचेतन जब शरीरमें अवचेतन हो जाता है या अवचेतन सचेतन हो जाता है, तब क्या होता है? यथार्थ अंतर यह होता है कि सचेतन शक्ति अपने कर्मके किसी अंशमें लीन हो जाती है, न्यूनाधिक ऐकांतिक रूपसे संकेन्द्रित हो जाती है। संकेन्द्रणके कुछ रूपोंमें, हम जिसे मानसिकता कहते हैं, अर्थात् प्रज्ञान-चेतना, वह सचेतन रूपसे क्रिया करना लगभग या बिल्कुल बन्द कर देती है, तब भी शरीर और स्नायुओं और इन्द्रिय-मनका कार्य अलक्षित, किंतु निरंतर और पूर्णतः, चलता जाता है; सब कुछ अवचेतन हो गया होता है और केवल किसी एक क्रियामें या क्रियाओंकी किसी एक धारामें ही मन ज्योतिर्मय रूपसे सक्रिय रहता है। मैं जब लिखता हूँ, तब लिखनेका शारीरिक कार्य प्रधानतः, या कभी-कभी सम्पूर्णतः, अवचेतन मन ही करता है; शरीर कुछ स्नायविक क्रियाएं करता है, जैसा कि हम कहते हैं अचेतन रूपसे, और मन केवल उस विचारके प्रति जागृत रहता है जिसके साथ वह व्यस्त है। निस्संदेह, यह हो सकता है कि समग्र मनुष्य अवचेतनमें डूब जाय, फिर भी उसकी वे अभ्यस्त क्रियाएं चालू रहें जिनमें मनकी क्रियाएं उपलक्षित रहती हैं, जैसा कि निद्राके बहुतसे व्यापारोंमें होता है; या वह अतिचेतनमें चढ़ जाय और फिर भी अवगूढ़ मनसे शरीरमें सक्रिय रहे, जैसा कि योग-समाधिके कुछ व्यापारोंमें होता है। तो यह स्पष्ट है कि वनस्पतिके संवेदन और हमारे संवेदनके बीच यही अंतर है कि विश्वमें अपने-आपको अभिव्यक्त करनेवाली चित्-शक्ति वनस्पतिमें तबतक जड़तत्त्वकी निद्रासे पूरी तरह बाहर नहीं आयी है, उस लीनावस्थासे पूरी बाहर नहीं आयी है जो क्रियमाण शक्तिका अतिचेतनमें अवस्थित उसके क्रिया-मूलसे सम्पूर्णतः विच्छेद करती है, अतएव अचेतन रूपसे वह वही करती है जो सचेतन रूपसे तब करेगी जब वह मनुष्यके अन्दर अपनी लीनावस्थासे बाहर आ जाती है और अपने ज्ञानात्माके प्रति, यद्यपि तबतक भी परोक्ष रूपसे ही, जागृत होना आरंभ कर देती है। वह ठीक वे ही चीजें करती है, किंतु चेतनाकी दृष्टिसे भिन्न मूल्य रखती हुई और एक भिन्न विधिसे।

अब यह धारणा बनानी संभव हो रही है कि स्वयं परमाणुमें भी कुछ ऐसी वस्तु है जो हमारे अन्दर इच्छा और कामना बन जाती है, एक आकर्षण और विकर्षण है जो, दृश्य रूपमें अन्यथा होते हुए भी, मूलतः वही वस्तु है जो हमारे अन्दर अनुराग और विराग होती है; किंतु वे, जैसा हम कहते हैं, अचेतन या अवचेतन हैं। इच्छा और कामनाका

यह सारतत्त्व प्रकृतिमें सर्वत्र व्यक्त है, और यद्यपि अभी तक उसे पर्याप्त रूपसे दृष्टिमें नहीं लिया गया है, वह समान रूपसे व्याप्त एक अवचेतन, या चाहें तो अचेतन कह लें, या बिलकुल ही संवृत संवेदन और बुद्धिसे सम्बद्ध है, और निःसंदेह उनका प्राकट्य है। जड़तत्त्वके प्रत्येक परमाणुमें विद्यमान रहता हुआ यह सब अवश्य ही उन परमाणुओंके सम्मिलनसे बनी हुई प्रत्येक वस्तुमें विद्यमान है; और यह सब परमाणुमें इसलिये विद्यमान है कि यह उस शक्तिमें विद्यमान है जो परमाणुका उपादान होती और उसका निर्माण करती है। वह शक्ति मूलतः वेदान्त-वर्णित चित्-तपस या चित्-शक्ति है, चित्-पुरुषकी अंतर्निहित सचेतन शक्ति है, जो वनस्पतिमें अवमानसिक संवेदनसे भरी स्नायविक ऊर्जाके रूपमें, आरंभिक पशु-रूपोंमें कामना-बोध और कामना-इच्छाके रूपमें, विकसित होते हुए पशुमें आत्म-चेतन बोध और शक्तिके रूपमें, और मनुष्यमें, इन सबके शिखरकी नाईं, मानसिक इच्छा और ज्ञानके रूपमें अभिव्यक्त होती है। प्राण वैश्व ऊर्जाकी एक ऐसी सीढ़ी है जिसमें निश्चेतनासे चेतनाकी ओरका संक्रमण सम्पन्न किया जाता है; वह उस ऊर्जाका एक मध्यवर्ती वीर्य है जो कि जड़तत्त्वमें अन्तर्हित या निमज्जित है, वहाँसे अपनी निजी शक्तिके द्वारा मुक्त होकर अवमानसिक सत्तामें पहुँचता है, बादमें, मनके उन्मज्जनके द्वारा अंतिम रूपसे उन्मुक्त होकर अपनी सक्रियताकी समग्र संभावनामें पहुँच जाता है।

अन्य सारी विचारणीय बातोंको छोड़कर भी, यदि हम विकासक्रमके प्रकरणके प्रकाशमें इस उन्मज्जनकी ऊपरी प्रक्रियाको ही देखें, तो भी यह निष्कर्ष युक्तिसंगत अनिवार्यताके रूपमें उपस्थित हो जाता है। यह स्वतः-सिद्ध है कि यद्यपि वनस्पतिका प्राण पशुके प्राणसे भिन्नतः गठित है, तो भी वह वही शक्ति है, उसमें भी ये चिह्न विद्यमान हैं:—जन्म, वर्द्धन और मृत्यु, बीजके द्वारा उत्पत्ति, ह्रास या रोग या हिंसाके द्वारा मृत्यु, पोषक तत्त्वोंको बाहरसे अंदर खींचते हुए अपना संरक्षण, प्रकाश और गरमीपर निर्भरता, उत्पादकता और वंध्यता, यहाँ तक कि निद्रा और जागरणकी स्थितियाँ, प्राण-गतिकी ऊर्जा और उसका अवसाद, शैशवसे परिपक्वता और वार्द्धक्यकी ओर गमन; इसके अतिरिक्त, वनस्पतिमें प्राणके बलके सारतत्त्व समाये रहते हैं, अतएव वह पशु-सत्ताओंके लिए स्वाभाविक आहार होती है। यदि यह मान लिया जाता है कि वनस्पतिमें स्नायविक संस्थान है और वह उद्दीपनके प्रति अनुक्रियाएँ करती है, उसमें अवमानसिक या शुद्धतः प्राणिक संवेदनोंका आरंभ या अंतःस्रोत है, तो वनस्पति और पशुके प्राणका

सारूप्य समीपतर आ जाता है, किंतु तव भी, वह स्पष्टतः पशु जीवन और "निर्जीव" जड़तत्त्वके वीचके प्राणके विकासक्रमका एक मध्यवर्ती पर्व ही रहती है। और ठीक इसी वातकी आशा की जा सकती है यदि प्राण ऐसी शक्ति हो जो जड़तत्त्वसे विकसित होकर निकलती और मनमें समाप्त होती है; और यदि ऐसा है तो हम यह माननेको वाध्य हैं कि वह जड़ अवचेतना या निश्चेतनामें निमज्जित या अंतर्हित होकर स्वयं जड़तत्त्वमें विद्यमान रहती है। क्योंकि, अन्यत्र कहाँसे वह उन्मज्जित हो सकती है? हमें यह माननेको वाध्य होना होगा कि जड़के अंदर प्राणका विवर्तन यह अर्थ रखता है कि प्राण वहाँ पहलेसे निवर्तित था, वशर्ते कि हम यह न मान वैठें कि प्राण एक नयी सृष्टि है जिसका प्रकृतिमें किसी जादूई और अव्याख्येय रूपसे प्रवेश किया गया। उस दशामें प्राण या तो कुछ नहींसे वनायी गयी सृष्टि होगा या जड़की क्रियाओंका परिणाम होगा जव कि स्वयं उन क्रियाओंमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है, ऐसा कोई तत्त्व नहीं है जिसका स्वरूप प्राणसे सजातीय हो, जो प्राणकी सृष्टिका आधार वन सके; या, यह कल्पना की जा सकती है कि वह ऊपरसे, भौतिक विश्वसे ऊपरके किसी अतिभौतिक लोकसे उतर आया होगा। प्रथम दोनों अनुमानोंको मनगढ़ंत कल्पनाएँ मानकर छोड़ा जा सकता है; अंतिम व्याख्या संभव है और विलकुल धारणागम्य भी, और गुह्य दृष्टिसे यह सत्य भी है कि भौतिक विश्वसे ऊपरके किसी प्राण-लोकसे आये हुए चापने यहाँके लोकमें प्राणके उन्मज्जनमें सहायता दी है। किंतु यह व्याख्या इस वातका वहिष्कार नहीं करती कि प्राणका उद्‌गम स्वयं जड़से एक प्राथमिक और आवश्यक क्रियाके रूपमें हुआ है। क्योंकि, भौतिक लोकके ऊपर किसी प्राण-जगत् या प्राण-लोकका अस्तित्व है, केवल यही वात प्राणके उन्मज्जनतक नहीं ले जाती, जवतक कि ऐसा न हुआ हो कि सत्-पुरुष अपनी विभिन्न भूमिकाओं या शक्तियोंसे गुजरता हुआ निश्चेतनामें उतर आया हो, जिसके परिणामस्वरूप वह इन सारी शक्तियोंके साथ जड़में निवर्तित हो गया हो और वादमें इनका विवर्तन और उन्मज्जन अभिप्रेत हो और वह प्राण-लोक भी इस अवतरणमें एक रूपायणकारी भूमिकाके रूपमें अन्तस्थित रहा हो। इस वातका प्रधान महत्व नहीं है कि इस निमज्जित प्राणके चिह्न जड़ वस्तुओंमें, चाहे वे अव तक असंगठित या आरंभिक अवस्थामें ही क्यों न हों, देखे जा सकते हैं, या कि इस निवर्तित प्राणके सम्पूर्ण निद्रामें रहनेके कारण इस प्रकारके कोई चिह्न दिखायी नहीं देते। जो जड़ - ऊर्जा संहत, व्याकृत और विसंहत करती

है[2] वह अपनी एक अन्य भूमिकामें कार्य करती हुई वही शक्ति है जो प्राण-ऊर्जाके रूपमें जन्म, वर्द्धन और मृत्युमें प्रकट होती है, जैसे कि निद्राचारी अवचेतनामें बुद्धिके कार्योंको करनेके नाते वह अपने-आपको उसी शक्तिके रूपमें प्रदर्शित करती है जो एक अन्य भूमिकामें मनकी स्थितिको प्राप्त कर लेती है; उसका स्वरूप ही यह दिखला देता है कि वह अपने अन्दर मन और प्राणकी तबतक अनुन्मुक्त रहती शक्तियोंको समाये रखती है, यद्यपि उनके अपने स्वभावगत संगठन या प्रक्रियामें नहीं।

तो, प्राण, साररूपमें, सर्वत्र, परमाणुसे लेकर मनुष्य-तकमें, एक-जैसा ही प्रकट होता है; परमाणुमें सत्ताकी अवचेतन सामग्री और गति समायी रहती हैं जो पशुके अंदर चेतनाके रूपमें उन्मुक्त होती हैं, वनस्पतिका जीवन विकासक्रमकी राहमें एक बीचकी भूमिका बनकर आता है। प्राण यथार्थतः चित्-शक्तिकी एक विश्वव्यापी क्रिया है जो जड़तत्त्वके ऊपर और अन्दर अवचेतन रूपसे क्रिया करती है; यह वह क्रिया है जो रूपों और शरीरोंका सर्जन, संरक्षण, विनाश और पुनःसर्जन करती है और स्नायविक शक्तिकी क्रीड़ाके द्वारा, अर्थात् उद्दीपक ऊर्जाके आदान-प्रदानकी लहरोंके द्वारा, उन शरीरोंमें सचेतन संवेदन जाग्रत करनेका प्रयत्न करती है। इस क्रियामें तीन स्थितियाँ आती हैं:—निम्नतम, जिसमें कम्पन तब भी जड़तत्त्वकी निद्रामें सम्पूर्णतः अवचेतन रहता है, जिससे वह पूरा यंत्रवत् प्रतीत होता है; मध्य स्थिति, जिसमें वह ऐसी अनुक्रिया करनेमें सक्षम हो जाता है जो अभी तक अवमानसिक रहती है, किंतु उस तट पर आ जाता है जिसे हम चेतना कहते हैं; उच्चतम, जिसमें सचेतन मानसिकताको प्राण एक मानसिक बोधगम्य संवेदनके रूपमें विकसित करता

---

2. प्राणका जन्म, वर्द्धन और मरण अपने बाह्य रूपमें संहति, व्याकृति और विसंहतिकी वही प्रक्रिया है, यद्यपि अपनी आंतरिक प्रक्रिया और महत्त्वमें उससे अधिक हैं। यदि इन वस्तुओंके बारेमें हमारी गुह्य दृष्टि ठीक है तो चैत्य पुरुषके द्वारा शरीरमें आत्माका अधिष्ठानकरण भी उस्र बाह्य प्रक्रियाका अनुसरण करता है, क्योंकि, आत्मा-पुरुष, केन्द्र होनेके नाते, अपने मनोमय, प्राणमय और अन्नमय कोषोंके तत्त्वोंको और उनमें जो कुछ समाया है उसको जन्मके लिए अपनी ओर खींचता है और उनको संहति करता है, जीवनमें इन संघटनोंका वर्द्धन करता है और अपने प्रयाणपर इन संहतियोंको त्याग देता है और उन्हें फिरसे विघटित कर देता है, किंतु, ऐसा करता हुआ भी, वह अपनी आंतरिक शक्तियोंको फिरसे अपने अन्दर खींचकर धारण कर लेता है जब तक कि वह पुनर्जन्ममें उस आदि प्रक्रियाकी पुनरावृत्ति न करने लग जाय।

है जो इस संक्रमणमें इन्द्रिय-मन और बुद्धिके विकासके लिए आधार बन जाता है। जब मध्य स्थिति आती है तभी जड़ और मनसे विविक्त रूपमें प्राणका भाव हमारी पकड़में आता है, किन्तु यथार्थतः वह सारी स्थितियोंमें एक-सा रहता है और सर्वदा मन तथा जड़के बीचकी मध्य भूमिका, जड़का उपादान और मनके द्वारा अनुगर्भित रहता है। वह बल्कि चित्-शक्तिकी ऐसी क्रिया है जो न तो जड़-धातुका रूपायण मात्र है, न मनकी कोई ऐसी क्रिया है जिसके प्रज्ञानका विषय जड़-धातु और रूप हों; वह तो बल्कि सचेतन सत्ताका ऊर्जायन है जो जड़-धातुके रूपायणका एक कारण और अवलंब होता है और सचेतन मानसिक प्रज्ञानका एक मध्यवर्ती मूल और अवलंब होता है। प्राण, सचेतन सत्ताका यह मध्यवर्ती ऊर्जायन होनेके नाते, सत्ताकी उस सर्जक शक्तिके एक रूपको संवेदनात्मक क्रिया और प्रतिक्रियामें उन्मुक्त करता है जो अपनी ही जड़-धातुमें लीन होकर, अवचेतन या निश्चेतन रूपसे क्रिया कर रही थी। वह सत्ताकी उस प्रज्ञानात्मिका चेतनाको अवलंब देता और क्रियामें उन्मुक्त करता है जिसे मन कहा जाता है, और उसे एक क्रियात्मक करण देता है ताकि वह केवल अपने रूपोंपर ही नहीं, प्रत्युत प्राण और जड़के रूपोंपर भी क्रिया कर सके। उनके बीचका तत्त्व होनेके नाते वह मन और जड़को संबद्ध भी करता है और उनके पारस्परिक व्यापारको अवलंब देता है। प्राण यह व्यापार-साधन प्रदान करता है अपनी स्पंदित स्नायविक ऊर्जाकी अविच्छिन्न धाराओंमें, जो मनको आपरि-वर्तित करनेके लिए रूपकी शक्तिको संवेदनके रूपमें लिये चलती हैं और जड़तत्त्वको आपरिवर्तित करनेके लिए मनकी शक्तिको इच्छाके रूपमें वापस लाती हैं। अतः, जब हम प्राणकी चर्चा करते हैं तो हमारा अभिप्राय सामान्यतः इस स्नायविक ऊर्जासे ही रहता है; यह है भारतीय दर्शनशास्त्रमें वर्णित प्राण। किन्तु, स्नायविक ऊर्जा पशु-सत्तामें प्राणके द्वारा अपनाया हुआ रूप मात्र ही होती है; वही प्राणिक ऊर्जा सकल रूपोंमें, नीचे परमाणु तकमें विद्यमान है, कारण, साररूपमें वह सर्वत्र वही है, और सर्वत्र चित्-शक्तिकी वही क्रिया है,—वह महाशक्ति अपने ही रूपोंकी वस्तुभूत सत्ताको अवलंब देती और परिवर्तित करती है; इन्द्रिय और मन उस शक्तिके साथ गुप्त रूपसे सक्रिय रहते हैं, किंतु पहले वे रूपके अंदर संवृत रहते हैं और उन्मज्जनकी तैयारी करते हैं, बादमें अपनी संवृत अवस्थासे उनका अंतिम उन्मज्जन होता है। यही भौतिक विश्वको अभिव्यक्त करने-वाले और उसमें निवास करनेवाले सर्वव्यापी प्राणका सम्पूर्ण तात्पर्य है।

अध्याय बीस

मृत्यु, कामना और असामर्थ्य

···अग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत् ।
अशनायया अशनाया हि मृत्युः;
तन्मनोऽकुरुत आत्मन्वी स्यामिति ॥

प्रारंभमें सब कुछ क्षुधासे आवृत था जो कि मृत्यु है; "मैं आत्मवान् हो जाऊँ", इस भावसे उसने अपने लिए मन बना लिया।

—बृहदारण्यकोपनिषद् 1.2.1

यं मर्त्यः पुरुस्पृहं विदद्विश्वस्य धायसे ।
प्र स्वादनं पितूनामस्ततातिं चिदायवे ॥

यह है वह शक्ति जिसे मर्त्यने खोज लिया, उसमें अपनी अनेक कामनाएँ हैं कि वह समस्त वस्तुओंको धारण कर सके; वह सारे भोजनोंका स्वाद लेती और जीवके लिए एक गृह बनाती है।

—ऋग्वेद 5.7.6

पिछले अध्यायमें हमने 'प्राण'पर भौतिक अस्तित्वके दृष्टिकोणसे और जड़तत्त्वमें प्राणिक तत्त्वके प्रकट होने और उसकी क्रियाके दृष्टिकोणसे विचार किया है, और जिन तथ्योंको यह विकसनशील पार्थिव जीवन हमारे सामने लाता है उनके आधारपर विवेचन किया है। किन्तु यह स्पष्ट है कि वह जहाँ कहीं प्रकट हो, जिस किसी भाँति क्रिया करे, और चाहे जिन परिस्थितियोंमें हो, सामान्य तत्त्व सब जगह एक जैसा ही होगा। प्राण विश्वव्यापी शक्ति है जो वस्तुमय रूपोंका सृजन करने, उनमें ऊर्जा भरने, उनका संरक्षण करने और उन्हें परिवर्तित करने, यहाँ तक कि उनका विलय और पुनर्निर्माण करनेमें भी, सक्रिय रहती है। गुप्त या स्पष्ट रूपसे सचेतन ऊर्जाका पारस्परिक खेल या आदान-प्रदान इसकी मूलभूत विशेषता है। हम जिस भौतिक जगत्में रहते हैं उसमें प्राणमें

मन निर्वर्तित और अवचेतन रहता है जैसे मनमें अतिमानस निर्वर्तित और अवचेतन रहता है, और निर्वर्तित अवचेतन मनको लिये हुए यह प्राण जड़तत्त्वमें निर्वर्तित रहता है। अतः, यहाँ जड़तत्त्व ही आधार और प्रत्यक्ष आरंभ है; उपनिषदोंकी भाषामें "पृथिवी पाजस्यम्", पृथ्वी ही हमारा आधार है। भौतिक विश्वका आरंभ होता है व्याकृत परमाणुसे जो ऊर्जासे सिंचित, और एक अवचेतन कामना, इच्छा और बुद्धिके अरूपायित उपादानसे गर्भित रहता है। इस जड़तत्त्वमेंसे अभिव्यक्त होता है प्रत्यक्ष प्राण, और प्राण जिस मनको अपने-आपके अंदर बनाये रखता है उसे वह सजीव शरीरके माध्यमसे अपने अंदरसे मुक्त करता है। अब मनको भी अपने अंदरसे मुक्त करना होगा अतिमानसको, जो कि उसकी क्रियाओंमें छिपा हुआ है। किन्तु हम एक अन्यथा-निर्मित जगत्‌की कल्पना कर सकते हैं जिसमें मन आरंभमें निर्वर्तित नहीं रहता, प्रत्युत रूपधातुके आदि रूपोंका सृजन करनेके लिए अपनी अंतर्निहित ऊर्जाको सचेतन रूपसे व्यवहारमें लाता है, और यहाँकी भाँति आरंभमें केवल अवचेतन नहीं रहता। तब भी, यद्यपि ऐसे जगत्‌की क्रिया हमारे जगत्‌से बिलकुल भिन्न होगी, उस ऊर्जाकी क्रियाका मध्यवर्ती वाहन सदा प्राण ही होगा। स्वयं वह वस्तु वही होगी, भले ही प्रक्रिया पूरी तरह उल्टी क्यों न हो।

किंतु तब तत्काल यह प्रकट होता है कि जैसे मन अतिमानसकी एक अंतिम प्रक्रिया मात्र है, वैसे ही प्राण भी चित्-शक्तिकी एक अंतिम क्रिया है जिसका निर्धारणकारी रूप और सर्जन-शक्ति सत्-भाव होता है। चेतना, जो कि शक्ति है, सत्-पुरुषकी प्रकृति है, और यह चिन्मय पुरुष एक सर्जनशील ज्ञानात्मिक-इच्छाके रूपमें अभिव्यक्त सत्-भाव या अतिमानस है। अतिमानसिक 'ज्ञानात्मिका इच्छा' चित्-शक्ति ही है, जो संयुक्त सत्ताके रूपोंके सर्जनके लिए एक व्यवस्थित सामंजस्यमें, जिसे हम जगत् या विश्व कहते हैं, सक्रिय की गयी है। इसी तरह, मन और प्राण भी वही चित्-शक्ति हैं, वही ज्ञानात्मिका इच्छा हैं, किन्तु उनकी क्रिया स्पष्टतः वैयक्तिक रूपोंको एक प्रकारके सीमांकन, विरोध और आदान-प्रदानमें बनाये रखनेके लिए होती है, जिसमें सत्ताके प्रत्येक रूपमें रहनेवाला अंतरात्मा स्वकीय मन और प्राणको इस भाँति क्रियान्वित करता है मानों वे दूसरोंसे पृथक् हों, यद्यपि वस्तुतः वे कभी पृथक् नहीं होते, वरन् एक ही विश्वात्मा, मन और प्राणकी वह क्रीड़ा होते हैं जो उसकी एक ही वास्तविकताके विभिन्न रूपोंमें होती है। अन्य शब्दोंमें, जैसे मन सर्व-विज्ञानी तथा सर्व-प्रज्ञानी अतिमानसकी व्यक्तीयनकी अंतिम क्रिया है, वह

प्रक्रिया है, जिसके द्वारा उसकी चेतना प्रत्येक रूपमें व्यक्तिभावापन्न होकर उसके उपयुक्त दृष्टिकोणसे, और उस दृष्टिकोणसे अग्रसर होनेवाले वैश्व संबंधोंको स्थापित करती हुई क्रिया करती है, उसी तरह प्राण भी वह अंतिम क्रिया है जिसके द्वारा चित्पुरुषकी शक्ति विश्वव्यापी अतिमानसकी सर्वधृत और सर्व-सर्जनशील इच्छाके द्वारा क्रिया करती हुई, वैयक्तिक रूपोंका संरक्षण करती है, उनमें ऊर्जा भरती है, उनका निर्माण और पुर्नानिर्माण करती है और, इस भाँति, शरीरधारी अंतरात्माकी समस्त क्रियाओंके आधार-स्वरूप उनमें क्रिया करती है। प्राण भगवान्‌की ऊर्जा है जो डाइनेमोकी तरह अपने-आपको रूपोंके अंदर अनवरत उत्पन्न करती है। प्राण केवल आघातोंके वहिर्गामी पुंजसे वस्तुओंके परिपार्श्वके रूपोंपर ही क्रिया नहीं करता वरन् चारों ओरके सारे जीवनके जो आघात अंदरकी ओर आते हैं, बाहरसे, परिपार्श्वके विश्वसे जो आघात रूपपर वरसते हुए आते हैं और उसके अंदर प्रवेश करते हैं, उन्हें भी ग्रहण करता है।

इस दृष्टिसे प्राण चित्-ऊर्जाके एक ऐसे रूपमें प्रकट होता है जो जड़तत्त्वपर मनकी क्रियाके लिए मध्यवर्ती और उपयुक्त है; वह, एक अर्थमें, मनका तबका ऊर्जा-रूप कहा जा सकता है जब मन सर्जन करता है और भावोंके साथ सम्बन्ध छोड़कर शक्तिकी गतियों और जड़-धातुके रूपोंसे संबंध जोड़ता है। किन्तु साथ ही, तुरंत यह भी कह देना आवश्यक है कि जैसे मन कोई पृथक् सत्ता नहीं है, प्रत्युत सारा अतिमानस उसके पीछे है और अतिमानस ही सर्जक होता है, मन तो उसकी वैयक्तिक रूप देनेवाली अंतिम क्रिया मात्र है, वैसे ही प्राण भी कोई पृथक् सत्ता या क्रिया नहीं है, प्रत्युत उसके एक-एक कार्यके पीछे सारी चित्-शक्ति रहती है और एकमात्र वह चित्-शक्ति ही है जिसका अस्तित्व है और जो सृष्ट वस्तुओंमें क्रिया करती है। प्राण तो उस शक्तिकी अंतिम क्रिया है जो मन और शरीरके वीच मध्यवर्ती है। अतः, हम प्राणके विषयमें जो कहते हैं वह सवका सव इस आश्रिततासे उत्पन्न होनेवाली मर्यादाओंके अधीन होगा। हम न तो प्राणके स्वरूपको, न उसकी प्रक्रियाको ही तवतक यथार्थतः जानते हैं जव तक कि हम उसके अंदर क्रिया करनेवाली उस चित्-शक्तिके प्रति संविद् और सचेतन न हो जायँ, प्राण जिसका वाह्य रूप और उपकरण मात्र है। केवल तभी हम भगवान्‌के वैयक्तिक अंतरात्मा-रूप और मनोमय तथा शारीरिक यंत्र वनकर यह वोध प्राप्त कर सकते हैं कि प्राणके अन्दर भगवान्‌की क्या इच्छा है, और उसे सज्ञान भावसे क्रियान्वित कर सकते हैं; केवल तभी प्राण और मन, अज्ञानकी वक्र

विकृतियोंको निरंतर क्षीण करते हुए, हमारे और वस्तुओंके अंदर सत्यकी एक नित्य-वर्द्धमान ऋजुताकी राहों और गतियोंमें अग्रसर हो सकते हैं। जैसे मनको उस अतिमानसके साथ सचेतन रूपसे संयुक्त होना है जिससे वह अविद्याकी क्रियाके द्वारा पृथक् हो गया है, वैसे ही प्राणको उस चित्-शक्तिके प्रति संविद् होना है, जो उसके अंदर ऐसे उद्देश्योंके लिए और ऐसे अर्थको लेकर क्रिया करती है जिनके प्रति प्राण हममें अपनी अंधकार-ग्रस्त क्रियामें अचेतन रहता है, क्योंकि वह केवल जीनेकी प्रक्रियामें लीन रहता है जैसे कि हमारा मन प्राण और जड़को मनोभावापन्न करनेकी प्रक्रियामें ही लीन रहता है; और, फलस्वरूप, प्राण अंधे और अज्ञान-भरे ढंगसे उनकी सेवा करता है, न कि ज्योतिर्मय रूपसे, न कि आत्म-परिपूर्तिकारी ज्ञान, बल और आनन्दके साथ, जैसा करना उसकी मुक्ति और संपूर्तिकी अवस्थाकी नियति है और वह करेगा भी।

वास्तवमें, हमारा प्राण, चूँकि वह मनकी अँधेरी और विभाजक क्रिया-के अनुगत है, स्वयं अंधकारग्रस्त और विभाजित रहता है, और उसे मृत्यु, सीमितता, दुर्बलता, कष्ट और अज्ञानमय क्रियाकी उस सारी अधीनतामें-से गुजरना होता है जिसका जनक और कारण आवद्ध और सीमित जैव मन है। जैसा हम देख चुके हैं, विकृतिका मूल उद्गम था आत्म-अज्ञानसे आवद्ध वैयक्तिक जीवका आत्म-परिसीमन; कारण, अपने-आपको उस एकका सचेतन रूप मानने और समस्त चेतना, समस्त ज्ञान, समस्त इच्छा, समस्त शक्ति, समस्त भोग और समस्त सत्ताको अपनी चेतना, ज्ञान, इच्छा, शक्ति और भोगके साथ एकात्म-रूपमें आलिंगन करनेके स्थानपर वह एक ऐकांतिक एकाग्रीकरणके द्वारा अपने-आपको पृथक् स्वयंभू वैयक्तिकताके रूपमें देखता है और सारी विश्व-क्रियाको केवल उस रूपमें देखता है जिसमें वह उसकी निजी वैयक्तिक चेतना, ज्ञान, इच्छा, शक्ति, भोग और सीमित सत्ताको दीखती है। हमारे अन्दर विश्व-प्राण, मनके अंदर वंदी वने हुए जीवकी इस दिशाका अनुगमन करता हुआ, स्वयं वैयक्तिक क्रियामें वंदी वन जाता है। एक सीमित अपर्याप्त सामर्थ्यको साथ लिये, वह एक पृथक् प्राणके रूपमें अस्तित्व रखता और क्रिया करता है, और उसके चारों ओर विश्व-जीवनका जो आघात और चाप है उसका उन्मुक्त आलिंगन करनेके स्थानपर वह उसे वाध्य होकर सहन करता है। विश्वमें शक्तिके सतत वैश्व आदान-प्रदानमें फेंकी गयी एक दीन, सीमित वैयक्तिक सत्ताकी भाँति प्राण आरंभ-में उस विकराल पारस्परिक क्रीड़ाको निःसहाय भावसे सहता और उसका

अनुसरण करता है; जो कुछ उसपर आक्रमण करता है, उसे निगलता है, उसका उपभोग करता, उसे व्यवहृत करता और चलाता है, उन सबपर वह बस एक यंत्रवत् प्रतिक्रिया करता है। किंतु जैसे-जैसे चेतना विकसित होती है, जैसे-जैसे उसकी अपनी सत्ताकी ज्योति संवृतिकी निद्राके तामसिक अंधकारसे उन्मज्जित होती है, वैसे-वैसे वैयक्तिक सत्ता अपने अंदरके बलके प्रति धुँधलेपनसे संविद् होती है और उस क्रीड़ाको पहले स्नायुओं द्वारा, और फिर, मनके द्वारा अधिकृत और व्यवहृत करना और उसका रस लेना चाहती है। अपने अंदरके बलके प्रति यह जागरण आत्माके प्रति क्रमिक जागरण होता है। कारण, प्राण शक्ति है, शक्ति बल है, बल इच्छा है और इच्छा ईश्वर-चेतनाकी क्रिया है। व्यक्तिमें रहनेवाले प्राणको अपनी गहराइयोंमें अधिकाधिक संवित् होती है कि वह भी सच्चिदानंदकी इच्छा-शक्ति है जो विश्वकी स्वामिनी है और वह स्वयं भी व्यक्तिगत रूपसे अपने जगत्का स्वामी होनेकी अभीप्सा करता है। अतः अपने निजके बलको उपलब्ध करना और अपने जगत्-का स्वामी और ज्ञाता बनना, यही समस्त वैयक्तिक प्राणका वर्द्धमान अंतर्वेग रहता है; यह अंतर्वेग विश्व-जीवनमें भगवान्‌की बढ़ती आत्माभि-व्यक्तिका एक सारभूत तत्त्व है।

किंतु, यद्यपि प्राण बल है और वैयक्तिक जीवनके वर्द्धनका अर्थ वैय-क्तिक बलका वर्द्धन होता है, फिर भी उसका एक विभक्त व्यक्ति-भावापन्न प्राण और शक्ति रहना ही उसे अपने जगत्का यथार्थ स्वामी बननेसे रोकता है। क्योंकि, अपने जगत्का स्वामी होनेका अर्थ है सर्व-शक्तिका स्वामी होना; पर जो चेतना विभक्त और व्यक्तिभावापन्न है और जिसकी शक्ति और इच्छा विभक्त, व्यक्तिभावापन्न, अतः सीमित है, उसके लिए सर्व-शक्तिकी स्वामिनी बनना असंभव है; केवल 'सर्वेच्छा'-के लिए ही वह स्वामित्व संभव है, और यदि व्यक्तिका स्वामी बनना संभव भी है, तो केवल तभी, जब वह 'सर्वेच्छा'के साथ, और इस तरह सर्व-शक्तिके साथ पुनः एकात्म हो जाय। अन्यथा, वैयक्तिक आकारमें रहनेवाला वैयक्तिक प्राण सर्वदा अनिवार्य रूपसे अपने परिसीमनके इन तीनों बिल्लों, मृत्यु, कामना और असामर्थ्यके अधीन रहेगा।

वैयक्तिक प्राणके अपने निजके अस्तित्वकी जो अवस्थाएँ हैं और विश्व-में अपने-आपको अभिव्यक्त करती हुई सर्व-शक्तिके साथ उसके जो संबंध हैं, इन दोनोंके नाते मृत्यु उसपर आरोपित होती है। कारण, वैयक्तिक प्राण ऊर्जाकी वह विशेष क्रीड़ा है जो समूची विश्व-लीलाके संपादनमें

अपने-अपने स्थान, समय व क्षेत्रमें लगे असंख्य रूपोंमेंसे किसी एक विशेष रूपका निर्माण व सरंक्षण करने, उसे ऊर्जित करने और अंतमें उसकी उपयोगिताके समाप्त हो जानेपर उसका विलय करनेको विशेषीकृत है। शरीरमें प्राणकी जो ऊर्जा है उसे विश्वमें रहनेवाली अपनेसे बाह्य ऊर्जाओं-के आक्रमणको सहना होता है, उसे उन ऊर्जाओंको अंदर खींचना और उनका भक्षण करना होता है और वह स्वयं भी उनके द्वारा निरंतर भक्षित होती रहती है। उपनिषद्के अनुसार जड़ मात्र ही अन्न है, और यह भौतिक जगत्का सूत्र है कि "अन्नका भोक्ता अन्नाद स्वयं अन्न बन जाता है"। शरीरमें संगठित प्राण सदा इस संभावनाकी ओर खुला रहता है कि उससे बाहरके प्राणका आक्रमण उसे खंडित कर दे, या उसकी भक्षण-क्षमता अपर्याप्त होने या उचित रूपसे पूरी न की जानेके कारण, या भक्षणकी क्षमता और बाहरके प्राणके लिए भोजन प्रदान करनेकी क्षमता या आवश्यकताके बीच सही संतुलन न होनेके कारण वह अपना रक्षण करनेमें अक्षम हो जाय और भक्षित हो जाय या अपना पुनर्नवी-करण करनेमें अक्षम रहे, अतः क्षीण हो जाय या भंग हो जाय; तब उसे एक नये निर्माण या पुनर्नवीकरणके लिए मृत्युकी प्रक्रियाके बीचसे गुजरना पड़ता है।

केवल ऐसा ही नहीं, प्रत्युत, यदि उपनिषद्की भाषामें फिर कहें, प्राण-शक्ति शरीरका अन्न है और शरीर प्राण-शक्तिका अन्न है। दूसरे शब्दोंमें, हमारे अन्दरकी प्राण-शक्ति दोनों कार्य एक साथ ही करती है, वह वह सामग्री प्रदान करती है जिसके द्वारा रूप-शरीरका निर्माण, संरक्षण और पुनर्नवीकरण होता है और वह अपने-आपके जिस वस्तुमय रूपको इस प्रकार रचती है और उसका अस्तित्व बनाये रखती है उसका निरंतर व्यय भी करती जाती है। यदि इन दोनों क्रियाओंके बीचका संतुलन ठीक न रहे या भंग हो जाय, या यदि प्राण-शक्तिकी विभिन्न धाराओंकी व्यवस्थित क्रिया अव्यवस्थित हो जाय, तो रोग और ह्रास हस्तक्षेप करते हैं और विघटनकी प्रक्रिया प्रारंभ करते हैं। और, सचेतन स्वामित्वके लिए होनेवाला स्वयं संघर्ष ही, और मनका वर्द्धन भी, प्राणके संरक्षणको अधिक कठिन बना देते हैं। कारण, शरीरपर प्राण-ऊर्जाकी माँग बढ़ती जाती है, यह माँग मूल संभरण-व्यवस्थासे बहुत अधिक होती है और वह पूर्ति तथा मांगके मूल संतुलनको भंग कर देती है, और एक नया संतुलन स्थापित हो सकनेसे पहले बहुतसे ऐसे विकार प्रविष्ट कर दिये जाते हैं जो कि प्राणके सामंजस्य और उसकी दीर्घ विद्यमानताके प्रतिकूल

होते हैं। इसके अतिरिक्त, स्वामित्वके लिए होनेवाला प्रयत्न वातावरण-में सदा तदनुरूप प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है, वातावरण पहलेसे ही ऐसी शक्तियोंसे भरा रहता है जो स्वयं अपनी परिपूर्ति चाहती हैं, अतः जो सत्ता उनपर अधिकार करना चाहती है उसके प्रति असहिष्णु रहती हैं, उसके विरुद्ध विद्रोह और उसपर आक्रमण करती हैं। वहाँ भी एक संतुलन-भंग हो जाता है, एक अधिक तीव्र संघर्ष उत्पन्न होता है; प्रभुत्व-कारी प्राण चाहे कितना ही सबल क्यों न हो, जबतक वह असीम न हो जाय, अथवा, अपने वातावरणके साथ एक नया सामंजस्य स्थापित करनेमें सफल न हो जाय, तबतक वह सदा प्रतिरोध करके विजय प्राप्त नहीं कर सकता, प्रत्युत एक दिन वह अवश्य ही पराजित और विघटित हो जायगा।

किन्तु, इन सब आवश्यकताओंके अलावा, स्वयं शरीरधारी प्राणकी प्रकृति और लक्ष्यकी एक मूलभूत आवश्यकता है, वह है सांत आधारपर अनन्त अनुभवको खोजना; और चूँकि आधार, यानी रूप, अपने संगठनके नाते अनुभवकी संभावनाको सीमित कर देता है, यह उस रूपको विघटित कर और नये रूपोंको धारण कर ही किया जा सकता है। क्योंकि, अंत-रात्मा जब एक बार क्षण और क्षेत्रपर केन्द्रित होकर अपना परिसीमन कर लेता है, अपनी अनन्तताकी पुनःप्राप्तिके लिए उसे अनुक्रमके नियम-का आश्रय लेना होता है, वह क्षणके साथ क्षणको जोड़ते हुए एक कालिक अनुभव संचित करता है जिसे वह अपना अतीत कहता है; उस कालमें वह क्रमानुगत क्षेत्रों, क्रमानुगत अनुभवों या जीवनों, ज्ञान, सामर्थ्य और उपभोगके क्रमानुगत संचयोंसे गुजरता है, और इन सबको वह कालमें किये गये अपने अतीतके उपार्जनके भंडारके रूपमें अवचेतन या अति-चेतन स्मृतिमें रखे रहता है। इस प्रक्रियाके लिए रूप-परिवर्तन आव-श्यक है, और वैयक्तिक शरीरमें निवर्तित अंतरात्माके लिए रूप-परिवर्तनका अर्थ होता है शरीरका विघटन। यह विघटन भौतिक विश्वमें सर्व-प्राणके विधान और उसकी बाध्यताके अधीन रहनेसे, रूपकी सामग्रीकी पूर्ति और उस सामग्रीपर की जानेवाली मांगके विधानके अधीन रहनेसे, पारस्परिक भक्षणके जगत्‌में अस्तित्व रखनेके लिए शरीरधारी प्राणके संघर्ष और उसके पारस्परिक आघात-प्रतिघातके सिद्धांतके अधीन रहनेसे होता है। और यही मृत्युका विधान है।

तो, यही मृत्युकी आवश्यकता और उसकी न्याय-संगतता है; वह प्राण का निषेध नहीं, प्रत्युत उसकी एक प्रक्रिया है। मृत्यु आवश्यक है, क्योंकि

रूपका शाश्वत परिवर्तन वह एकमात्र अमरत्व है जिसकी अभीप्सा सांत सजीव वस्तु कर सकती है और अनुभवका नित्य परिवर्तन वह एकमात्र अनंतता है जिसतक सजीव शरीरमें निवर्तित रहनेवाला ससीम मन पहुंच सकता है। जन्म और मृत्युके बीच हमारा शारीरिक जीवन जिस रूप-प्रकारसे निर्मित होता है उसी रूप-प्रकारका निरंतर पुनर्नवीकरण ही यह रूप-परिवर्तन हो, ऐसा नहीं होने दिया जा सकता, क्योंकि जब-तक रूप-प्रकार परिवर्तित नहीं होता और अनुभवकारी मन काल, स्थान और वातावरणकी नयी परिस्थितियोंमें नये रूपोंके अन्दर नहीं डाला जाता, तबतक अनुभवका वह आवश्यक वैविध्य सम्पन्न नहीं किया जा सकता जिसकी मांग कालगत और देशगत जीवनका स्वयं स्वभाव करता है। और, यह तो मृत्युकी प्रक्रियाका जो विघटनके द्वारा और प्राणसे प्राणके भक्षणके द्वारा होना है, इसमें जो स्वाधीनताका अभाव, बाध्यता, संघर्ष, वेदना, किसी अनात्मा प्रतीत होनेवाली वस्तुके प्रति अधीनता है, केवल इसके कारण ही यह आवश्यक और हितकारी परिवर्तन हमारी मर्त्य मानसिकताको कराल और आवांछनीय प्रतीत होता है। यह भक्षित होनेका, खंडित होनेका, विनष्ट होनेका या बलपूर्वक ले जाये जानेका भाव ही मृत्युका दंश है जिसे यह विश्वास भी पूरी तरह रद्द नहीं कर सकता कि मृत्युके बाद भी वैयक्तिक जीवन बचा रहता है।

किन्तु यह प्रकिया उस पारस्परिक भक्षणके लिए आवश्यक है जिसे हम जड़में प्राणके आरंभिक विधानके रूपमें पाते हैं। उपनिषद् कहती है कि प्राण क्षुधा है जो कि मृत्यु है और इस क्षुधासे, जो कि मृत्यु है, "अशनाया मृत्युः", भौतिक जगत्‌की सृष्टि की गयी है। वस्तुतः, यहाँ प्राण भौतिक धातुको अपने सांचेके रूपमें लेता है, और भौतिक धातु अनंत रूपसे विभक्त तथा अनन्त रूपसे अपने-आपको संकलित करना चाहता हुआ सत् है। अतः, अनंत विभाजन और अनंत संकलनके इन दो आवेगोंके मध्य विश्वका भौतिक जीवन निर्मित होता है। अपने संरक्षण और वर्द्धनके लिए व्यक्तिका, सजीव परमाणुका प्रयत्न ही कामनाका सारा भाव है; एक अधिकाधिक सर्वालिंगनकारी अनुभव, एक अधिकाधिक सर्वालिंगनकारी अधिकार, अवशोषण, आत्मसात्करण और उपभोगके द्वारा एक शारीरिक, प्राणिक, नैतिक और मनोमय वर्द्धन ही 'सत्ता'का अनिवार्य, मूलभूत और अमिट आवेग रहता है; वह सत्ता एक बार विभक्त और व्यक्तिभावापन्न हो जानेपर भी गुप्त रूपसे नित्य अपनी सर्वालिंगनकारी, सर्वाधिपति अनंतताके प्रति सचेतन रहती है। उस

गुप्त चेतनाकी उपलब्धिका आवेग ही विश्वक भगवान्‌की प्रेरणा और प्रत्येक वैयक्तिक प्राणीमें अवस्थित शरीरधारी आत्माकी लालसा होता है, और यह अनिवार्य है, संगत है, हितकारी है कि वह उसे एक वर्द्धमान वृद्धि और विस्तारके द्वारा पहले प्राणकी अभिधाओंमें उपलब्ध करना चाहता है। भौतिक जगत्‌में ऐसा केवल परिपार्श्वका भक्षण करते हुए, दूसरोंको या दूसरोंके अधिकारमें जो है उसको आत्मसात् कर अपनी वृद्धि करते हुए किया जा सकता है; और यह आवश्यकता उस क्षुधाके सारे रूपोंकी सार्वभौमिक न्याय्यता बनती है। परंतु, जो भक्षण करता है वह भक्षित भी होता है; क्योंकि, आदान-प्रदानका, क्रिया और प्रतिक्रियाका, सीमित सामर्थ्यका और अतः एक अंतिम परिश्रांति और मृत्युका नियम स्थूल जगत्‌में समस्त प्राणको शासित करता है।

अवचेतन प्राणमें जो कुछ तब भी प्राणिक क्षुधा मात्र था वह सचेतन मनमें अपने-आपको उच्चतर रूपोंमें रूपांतरित कर लेता है; प्राणिक अंगोंमें रहनेवाली क्षुधा मनोवासित प्राणमें कामनाकी लिप्सा बन जाती है, और बौद्धिक या विचार-प्रधान प्राणमें वह इच्छा-शक्तिका आयास बन जाती है। कामनाकी इस वृत्तिको तबतक जारी रहना होगा और वह जारी रहेगी भी, जबतक व्यक्तिका इतना पर्याप्त विकास न हो जाय कि वह अंतमें स्वराट् हो सके और, अनन्तके साथ वर्द्धमान सायुज्य प्राप्त करता हुआ, इस विश्वका सम्राट् बन सके। कामना वह उत्तोलक है जिसके द्वारा दिव्य प्राण-तत्त्व जगत्‌में अपनी आत्म-प्रस्थापनाके लक्ष्यको साधित करता है, और जड़ताके लाभार्थ उसे मिटा डालनेका प्रयत्न दिव्य प्राण-तत्त्वका प्रत्याख्यान है, न रहनेकी एक इच्छा-शक्ति है जो कि अवश्य ही अज्ञान है, क्योंकि, अनन्त होकर ही व्यक्ति अपनी वैयक्तिकताका अंत कर सकता है। कामनाका भी ठीक अंत तभी हो सकता है जब वह अनन्तकी कामना हो जाती है और अपने-आपको अनन्तके पूर्ण ऐश्वर्यमय आनंदमें एक दिव्य परिपूर्ति और एक अनंत संतुष्टिसे तृप्त करती है। तबतक उसे एक परस्पर-भक्षण करनेवाली क्षुधाके प्रकारसे निकलकर एक पारस्परिक प्रदानकी ओर, आदान-प्रदानके एक वर्द्धमान हर्षपूर्ण यज्ञके प्रकारकी ओर प्रगति करनी होती है,—व्यक्ति अपने-आपको अन्य व्यक्तियोंको देता है और बदलेमें उन्हें वापस पाता है; निम्नतर अपने-आपको उच्चतरको देता है और उच्चतर निम्नतरको, ताकि वे दोनों एक-दूसरेके अन्दर परिपूरित हो सकें; मानव अपने-आपको भगवान्‌को देता है और भगवान् मानवको; व्यक्तिके अन्दरका सर्व अपने-आपको

विश्वगत सर्वको देता है और दिव्य प्रतिदानके रूपमें अपना संसिद्ध विश्वत्व पा लेता है। इस प्रकार, अवश्य ही, क्षुधाका विधान प्रेमके विधानको, विभाजनका विधान एकत्वके विधानको, मृत्युका विधान अमरत्वके विधानको प्रगतिशील रूपसे स्थान देगा। विश्वके अन्दर क्रिया करनेवाली कामनाकी यही आवश्यकता है, यही उसकी सार्थकता, यही उसकी परिसमाप्ति और आत्म-परिपूर्ति है।

प्राणके द्वारा धारण किया हुआ मृत्युका यह मुखौटा जैसे अपने अमरत्वकी प्रतिष्ठाकी चाह करनेवाले सांतकी चेष्टाका परिणाम है, वैसे ही कामना भी प्राणके अन्दर सत्‌की व्यक्तिभावापन्न शक्तिका आवेग है जो अपने अनंत आनंदको, सच्चिदानंदके आनन्दको कालमें अनुक्रमके पदोंमें और देशमें आत्म-विस्तारके पदोंमें, सांतके सांचेमें प्रगतिमान रूपसे प्रस्थापित करना चाहता है। वह आवेग कामनाका जो मुखौटा धारण करता है, वह सीधा प्राणके तृतीय व्यापार, उसके असामर्थ्यके विधानसे आता है। प्राण एक अनंत शक्ति है जो सांतकी उपाधियोंके अंदर क्रिया कर रही है; यह अनिवार्य है कि सांतमें उसकी जो स्पष्ट व्यष्टि-क्रिया होती है उसमें सर्वत्र उसकी सर्वशक्तिमत्ता एक सीमित सामर्थ्य और आंशिक अशक्तताके रूपमें प्रकट हो और क्रिया करे, यद्यपि व्यक्तिके हर कर्मके पीछे, चाहे वह कितना ही दुर्बल, कितना ही व्यर्थ, कितना ही लड़खड़ाता हुआ क्यों न हो, अनंत सर्वशक्तिमान् शक्तिकी समग्र अतिचेतन और अवचेतन विद्यमानता होती ही है; पीछेकी उस विद्यमानताके विना विश्वमें कोई एक न्यूनतम गति भी नहीं हो सकती, उसकी वैश्व क्रियाकी समष्टिके अन्दर प्रत्येक क्रिया और गति वस्तुओंमें अन्तर्हित अतिमानसवत् क्रिया करनेवाली सर्वशक्तिमान सर्वज्ञताकी आज्ञासे ही ढलती रहती है। किंतु, व्यष्टि-प्राणशक्ति अपनी निजकी चेतनाके लिए सीमित और असामर्थ्यसे भरी रहती है, क्योंकि उसे परिवेशकी अन्य व्यष्टि-प्राणशक्तियोंके समूहके विरोधमें ही नहीं, प्रत्युत स्वयं अनंत प्राणके नियंत्रण और निषेधके भी अधीन रहकर कार्य करना पड़ता है, क्योंकि, हो सकता है कि अनंत प्राणकी सम्पूर्ण इच्छा और दिशाके साथ उसकी अपनी इच्छा और दिशा तत्काल मेल न खायं। अत: शक्तिका परिसीमन, असामर्थ्यका व्यापार विभक्त और व्यष्टिभावापन्न प्राणके तीन गुणोंमें तृतीय होता है। दूसरी ओर, आत्म-अभिवर्द्धन और सर्वाधिपत्यका आवेग वना रहता है; अत: यह प्राण अपने-आपको अपनी वर्तमान शक्ति या असामर्थ्यकी सीमासे न तो मापता या सीमित करता है और न यह

अभिप्रेत ही है। अतः, आधिपत्यके आवेग और आधिपत्य करनेकी शक्तिके बीच जो खाई रहती है उससे कामनाका उद्‌गम होता है; क्योंकि यदि ऐसी कोई विषमता न रहती तो शक्ति सदैव अपने अभीष्टपर अधिकार कर लेती, अपना लक्ष्य सदैव सुरक्षित रूपसे पा लेती, कामना अस्तित्वमें ही न आती, प्रत्युत लालसा-रहित एक वैसी स्थिर और आत्मवान् 'इच्छा'-शक्ति ही रहती, जैसी भगवान्‌की 'इच्छा' है।

यदि व्यष्टि-शक्ति अज्ञानसे मुक्त मनकी ऊर्जा होती तो ऐसे किसी परिसीमनको या कामनाकी आवश्यकताको बीचमें न आना पड़ता। क्योंकि, जो मन अतिमानससे पृथक् नहीं हुआ है, जो दिव्य ज्ञानात्मक मन है, उसे अपनी प्रत्येक क्रियाके अभिप्राय, क्षेत्र और अनिवार्य परिणामका ज्ञान रहेगा ; न उसे लालसा होगी, न वह संघर्ष करेगा, वरन् वह एक सुनिश्चित शक्तिको निःसृत करेगा जो तात्कालिक अभीष्ट लक्ष्यके लिए आत्म-सीमित होगी। वर्तमानसे आगे फैलनेमें भी, जिन गतियोंकी तात्कालिक सफलता अभिप्रेत नहीं है, उन्हें हाथमें लेते हुए भी वह कामना या परिसीमनके अधीन नहीं होगा। क्योंकि, भगवान्‌की विफलताएँ भी उनकी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ताकी क्रियाएँ हैं ; उनकी सर्वज्ञताको उनकी समस्त विश्व-क्रियाओंके आरंभके सही समय और परिस्थितिका, उनके दशा-विपर्ययोंका, उनके तात्कालिक और अंतिम परिणामोंका ज्ञान रहता है। ज्ञानमय मन, दिव्य अतिमानसके साथ एक रहता हुआ, इस विज्ञानमें और इस सर्व-निर्धारिक बलमें भाग लेगा। किंतु, जैसा हम देख चुके हैं, यहाँ, व्यष्टि-प्राणशक्ति व्यष्टिरूपकारी और अज्ञानी मनकी, अपने ही अतिमानसके ज्ञानसे च्युत मनकी एक ऊर्जा है। अतः 'जीवन'में उसके संबंधोंके लिए असामर्थ्य आवश्यक है, और वस्तुओंका जैसा स्वरूप है, अनिवार्य है, क्योंकि, अज्ञानी शक्तिकी व्यावहारिक सर्वशक्तिमत्ता, चाहे एक सीमित क्षेत्रके अन्दर ही क्यों न हो, अकल्पनीय है, क्योंकि उस क्षेत्रमें ऐसी शक्ति दिव्य और सर्वज्ञ सर्वशक्तिमत्ताकी क्रियाके विरोधमें खड़ी होगी और वस्तुओंके स्थिर प्रयोजनको अस्थिर कर देगी,—और यह एक असंभव विश्व-परिस्थिति है। अतः, सहजप्रवृत्तिगत या सचेतन कामनाके परिचालक संवेगके नीचे सीमित शक्तियोंका संघर्ष, जिसके द्वारा वे शक्तियाँ अपना सामर्थ्य वर्द्धित करती हैं,—यह प्राणका प्रथम विधान है। जैसा कामनाके साथ होता है, वैसा ही इस संघर्षके साथ भी होता है; उसे एक परस्पर-सहायक शक्ति-परीक्षामें, भ्रातृ शक्तियोंके एक सचेतन मल्लयुद्धमें जुटना होगा जिसमें विजयी और पराजित, वल्कि ऐसा कहें, जो ऊपरसे क्रिया करके प्रभावित

करता है और जो नीचेसे प्रतिकारी क्रिया करता हुआ प्रभावित करता है, दोनों समान रूपसे लाभान्वित और वर्द्धित होंगे। और, अंततोगत्वा, इसे उस दिव्य आदान-प्रदानका सुखद आघात हो जाना होगा, संघर्षकी विक्षुब्ध पकड़के स्थानपर प्रेमका दृढ़ आलिंगन बन जाना होगा। तथापि, संघर्ष आवश्यक और हितकर आरंभ है। मृत्यु, कामना और संघर्ष विभक्त जीवनकी त्रिमूर्ति हैं, वे विश्वमें आत्म-प्रस्थापनके लिए प्रथम प्रयासमें दिव्य प्राण-तत्त्वके धारण किये हुए तीन छद्मरूप हैं।

अध्याय इक्कीस

प्राणका आरोहण

प्र देवत्रा ब्रह्मणे गातुरेत्वपो अच्छा मनसो न प्रयुक्ति।
अग्ने दिवो अर्णमच्छा जिगास्यच्छा देवाँ ऊचिषे धिष्ण्या ये।
या रोचने परस्तात्सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आपः॥

शब्दका पथ देवोंकी ओर ले जाय, मनकी क्रियाके द्वारा अप (जल) की ओर ले जाय। हे अग्नि! तू द्युलोकके समुद्रको जाता है, देवोंकी ओर जाता है; तू लोक-लोकके देवोंका, सूर्य-से ऊपर ज्योति-प्रदेशमें रहनेवाले जल और नीचे रहनेवाले जल-का मिलन कराता है।

—ऋग्वेद 10.30.1; 3.22.3

तृतीयं धाम महिषः सिषासन्त्सोमो विराजमनु राजति ष्टुप्।
चमूषच्छ्येनः शकुनो विभृत्वा गोविन्दुर्द्रप्स आयुधानि बिभ्रत्।
अपामूर्मिं सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति॥

आनन्द-प्रभु तृतीय धामको जीतता है; वह विश्वात्माके अनुसार स्थित रहता और शासन करता है; श्येनके समान, शकुनके समान वह पात्र (आधार)के ऊपर बैठता और उसे ऊपर उठाता है; ज्योतिका आविष्कारक वह चतुर्थ (तुरीय) धामको अभिव्यक्त करता और उन जलोंके ऊर्मिमान समुद्रसे संसक्त होता है।

—ऋग्वेद 9.96.18, 19

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूळ्हमस्य पांसुरे॥
त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्॥
विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥
तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्॥
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत् परमं पदम्॥

> विष्णुने तीन वार पदक्षेप किया और प्राथमिक धूलिसे ऊपर उठाये अपने पदको अग्रसर किया, रक्षक और अदम्य विष्णुने तीन पद भरे हैं, और उनके धर्मोंको वह परेके लोकसे धारण करते हैं। विष्णुके कर्मोंका निरीक्षण करो और देखो कि विष्णुने कहाँसे उनके धर्मोंको अभिव्यक्त किया है। वह विष्णु-का उच्चतम पद होता है जिसे ऋषिगण सदा द्युलोकमें विस्तृत चक्षु-रूपमें देखते हैं; उसको विप्रगण (ज्ञानदीप्त पुरुष), प्रबुद्धगण ज्वालाके रूपमें प्रदीप्त करते हैं,.....विष्णुके परम पदको भी......।
>
> —ऋग्वेद 1.22. 17-21

हम देख चुके हैं कि विभक्त मर्त्य मन, जो परिसीमन और अज्ञान और द्वंद्वोंका जनक है, अतिमानसकी, स्वयं-ज्योतिर्मय दिव्य चेतना-की एक अंधेरी आकृतिमात्र होता है जब कि उस दिव्य चेतनाके अपने प्रतीय-मान आत्म-प्रतिषेधके साथ प्रथम व्यवहार होते हैं जहाँसे हमारे विश्वका प्रारम्भ होता है; वैसे ही प्राण भी हमारे भौतिक विश्वमें जिस रूपमें उन्म-ज्जित होता है,—विभाजक मनकी ऊर्जाकी नाईं जो कि जड़में अवचेतन, निमज्जित और बंदी है; प्राण, जो मृत्यु, क्षुधा और असामर्थ्यका जनक है,—वह उस दिव्य अतिचेतन शक्तिकी एक अंधेरी आकृतिमात्र होता है जिसकी उच्चतम भूमिकाएं अमरत्व, तृप्त आनन्द और सर्वशक्तिमत्ता हैं। यह संबंध उस महान् वैश्व प्रक्रियाका स्वरूप निधारित करता है जिसके हम अंग हैं; वह हमारे विकासक्रमके प्रथम, मध्यम और अंतिम पर्वोंको निर्धारित करता है। प्राणके प्रथम रूप हैं विभाजन, एक शक्ति-संचालित अवचेतन इच्छा, जो कि इच्छा-रूपमें नहीं, जड़-ऊर्जाकी मूक प्रेरणा-रूपमें प्रकट होती है; और निःशक्तता, जो रूप और उसके पर्यावरणके मध्य होनेवाले आदान-प्रदानको शासित करनेवाली यंत्रवत् शक्तियोंके प्रति ताम-सिक अधीनताकी होती है। यह निश्चेतना, और ऊर्जाकी यह अंधी किन्तु सशक्त क्रिया, ये भौतिक विश्वका वह प्रकार हैं जिसे भौतिक विज्ञान-शास्त्री देखता है, और वस्तुओंके प्रति उसकी यह दृष्टि विस्तृत होती है और समूचा आधारगत अस्तित्व ही बन जाती है; यही जड़तत्त्वकी चेतना है और भौतिक जीवनका निष्पन्न प्ररूप है। किन्तु, तब एक नये सन्तुलनका प्रवेश होता है, तत्त्वोंकी एक नयी श्रेणी आती है, इनकी

वृद्धि उस अनुपातमें होती है जिस परिमाणमें प्राण अपने-आपको इस रूपमेंसे उन्मुक्त करता और सचेतन मनकी ओर विकसित होता है। क्योंकि, प्राणके मध्य-पर्व हैं मृत्यु और पारस्परिक भक्षण ; क्षुधा और सचेतन कामना ; अवकाश और सामर्थ्यके सीमित होनेका भान, और वर्द्धन, विस्तार, विजय तथा आधिपत्यके लिए संघर्ष। ये तीनों विकासक्रमकी उस भूमिकाके आधार हैं जिसे 'डारविन'के सिद्धान्तने मानव-ज्ञानके सामने प्रथम वार स्पष्ट किया। मृत्युका व्यापार जीवित रहनेके लिए होनेवाले एक संघर्षको अपनेमें सन्निहित किये होता है, क्योंकि मृत्यु एक अभावात्मक रूप मात्र है जिसके अन्दर प्राण अपने-आपको अपनी दृष्टिसे छिपा लेता है और अपनी भावात्मक सत्ताको अमरताकी खोजके लिए प्रलोभित करता है। क्षुधा और कामनाका व्यापार उसमें तृप्ति और सुरक्षाकी किसी स्थितिके लिए होनेवाले संघर्षको सन्निहित किये होता है, क्योंकि कामना तो वह उद्दीपन मात्र है जिसके द्वारा प्राण अपनी ही भावात्मक सत्ताको प्रलोभित करता है कि वह अतृप्त क्षुधाके नकारसे निकलकर अस्तित्वके आनंदको संपूर्णतया अधिकृत करनेकी ओर ऊपर उठे। सीमित सामर्थ्यके व्यापारमें विस्तार, प्रभुत्व और स्वायत्तीकरणका, आत्मवान् होनेका और परिपार्श्वपर विजय-प्राप्ति का संघर्ष सन्निहित है, क्योंकि परिसीमन और त्रुटि वह नकार ही हैं जिसके द्वारा प्राण अपनी भावात्मक सत्ताको प्रलोभित करता है कि वह उस पूर्णताकी खोज करे जिसके लिए वह शाश्वत रूपसे सक्षम है। जीवनके लिए, जो संघर्ष होता है वह केवल जीनेके लिए ही संघर्ष नहीं होता, वह स्वायत्त करने और पूर्णता-प्राप्तिके लिए भी संघर्ष होता है ; क्योंकि, न्यूनाधिक रूपसे पर्यावरणको अपनी पकड़में लेकर, चाहे अपने-आप उसके अनुकूल बनकर या, उसे अपने अनुकूल बना कर, उसे स्वीकार कर, और उसमें सन्धि कर, या उसे जीतकर और बदलकर ही टिका रहना सुरक्षित किया जा सकता है। और यह बात भी समान रूपसे सत्य है कि अधिकाधिक महत्तर पूर्णता ही एक अविच्छिन्न चिरत्व, एक स्थायी अस्तित्वका बना रहना सुनिश्चित कर सकती है। इसी सत्यको डारविनने 'योग्यतमावशेष'के सूत्रमें प्रकट करना चाहा था।

किन्तु जब वैज्ञानिक मनने जड़-सत्ताके तत्त्वको और जड़में प्रच्छन्न यंत्रवत् चेतनाके स्वाभाविक यांत्रिक धर्मको विस्तृत कर प्राणपर भी लागू करना चाहा, तो उसने यह नहीं देखा कि एक नया तत्त्व प्रवेश कर गया है जिसके अस्तित्वका हेतु ही यह है कि यांत्रिक तत्त्वको अपने अधीन

करे ; वैसे ही डारविनके सिद्धान्तको प्राणके आक्रामक तत्त्वका, व्यक्तिकी प्राणिक स्वार्थपरताका, आत्म-परिरक्षण, आत्म-प्रस्थापन और आक्रामक जीवनकी सहजप्रवृत्ति और प्रक्रियाका अत्यधिक विस्तार करनेके लिए व्यवहृत किया गया। वास्तवमें प्राणकी ये प्रथम दो स्थितियाँ अपने अन्दर एक नवीन तत्त्व और अन्य स्थितिके बीज समाये रहती हैं जिनका वर्द्धन उस अनुपातमें होगा जिस अनुपातमें जड़तत्त्वसे विकसित होता हुआ मन प्राणिक तंत्रसे होता हुआ अपने स्व-धर्ममें आता है। और, सभी वस्तुओंको तब और भी अधिक परिवर्तित होना होगा जब मनकी ओर ऊर्ध्व-मुख होकर विकसित होते हुए प्राणकी तरह, मन भी अतिमानस और आत्माकी ओर ऊर्ध्वमुख होकर विकसित होता होगा। चूंकि मृत्युका विधान अस्तित्व-रक्षाके लिए होते संघर्षका, चिरत्वके लिए होते आवेग-का प्रत्याख्यान करता है, ठीक इसी कारण वैयक्तिक प्राण अपने बदले अपनी जातिके चिरत्वकी प्राप्तिके लिए बाध्य और व्यवहृत होता है, किन्तु वह दूसरोंके सहयोगके बिना यह नहीं कर सकता; और सहयोग तथा पारस्परिक सहायताका तत्त्व, दूसरोंकी कामना, पत्नी, संतान, मित्र और सहायककी कामना, सहचारी समूहकी कामना, साहचर्यका, सचेतन संयुक्तता और आदान-प्रदानका व्यवहार, ये वे बीज हैं जिनसे प्रेमका तत्त्व पुष्पित होता है। हम मान लें कि आरंभमें प्रेम एक विस्तृत स्वार्थ-परता ही होता है और विस्तृत स्वार्थपरताका यह रूप विकासक्रमकी उच्चतम भूमिकाओंमें भी डटा हुआ और आधिपत्यशाली रह सकता है, जैसे वह अभी वास्तवमें डटा हुआ और आधिपत्यशाली है : तो भी, जैसे-जैसे मन विकसित होता है और अपने-आपको अधिकाधिक पाता है, वह जीवन और प्रेम और पारस्परिक सहायताके अनुभवसे इस बोध पर आ जाता है कि प्राकृत व्यक्ति सत्ताका एक गौण पद है और उसका अस्तित्व विश्व-सत्ताके सहारे ही है। एक बार यह ज्ञात हो जाये, और मनोमय सत्ताधारी मनुष्यको यह अनिवार्यतः ज्ञात होता भी है, तो उसकी भवितव्यता निर्धारित हो जाती है, क्योंकि तब वह ऐसे बिन्दुपर पहुंच जाता है, जहाँ मन इस सत्यके प्रति खुलना आरम्भ कर सकता है कि स्वयं उसके परे भी कोई वस्तु है। उस क्षणसे उसका विकासक्रम, चाहे कितना ही अंधकाराच्छन्न और धीमा क्यों न हो, उस श्रेष्ठतर वस्तुकी ओर, आत्माकी ओर, अतिमानसकी ओर, अतिमानवत्वकी ओर होना अनिवार्य रूपसे पूर्वनिर्धारित हो जाता है।

अतः, प्राणका स्वरूप ही ऐसा है कि उसका एक तृतीय भूमिकामें,

अपनी आत्माभिव्यक्तिके पदोंकी एक तृतीय श्रेणीमें आना पूर्वनियत है। यदि हम प्राणके इस आरोहणकी परख करें तो देखेंगे कि उसके वास्तविक विकासक्रमके अंतिम पद, जिन्हें हमने उसकी तृतीय भूमिका कहा है, अवश्य ही, देखनेमें तो अपनी प्राथमिक अवस्थाओंका प्रत्याख्यान और विरोध, किन्तु वस्तुतः उनकी परिपूर्ति और उनका रूपान्तर ही होंगे। प्राण जड़तत्त्वके चरम विभाजनों और अनमनीय रूपोंसे आरंभ करता है; और परमाणु, जो समस्त भौतिक रूपका आधार है, इस अनमनीय विभाजनका प्ररूप ही है। परमाणु दूसरोंके साथ संयुक्तावस्थामें रहता हुआ भी उनसे पृथक् रहता है, किसी भी सामान्य शक्तिके द्वारा अपने मरण और विलय होनेका प्रत्याख्यान करता है और वह प्रकृतिके संलयनके तत्त्वके विरोधमें अपने अस्तित्वको विशेषित करनेवाले पृथक् अहंका भौतिक प्ररूप रहता है। किंतु, एकत्व भी प्रकृतिमें उतना ही सवल तत्त्व है जितना विभाजन, वस्तुतः वह वह प्रधान तत्त्व है जिसका एक गौण पद है विभाजन। और अतएव, प्रत्येक विभाजित रूपको अपने-आपको किसी न किसी विधिसे एकत्वके तत्त्वके अधीन कर देना होता है, चाहे यंत्रवत् आवश्यकतासे हो, चाहे वाध्यतासे, चाहे स्वीकृतिसे हो, चाहे प्ररोचनासे। अतः, प्रकृति यदि अपने अभिप्रायोंके लिए, प्रमुखतः अपने संयोजनोंके लिए, एक दृढ़ आधारके निमित्त और रूपोंके नियत वीजके निमित्त, परमाणुको विलयके द्वारा संलयनकी प्रक्रियाका प्रतिरोध साधारणतः करने देती है, तो भी वह उसे इसके लिए वाध्य करती है कि वह समाहरणके द्वारा संलयनकी प्रक्रियामें सहायक हो; परमाणु जैसे प्रथम संहति है, वैसे ही एकत्वोंके समवायका प्रथम आधार भी है।

जव प्राण अपनी द्वितीय भूमिकामें पहुंचता है, जिसे हम जीवनीशक्तिके नामसे जानते हैं, तव विपरीत व्यापार प्रमुख हो जाता है और प्राणिक अहंका शारीरिक आधार विलयके लिए राजी होनेको वाध्य होता है। उसके घटक अवयव छिन्न-भिन्न हो जाते हैं ताकि एक प्राणके तत्त्वोंको अन्य प्राणोंके तात्त्विक रूपायणमें प्रवेश करनेके लिए व्यवहृत किया जा सके। प्रकृतिमें यह विधान कहाँ तक व्याप्त है यह अभी पूरी तरह नहीं जाना जा सका है और निःसन्देह, तवतक जाना भी नहीं जा सकता जवतक हमें जड़सत्ता और भौतिक जीवन-सम्वन्धी अपने वर्तमान विज्ञानकी तरह मनोमय जीवन और आध्यात्मिक सत्ताका उतना ही यथार्थ विज्ञान न मिल जाय। हम फिर भी मोटे तौर पर देख सकते हैं कि केवल हमारे स्थूल शरीरके तत्त्व ही नहीं, प्रत्युत हमारी सूक्ष्मतर प्राणिक

सत्ताके, हमारी जीवन-ऊर्जाके, हमारी कामना-ऊर्जाके, हमारे बल, उद्योग और अनुरागके तत्त्वभी हमारे जीवन-कालमें और हमारी मृत्युके बाद भी दूसरोंकी प्राण-सत्तामें प्रवेश करते हैं। एक प्राचीन गुह्य विद्या हमें बताती है कि स्थूल ढांचेके साथ-साथ हमारा एक प्राणिक ढांचा होता है, मृत्युके बाद उसका भी विलय हो जाता है और वह अन्य प्राणिक शरीरोंके निर्माणके लिए उपादान बन जाता है; हमारे जीवन-कालमें हमारी प्राण-ऊर्जाएं अन्य सत्ताओंकी ऊर्जाओंसे निरन्तर मिश्रित होती रहती हैं। एक ऐसा ही विधान अन्य विचारशील जीवोंके मनोमय जीवनके साथ हमारे मनोमय जीवनके पारस्परिक संबंधोंको शासित करता है। वहाँ मनपर मनका आघात होता है, परिणाम-स्वरूप एक सतत विलय, विसर्जन और पुर्ननिर्माण होता रहता है, तत्त्वोंका एक सतत आदान-प्रदान और संलयन चलता है। सत्ताके साथ सत्ताका आदान-प्रदान, पारस्परिक मिश्रण और संलयन, यह प्राणकी अपनी प्रक्रिया ही है, उसका स्वधर्म है।

तो, हमें प्राणमें दो तत्त्व मिलते हैं, एक तो है पृथक् अहंकी अपने विविक्त रूपमें अपने अस्तित्व-संरक्षणकी और अपना पृथक् रूप सँजोये रखनेकी आवश्यकता या इच्छा, और दूसरा है, दूसरोंके साथ अपना संलयन करनेकी बाध्यता जिसे प्रकृति उस पर आरोपित करती है। जड़ जगत्में प्रकृति प्रथम तत्त्वके आवेगपर बहुत अधिक बल देती है, क्योंकि उसे स्थायी पृथक् रूपोंकी रचना करनी होती है। वस्तुत: यह उसकी प्रथम और यथार्थत: सबसे कठिन समस्या है कि ऊर्जाकी सतत धारा और गतिशीलतामें और अनंतके एकत्वमें वह वैयक्तिकताके एक पृथगात्मक अस्तित्व-रक्षण जैसी वस्तुकी रचना करे और उसके लिए कोई स्थायी रूप बनाये। अत:, परमाणु-जीवनमें वैयक्तिक रूप आधारकी भांति टिका रहता है और दूसरोंके साथ अपने समाहरणके द्वारा समाहृत रूपोंका न्यूनाधिक दीर्घ-जीवी अस्तित्व बना पाता है जो प्राणिक और मनोमय व्यष्टि-रूपोंका आधार होता है। किन्तु अपनी बाह्य क्रियाओंके निरापद संचालनके लिए प्रकृति ज्योंही पर्याप्त दृढ़ता प्राप्त कर लेती है वह प्रक्रियाको उल्टी दिशामें मोड़ देती है; वैयक्तिक रूप नष्ट हो जाता है और समष्टि-प्राण इस प्रकार विघटित रूपके तत्त्वोंसे लाभ उठाता है। तथापि, यह अन्तिम स्थिति नहीं हो सकती; अंतिम स्थितितक तो केवल तब पहुंचा जा सकता है जब इन दोनों तत्त्वोंका सामंजस्य हो जायें, जब व्यक्तिमें यह समर्थता आ जाये कि वह अपनी वैयक्तिकताकी चेतना

वनायी रखे और फिर भी, रक्षक संतुलनमें वाधा दिये विना और अपनी उत्तरजीवितामें व्यवधान डाले विना, दूसरोंके साथ अपना संलयन कर सके।

इस समस्याके विवरणमें मनका सम्पूर्ण उन्मज्जन मान लिया गया होता है। क्योंकि, सचेतन मनसे रहित प्राण-सत्तामें कोई साम्यावस्था नहीं हो सकती, केवल एक स्वल्पकालीन अस्थिर समतोलता हो सकती है जिसका अन्त शरीरकी मृत्यु, व्यक्तिके विघटन और विश्वत्वके अन्दर उसके तत्त्वोंके विखर जानेमें होता है। अन्नमय प्राणकी प्रकृतिमें इस भावका निषेध है कि किसी वैयक्तिक रूपको टिके रहनेकी और अतः सतत वैयक्तिक अस्तित्व रखनेकी वही अंतर्निहित क्षमता प्राप्त हो जो उसके घटक परमाणुओंको प्राप्त है। केवल मनोमय पुरुष ही, अंतरकी चैत्य ग्रंथिके सहारे, जो कि गुप्त अन्तरात्माको प्रकट करती या करना आरम्भ करती है, भूतको सातत्यके एक धारा-प्रवाहमें भविष्यके साथ जोड़नेके अपने वलद्वारा टिके रहनेकी आशा कर सकता है। रूपका खण्डित होना इस धारा-प्रवाहको स्थूल स्मृतिमें तो खण्डित कर सकता है, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वह उसे स्वयं मनोमय पुरुषमें भी विनष्ट करे। अंततः, विकासद्वारा यह भी संभव है कि यह धारा-प्रवाह शरीर-के जन्म-मरणके कारण स्थूल स्मृतिमें वनी खाईको पाट दे। अभीकी वस्तु-स्थितिमें भी, शरीरधारी मनके वर्तमान अपूर्ण विकासमें भी, मनोमय पुरुष मोटे तौर पर ऐसे भूत और ऐसे भविष्यके प्रति सचेतन रहता है जिसका विस्तार शरीरके जीवनसे आगे तक जाता है; वह एक वैयक्तिक अतीतके प्रति, वैयक्तिक जीवनोंके प्रति संविद् हो जाता है जिन्होंने उसके जीवनकी रचनाकी है और जिनका वह एक विकास और परिवर्तित पुन-रुत्पादन है, और वह भावी वैयक्तिक जीवनोंके प्रति संविद् होता है जिन्हें उसका जीवन अपने-आपमेंसे रच रहा है; वह अतीत और भविष्य-के एक सम्मिलित जीवनके प्रति भी सचेतन होता है जिसमें उसकी अपनी सातत्य-धारा उसके अनेक सूत्रोंमें एक सूत्रकी भांति चलती है। यह तथ्य, जो कि भौतिक विज्ञानमें आनुवंशिकताकी परिभाषामें प्रकट होता है, अन्य रूपसे, मनोमय पुरुषके पीछे रहनेवाले विकसित होते जीवको, निरवच्छिन्न व्यक्तित्वके रूपमें प्रकट होता है। अतः, इस जीव-चेतना को प्रकट करनेवाला मनोमय पुरुष ही स्थायी व्यक्ति-जीवन और स्थायी समष्टि-जीवनकी ग्रंथि होता है, उसीमें उनका मिलन और सामंजस्य संभव होते हैं।

इस नये संबंधका प्रकार, उसका बल, और अतः प्राणकी तृतीय भूमिकामें होनेवाले विकासका शासक तत्त्व है साहचर्य, जिसका गुप्त तत्त्व और उन्मज्जित होता हुआ शिखर है प्रेम। प्रेम-तत्त्वकी क्रियाके लिए यह आवश्यक है कि आदान-प्रदान, आत्म-समपर्ण और अन्य व्यक्तियोंके साथ संलयनकी सचेतन रूपसे स्वीकार की गयी आवश्यकता और कामनाके साथ-साथ वैयक्तिकताका सचेतन संरक्षण भी हो। क्योंकि, यदि इन दोनोंमेंसे किसीका भी उन्मूलन कर दिया जाय तो प्रेमकी क्रिया बन्द हो जाती है, फिर उसका स्थान चाहे जो भी ले ले। प्रेमकी संपूर्ति आत्म-बलिदानके द्वारा, यहाँतक कि ऐसे आत्म-बलिदानके द्वारा करनी जिसमें आत्म-विनाशका भ्रम होने लगता है, निस्सन्देह मनोमय पुरुषका एक भाव और आवेग है; किन्तु यह चीज प्राणकी इस तृतीय भूमिकासे आगेके विकासकी ओर संकेत करती है। यह तृतीय भूमिका ऐसी अवस्था है जिसमें हम वर्द्धमान रूपसे उस भूमिकासे परे, ऊपर उठते हैं जहाँ जीवनके लिए पारस्परिक भक्षणके द्वारा संघर्ष चलता है और उस संघर्ष-के द्वारा योग्यतमका अस्तित्व-रक्षण होता है; वस्तुतः उस ऊपरकी भूमिका-में पारस्परिक साहाय्यके द्वारा अधिकाधिक अस्तित्व-रक्षण होता है और पारस्परिक अनुकूलन, आदान-प्रदान तथा संलयनके द्वारा आत्म-पूर्णत्व प्राप्त होता है। जीवन सत्ताका एक आत्म-प्रतिष्ठापन है, यहाँ तक कि अहंका एक विकास और अस्तित्व-संरक्षण भी; किन्तु, वह ऐसी सत्ताका प्रतिष्ठापन है जिसे अन्य सत्ताओंकी आवश्यकता रहती है, ऐसे अहंका विकास और अस्तित्व-संरक्षण है जो अन्य अहमोंसे मिलना चाहता है, उन्हें अपनेमें सम्मिलित करना चाहता है और उनके जीवनमें सम्मिलित होना चाहता है। जो व्यक्ति और समुदाय सम्मिलनके विधानको और प्रेमके विधानको, पारस्परिक सहायता, दयालुता, स्नेह, मैत्री और एकत्व-के विधानको विकसित करेंगे, जो अस्तित्व-संरक्षण और पारस्परिक आत्म-दानमें अत्यधिक सफलतासे सामंजस्य स्थापित करेंगे, जिसमें पारस्परिक आदान-प्रदानके द्वारा समुदाय व्यक्तिका वर्द्धन करेगा और व्यक्ति समुदायका, व्यक्ति व्यक्तिका वर्द्धन करेगा और समुदाय समुदायका, वे व्यक्ति और समुदाय ही विकासक्रमकी इस तृतीय भूमिकामें अस्तित्व-रक्षणके लिए योग्यतम होंगे।

यह परिणति मनके[1] वर्द्धमान आधिपत्यका द्योतक है जो कि अन्नमय

---

1. यहाँ मनके उस रूपकी चर्चा की गयी है जो जीवनमें, प्राण-सत्तामें, हृदयके द्वारा सीधी क्रिया करता है। प्रेम,—सापेक्ष रूपमें, अपने निरपेक्ष रूपमें नहीं,—

सत्तापर अपना धर्म प्रगतिमान रूपसे अधिकाधिक आरोपित करता है। वस्तुतः अपनी श्रेष्ठतर सूक्ष्मताके नाते, मनको आत्मसात् करने, स्वायत्त करने और वर्द्धित होनेके लिए भक्षणकी आवश्यकता नहीं रहती; बल्कि, वह जितना अधिक देता है, उतना ही अधिक प्राप्त करता और वर्द्धित होता है; और जितना अधिक दूसरोंमें अपना संलयन करता है, उतना ही अधिक दूसरोंका अपने अन्दर संलयन करता और अपनी सत्ताके विस्तार-का वर्द्धन करता है। अन्नमय प्राण अत्यधिक देते रहनेसे परिश्रांत हो जाता है और अत्यधिक भक्षण करनेसे अपनी बर्बादी कर लेता है; किन्तु, यद्यपि मन जड़तत्त्वके विधानका जितना सहारा लेता है उसी अनुपातमें परिसीमित होता है, फिर भी दूसरी ओर देखें तो वह अपने विधानमें जितना वर्द्धित होता है उसी अनुपातमें इस परिसीमनको पार करनेकी ओर आगे बढ़ता है, और वह जितना भौतिक परिसीमाको पार करता जाता है उसी अनुपातमें देना और ग्रहण करना एक हो जाते हैं। क्योंकि, वह अपने ऊर्ध्व-मुखी आरोहणमें विभेदके अन्दर विद्यमान सचेतन एकत्व-के राज्यकी ओर बढ़ता है जो अभिव्यक्त सच्चिदानन्दका दिव्य विधान है।

प्राणकी आदि स्थितिका द्वितीय पर्व है अवचेतन इच्छा जो द्वितीय भूमिकामें क्षुधा और सचेतन कामना बन जाती है,—क्षुधा और कामना, जो सचेतन मनका प्रथम बीज हैं। साहचर्यके द्वारा, प्रेमकी वृद्धिके द्वारा प्राणकी तृतीय भूमिकामें ले जानेवाला जो विकास होता है वह कामनाके विधानको विनष्ट नहीं, बल्कि उसे रूपांतरित और परिपूरित करता है। प्रेमका स्वरूप है अपने-आपको दूसरोंको दे डालनेकी और बदलेमें दूसरोंको पानेकी कामना, यह सत्ताका सत्ताके साथ व्यापार होता है। अन्नमय प्राण अपने-आपको देनेकी इच्छा नहीं करता, वह केवल पानेकी कामना करता है। यह सच है कि वह अपने-आपको दे डालने के लिए बाध्य किया जाता है, क्योंकि जो प्राण केवल लेता है और देता नहीं,—यदि वास्तवमें ऐसा प्राण अपनी संपूर्णतामें यहाँ अथवा किसी भी जगत्में संभव हो,—अवश्य ही बंजर हो जायगा, म्लान और नष्ट हो जायगा; किन्तु, अन्नमय प्राणको बाध्य किया जाता है, वह इच्छुक

प्राणका तत्त्व है, न कि मनका; किन्तु वह तभी अपने-आपको अधिकृत कर सकता है और चिरत्वकी ओर बढ़ सकता है जब कि मन उसे अपने स्व-प्रकाशमें ले ले। शरीरमें और अप्राणिक अंगोंमें जिसे प्रेम कहा जाता है, वह अधिकतर चिरत्वरहित क्षुधाका ही रूप होता है।

नहीं होता, वह प्रकृतिके अवचेतन आवेगका अनुसरण करता है, उसमें सचेतन भाग नहीं लेता। जब प्रेम प्रवेश करता है तब भी आरम्भमें आत्म-दान परमाणुमें विद्यमान अवचेतन इच्छाके यंत्रवत् स्वभावको ही बड़ी सीमातक बनाये रखता है। आरम्भमें स्वयं प्रेम भी क्षुधाके नियम-का पालन करता है और दूसरोंसे पाने और वसूल करनेमें ही सुख लेता है, न कि दूसरोंको देने और समर्पण करनेमें; देने और समर्पण करनेको तो वह प्रमुखतः अपनी काम्य वस्तुके लिए दिये जानेवाले आवश्यक मूल्य-के रूपमें स्वीकार करता है। किन्तु, यहाँ वह अभीतक अपने सच्चे स्वरूपतक नहीं पहुँच पाया है; उसका सच्चा धर्म है एक समान व्यापार-की स्थापना, जिसमें देनेका आनन्द लेनेके आनन्दके समान रहता है और अंतमें उससे अधिक भी हो जानेकी प्रवृत्ति रखता है; किन्तु ऐसा तब होता है जब संपूर्ण एकत्वकी प्राप्तिके लिए वह चैत्य-ज्वालाके चापके *कारण अपने-आपसे परेकी ओर छूट उठता है, और अतः उसे यह अनुभव* करना होता है कि जो उसे अनात्मा प्रतीत होता था वह उसके अपने व्यक्तित्वसे भी श्रेष्ठतर और प्रियतर आत्मा है। अपने प्राण-मूलमें प्रेमका धर्म होता है दूसरोंके अन्दर और दूसरोंके द्वारा अपने-आपको चरितार्थ और परिपूरित करनेका, दूसरोंको समृद्ध करते हुए अपने-आपको समृद्ध करनेका, अधिकृत करने और अधिकृत होनेका आवेग, क्योंकि, अधिकृत हुए बिना वह अपने आपपर सम्पूर्णतया अधिकार नहीं कर सकता।

निजको अधिकृत करनेमें आणविक सत्ताकी तामसिक असमर्थता, जड़-मय व्यक्तिकी अनात्माके प्रति अधीनता, यह प्राणकी प्रथम भूमिकाकी वस्तु है। परिसीमनका बोध होना और अधिकृत करनेके लिए, आत्मा तथा अनात्मा दोनोंका स्वामी बननेके लिए संघर्ष, यह द्वितीय भूमिकाका प्रकार है। यहाँ भी तृतीय भूमिकाकी ओर होता हुआ विकास, मूल अभिधाओं-को रूपान्तरित करता हुआ, उनमें ऐसी पूर्ति और ऐसा सामंजस्य लाता है जो उन अभिधाओंका प्रतिवाद करते प्रतीत होते हुए भी उनकी पुनरा-वृत्ति करते हैं। साहचर्यके द्वारा और प्रेमके द्वारा यह पहचान आ जाती है कि अनात्मा एक महत्तर आत्मा है; अतः उसके विधान और आवश्यकताके प्रति एक सचेतन रूपसे स्वीकृत की गयी अधीनता आती है जो व्यष्टि-जीवनको अपने अन्दर विलीन करनेके लिए समष्टि-जीवनके बढ़ते हुए अंतर्वेगको पूरा करती है, और दूसरोंके जीवनको अपने जैसा मान कर, और दूसरोंका जीवन उसे जो कुछ दे सकता है उसे अपने

जैसा मानकर, उसे व्यक्ति फिरसे अधिकृत करता है; यह वैयक्तिक अधिकारके विपरीत अंतर्वेगको पूरा करता है। और, व्यक्ति जिस जगत्‌में रहता है उसके साथ उसका यह पारस्परिकताका संबंध भी तब तक व्यक्त, या परिपूर्ण, या सुरक्षित भी, नहीं हो सकता, जब तक कि वही संबंध व्यक्ति और व्यक्तिके बीच और समष्टि और समष्टिके बीच स्थापित नहीं हो जाता। मनुष्यमें एक ओर हैं आत्म-प्रतिष्ठापन और स्वतंत्रता, जिनके द्वारा वह अपने-आपको अधिकृत करता है, दूसरी ओर हैं साहचर्य और प्रेम, भ्रातृत्व, मैत्री, जिनमें वह अपने-आपको दूसरोंको देता है। मनुष्यके सामंजस्यपूर्ण संतुलन, न्याय, पारस्परिकता और समानताके जो आदर्श हैं जिनके द्वारा वह इन दो विपरीतोंके बीच एक संतुलनकी रचना करता है; वस्तुतः इनके बीच सामंजस्य लानेके लिए मनुष्यके जो सारे कठिन प्रयत्न होते हैं, वे यथार्थतः प्रकृतिकी आदि समस्याको, स्वयं प्राणकी समस्याको हल करनेका प्रयत्न हैं। इस प्रयत्नकी धाराएं अनिवार्यतः पूर्व-निर्धारित हैं, यह प्रयत्न उन दो विपरीतोंके संघर्षका समाधान करता हुआ बढ़ेगा जो जड़तत्त्वके अन्दर प्राणकी स्वयं नींवमें ही विद्यमान होते हैं। इस समाधानका प्रयत्न मनका उच्चतर तत्त्व करता है, एकमात्र वही तत्त्व अभिप्रेत सामंजस्यतक ले जानेवाली राहका पता पा सकता है, यद्यपि वह सामंजस्य ऐसी शक्तिमें ही प्राप्त हो सकता है जो हमसे और भी परे है।

क्योंकि, हम जिन तथ्योंको लेकर चले हैं वे यदि सच हैं तो मार्गके अंततक, स्वयं लक्ष्यतक, मन केवल तभी पहुंच सकता है यदि वह अपने-आपसे परे निकलता हुआ उसमें चला जाय जो मनसे परे है। मन उस 'तत्'का एक निम्नतर तत्त्वमात्र है, और उसका एक यंत्र है, पहले तो रूप और वैयक्तिकतामें अवतरणके लिए और फिर उस सद्वस्तुमें पुनः आरोहणके लिए, रूप जिसका शरीर और वैयक्तिकता जिसका प्रतिरूप है। अतः, ऐसी संभावना नहीं लगती कि प्राणकी समस्याका पूर्ण समाधान मात्र साहचर्य, आदान-प्रदान और प्रेमके समायोजनसे या केवल मन और हृदयके विधानके द्वारा हो सके। इस समाधानको प्राणकी एक चतुर्थ स्थितिके द्वारा आना होगा, जिसमें बहुकी शाश्वत एकता आत्माके द्वारा उपलब्ध होती है और प्राणकी सारी क्रियाओंकी सचेतन नींव पहलेकी तरह न तो शरीरके विभाजनोंमें, न प्राण-सत्ताके आवेशों और क्षुधाओंमें, न मनके कल्पित समूहों और अपूर्ण सामंजस्योंमें, और न इन सबके समवायमें ही स्थापित होती है, प्रत्युत वह स्थापित होती है आत्माकी एकता और स्वतन्त्रतामें।

अध्याय बाईस

प्राणकी समस्या

सर्वायुषमुच्यते ।।

यही वह है जिसे विश्व-प्राण कहते हैं।

—तैत्तिरीय उपनिषद् 2.3

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।।

सर्व भूतोंके हृदयमें स्थित ईश्वर सबको अपनी मायासे यंत्रारूढ़के समान घुमाता है। —गीता 18. 61

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद................।
सोऽश्नुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता ।।

सत्य, ज्ञान एवं अनंत-स्वरूप ब्रह्मको जो जानता है, वह सर्वज्ञ ब्रह्मके साथ समस्त काम्य पदार्थोंका भोग करता है।

—तैत्तिरीय उपनिषद् 2.1

हम देख चुके हैं कि प्राण एक चित्-शक्तिका कुछ विशेष वैश्व परिस्थितियोंमें निर्गत होना है; यह चित्-शक्ति स्वरूपतः अनंत, निर्विशेष, निर्बन्ध है, अपने एकत्व और आनंदको अक्षर रूपमें प्राप्त और अधिकृत किये हुई है, वह सच्चिदानंदकी चित्-शक्ति है। इस विश्व-प्रक्रियाका सर्वप्रमुख सूत्र, जहाँ तक वह शक्ति अपने दृश्यमान रूपोंमें अनंत सत्की पवित्रता और अविभक्त ऊर्जाकी आत्मवत्तासे भिन्न होती है, अज्ञानके तमसे आवृत मनकी विभाजन करनेकी कार्यकारी क्षमता है। एक अविभक्त शक्तिकी इस विभक्त क्रियाके परिणाममें द्वन्द्व और विरोधकी छाया आती है, ऐसा प्रतीत होता है कि इनसे सच्चिदानंदके स्वभावका खंडन हो रहा है। इन चीजोंका अस्तित्व मनके लिए तो स्थायी सत्यकी

नाईं, किन्तु मनके पर्देके पीछे छिपी रहनेवाली दिव्य विश्व-चेतनाके लिए एक बहुमुखी सद्वस्तुका गलत प्रतिरूप होनेवाले व्यापारकी नाईं रहता है। इस प्रकार जगत् विरोधी सत्योंके संघट्टनका रूप लेता है जिनमें प्रत्येक, अपने-आपकी संपूर्तिका अधिकार रखता हुआ, अपनी अपनी संपूर्ति चाहता है। अतएव, जगत् समस्याओं और रहस्योंके समुदायका रूप लेता है जिनका समाधान करना है, क्योंकि, इस सारे संभ्रमके पीछे गुप्त सत्य और एकत्व है जो समाधानके लिए और समाधानके द्वारा जगत्में अपनी निरावरण अभिव्यक्तिके लिए दबाव डालता है।

मनको यह समाधान ढूंढ़ निकालना है, किंतु केवल मनको ही नहीं। इस समाधानको जीवनमें, सत्ताकी चेतनामें और सत्ताकी क्रियामें भी होना है। चेतनाने शक्ति-रूपसे जगत्-व्यापार और उसकी समस्याओंकी रचना की है; चेतनाको शक्ति-रूपसे ही अपनी सृष्ट समस्याओंका समाधान करना है और जगत्-व्यापारको उसके गुह्य अभिप्राय और विकसनशील सत्यकी अनिवार्य परिपूर्तितक ले जाना है। किन्तु, इस प्राणने क्रमश: तीन रूप धारण किये हैं: प्रथम है अन्नमय या जड़,—एक निमज्जित चेतना अपनी ही ऊपरी आत्म-अभिव्यंजक क्रियामें और शक्तिके प्रतिनिधि-रूपोंमें छिपी रहती है; क्योंकि स्वयं चेतना क्रियामें दृष्टिसे ओझल हो जाती है और रूपमें खो जाती है। दूसरा है प्राणमय,—एक उन्मज्जित होती हुई चेतना प्राण-वीर्यकी नाईं और रूपके वर्द्धन, क्रियाशीलता और क्षयकी प्रक्रियाकी नाईं अर्द्ध-प्रकट होती है, अपनी प्रथम बन्दी अवस्थासे अर्द्ध-मुक्त होती है। उसमें प्राणिक लालसा और तृप्ति या प्रतिकर्षणके रूपमें वीर्यका स्पंदन तो होता है, किंतु अपने निजके अस्तित्व और अपने पर्यावरणके ज्ञानके रूपमें प्रकाशका स्पदंन पहले तो बिलकुल नहीं होता, और बादमें अपूर्ण रूपसे होता है। तीसरा रूप है मनोमय,—एक उन्मज्जित चेतना जीवनके तथ्यको मानस-बोध और अनुक्रियाकारी प्रत्यक्षण और भावके रूपमें प्रति-बिंबित करती है और नये भावके द्वारा जीवनका तथ्य बन जानेका प्रयत्न करती है, जीवके आंतरिक जीवनको परिवर्तित करती है और बाह्य जीवनको तदनुरूप परिवर्तित करनेका प्रयत्न करती है। यहां, मनमें, चेतना अपनी स्व-शक्तिकी क्रिया और रूपके बंदीत्वसे मुक्त हो जाती है, परन्तु क्रिया और रूपकी स्वामिनी नहीं हो पाती, क्योंकि वह एक व्यष्टि-चेतनाके रूपमें उन्मज्जित हुई है और, इस कारण, उसे अपनी समग्र क्रियाशीलताओंकी एक आंशिक गतिकी ही संवित् होती है।

मानव-जीवनकी सारी जटिलता और कठिनाई यहीं पर है। मनुष्य

यही मनोमय पुरुष है, यही मनश्चेतना है जो मनोशक्तिके रूपमें क्रिया करती है; वह जिस विश्व-प्राण एवं शक्तिका अंग है उसकी संवित् उसे एक प्रकारसे होती है, किंतु, चूँकि उसे उसकी विश्वव्यापकताका या अपनी *सत्ताके समग्र रूपका भी ज्ञान नहीं रहता, वह विश्व-जीवनके साथ या* अपने जीवनके साथ भी स्वामित्वकी यथार्थतः प्रभावी और विजयकारिणी गतिसे व्यवहार करनेमें असमर्थ रहता है। भौतिक परिपार्श्वका स्वामी बननेके लिए वह जड़तत्त्वको जानना चाहता है, प्राणिक सत्ताका स्वामी बननेके लिए प्राणको जानना चाहता है, मनको मानसताकी उस महान् अंधकाराच्छन्न गतिका स्वामी बननेके लिए जानना चाहता है जिसमें वह पशुकी भाँति आत्म-चेतनाके प्रकाशकी एक हल्की धारा मात्र नहीं, प्रत्युत वर्द्धमान ज्ञानकी ज्वाला अधिकाधिक होता है। इस भाँति वह अपने-आपका स्वामी होनेके लिए अपने-आपको जानना चाहता है, जगत्का स्वामी होनेके लिए जगत्को जानना चाहता है। उसके अंदर जो सत् है उसकी प्रेरणा यही है; वह जो चैतन्य है उसका प्रयोजन यही है; जो शक्ति उसका प्राण है उसका प्रेरण यही है; यही उन सच्चिदानंदकी गुप्त इच्छा है जो जगत्में व्यक्तिके रूपमें आते हैं जिसमें वह अपने-आपको प्रकट करते हैं और फिर भी अपना निषेध करते प्रतीत होते हैं। यह आंतरिक प्रेरणा जिन *अवस्थाओंमें संतुष्ट हो सकती हो, उन्हें पाना ही वह समस्या है जिसका* समाधान करनेका प्रयास मनुष्यको सदा करना है,—इसके लिए वह अपनी सत्ताके स्वभावके द्वारा और अपने अंतःस्थ देवके द्वारा बाध्य होता है, और जब तक समस्याका समाधान नहीं हो जाता, जब तक यह अंतर्वेग संतुष्ट नहीं हो जाता तब तक मानवजाति अपने श्रमसे विश्राम नहीं ले सकती। या तो मनुष्यको अपने अंतःस्थ भगवान्को संतुष्ट करके अपने-आपकी संपूर्ति करनी होगी, या उसे अपने-आपमेंसे एक नयी और महानतर सत्ताको उत्पन्न करना होगा जो उसे सन्तुष्ट करनेमें अधिक समर्थ हो। उसे स्वयं ही दिव्य मानव बन जाना होगा, या अतिमानवके लिए स्थान छोड़ देना होगा।

वस्तु-स्थिति देखते हुए न्याय करें तो यही निष्कर्ष निकलता है; क्योंकि, मनुष्यकी मनश्चेतना जड़तत्त्वके अंधकाराच्छादनमेंसे संपूर्णतः उन्मज्जित, परिपूर्णतः आलोकित चेतना नहीं है, वरन् उस महा उन्मज्जनमें एक प्रगतिमान भूमिका ही है, अतः क्रमवैकासिक सृष्टिकी जिस धारामें मनुष्य प्रकट हुआ है वह वहीं नहीं रुक जा सकती जहाँ मनुष्य अभी है, प्रत्युत या तो वह मनुष्यके अंदर अपने वर्तमान प्रान्तसे आगे जायगी, अन्यथा, यदि स्वयं

मनुष्यमें आगे वढ़नेकी शक्ति नहीं रही, तो वह धारा ही मनुष्यसे परे चली जायगी। जीवनका तथ्य वननेका प्रयत्न करनेवाले मानसिक भावको आगे वढ़ते जाना होगा जव तक कि वह जीवनका संपूर्ण सत्य न वन जाय, जो एकके वाद एक आच्छादनोंसे उन्मुक्त होकर, चेतनाके प्रकाशमें प्रत्यक्ष हो रहा हो और प्रगतिमान रूपसे संपूर्ति प्राप्त कर रहा हो, और वीर्यमें आनंदसे संपूर्ति प्राप्त कर रहा हो; क्योंकि वीर्य और प्रकाशके इन दो पदोंमें और उनके द्वारा ही सत् स्वयंको अभिव्यक्त करता है, वस्तुतः, सत् अपने स्वरूपमें चेतना और शक्ति है : किन्तु, वह तृतीय पद जिसमें, ये, उसके दोनों घटक मिल जाते हैं, एक हो जाते हैं और अंततः परिपूरित हो जाते हैं, वह है स्वयंभू सत्ताका परितृप्त आनंद। हमारे जैसे क्रमविकसनशील जीवनके लिए इस अनिवार्य चरम सिद्धिका अवश्यम्भावी अर्थ उस आत्माको पाना होगा जो कि निजके जन्मके वीजके अन्दर समाया हुआ था, और उस आत्म-प्राप्तिके साथ वे शक्यताएँ संपूर्णतः क्रियान्वित हो जायँगी जो चित्-शक्तिकी गति-धारा में संरक्षित थीं, जिसमेंसे इस जीवनका उदय हुआ है। हमारे मानव-अस्तित्वमें इस भाँति समायी हुई शक्यता सच्चिदानंद हैं, जो वैयक्तिक और विश्व-जीवनके एक विशेष सामंजस्य और एकीकरणमें अपने-आपको संसिद्ध कर रहे हैं ताकि मानवजाति एक सार्वभौम चेतनामें, वलकी सार्वभौम गति-धारामें, सार्वभौम आनंदमें उस विश्वोत्तर "कुछ" को व्यक्त करेगी जिसने अपने-आपको वस्तुओंके इस रूपमें डाला है।

प्राणकी जो उपादान-चेतना है उसकी मूलगत स्थितिपर ही समस्त प्राणका स्वभाव निर्भर है. क्योंकि जैसी चेतना होती है, वैसी ही शक्ति भी होगी। जहाँ चेतना, सच्चिदानंद-चेतनाकी भांति, अनन्त एवं अद्वय होगी, अपने कर्मों और रूपोंका आलिंगन करती हुई, उन्हें अनुप्राणित, संगठित और कार्यान्वित करती हुई भी उनसे अतीत होगी. वहाँ शक्ति भी वैसी ही, अपनी व्याप्तिमें अनंत, अपने कार्योंमें अद्वय, अपने वीर्य और आत्म-ज्ञानमें सर्वातीत होगी। जहाँ चेतना जड़-प्रकृतिकी चेतना जैसी, निमज्जित, आत्म-विस्मृत, अपनी शक्तिके प्रवाहमें प्रतीयमानतः अनजान वहती है,—यद्यपि इन दोनों तत्त्वोंके वीचके शाश्वत संवंधका स्वरूप ही ऐसा है कि जो प्रवाह उसे वहा ले जाता है उसे यथार्थतः वही निर्धारित करती है,—वहाँ शक्ति भी वैसी ही होगी। वह 'निश्चेष्ट' और 'निश्चेतन'की प्रचंड गति होगी, उसने अपने अंदर जिसे समा रखा है उसकी उसे संवित् नहीं होगी; ऐसा प्रतीत होगा कि वह एक प्रकारकी अटल आकस्मिकता द्वारा, एक अनिवार्यतः सुखद होनेवाले संयोगके द्वारा अपने-आपको यंत्रवत् परिपूरित कर रही है, जव

कि वह यथार्थतः सदा ही ऋत और सत्यके उस विधानका पालन निर्दोष रूपसे करती है, जिसे उसके लिए उसकी गति-धाराके अन्दर गुप्त रूपसे स्थित परम चित्-पुरुषकी इच्छाने निर्धारित किया है। जहाँ चेतना, जैसे कि मनमें, अपने-आपमें विभक्त होती है, अपने-आपको विविध केन्द्रोंमें सीमित करती है, अन्य केन्द्रोंमें क्या है और औरोंके साथ उसका क्या संबंध है यह जाने बिना अपने-आपको परिपूरित करनेके लिए चल पड़नेमें प्रत्येकको प्रवृत्त करती है, और, उसे वस्तुओंके यथार्थ एकत्वकी नहीं, प्रतीयमान विभाजन और पारस्परिक विरोधकी संवित् रहती है, वहाँ शक्ति भी वैसी ही होगी; यह जीवन, हम जो अभी हैं और अपने चारों ओर जो देखते हैं, उसके जैसा होगा; यह दूसरोंके साथ अपने संबंधको न जाननेवाले, प्रत्येकका अपनी अपनी परिपूर्तिको खोजनेवाले वैयक्तिक जीवनोंका संघट्ट और पारस्परिक गुंथन होगा, विभाजन और विरोध करनेवाली या मतभेदसे भरी शक्तियोंका संघर्ष और कठिन समझौता होगा; और, मनके लिए यह विभक्त और विरोधी या विभिन्न दिशावाले भावोंका मिश्रण, आघात और मल्लयुद्ध और अनिरापद सम्मिलन होगा, जो कि परस्पर एक-दूसरेकी आवश्यकताके ज्ञान तक नहीं पहुँच सकते और न अपने पीछे रहनेवाले उस एकत्वके तत्त्वोंके रूपमें अपना स्थान ले सकते हैं जो उनके द्वारा अपने-आपको प्रकट कर रहा है और जिसमें उनके कलहका अंत होगा। किन्तु, जहाँ चेतना वैविध्य और एकत्व दोनोंको अधिकारमें लिये रहती है और एकत्व वैविध्यको समाये रहता और शासित करता है; जहाँ चेतनाको सर्वके विधान, सत्य एवं ऋत, और व्यक्तिके विधान, सत्य एवं ऋत, दोनोंकी युगपत् संवित् रहती है और पारस्परिक एकत्वमें दोनों सचेतनतः सामंजस्य-मय हो जाते हैं; जहाँ चेतनाका समग्र स्वभाव है अपने-आपको बहुके रूपमें जानता हुआ 'एक' और अपने-आपको 'एक' के रूपमें जानता हुआ बहु, वहाँ शक्ति भी वैसे ही स्वभाववाली होगी। यह ऐसा जीवन होगा जो एकत्वके धर्मका पालन सचेतनतः करता है और फिर भी प्रत्येक वस्तुको वैविध्यके अन्दर उसके अपने स्वाभाविक नियम और कर्मके अनुसार परिपूरित करता है; यह ऐसा जीवन होगा जिसमें सारे व्यक्ति अपने अन्दर और अन्य प्रत्येकके अन्दर ऐसे युगपत् रहते हैं जैसे बहु जीवोंमें एक ही चिन्मय पुरुष हो, बहु मनके अन्दर चेतनाकी एक ही शक्ति हो, बहु जीवनोंमें क्रिया करती हुई शक्तिका एक ही आनंद हो; बहु हृदयों और शरीरोंमें आनंदकी एक ही सत्यता अपने-आपको परिपूरित कर रही हो।

इन चारों स्थितियोंमें जो पहली है, वह चेतना एवं शक्तिके बीचके

इस सारे प्रगतिशील संबंधका मूल है, वह उनकी सच्चिदानंदकी सत्तामें स्थिति है जहाँ वे एक हैं, क्योंकि, वहाँ शक्ति सत्ताकी क्रियान्वित होती हुई चेतना है, जिसके चेतना-रूपमें कभी विराम नहीं आता, और उसी भाँति चेतना सत्ताकी ज्योतिर्मयी शक्ति है जो स्वयं अपने प्रति एवं अपने स्वानंदके प्रति शाश्वततः संविद् रहती है और उसके इस पूर्ण आलोक एवं आत्मवत्ताके शक्ति-रूपमें कभी विराम नहीं आता। द्वितीय संबंध है जड़ प्रकृतिका, यह जड़-जगत्में सत्ताकी स्थिति है जो कि सच्चिदानंदका अपने ही द्वारा अपना महान् निषेध किया जाना है, क्योंकि, यहाँ शक्तिका चेतनासे प्रतीयमानतः अशेष पार्थक्य हो जाता है, यह सर्व-शासक और निर्भ्रांत निश्चेतनका सौंदर्यभासी चमत्कार है; यह निश्चेतन विश्व-देवका एक छद्मरूप ही है, किंतु आधुनिक ज्ञानने इसे ही उस देवका सच्चा मुखड़ा माननेकी भूल की है। तृतीय संबंध सत्ताकी मनमें और प्राणमें स्थिति है जिसे हम इस निषेधमेंसे उन्मज्जित होती देखते हैं, उससे चकित हुई, भौतिक विश्वकी सर्वशक्तिमान् निश्चेतनामेंसे अर्ध-शक्तिमान सचेतन सत्ताधारी मनुष्यके इस पेचीदा प्राकटयमें निहित सहस्रों समस्याओंसे संघर्ष करती हुई देखते हैं,—न इसमें अधीनता-स्वीकृतिके द्वारा इसकी परिसमाप्तिकी सम्भावना रहती है, न किसी विजयकारी समाधानका कोई स्पष्ट ज्ञान या सहज-प्रवृत्तिगत बोध ही रहता है। चौथा संबंध सत्ताकी अतिमानसमें स्थिति है : यह सम्पूर्ति-प्राप्त जीवन है जो सम्पूर्ण निषेधमेंसे उन्मज्जित होती आंशिक स्वीकृतिके द्वारा रची गयी इस सारी समस्याका अंततः समाधान करेगा; और यह समाधान वह अवश्य ही एकमात्र संभव मार्गसे करेगा, उस सम्पूर्ण स्वीकृतिके द्वारा करेगा, जो कि, उस महान् निषेधके छद्मरूपके पीछे जो कुछ भी शक्यता-रूपमें समाया हुआ गुप्त था और विकासक्रमकी वास्तविकतामें अभिप्रेत है, उस सबकी संपूर्ति करती है। वही यथार्थ मानवका यथार्थ जीवन है जिस ओर यह आंशिक जीवन और आंशिक परिपूरित मानवत्व आगे बढ़नेका उद्यम कर रहा है; हमारे अंदर जो तथाकथित निश्चेतन है उसमें वह पूर्ण ज्ञान और दिग्दर्शनके साथ उद्यम कर रहा है, किंतु, हमारे सचेतन अंगोंमें उसे एक धुंधली और संघर्परत पूर्वदृष्टि ही प्राप्त रहती है, और, कवि तथा पैगम्बरमें, ऋषि तथा तुरीयवादीमें, रहस्यवेत्ता तथा विचारकमें, मानव जातिके महान् बुद्धिशालियों तथा महान् आत्माओंमें अनुभूतिके कुछ खण्ड मिलते हैं, आदर्शकी कुछ झाँकियाँ मिलती हैं, सत्य-प्रकाश और सत्य-प्रेरणाकी झलकें मिलती हैं।

हमारे सामने जो तथ्य एकत्रित हुए हैं उनसे हम देख सकते हैं कि मन और प्राणकी वर्तमान स्थितिमें मनुष्यमें चेतना और शक्तिकी अपूर्ण प्रतिष्ठासे जो कठिनाइयाँ उठती हैं वे प्रमुखतः तीन हैं। प्रथमतः, वह अपनी सत्ताके एक छोटेसे भागके प्रति ही अवगत रहता है: उसकी ऊपरी मानसता. उसका ऊपरी जीवन, उसकी ऊपरी शारीरिक सत्ता, यही वह सव कुछ है जिसे कि वह जानता है और इसे भी वह पूरी तरह नहीं जानता। उससे नीचे उसके अवचेतन और उसके अवगूढ़ मनकी गुह्य तरंग रहती है, उसके अवचेतन और अवगूढ़ प्राणावेग रहते हैं, उसकी अवचेतन शारीरिकता रहती है, उसका अपना वह सारा वड़ा भाग रहता है जिसे वह न तो जानता है और न शासित कर सकता है, वल्कि वह भाग ही उसे जानता और शासित करता है। चूंकि सत्ता और चेतना और शक्ति एक ही हैं, हमें अपनी सत्ताके केवल उतने ही भागपर कुछ यथार्थ वल प्राप्त हो सकता है जिसके साथ हम आत्म-संवित्के द्वारा एकात्म होते हों; वाकी जो कुछ है वह अपनी स्वचेतनासे ही शासित होगा और वह चेतना हमारे ऊपरी मन और प्राण और शरीरके लिए अवगूढ़ है। और तो भी, चूंकि ये दोनों एक ही गति हैं, न कि दो पृथक् गतियाँ, इसलिये हमारे विशालतर और अधिक सवल अंगको हमारे लघु और अल्प वलशाली भागपर सामान्यतः शासन और नियमन करना चाहिये; अतः, हम अपनी सचेतन सत्तामें भी अवचेतन और अवगूढ़के द्वारा शासित होते हैं और हम स्वयं आत्म-प्रभुत्व और आत्म-निर्देशनमें भी उसीके यंत्रमात्र होते हैं जो हमें हमारे अन्दर निश्चेतन प्रतीत होता है।

यही प्राचीन ज्ञानका तात्पर्य था जव वह कहता था कि मनुष्य अपने वारेमें कल्पना करता है कि वह अपनी स्वतंत्र इच्छासे कर्मका कर्त्ता है, किन्तु, यथार्थतः, प्रकृति ही उसके सारे कर्मोको निर्धारित करती है और वुद्धिमान भी अपनी प्रकृतिका अनुसरण करनेको वाध्य होते हैं। किन्तु, प्रकृति हमारे अंतःस्थ 'पुरुष'की चेतनाकी सर्जक शक्ति है, और वह पुरुष अपनी प्रतिलोम क्रिया और अपने प्रतीयमान निषेधके छद्मरूपमें छिपा हुआ है; अतः उस पुरुषकी चेतनाकी उस प्रतिलोम सर्जनशील गतिको ईश्वरकी माया या भ्रमोत्पादिका शक्तिका नाम दिया गया और कहा गया कि सकल भूतमें आसीन ईश्वर सर्व भूतोंको अपनी मायाके द्वारा इस भांति घुमाता है मानों वे यन्त्रारूढ़ हों। तव यह स्पष्ट है कि जव मनुष्य मनसे इतना परे चला जाये कि वह आत्म-संवित्में ईश्वरके साथ एक हो जाये, तभी वह निजकी सत्ताका स्वामी वन सकता है। और, चूंकि निश्चेतनामें, या

स्वयं अवचेतनमें, यह संभव नहीं रहता, चूँकि अपनी गहराइयोंमें नीचे डुबकी लगाते हुए निश्चेतनकी ओर वापस जानेसे लाभ नहीं हो सकता, अतः अन्तरमें ईश्वर जहाँ आसीन हैं केवल उस ओर जाकर ही, और हमारे लिए जो अभी तक अतिचेतन है उस अतिमानसमें आरोहण करते हुए जा पहुँचनेसे ही यह एकता संपूर्णतः स्थापित की जा सकती है। क्योंकि, 'जो' स्वीकरण वन जानेका प्रयास करते हुए निषेधकी अवस्थाओंमें, अवचेतनमें, अपरा मायाके द्वारा क्रियारत है, उसके धर्म और सत्यका सचेतन ज्ञान वहाँ, परा और दिव्य मायामें रहता है। क्योंकि, उस परा प्रकृतिमें जो इच्छित और ज्ञात है, उसे यह अपरा प्रकृति कार्यान्वित करती है। जगत्में दिव्य ज्ञानकी जो माया-शक्ति (भ्रमोत्पादिका शक्ति) प्रतिभासोंकी सृष्टि करती है, वह उसी ज्ञानके सत्य-वलके द्वारा शासित होती है जो प्रतिभासोंके पीछे रहनेवाले सत्यको जानता और हमारे लिए वह 'परम स्वीकरण' तैयार रखता है जिस ओर वे प्रतिभास कार्य कर रहे हैं। यहाँका आंशिक और प्रतीयमान मनुष्य वहाँ पूर्ण और यथार्थ मनुष्यको पायगा जो उन स्वयम्भूके साथ संपूर्ण रूपसे एक होकर सम्पूर्णतः आत्म-संविद् संभूतिके लिए समर्थ होगा, जो स्वयम्भू अपने ही विश्व-विकास और लीला-यात्राके सर्वज्ञ प्रभु हैं।

दूसरी कठिनाई यह है कि मनुष्य अपने मन, प्राण और शरीरमें विश्वसत्तासे पृथक् हो गया है और, इसीलिये, जैसे वह अपने-आपको नहीं जानता, उसी भाँति, वल्कि उससे भी अधिक, वह अपने साथी जीवोंको जाननेमें असमर्थ है। वह उनके वारेमें अनुमान, परिकल्पना, निरीक्षण और सहानुभूतिकी एक अपूर्ण समर्थताके द्वारा एक अपरिष्कृत मानसिक रचना खड़ी कर लेता है; किन्तु यह तो ज्ञान नहीं है। ज्ञान केवल सचेतन तादात्म्यके द्वारा आ सकता है, क्योंकि वही, सत्ताकी आत्मसंवित् ही, एकमात्र सच्चा ज्ञान है। हम अपने-आपको बस उतना ही जानते हैं जितना अपने वारेमें सचेतन रूपसे सज्ञान रहते हैं, वाकी छिपा रहता है। उसी तरह, हम जिसके साथ चेतनामें एक हो जाते हैं उसीको यथार्थतः जानने लगते हैं, किन्तु वहींतक जहाँतक हम उसके साथ एक हो सकें। यदि ज्ञानके साधन परोक्ष और अपूर्ण हों, तो जो ज्ञान प्राप्त होगा वह भी परोक्ष और अपूर्ण होगा। इस ज्ञानके द्वारा हम कतिपय व्यावहारिक सीमित लक्ष्य, प्रयोजन और सुविधाएँ, और जिसे हम जानते हैं उसके साथ कोई एक अपूर्ण और अरक्षित सामंजस्य ही किसी एक भद्दे और अस्थिर रूपसे प्राप्त कर सकते हैं; वह भले ही हमारे मानसिक

दृष्टिकोणसे पर्याप्त रूपमें पूर्ण हो, किन्तु, जहाँतक पूर्ण सम्बन्धकी बात है वहाँ तो हम ज्ञेयके साथ सचेतन एकत्व प्राप्त करके ही पहुँच सकते हैं। अतः हमें अपने साथी प्राणियोंके प्रति केवल प्रेमजनित सहानुभूति या मानसिक ज्ञान-जनित सद्भावनातक ही नहीं पहुँचना होगा, क्योंकि यह तो सदा उनके ऊपरी जीवनका ही ज्ञान रहेगा, और इसीलिये स्वयं अपूर्ण होगा, और उनमें तथा हममें जो अवचेतन या अवगूढ़ है उसमेंसे अज्ञात तथा अवशीभूत तत्त्वोंके उद्भावनसे पैदा होनेवाले निषेध और विफलताके आधीन रहेगा ; वरन्, हमें अपने साथी प्राणियोंके साथ एक सचेतन एकत्व तक पहुँचना होगा। किन्तु, इस सचेतन एकत्वकी स्थापना हम केवल तभी कर सकते हैं, जब हम उसमें प्रवेश करें जिसमें हम उनके साथ एक हैं, अर्थात् विश्वसत्तामें; और विश्वसत्ताकी परिपूर्णता सचेतन रूपसे केवल उसके अन्दर अस्तित्व रखती है जो हमसे अतिचेतन है, अर्थात् अतिमानसमें ; क्योंकि, यहाँ, हमारी प्राकृत सत्तामें, उसका वृहत्तर भाग अवचेतन रहता है और इसीलिये मन, प्राण और शरीरकी इस सामान्य अवस्थामें उसे अधिकृत नहीं किया जा सकता। निम्नतर सचेतन प्रकृति अपनी सारी क्रियाशीलताओंमें अहंसे बँधी रहती है, विविक्त व्यष्टि-भावके खूंटेसे त्रिविध रूपमें बँधी रहती है। एकमात्र अतिमानस ही वैविध्यके बीच एकत्वपर अधिकार रखता है।

तीसरी कठिनाई है क्रमविकासमान सत्तामें शक्ति और चेतनाके बीच विभाजन। पहला विभाजन वह है जिसे स्वयं विकासक्रमने जड़, प्राण और मनके अपने तीन क्रमानुगत रूपायणोंमें खड़ा किया है, जिनमें प्रत्येककी क्रियाका अपना-अपना विधान रहता है। प्राण शरीरसे संघर्परत रहता है; वह शरीरको वाध्य करनेका प्रयत्न करता है कि वह अपने सीमित सामर्थ्यसे प्राणकी कामनाओं, आवेगों, परितोपों और माँगोंकी वह तृप्ति करे जो किसी अमर और दिव्य शरीरके लिए ही संभव है; और, दास बना हुआ, अत्याचार-पीड़ित शरीर प्राणके द्वारा की गयी माँगोंको सहता है और उनके विरुद्ध सतत मूक विद्रोह करता रहता है। मन दोनोंसे संघर्परत रहता है ; वह कभी शरीरके विरुद्ध प्राणको सहायता देता है, कभी प्राणिक प्रेरणाको संयत करता है और कभी प्राणकी कामनाओं, आवेगों और थका मारनेवाली ऊर्जाओंकी ओरसे शारीरिक ढाँचेकी रक्षा करना चाहता है; मन प्राणको अधिकृत करना भी चाहता है, उसकी ऊर्जाको अपने ही उद्देश्योंकी ओर, अपनी ही क्रियाशीलताकी अधिकतम हर्षशालिताकी ओर, मानव-जीवनमें मानसिक, सौन्दर्यबोधात्मक और भावावेगात्मक

लक्ष्योंकी तृप्ति और परिपूर्तिकी ओर मोड़ लेना चाहता है; और तब प्राण भी देखता है कि वह दास बन गया है और उसका दुरुपयोग हो रहा है, अतः वह अपने ऊपर आसीन अज्ञ, अर्ध-बुद्धिमान अत्याचारीके विरुद्ध प्रायः विद्रोह किया करता है। यह हमारे अंगोंका संघर्ष है, मन इसका समाधान संतोषदायक रीतिसे नहीं कर सकता, क्योंकि यह ऐसी समस्या है जो उसके लिए असाध्य है, यह समस्या मर्त्य जीवन और शरीरमें अमर सत्ताकी अभीप्साकी है। मन या तो लंबे क्रममें एकके बाद एक समझौते कर सकता है, या हो सकता है कि वह भौतिकवादीकी नाईं हमारी प्रतीयमान सत्ताकी मर्त्यताकी अधीनता मानता हुआ, या संन्यासी और धार्मिककी नाईं पार्थिव जीवनका परित्याग और तिरस्कार करता हुआ और जीवनके अधिक सुखद और अधिक सहज लोकोंमें आश्रय लेता हुआ, समस्याका परित्याग कर दे। किन्तु सच्चा समाधान मनसे परेके अमरत्वधर्मी तत्त्वको पाने और उसके द्वारा हमारे मर्त्य जीवनपर विजय पानेमें है।

किन्तु अब, अन्दरमें प्रकृतिकी शक्ति और सचेतन पुरुषके बीच वह मूलभूत विभाजन भी है जो इस असामर्थ्यका आदि कारण है। केवल मानसिक, प्राणिक और शारीरिक सत्ताओंके बीच ही विभाजन नहीं है, प्रत्युत उनमेंसे प्रत्येक अपने-आपके विरुद्ध विभक्त है। शरीरकी समर्थता शरीरमें रहनेवाले सहजप्रवृत्तिवान् पुरुष या अन्नमय पुरुषके सामर्थ्यसे कम रहती है, प्राणिक शक्तिकी समर्थता प्राणमें रहनेवाले आवेगात्मक पुरुष, प्राण-पुरुषके सामर्थ्यसे कम है, मनकी ऊर्जाकी समर्थता मनमें रहनेवाले बौद्धिक तथा भावुक पुरुष, मनोमय पुरुषके सामर्थ्यसे कम है। क्योंकि, पुरुष वह आन्तरिक चेतना है जो अपनी संपूर्ण आत्म-सिद्धिकी अभीप्सा करती है, और इसलिये सदा ही क्षण-विशेषके वैयक्तिक रूपायणका अति-क्रमण किये रहती है, और उस रूपायणमें जो शक्ति स्थिति ग्रहण किये होती है वह सदा अपने पुरुषके द्वारा उस ओर धकेली जाती है जो उस स्थितिके लिए असामान्य है, उसके परे है। इस भाँति सदा धकेले जाते रहनेसे वह उत्तर देनेमें बहुत कष्ट अनुभव करती है, वर्तमान सामर्थ्यमेंसे विकसित हो एक महत्तर सामर्थ्यमें जानेमें तो और भी। वह इस पुरुष-त्रयीकी माँगोंको पूरा करनेमें अस्तव्यस्त हो जाती है और सहजप्रवृत्तिको सहजप्रवृत्तिके विरुद्ध, आवेगको आवेगके विरुद्ध, भावावेग-को भावावेगके विरुद्ध, भावको भावके विरुद्ध खड़ा करनेमें, किसीको संतुष्ट करनेमें, किसीका निषेध करनेमें, फिर जो कुछ किया है उस पर पश्चाताप

करने और वापस आनेमें, व्यवस्था करनेमें, क्षति-पूर्ति करनेमें और पुन: व्यवस्था करनेमें संलग्न कर दी जाती है; यह वह यावदनंत करती है, किन्तु वह एकत्वके किसी तत्त्व तक नहीं पहुँच पाती। और फिर, मनमें जिस सचेतन शक्तिका काम सामंजस्यमय और एकीबद्ध करना है, उसका ज्ञान और उसकी इच्छा केवल सीमित ही नहीं होते, वरन् ज्ञान और इच्छामें वैषम्य और बहुधा विरोध भी रहता है। एकत्वका तत्त्व या सूत्र ऊपर अतिमानसमें रहता है, क्योंकि केवल वहीं समस्त विविधताओंका सचेतन एकत्व है; केवल वहीं ज्ञान और इच्छा समान रूपसे पूर्ण सामंजस्यमें रहते हैं; केवल वहीं चेतना और शक्ति अपने दिव्य समीकरणतक पहुँचती हैं।

मनुष्य, विकसित होता हुआ, जितना आत्म-सचेतन होता है और सत्यतः मननधर्मी बनता जाता है, उसी अनुपातमें उसे अपने अंगोंके इस विरोध और वैषम्यकी तीव्र संवित् होती है और वह अपने मन, प्राण और शरीरका सामंजस्य, अपने ज्ञान और इच्छा और भावावेगका सामंजस्य, अपने सारे अंगोंका सामंजस्य प्राप्त करना चाहता है। कभी-कभी यह चाह एक कामचलाऊ समझौते पर पहुँचकर रुक जाती है, वह समझौता अपने साथ एक सापेक्षिक शान्ति ले आता है; किन्तु समझौता मार्गपर पड़ाव ही हो सकता है, क्योंकि अन्तरमें रहनेवाला देव अंततः किसी भी ऐसी वस्तुसे सन्तुष्ट नहीं होगा जो हमारी बहुमुख शक्यताओं-के सर्वांगीण विकासको अपने अन्दर सम्मिलित करनेवाले पूर्ण सामंजस्यसे न्यून हो। जो कुछ इस सामंजस्यसे न्यून होगा वह समस्याका समाधान न होकर समस्याको टालना होगा, या वह कोई अस्थायी समाधान ही होगा जो जीवको उसके सतत आत्म-विस्तार और आरोहणके मार्गमें एक विश्राम-स्थलके रूपमें मिल सकता है। ऐसे पूर्ण सामंजस्यकी आवश्यक शर्तें होंगी मनकी पूर्णता, प्राणिक शक्तिकी पूर्ण क्रीड़ा और शरीर-सत्ताकी पूर्णता। किन्तु प्रश्न यह है कि जो मूलतः अपूर्ण है उसमें हम पूर्णता-का तत्त्व और बल कहाँसे पायेंगे? विभाजन और परिसीमनमें बद्धमूल मन हमें यह तत्त्व और बल नहीं दे सकता, न प्राण और शरीर ही दे सकते हैं जो कि विभाजन और परिसीमन करनेवाले मनकी ऊर्जा और उसका ढाँचा हैं। पूर्णताका तत्त्व और बल अवचेतनमें विद्यमान हैं, किन्तु अपरा मायाके आच्छादन या आवरणमें लिपटे हुए हैं; वहाँ वे एक मूक पूर्वाभासकी भाँति हैं जो अप्राप्त आदर्श-के रूपमें उन्मज्जित हो रहा है। अतिचेतनमें वे प्रकट हैं, शाश्वत रूपसे सिद्ध हैं, वहाँ वे प्रतीक्षा कर रहे हैं, किन्तु फिर भी हमारे आत्म-अज्ञानके

आवरणके द्वारा हमसे पृथक् किये रहते हैं। सुतरां, संगतिकारी वल एवं ज्ञानकी खोज हमें ऊपर करनी चाहिये, न कि अपनी वर्तमान स्थितिमें अथवा उससे नीचे।

इसी प्रकार, मनुष्य जैसे-जैसे विकसित होता है, उसे जगत्के साथके अपने संबंधोंको शासित करनेवाले वैपम्य और अज्ञानकी संवित् तीक्ष्ण रूपमें होती है, यह उसके लिए तीक्ष्ण रूपसे असह्य हो जाता है, और वह सामंजस्य, शांति, आनन्द और एकत्वके तत्त्वकी प्राप्ति पर अविकाधिक वल देता है। यह प्राप्ति भी उसे ऊपरसे ही हो सकती है। कारण, अपने सह-प्राणियोंके जीवनके साथ मनुष्यका जीवन आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक दोनों रूपसे केवल तभी एक हो सकता है, और व्यक्ति अपने विश्वात्माकी पुन:प्राप्ति केवल तभी कर सकता है जव कि ऐसे मनका विकास हो जाये जिसे दूसरोंके मनका ज्ञान वैसे ही हो जैसे निजका और जो हमारे पारस्परिक अज्ञान और भ्रान्त वोवसे मुक्त हो, जव कि ऐसी इच्छाका विकास हो जाये जो दूसरोंकी इच्छाके साथ अपना एकत्व अनुभव करती और उनके साथ एकात्म हो जाती हो, जव कि ऐसे भावुक हृदयका विकास हो जाय जो दूसरोंके भावावेगोंको अपने ही भावावेगोंकी भाँति समाये रखे, जव कि एक ऐसी प्राण-शक्तिका विकास हो जाय, जो दूसरोंकी ऊर्जाओंको अपनी ऊर्जाओंकी भाँति अनुभव करती और स्वीकार करती हो और अपनी ऊर्जाओंकी भाँति उनकी परिपूर्ति करना चाहती हो, और जव कि एक ऐसे शरीरका विकास हो जाय, जो वंदीगृहकी दीवार-रूप और जगत्के विरुद्ध आत्म-रक्षा-रूप न हो, और यह सव ज्योति और सत्यके विवानके अंतर्गत हो जो विपयन और भूलोंके परे होगा, हमारे और दूसरोंके मन, इच्छा, भावावेग और प्राणिक ऊर्जाओंके विपुल कलुप और मिथ्यात्वसे परे होगा। अवचेतनको यह सर्वमय जीवन प्राप्त है, और अतिचेतनको भी, किन्तु ऐसी अवस्थाओंमें, जो हमारी ऊर्ध्वमुखी गतिको आवश्यक वनाती हैं। क्योंकि, जो मूल प्रेरणा विकासमान अंतरात्माको ऊपर उठाती हुई हमारे मानव प्रकारतक ले आयी है उसकी दिशा वह देव नहीं है जो उस "निश्चेतन समुद्रमें" छिपा हुआ है[1] जहाँ "अंधकार अंधकारमें" लिपटा हुआ है प्रत्युत वह देव है जो शाश्वत ज्योतिके समुद्रमें,[2] हमारी सत्ताके उच्चतम आकाशमें स्थित है।

---

1. तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलम्। —ऋग्वेद 10.129.3
2. या रोचने परस्तात्सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आपः॥ —ऋग्वेद 3.22.3
वे जल जो कि सूर्यसे ऊपर ज्योतिर्मय लोकोंमें हैं और वे जो कि नीचे रहते हैं।

अतः, यदि जातिको मार्गमें ही नहीं गिर पड़ना है, विजयको उत्सुक प्रसवंती माताकी अन्य तथा नयी सृष्टियोंके हाथोंके लिए नहीं छोड़ना है, तो उसे इस आरोहणकी अभीप्सा करनी ही होगी। निस्सन्देह, यह आरोहण प्रेम, मानसिक प्रकाश, और अधिकार तथा आत्म-दान की प्राणिक प्रेरणाके पथसे संपादित किया जायगा; किन्तु वह और भी परे, अतिमानसिक एकत्वमें ले जायेगा जो उनका अतिक्रमण और उनकी संपूर्ति करता है। मानव-जातिको अपने अन्तिम श्रेय और मुक्तिकी खोज अपने मानव-जीवनको, अपनी सत्तामें और उसके सारे अंगोंमें, उन एकमेवाद्वितीयके साथ और सबके साथ सचेतन एकत्वकी अतिमानसिक उपलब्धिके आधारपर प्रतिष्ठित करके करनी होगी। हमने इसे ही देवत्वकी ओर प्राण आरोहणमें उसकी चौथी भूमिका कहा है।

अध्याय तेईस

मनुष्यमें पुरुष-युगल

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा ॥

पुरुष, आंतर आत्मा, मनुष्यके अंगूठेके आकारसे बड़ा नहीं है।
—कठोपनिषद् 4.12; श्वेताश्वतर 6.17

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥

जो इस आत्माको जान लेता है जो कि सत्ताका मधु खाता है और जो है और होगा उसका प्रभु है, उसे तदनंतर कोई जुगुप्सा नहीं रह जाती। —कठोपनिषद् 4.5

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

जो सर्वत्र एकत्वका दर्शन करता है उसे शोक कहांसे होगा? मोह कहांसे होगा? —ईशोपनिषद् 7

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ॥

जिसने 'शाश्वत'के, ब्रह्मके आनंदको पा लिया है, उसे किसी भी ओरसे भय नहीं रहता। —तैत्तिरीय उपनिषद् 2.9

हम देख चुके हैं कि प्राणके प्रथम पक्षका गुण एक मूक निश्चेतन प्रेरणा या प्रवृत्ति है, जड़ या परमाणविक अस्तित्वमें [illegible] [illegible] उत्क्रान्तिकी शक्ति है; वह स्वतंत्र नहीं है, न उसे अपने-आपपर या अपने कर्मोंपर या उनके परिणामोंपर स्वामित्व है, प्रत्युत वह उन [illegible] द्वारा सम्पूर्णतः अधिकृत है जिनमें उसका उद्भव [illegible] अस्पष्ट अनिश्चित बीजकी भांति होता है। उसके द्वितीय पक्षमें [illegible] है

कामना, स्वायत्त करनेको उत्सुक किन्तु सामर्थ्यमें सीमित। तृतीय पदकी कली है प्रेम, जो अधिगत करना और अधिगत होना, लेना और अपने आपको देना चाहता है। चतुर्थका सुन्दर पुष्प उसकी पूर्णताका चिह्न है; हमने इसकी जो धारणा बनायी है, उसके अनुसार वह आदिम इच्छाका शुद्ध और सम्पूर्ण उन्मज्जन है, मध्यवर्ती कामनाकी आलोकित पूर्ति है, जीवात्माओंकी जो दिव्य एकता अतिमानसिक जीवनका आधार है उसमें भोक्ता और भोग्य की, अधिगत करने और अधिगत होनेकी स्थितिके एकीकरणके द्वारा प्रेमके सचेतन आदान-प्रदानकी उच्च और गभीर तृप्ति है। यदि हम सावधानीसे इन प्रान्तोंकी संवीक्षा करें तो देखेंगे कि वस्तुओंके वैयक्तिक और विश्वात्मक आनन्दके लिए पुरुषकी, अन्तरात्माकी जो एषणा है, ये उसीके रूप और मंजिलें हैं; प्राणका आरोहण, स्वरूपतः, वस्तुओंमें विद्यमान दिव्य आनंदका आरोहण है जो जड़तत्त्वमें अपनी मूक गर्भावस्थामेंसे दशा-विपर्ययों और विरोधोंके बीच निकलता हुआ आत्माके अंदर अपनी ज्योतिर्मयी परमगतिको प्राप्त करता है।

जगत् वस्तुतः जैसा है, यह लीला अन्यथा हो भी नहीं सकती थी। कारण, जगत् सच्चिदानंदका एक छद्म-रूप है, और दिव्य आनन्द, सर्वव्यापी आत्मानंद ही सच्चिदानंदकी चेतनाका स्वभाव और अतः वह वस्तु भी है जिसमें सच्चिदानंदकी शक्ति सदा अपने-आपको उपलब्ध और चरितार्थ करेगी। चूँकि प्राण सच्चिदानंदकी चित्-शक्तिकी ऊर्जा है, उसकी सारी गतियोंका रहस्य एक गुप्त आनंद ही होगा जो सकल वस्तुओंमें अंतर्निहित है और जो उसकी क्रियाशीलताओंका एक साथ ही कारण, प्रवर्तक और लक्ष्य है; और यदि अहमात्मक विभाजनके कारण वह आनंद खो गया है, यदि वह किसी आवरणके पीछे रोका पड़ा है, यदि वह अपने ही विरोधी तत्त्वके रूपमें प्रकट होता है, जैसे कि सत्ता मृत्युके छद्मरूपमें आती है, चेतना निश्चेतनकी आकृति लेकर आती है और शक्ति असामर्थ्यका मुखौटा पहनकर अपनी हँसी करती है, तब जो कोई जी रहा है वह तब तक संतुष्ट नहीं हो सकता, तब तक न तो गति-धारासे विश्राम पा सकता है, न उसकी परिपूर्ति ही कर सकता है, जब तक कि वह इस विश्वव्यापी आनंदको हस्तगत न कर ले जो एक साथ ही उसकी अपनी सत्ताका गुप्त समग्र आनंद है और विश्वातीत तथा विश्वात्मक सच्चिदानंदका आदि, सर्वालिंगनकारी, सर्वानुस्यूत, सर्वाधार आनंद भी। अतः आनन्दकी खोज प्राणका मूलगत आवेग और भाव है; आनंदको प्राप्त करना, उसे स्वायत्त करना और उसकी संपूर्ति, यही उसकी सारी प्रवर्तना है।

किंतु आनंदका यह तत्त्व हमारे अंदर कहाँ रहता है? जैसे चित्-शक्ति अपनी विश्व-भूमिकाके लिए प्राणको अभिव्यक्त और व्यवहृत करती है और अतिमानस-तत्त्व मनको अभिव्यक्त और व्यवहृत करता है, वैसे ही यह आनन्द विश्वक्रियामें अपनी अभिव्यक्ति और संपूर्ति हमारी सत्ताके किस तत्त्वके द्वारा करता है? हमने विश्वके स्रष्टा दिव्य पुरुषके एक चतुर्विध तत्त्वका स्पष्टीकरण किया है---सत्, चित्-शक्ति, आनंद एवं अतिमानस। हमने देखा है कि अतिमानस जड़ विश्वमें सर्वव्यापी है, किन्तु आवरणमें है; वह वस्तुओंके वास्तविक दृश्यके पीछे रहता है और अपने-आपको वहाँ गुह्य रूपसे प्रकट करता है, किंतु अपने कार्य-सम्पादनके लिए अपने गौण तत्त्व मनका व्यवहार करता है। दिव्य चित्-शक्ति जड़ विश्वमें सर्वत्र व्याप्त है, किंतु आवरणमें है, वस्तुओंके वास्तविक दृश्यके पीछे गुप्त रूपसे सक्रिय है, और वहाँ विशिष्ट रूपसे अपने निजके गौण तत्त्व प्राणके द्वारा ही प्रकट होती है। और, यद्यपि हमने अभी तक जड़तत्त्वका पृथक् परीक्षण नहीं किया है, तथापि, हम यह देख पा रहे हैं कि भौतिक विश्वके अंदर भी वह दिव्य सर्व-सत्ता सर्वत्र विद्यमान है, किंतु है आवरणमें, वस्तुओंके वास्तविक दृश्यके पीछे गुप्त है, और वहाँ वह आरंभमें अपने निजके गौण तत्त्व रूपधातुके द्वारा, सत्ताके रूप या जड़तत्त्वके द्वारा अभिव्यक्त होती है। तो, समान रूपसे, दिव्य आनंदका तत्त्व भी विश्वके अंदर सर्वत्र विद्यमान होगा, निस्संदेह आवरणमें रहेगा, और वस्तुओंके वास्तविक दृश्यके पीछे अपने-आपको प्राप्त किये रहेगा, किंतु, तो भी हमारे अंदर अपने किसी ऐसे गौण तत्त्वके द्वारा अभिव्यक्त होगा जिसके अंदर वह प्रच्छन्न है और जिसके द्वारा उसे प्राप्त करना होगा और विश्व-कर्मके अंदर संसिद्ध करना होगा।

वह तत्त्व हमारे अंदर कोई ऐसी वस्तु है जिसे हम कभी-कभी विशेष अर्थमें अंतरात्मा या अंतःपुरुष कहते हैं, अर्थात्, चैत्य तत्त्व, जो न प्राण है, न मन, शरीरकी बात तो और भी दूर रही, और जो इन सबके सारको उनके विशेष आत्म-आनंदकी ओर, ज्योतिकी ओर, प्रेमकी ओर, हर्ष और सौंदर्यकी ओर और सत्ताकी एक परिमार्जित शुद्धताकी ओर उन्मीलित और प्रस्फुटित होनेके लिए अपने अंदर धारण किये रहता है। तथापि, वास्तवमें, हमारे अंदर एक द्विविध पुरुष या चैत्य तत्त्व रहता है, जैसे हमारे अंदर हर वैश्व तत्त्व द्विविध होता है। क्योंकि, हमारे दो मन होते हैं, एक तो हमारे प्रकट हुए क्रमवैकासिक अहंका ऊपरी मन है, जड़मेंसे उन्मज्जित होनेके दौरानमें हमारे द्वारा रची बाह्य तलकी मानसता

है; दूसरा है अवगूढ़ मन, जो हमारे वर्तमान मनोमय जीवन और उसकी कठोर सीमाओंसे अवरुद्ध नहीं होता; वह कोई वृहत्, सवल और आलोकमयी वस्तु है, मानसिक व्यक्तित्वके जिस वाह्यतलके रूपको हम अपना स्व समझनेकी भूल करते हैं, उसके पीछे रहनेवाला सच्चा मनोमय पुरुष है। इसी भाँति, हमारे दो प्राण हैं, एक तो वाह्य स्थूल शरीरमें विजड़ित, जड़तत्त्वके अंदर अपने विगत विकासक्रमसे आवद्ध, जो जीता है और जन्मा था और मरेगा; द्वितीयतः, प्राणकी एक अवगूढ़ शक्ति जो हमारे शारीरिक जन्म और मरणकी संकीर्ण सीमाओंके वीच संकुचित नहीं है, वरन् जीनेके जिस रूपको हम अज्ञानवश अपना यथार्थ जीवन मानते हैं उसके पीछे रहनेवाला सच्चा प्राण-पुरुष है। हमारी अन्नमय सत्तामें भी यह द्वित्व है; क्योंकि, हमारे शरीरके पीछे हमारा एक सूक्ष्मतर भौतिक अस्तित्व है, जो कि केवल हमारे अन्नमय कोषका ही नहीं, वरन् हमारे प्राणमय और मनोमय कोषोंका भी उपादान-द्रव्य प्रदान करता है; अतएव वह हमारा यथार्थ उपादान-द्रव्य है, वही इस स्थूल विग्रहको आधार दिये रहता है जिसे हम अपने आत्माका संपूर्ण शरीर माननेकी भूल-भरी कल्पना करते हैं। इसी प्रकार, हमारे अंदर एक द्विविध चैत्य सत्ता है; एक है ऊपरी कामना-पुरुष, जो हमारी प्राणिक लालसाओंमें, हमारे भावावेगोंमें, सौन्दर्य-रसवृत्तिमें और वल, ज्ञान तथा सुखके लिए होनेवाली मनकी चाहमें क्रिया करता है, और एक है अवगूढ़ चैत्य सत्ता, जो ज्योति, प्रेम तथा हर्षकी शुद्ध शक्ति है और सत्ताका परिमार्जित सार तत्त्व है, वह चैत्य अस्तित्वके वाह्य रूपके पीछे रहनेवाला हमारा सच्चा पुरुष है जव कि उस वाह्य रूपको ही प्रायः सच्चे पुरुषका ऊँचा पद दे दिया जाता है। इस वृहत्तर तथा शुद्धतर चैत्य सत्ताका कोई प्रतिविंव जव सतहपर आ जाता है तभी हम किसी मनुष्यके वारेमें कहते हैं कि अमुक मनुष्यमें आत्मा है, और जव वह प्रतिविंव उसके वाह्य चैत्य जीवनमें अनुपस्थित रहता है तभी हम कहते हैं कि उसमें आत्मा नहीं है।

हमारी सत्ताके वाह्य रूप हमारे क्षुद्र अहमात्मक जीवनके रूप हैं; अवगूढ़ रूप हमारे वृहत्तर सच्चे व्यष्टिभावके रूपायण हैं। अतएव ये ही हमारी सत्ताका वह गुप्त भाग हैं जिसमें हमारा व्यष्टिभाव हमारी विश्वात्मकताके निकट रहता, उसका स्पर्श करता, उसके साथ सतत संवंध और संसर्गमें रहता है। हमारे अंदर अवगूढ़ मन वैश्व मनके विश्वव्यापी ज्ञानकी ओर उन्मीलित रहता है, हमारे अंदर अवगूढ़ प्राण वैश्व प्राणकी विश्वव्यापी शक्तिकी ओर उन्मीलित रहता है, हमारे अंदर अवगूढ़ देह-तत्त्व वैश्व जड़तत्त्वके

विश्वव्यापी शक्ति-रूपायणकी ओर उन्मीलित रहता है; हमारे बाह्य तलके मन, प्राण तथा शरीरको इन वस्तुओंसे विभक्त करनेवाली जो मोटी दीवारें हैं, जिनका भेदन प्रकृतिको इतनी अधिक कठिनाईसे, इतने अपूर्ण रूपसे और इतने सारे कौशलपूर्ण, किंतु असुगढ़, स्थूल उपायोंसे करना पड़ता है, ये दीवारें वहाँ, अवगूढ़ सत्तामें, एक साथ ही पार्थक्य और संसर्ग दोनोंके सूक्ष्मीकृत साधन ही होती हैं। इसी भाँति हमारा अवगूढ़ पुरुष उस विश्वव्यापी आनंदके प्रति उन्मीलित रहता है जिसे वैश्व पुरुष अपनी स्वरूप-सत्तामें और उसके प्रतिरूप होनेवाले असंख्य जीवोंके अस्तित्वमें पाता है, और मन, प्राण तथा जड़की जिन क्रियाओंके द्वारा प्रकृति उनके खेल और विकासका साधन हो जाती है उन क्रियाओंमें पाता है; किंतु बाह्य तलका पुरुष इस वैश्व आनंदकी ओरसे बड़ी मोटी अहमात्मक दीवारोंसे बन्द रहता है। निस्संदेह, इन दीवारोंमें अनुप्रवेशके द्वार हैं, किंतु उनके द्वारा प्रवेश करनेमें दिव्य वैश्व आनंदके स्पर्श क्षीण या विकृत हो जाते हैं या उन्हें अपने स्वयंके विरोधी तत्त्वोंके छद्मरूपमें ही आना पड़ता है।

यह परिणाम निकलता है कि इस वहिश्चर या कामना-पुरुषमें कोई सच्ची आंतरात्मिक सत्ता नहीं है, प्रत्युत एक चैत्य विकृति और वस्तुओंके स्पर्शकी एक भ्रांत ग्रहणकारिता होती है। जगत्का रोग यह है कि व्यक्ति अपने यथार्थ अंतरात्माको नहीं पाता, और इस रोगका मूल कारण फिर यह है कि व्यक्ति जिस जगत् में रहता है उसका यथार्थ अंतरात्मा उसे अपने बाह्य वस्तुओंके आलिंगनपाशमें नहीं मिल पाता। वह वहाँ सत्ताके सारको, शक्तिके सारको, सचेतन अस्तित्वके सारको, आनंदके सारको खोजता तो है, किंतु उनके बदले उसे विपरीत स्पर्शों और छापोंकी भीड़ मिलती है। यदि उसे वह सार मिल जाय, तो वह स्पर्शों और छापोंकी इस भीड़के बीच भी, उस एकमेव विश्वव्यापी सत्ता, शक्ति, सचेतन जीवन और आनंदको पा लेगा; प्रतीयमानकी जो विपरीतताएं हैं वे भी इन सम्पर्कोंके द्वारा हमतक पहुँचनेवाले सत्यके एकत्व और सामंजस्यमें संगति पा लेंगी। साथ ही, वह अपने सच्चे अंतरात्माको और उसके द्वारा अपने आत्माको पा लेगा, क्योंकि सच्चा अंतरात्मा उसके आत्माका प्रतिनिधि है और उसका आत्मा तथा जागत्का आत्मा एक हैं। किंतु वह ऐसा कर नहीं पाता, क्योंकि उसके विचारशील मनमें, भावुक हृदयमें, इन्द्रियमें अहंमूलक अज्ञान रहता है, उसका इन्द्रिय-बोध जगत्की वस्तुओंके प्रति अनुक्रिया करनेमें जगत्का आलिंगन साहस और हार्दिकतासे नहीं करता, वरन् स्पर्श सुखकर है या असुखकर, आरामदेह है या भयकारी, संतोषप्रद है या असंतोषप्रद,

इसके अनुसार आगे बढ़नेका या जुगुप्साका, सावधानीके साथ समीप जानेका या आग्रहसे धावन करनेका, विषाद या असंतोष या भय या क्रोधके साथ पीछे हटनेका परिवर्तनशील क्रम चलता रहता है। यह कामना-पुरुष होता है जो कि जीवनको गलत रूपसे ग्रहण करके वस्तुगत रसकी त्रिविध विकृतिका कारण बन जाता है, जिससे कि वह रस सत्ताके शुद्ध स्वरूप-गत आनन्दको मूर्त करनेके स्थानपर असमानतासे सुख, कष्ट और उदा-सीनताकी तीन अभिधाओंका रूप लेकर आता है।

जब हम जगत्के संबंधकी दृष्टिसे अस्तित्वके आनन्दपर विचार कर रहे थे तो हमने देखा था कि हमारे सुख, दुख और उदासीनताके मानकों में कोई निरपेक्षता, ध्रुवत्व या स्वरूपगत प्रामाणिकता नहीं है, वरन् वे ग्रहणकारी चेतनाकी अपनी आंतरिक भावनासे निर्धारित होते हैं और सुख तथा दुख, दोनोंकी मात्राको अधिक-से-अधिक ऊँचाईतक उठाया जा सकता है, न्यूनतम मात्रातक क्षीण किया जा सकता है या उन्हें, उनकी प्रत्यक्ष प्रकृतिमें, सम्पूर्णतः मिटाया तक भी जा सकता है। सुख दुख बन जा सकता है, या दुख सुख हो जा सकता है, क्योंकि अपनी गुप्त सत्यतामें वे एक ही वस्तु हैं जो संवेदनों और भावावेगोंमें भिन्नतः पुनरुत्पन्न होती है। उदासीनता या तो बाह्यतलके कामना-पुरुषका अपने मन, संवेदन, भावावेग और लालसाओंमें वस्तु-रसके प्रति अनवधान, या उसे ग्रहण करने और प्रत्युत्तर देनेमें उसका असामर्थ्य, या सतहपर उसका कोई प्रत्युत्तर देनेसे इंकार है, या फिर, इच्छा-शक्तिके द्वारा, सुख या दुखको निकाल हटाते और कुचलते हुए उनपर अस्वीकृतिका तटस्थ रंग ला देना है। इन सभी अवस्थाओंमें होता यह है कि किसी ऐसी वस्तुको, जो अभीतक अवगूढ़ रूपसे सक्रिय है, सतहपर अनूदित करने या किसी भी भावात्मक रूपमें प्रदर्शित करनेके प्रति एक निश्चयात्मक निषेध होता है या एक नकारात्मक अनुद्यतता या असमर्थता होती है।

वस्तुतः, अब मनोवैज्ञानिक निरीक्षण और परीक्षणके द्वारा जैसे हमें यह ज्ञात है कि बाह्य तलका मन वस्तुओंके जिन स्पर्शोंकी अवज्ञा करता है उन्हें अवगूढ़ मन ग्रहण करता और याद रखता है, वैसे ही हम यह भी पायेंगे कि वस्तुओंसे अनुभूत हुए जिस रसको बहिस्तलका कामना-पुरुष अरुचि और इंकारके द्वारा अस्वीकार करता है या तटस्थ अस्वी-कृतिके द्वारा उसकी अवज्ञा करता है, उसे अवगूढ़ पुरुष प्रत्युत्तर देता है। आत्म-ज्ञान तबतक असंभव है जबतक हम अपने सतही जीवनके पीछे नहीं जाते, क्योंकि यह ऊपरी जीवन कुछ चुने हुए बाह्य अनुभवों-

का परिणाम मात्र, एक सदोष ध्वनि-पट्ट, या हम जो इतने बहुत कुछ हैं उसमेंसे अल्पका जल्दबाजीमें किया हुआ अयोग्य और खंड अनुवाद ही है। आत्म-ज्ञान तव तक असंभव है जव तक हम इस सतही जीवन-के पीछे जाकर अपने साहुलको अवचेतनमें नीचे नहीं उतारते और अपने-आपको अतिचेतनके प्रति नहीं खोलते ताकि अपने वाह्री तलके जीवनके साथ उनके संवंधको जान सकें। क्योंकि, हमारा जीवन इन तीन वस्तुओंके वीच घूमता रहता है और उनमें ही अपनी समग्रता पाता है। हमारे अन्दरका अतिचेतन विश्वके आत्मा और अन्तरात्माके साथ एक रहता है और वह किसी प्रातिभासिक वैविध्यसे अनुशासित नहीं होता; अतः वह वस्तुओंके सत्यको और वस्तुओंके आनन्दको उनकी परिपूर्णतामें गृहीत किये रहता है। जिसे 'अवचेतन'[1] कहा जाता है और जिसके ज्योतिर्मय मस्तकको हम अवगूढ़ चेतना कहते हैं, वह, इसके विपरीत, अनुभवका एक उपकरण है, सच्चा स्वामी नहीं; वह, व्यवहारतः, विश्वके आत्मा और अन्तरात्माके साथ एक नहीं होता, प्रत्युत अपने विश्व-अनुभव-के द्वारा उसकी ओर खुला रहता है। अवगूढ़ पुरुष वस्तुओंके रसके प्रति अंतरतः सचेतन रहता है और उसे सकल सम्पर्कोंमें समान आनन्द मिलता है; वह सतहके कामना-पुरुषके मूल्यों और मानकोंके प्रति भी सचेतन रहता है और अपनी निजकी सतहपर सुख, दुख और उदासीनता-के सदृश स्पर्शोंको ग्रहण करता है, किंतु सवके अन्दर समान आनन्द लेता है। दूसरे शब्दोंमें, हमारे अन्दरका प्रकृत पुरुष अपने सारे अनुभवोंका आनन्द लेता है, उनसे वल, सुख और ज्ञान एकत्रित करता है, उनके द्वारा अपने भंडार और अपने वाहुल्यकी वृद्धि करता है। हमारे अन्दर जो यह प्रकृत पुरुष है, वही जुगुप्साशील कामना-मनको वाध्य करता है कि उसे जो दुखदायक लगता है उसे भी सहे, वल्कि, उसमें सुखकी खोज और प्राप्ति करे, उसे जो सुखद लगता है उसका परित्याग करे, अपने मूल्योंको आपरिवर्तित करे या उन्हें उलट भी दे, वस्तुओंमें समत्व-वोधकी प्राप्ति करे,—उदासीनताके द्वारा, या आनन्दके द्वारा, सत्ताके वैचित्र्य-के आनन्दके द्वारा,—और यह वह इसलिये करता है कि वैश्व पुरुष उसे

---

1. यथार्थ अवचेतन एक नीचेकी क्षीण हुई चेतना है, जो निश्चेतनके समीप है; अवगूढ़ हमारे सतहके अस्तित्वसे वृहत्तर चेतना है। किन्तु, दोनों ही हमारी सत्ताके आंत-रिक प्रदेशकी वस्तुएं हैं, हमारे वाह्य तलको उनकी संवित् नहीं रहती, अतः हमारी सामान्य धारणा और वार्तालापमें दोनोंका घालमेल कर दिया जाता है।

बाध्य करता है कि वह अपना विकास सब प्रकारके अनुभवसे करे ताकि वह प्रकृतिमें वर्द्धित हो सके। अन्यथा, यदि हम केवल सतही कामना-पुरुषके द्वारा जीवन-यापन करते तो वनस्पति या पत्थरसे अधिक प्रगति या परिवर्तन न कर पाते, जिनमें कि प्राण अपने बाहरी तलमें सचेतन नहीं होता, अतः जिनकी अचलतामें या जिनके अस्तित्वके बंधे क्रममें, वस्तुओंके गुप्त अंतरात्माको ऐसा कोई उपकरण नहीं मिलता जिसके द्वारा वह प्राण-का उसकी जन्मजात, स्थिर-नियत और संकुचित सीमासे उद्धार कर सके। कामना-पुरुषको यदि अपने-आपपर छोड़ दिया जाय तो वह चिरकाल उन्हीं खांचोंपर चक्कर काटता रहेगा।

प्राचीन दर्शन-सिद्धांतोंकी दृष्टिमें सुख और दुख अवियोज्य हैं, जैसे बौद्धिक सत्य और मिथ्या, बल और असामर्थ्य, जन्म और मृत्यु हैं। अत-एव, उनसे बचनेका एकमात्र मार्ग है विश्व-सत्ताकी उत्तेजनाओंके प्रति सम्पूर्ण उदासीनता, प्रत्युत्तर-हीनता। किन्तु एक सूक्ष्मतर मनोवैज्ञानिक ज्ञान हमें बताता है कि यह दृष्टि, जो कि जीवनके बाह्य तथ्योंपर आश्रित है, समस्याकी संभावनाओंको यथार्थ रूपसे निःशेष नहीं करती। यथार्थ पुरुषको सतहपर लानेसे यह संभव है कि सुख और दुखके अह-मात्मक मानकोंके स्थानपर एक सम आनन्दको, एक सर्वालिंगनकारी व्यक्तिक-निर्व्यक्तिक आनन्दको स्थापित किया जाय। प्रकृति-प्रेमी यही करता है जब वह प्रकृतिकी सभी चीजोंमें सर्वत्र आनन्द लेता है, विराग या भय या मात्र पसंद-नापसंदको प्रवेश नहीं करने देता, दूसरोंको जो क्षुद्र और महत्वहीन, नग्न और वन्य, भयावह और वीभत्स लगता है उसमें भी सुन्दरताको देखता है। कलाकार और कवि भी यही करते हैं जब वे विश्व-लीलाके रसको सौन्दर्यरसग्राही भावोच्छ्वाससे या शारीरिक आकृति-रेखासे, या सौन्दर्यके मानसिक रूपसे पानेकी कोशिश करते हैं, या जिससे सामान्य मनुष्य विमुख होता है और जिसकी ओर वह सुखकी भावनासे आकर्षित होता है उन दोनोंके आंतरिक अर्थ और वीर्यसे समान रूपमें रसकी खोज करते हैं। ज्ञानका जिज्ञासु, अपने प्रेमके लक्ष्यको सर्वत्र पानेवाला ईश्वर-प्रेमी, आध्यात्मिक व्यक्ति, बौद्धिक मनुष्य, इन्द्रिया-नुरागी, सौन्दर्यरसिक, ये सब अपनी-अपनी विधिसे यही करते हैं। और यदि उन्हें अपने अभिलक्षित ज्ञान, सौन्दर्य, आनन्द या दिव्यत्वको व्यापक रूपसे पाना है तो उन्हें यही करना होगा। उन्हीं अंगोंमें जिनमें तुच्छ अहं हमारे लिए अति प्रबल होता है, हमारे भावगत या शारीरिक हर्ष और शोक, सुख और दुखमें ही, जिनके सामने हमारे अन्दरका कामना-

पुरुष सम्पूर्णतः दुर्बल और कायर पड़ जाता है, केवल उन्हींमें दिव्य सिद्धांतका प्रयोग करना अत्यन्त कठिन हो जाता है और बहुतोंको असंभव या विकट और वीभत्स भी प्रतीत होता है। यहाँ अहंका अज्ञान निर्व्यक्तिकताके सिद्धांतको प्रयुक्त करनेसे हिचकता है जब कि वह उसे भौतिक विज्ञानमें, कलामें और एक प्रकारके अपूर्ण आध्यात्मिक जीवनमें भी बहुत अधिक कठिनाईके बिना प्रयुक्त करता है, क्योंकि वहाँ निर्व्यक्तिकताका नियम न तो उन कामनाओंपर आक्रमण करता है, जिन्हें सतहका पुरुष सँजोये रखता है, न कामनाके उन मूल्योंपर, जिन्हें सतहके मनने निर्धारित किया है, जिनमें हमारा बाह्य जीवन अति मार्मिक रुचि रखता है। स्वतंत्रतर और उच्चतर गतियोंमें हमसे चेतना और क्रियाशीलताके किसी विशेष क्षेत्रके उपयुक्त केवल विशिष्ट और सीमित समत्व और निर्व्यक्तित्वकी माँग की जाती है, जब कि हमारे व्यावहारिक जीवनका अहमात्मक आधार हमारे लिए बचा रहता है; किंतु, निम्नतर गतियोंमें तो हमारे जीवनकी सारी नींवको ही बदलना पड़ता है ताकि निर्व्यक्तिकताके लिए स्थान दिया जाय, और यह कामना-पुरुषको असंभव लगता है।

हमारे अन्दर जो सच्चा पुरुष गुप्त है, हमने उसे अवगूढ़ (Subliminal) कहा है, किन्तु यह शब्द भ्रामक है, क्योंकि वह सक्रिय मनकी देहलीके नीचे अवस्थित नहीं है, बल्कि अज्ञानी मन, प्राण और शरीरके मोटे पर्देके पीछे, अंतरतम हृदयके मंदिरमें प्रज्वलित रहता है; वह अवगूढ़ नहीं, बल्कि पर्देके पीछे है, यह आवृत चैत्य सत्ता हमारे अन्दर ईश्वरकी चिर प्रदीप्त रहनेवाली लौ है। अन्दरके किसी भी आध्यात्मिक पुरुषके प्रति रहनेवाली वह घनी अचेतना, जो हमारी बाह्य प्रकृतिको तमसावृत करती है, इस लौ को नहीं बुझा सकती। यह भगवान्से उत्पन्न लौ है, और अज्ञानके अन्दरकी ज्योतिर्मयी निवासिनी यह लौ अज्ञानमें तब तक वर्द्धित होती जाती है, जबतक कि वह उसे ज्ञानकी ओर न मोड़ सके। वह गुप्त साक्षी और नियंता है, गुप्त पथप्रदर्शक है, सुकरातका 'डिमन' है[2], रहस्यवेत्ताकी आंतरिक ज्योति या आंतरिक ध्वनि है। वह वह है, जो जन्म-जन्मान्तर अस्तित्ववान् और अनश्वर है; वह मृत्यु, ह्रास या विकारसे अस्पृश्य है, भगवान्का स्फुलिंग है जिसे नष्ट नहीं

2. सुकरातके अनुसार देव और मानवके बीच मध्यका स्थान लेनेवाला आत्मा।
—अनु०

किया जा सकता। वह अज आत्मा भी नहीं है, क्योंकि, वह आत्मा व्यक्तिके जीवनकी अध्यक्षता करता हुआ, सदा अपने विश्वभाव और तुरीयभावके प्रति संविद् रहता है, फिर भी वह प्रकृतिके रूपोंके अन्दर उसका प्रतिनिधि है, वह वैयक्तिक अन्तरात्मा, चैत्य पुरुष है, जो मन, प्राण तथा शरीरको धारण किये रहता है, हमारे अन्दर मनोमय, प्राणमय, सूक्ष्म-शारीरिक पुरुषके पीछे खड़ा रहता है और उनके विकास तथा अनुभव-की निगरानी करता और उनसे लाभ उठाता है। मनुष्यके अन्दर जो ये अन्य पुरुष-शक्तियाँ हैं, उसकी सत्ताकी सत्ताएँ हैं, उनका भी सच्चा स्वरूप पर्देमें रहता है, किंतु वे अस्थायी व्यक्तित्वोंको प्रक्षिप्त करती हैं, जिनसे हमारा बाह्य व्यक्तित्व बनता है और जिनकी सम्मिलित बहि-रंग क्रियाको और जिनकी स्थितिके रूपाभासको हम अपना स्वरूप कहा करते हैं। किंतु यह अंतरतमकी सत्ता भी हमारे अन्दर चैत्य पुरुषका रूप लेती हुई, एक चैत्य व्यक्तित्व प्रक्षिप्त करती है जो जीवन-जीव-नांतरमें परिवर्तित, वर्द्धित, विकसित होता है; जन्म और मृत्यु और मृत्यु और जन्मके बीचका यात्री वही है, हमारे प्रकृति-अंग उसके बहु-विध परिवर्तनशील वस्त्र हैं। आरंभमें चैत्य पुरुष मन, प्राण और शरीर-के द्वारा एक गुप्त और आंशिक और परोक्ष क्रिया ही कर सकता है, क्योंकि उसकी आत्म-अभिव्यक्तिके साधन-रूपमें प्रकृतिके इन अंगोंको विकसित करना होता है, और वह उनके विकासके लम्बे समयतक रुकनेको विवश होता है। अज्ञानमें पड़े मनुष्यको दिव्य चेतनाकी ओर ले जाना उसका व्रत है; वह अज्ञानमें होनेवाले सारे अनुभवोंके सारतत्त्व-को प्रकृतिके अन्दर जीवके वर्द्धनका केन्द्र बनानेके लिए ग्रहण करता है, बाकीको इन उपकरणोंके भावी विकासके लिए सामग्रीके रूपमें ले लेता है, जिसका उपयोग उसे तब तक करना होता है, जब तक वे भगवान्के ज्योतिर्मय उपकरण होनेके लिए तैयार न हो जायँ। यह गुप्त चैत्य सत्ता ही हमारे अन्दरकी सच्ची और आदि सद्विवेक-शक्ति है जो नीतिवादीके निर्मित और रूढ़िगत विवेकसे गभीरतर है, क्योंकि वही सर्वदा सत्य, ऋत और सौन्दर्यकी ओर, प्रेम और सामंजस्यकी ओर, हमारे अंदर जो भी दिव्य संभावनाएं है, उन सबकी ओर निर्देश करती है, और ये वस्तुएँ जब तक हमारी प्रकृतिकी प्रमुख आवश्यकता नहीं बन जातीं तब तक करती रहती हैं। हमारे अंदर जो चैत्य व्यक्तित्व है, वही संत, मुनि और ऋषिके रूपमें पुष्पित होता है; वह जब अपने सम्पूर्ण बलको प्राप्त करता है तब सत्ताको आत्मा और भगवान्के ज्ञान-

की ओर, परम सत्य, परम शिव, परम सौन्दर्य, प्रेम तथा आनन्दकी ओर, दिव्य ऊंचाइयों और वृहत्ताओंकी ओर मोड़ता है और हमें आध्यात्मिक सहानुभूति, विश्वत्व और एकत्वकी ओर उन्मीलित करता है। इसके विपरीत, जहाँ चैत्य व्यक्तित्व दुर्वल या असंस्कृत या अविकसित रहता है, वहाँ भले ही हमारा मन शक्तिमान और तेजस्वी हो, प्राणिक भावावेगमय हृदय दृढ़ और सवल और प्रभुतापूर्ण हो, प्राण-शक्ति शासिका और सफल हो, शारीरिक जीवन समृद्ध, भाग्यवान् और देखनेमें शासक और विजयी हो, परंतु, हमारे श्रेष्ठतर अंगों और वृत्तियोंका अभाव रहता है या उनमें विशेषता और वलका दारिद्र्य होता है। तव वाह्य कामना-पुरुष, छद्म-चैत्य पुरुष शासन करता है, और वह चैत्य संकेत तथा अभीप्साके, उसके भावों और आदर्शोंके, उसकी कामनाओं और एषणाओंके जो मिथ्या अर्थ करता है, हम उन्हें ही सच्चा आंतरात्मिक तत्त्व और आध्यात्मिक अनुभवकी संपदा माननेकी भूल करते हैं[3]। यदि गुप्त चैत्य पुरुष सामने आ सके और कामना-पुरुषका स्थान लेकर मन, प्राण और शरीरकी इस वाह्य प्रकृतिपर, न केवल आंशिक रूपसे और पर्देके पीछेसे, वल्कि प्रकट रूपमें और पूर्णतः शासन करने लगे, तभी इन्हें सत्य, ऋत और सुन्दरकी आंतरात्मिक प्रतिमाओंके रूपमें ढाला जा सकता है और अंतमें सारी प्रकृति जीवनके यथार्थ लक्ष्यकी ओर, परम विजयकी ओर, आध्यात्मिक जीवनमें ले जानेवाले आरोहणकी ओर मोड़ी जा सकती है।

किन्तु, तब ऐसा लग सकता है कि इस चैत्य सत्ताको, हमारे अन्दरके इस सच्चे अंतरात्माको सामने लानेसे और उसके हाथमें शासन और

---

3. हमारी सामान्य बोलचालमें "चैत्य" (Psychic) शब्द सच्चे चैत्यके स्थानपर इस कामना-पुरुषके लिए ही अधिक प्रयुक्त होता है। इससे भी अधिक शिथिलतासे उसका व्यवहार असामान्य या अतिसामान्य चरित्रके अंतःकरणिक और अन्य व्यापारोंके लिए होता है जिनका संवंध यथार्थमें आंतरिक प्राण या सूक्ष्म शारीरिक सत्तासे होता है जो हमारे अन्दर अवगूढ़ हैं; वे व्यापार चैत्यकी साक्षात् क्रियाएं तो विल्कुल ही नहीं होते। भौतिकीकरण और विभौतिकीकरण जैसे व्यापारोंको भी इनके अंदर सम्मिलित कर लिया जाता है, यद्यपि, यदि उनकी स्थापना हो भी जाय, तो भी वे प्रकटतः अंतरात्माकी क्रियाएं नहीं हैं और चैत्य पुरुषके स्वभाव या सत्तापर उनसे कोई प्रकाश नहीं पड़ता, वल्कि वे एक गुह्य सूक्ष्म-भौतिक ऊर्जाकी असाधारण क्रिया होंगे, जो वस्तुओंकी स्थूल देहवाली सामान्य स्थितिमें हस्तक्षेप कर रही होगी, उसे क्षीण करके अपनी सूक्ष्म अवस्थामें ले जाकर फिरसे स्थूल जड़के रूपोंमें पुनर्निर्मित करती होगी।

नेतृत्व देनेसे हमें अपनी स्वाभाविक सत्ताकी वह सारी संपूर्ति प्राप्त होगी जिसकी हम एषणा कर सकते हैं, और आत्माके राज्यके द्वार भी खुल सकते हैं। और यह युक्ति भी दी जा सकती है कि दिव्य स्थिति या दिव्य पूर्णताकी प्राप्तिके लिए हमें उच्चतर ऋत-चित् या अतिमानस-तत्त्वकी सहायताकी आवश्यकता नहीं है। किंतु, यद्यपि चैत्य रूपांतर हमारे जीवनके सम्पूर्ण रूपान्तरके लिए एक अपरिहार्य शर्त है, तदपि वृहत्तम आध्यात्मिक परिवर्तनके लिए जो कुछ आवश्यक है, चैत्य रूपांतर ही वह सब-कुछ नहीं है। प्रथमतः, प्रकृतिके अंदर वैयक्तिक अंतरात्मा होनेके नाते वह हमारी सत्ताके गुप्त दिव्यतर प्रदेशोंकी ओर उन्मीलित हो सकता है और उनकी ज्योति, शक्ति और अनुभूतिको ग्रहण तथा प्रतिबिंबित कर सकता है, परन्तु यदि हम अपने आत्माको उसके विश्वभाव और तुरीयभावके सहित अधिकृत करना चाहें तो इसके लिए ऊपरसे एक अन्य रूपांतरकी, आध्यात्मिक रूपांतरकी आवश्यकता होती है। एक विशेष स्थितिमें पहुँचनेपर स्वयं चैत्य पुरुष सत्य, शिव और सुन्दरका एक विशेष रूपायण कर और उसे ही अपना अवस्थान बनाकर संतुष्ट हो जा सकता है; एक और आगेके पर्वमें, हो सकता है कि वह निष्क्रिय रूपसे विश्वात्माके अनुगत तो हो जाय, वैश्व सत्ता, चेतना, शक्ति एवं आनंदका दर्पण भी हो जाय, किंतु सम्पूर्ण रूपसे उनमें भाग लेनेवाला या उनका अधिकारी न बन सके। हो सकता है कि वह घनिष्ठता और पुलकके साथ ज्ञानमें, भावमें, और इन्द्रियानुभव तकमें विश्व-चेतनाके साथ युक्त हो जाय, फिर भी, संभवतः, वह जगत्में प्रभुता और कर्मसे दूर रहकर केवल ग्रहणशील और निष्क्रिय ही बना रहे; अथवा यह भी हो सकता है कि विश्वके पीछे स्थित निश्चल आत्माके साथ एक हो जाय, पर आंतरिक रूपमें जगत्-व्यापारसे पृथक् रहे, अपनी वैयक्तिकता को अपने 'उत्स-मूल'के अंदर खो दे, उसी उत्स-मूलमें वापस चला जाय, और यहाँ उसका जो अंतिम व्रत था, प्रकृतिको भी उसकी दिव्य सिद्धि-की ओर लेजाना, उसके लिए उसमें न तो और इच्छा रह जाय, न शक्ति। कारण, चैत्य पुरुष प्रकृतिके अन्दर आत्मासे, भगवान्से आया है, और वह प्रकृतिसे विमुख होकर आत्माकी नीरवता और परम आध्यात्मिक निश्चलताके द्वारा निश्चल-नीरव ब्रह्मकी ओर चला जा सकता है। और, भगवान्का एक सनातन अंश[4] होनेके नाते यह अंश अनन्तके विधानके

---

4. गीता 15. 6

अनुसार अपनी दिव्य पूर्ण सत्तासे अपृथक्य है, बल्कि, वास्तवमें, अपने सम्मुख भागके रूप और अपने सम्मुख भागकी पृथक्कारिणी अनुभूतिके अतिरिक्त, वह स्वयं वह अंशी, वह सम्पूर्ण ही है; वह उस सद्वस्तुके प्रति जाग्रत् हो सकता और उसमें इस प्रकार डूब जा सकता है कि वैयक्तिक अस्तित्व उसमें प्रतीयमान निर्वाण प्राप्त करले, या कम-से-कम, उसमें लीन ही हो जाय। वह हमारी अज्ञानपूर्ण प्रकृतिके पुंजके अन्दर इतना छोटासा केन्द्र है कि उपनिषदोंने उसका वर्णन करते हुए कहा है कि वह मनुष्यके अंगूठेसे बड़ा नहीं है, तथापि. आध्यात्मिक अंत:प्रवाहके द्वारा वह अपने-आपको परिवर्द्धित कर सकता है और घनिष्ठ सायुज्य या एकात्मतामें मन तथा हृदयके द्वारा सारे संसारका आलिंगन कर सकता है। या, वह अपने सनातन सहचरके प्रति सचेतन हो सकता है और उनके सान्निध्यमें चिरकाल निवास करनेका चुनाव कर सकता है, शाश्वत प्रेमीकी भाँति शाश्वत प्रियतमके साथ अविनश्वर मिलन और एकत्वमें चिर निवास करना पसंद कर सकता है, यह अनुभव सभी आध्यात्मिक अनुभवोंमें सबसे अधिक तीव्रत: सुन्दर और आनन्दमय है। ये सब हमारी आध्यात्मिक आत्म-प्राप्तिकी महान् और ज्वलंत सिद्धियाँ हैं; परंतु यह अनिवार्य नहीं कि वे अंतिम सीमा और सम्पूर्ण उत्कर्ष हों; इनसे अधिक भी संभव है।

कारण, ये सब मनुष्यमें आध्यात्मिक मनकी ही उपलब्धियाँ हैं; ये उस मनकी उस समयकी गतियाँ हैं जब वह अपनेसे परे, किंतु अपने ही स्तर पर, आत्माके ज्योति-ऐश्वर्यमें प्रवेश करता है। हमारी वर्तमान मानसतासे बहुत परे, अपनी उच्चतम स्थितिमें भी, मनका स्वभाव विभाजनके द्वारा क्रिया करनेका होता है; वह 'शाश्वत'के विभिन्न पहलुओंको लेता है और प्रत्येक पहलूसे इस भाँति व्यवहार करता है मानों वह शाश्वत पुरुषका सम्पूर्ण सत्य हो और प्रत्येकके अन्दर अपनी निजी पूर्ण संपूर्ति पा सकता हो। यहाँ तक कि वह उन्हें प्रतिकूल तत्त्वोंके रूपमें खड़ा करता है और इन विपरीत तत्त्वोंकी एक पूरी अवली रच डालता है, जैसे भगवान्‌की निश्चल-नीरवता और भगवान्‌की क्रियाशीलता; जीवनसे अलग निश्चल, निर्गुण ब्रह्म, और जीवन, सत्ता तथा संभूतिका स्वामी सगुण, सक्रिय ब्रह्म; दिव्य पुरुष और निर्व्यक्तिक विशुद्ध सत्ता; तब वह किसी एक पहलूसे वियुक्त होकर दूसरेको सत्ताका एकमात्र स्थायी सत्य मानकर उसमें निमग्न हो जा सकता है। वह या तो व्यक्तिरूपको ही एकमात्र सद्वस्तु मान सकता है या निर्व्यक्तिकको ही एकमात्र

सत्य मान लेता है; वह प्रेमीको शाश्वत प्रेमके प्राकट्यके साधन-रूपमें ही या प्रेमको प्रेमीके आत्म-प्राकट्यके रूपमें ही देख सकता है; वह सर्व भूतोंको एक अपुरुषविध सत्ताकी केवल पुरुषविध शक्तियोंके रूपमें या अपुरुषविध सत्ताको उस अद्वय पुरुष, अनंत पुरुषकी एक स्थितिके रूपमें ही देख सकता है। उसकी आध्यात्मिक उपलब्धि, परम लक्ष्यकी ओर उसकी यात्राकी राह इन विभाजनकारी रेखाओंका अनुसरण करेगी। किंतु, आध्यात्मिक मनकी इस क्रियाके परे अतिमानसिक ऋत-चित्‌की उच्चतर अनुभूति है; वहाँ ये विरोधी विलीन हो जाते हैं और ये आंशिकताएँ सनातन पुरुषकी चरम तथा सर्वांगीण उपलब्धिकी समृद्ध परिपूर्णतामें समा जाती हैं। हमने इसी लक्ष्यकी कल्पना की है : अतिमानसिक ऋत-चित्‌की ओर हमारे आरोहण और हमारी प्रकृतिमें उसके अवतरणके द्वारा, यहाँ, हमारे जीवनकी संसिद्धि। चैत्य रूपांतरका आध्यात्मिक परिवर्तन-में उत्थान हो जानेके बाद उसे एक अतिमानसिक रूपांतरके द्वारा संसिद्ध और सर्वांगीण करना होगा, उसका अतिक्रमण करना होगा और उसे ऊपर उठाना होगा; यह अतिमानसिक रूपांतर ही उसे आरोहणकारी प्रयासकी चोटी तक ले जायगा।

जैसे विश्वाभिव्यक्त सत्ताके अन्य विभाजित और विरोधी प्रांतोंके बीच, वैसे ही हमारी सशरीर सत्तामें इन दोनों प्रांतों, आत्मिक स्थिति और जागतिक क्रियाशीलताके बीच, जिनमें केवल अज्ञानके कारण पर-स्पर-विरोध प्रतीत होता है, पूर्ण सामंजस्यकी स्थापना अतिमानसिक चेतना-शक्ति ही कर सकती है। अज्ञानमें प्रकृति अपनी मनोमय गतियोंकी शृंखलाको गुप्त अध्यात्म-सत्ताके इर्दगिर्द नहीं, वरन् उसके स्थानापन्न अहं-तत्त्वके चारों ओर केन्द्रित करती है। एक विशेष अहं-केन्द्रितता ही वह आधार है जिसपर हम अपने निवास-जगत्‌के जटिल सम्पर्कों, विरोधों, द्वन्द्वों और असंगतियोंके बीच अपने अनुभवों और संबंधोंका गुंथन करते हैं; यह अहं-केन्द्रितता ही विश्व और अनंतके सम्मुख हमारी निरापदताकी शिला है, हमारी रक्षा है। किंतु, अपने आध्यात्मिक परि-वर्तनके लिए हमें इस दुर्गका त्याग करना पड़ता है; अहंको विलुप्त होना पड़ता है, व्यक्ति निजको एक विशाल निर्व्यक्तिकतामें विलीन अनु-भव करता है और आरंभमें इस निर्व्यक्तिकतामें कर्मकी सुव्यवस्थित क्रिया-की कोई कुंजी नहीं मिलती। इसका एक बहुत सामान्य परिणाम यह होता है कि हम सत्ताके दो भागोंमें विभाजित हो जाते हैं; अन्दर आध्यात्मिक और बाहर प्राकृत। एक भागमें दिव्य सिद्धि पूर्ण आंतरिक

स्वातंत्र्यमें समासीन है, किंतु प्राकृत अंग प्रकृतिकी पुरानी क्रिया करता चलता है, जिस आवेगको प्रकृति पहले संचारित कर चुकी है, उसे भूत-कालकी ऊर्जाओंकी यंत्रवत् क्रियाके द्वारा जारी रखता है। यहाँ तक कि सीमित व्यक्ति और पुरानी अहं-केन्द्रित व्यवस्थाके पूरे विलीन हो जानेपर भी, वाह्य प्रकृति प्रतीयमान विश्रृंखलाका क्षेत्र वन जा सकती है, यद्यपि अंतरमें सव कुछ आत्मासे आलोकित रहता है। इस प्रकार हम वाहरसे जड़ और निष्क्रिय हो जाते हैं, परिस्थितियों या शक्तियों-से चालित होते हैं, पर स्वयं-चालित नहीं रहते, अर्थात् जड़वत् हो जाते हैं, यद्यपि अंतरकी चेतना प्रकाशित रहती है; या हम बालवत् हो जाते हैं, यद्यपि अंतरमें पूर्ण आत्मज्ञान वना रहता है; या हम उन्मत्त-वत् हो जाते हैं, विचार और आवेगमें कोई संगति नहीं रह जाती, यद्यपि अंतरमें पूरी स्थिरता और प्रशांति रहती है; या हम पिशाचवत् हो जाते हैं, दुर्दम और उपद्रवी प्राणी वन जाते हैं, यद्यपि अंतरमें आत्माकी पवित्रता और संतुलन बने रहते हैं। अथवा, यदि वाह्य प्रकृतिमें व्यव-स्थित क्रियात्मकता बनी रहती है तो वह ऊपरी अहं-क्रियाका ही सतत प्रवाह होती है जिसे आंतरिक पुरुष साक्षी भावसे देखता है, किन्तु स्वी-कार नहीं करता, या वह मनकी क्रियात्मकता हो सकती है जो आंतरिक आध्यात्मिक सिद्धिकी पूर्ण अभिव्यंजना नहीं होती क्योंकि मनकी क्रिया और आत्माकी स्थितिका बल समान नहीं है। उत्तम-से-उत्तम अवस्था-में भी, जवकि अंतरसे ज्योतिका संवोधिमूलक निर्देशन मिलता है, कर्म-धारामें उसकी अभिव्यक्तिका स्वरूप मन, प्राण और शरीरकी अपूर्णताओं-से अवश्य चिह्नित हो जाता है; वह मानों ऐसा राजा है जिसके मंत्री अयोग्य हों, ऐसा ज्ञान है जो अज्ञानके मूल्योंमें व्यक्त हो। जिस अतिमानसमें ज्ञान और सत्यात्मिका इच्छा पूर्ण रूपसे एक हैं उसका अवतरण ही, आंतरिक तथा वाह्य, दोनों जीवनोंमें आत्माका सामंजस्य स्थापित कर सकता है, क्योंकि एकमात्र वही अज्ञानके मूल्योंको ज्ञानके मूल्योंमें पूरी तरह वदल सकता है।

हमारे मानसिक और प्राणिक अंगोंकी भाँति, हमारे चैत्य पुरुषकी संपूर्तिमें भी उसे उसके दिव्य उत्स-मूलके साथ, परम सद्वस्तुमें उसके सदृश सत्यके साथ संवंधित करना अनिवार्य होता है। और उभय क्षेत्र-में यह कार्य सर्वांगीण परिपूर्णताके साथ, उस घनिष्ठताके साथ, जो सच्ची एकात्मता वन जाती है, अतिमानसकी शक्तिके द्वारा ही किया जा सकता है; क्योंकि, अतिमानस ही उस अखंड-अद्वय सत्ताके परार्ध और अपरार्ध-

को संयुक्त करता है। अतिमानसमें ही समन्वयी ज्योति है, सर्व-साधिका महाशक्ति है, परम आनन्दमें प्रवेश करनेका उन्मुक्त द्वार है। उस ज्योति और शक्तिसे उन्नीत चैत्य पुरुष सत्ताके मूल दिव्यानंदके साथ संयुक्त हो सकता है, जहाँसे उसका उद्‌गम हुआ था; तब वह सुख और दुखके द्वन्द्वोंको पराभूत कर, मन, प्राण और शरीरको समस्त भय और जुगुप्सासे मुक्त कर, जागतिक जीवनके संस्पर्शोंको दिव्य आनन्दकी अभिधाओंमें पुनः ढाल सकता है।

अध्याय चौबीस

जड़

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्।

उसने जाना कि अन्न ब्रह्म है।

—तैत्तिरीय उपनिषद् 3.2

अब हमें यह युक्तिसंगत निश्चय हो गया है कि प्राण न तो कोई अव्याख्येय स्वप्न है, न कोई असंभव अशुभ ही, जो फिर भी एक दुःखदायी वास्तविकता बन गया हो, प्रत्युत वह दिव्य सर्व-सत्‌का एक बलशाली स्पन्दन है। उसका आधार और उसका तत्त्व हमें कुछ-कुछ दिखायी दे रहे हैं, उसकी उच्च शक्यता और उसके चरम दिव्य प्रस्फुटनकी ओर हमारी दृष्टि उठी हुई है। किंतु अन्य सब तत्त्वोंके नीचे एक तत्त्व है जिसपर हमने अबतक पर्याप्त विचार नहीं किया है, वह है जड़-तत्त्व, जिसपर प्राण यों खड़ा है मानों यह उसका पादपीठ हो, या जिसमेंसे प्राणका विकास इस भाँति होता है जैसे बहु-शाखाधारी वृक्षका आकार उस बीजमेंसे निकलता है जिसमें वह आवृत था; मनुष्यके मन, प्राण और शरीर इस भौतिक तत्त्व पर निर्भर हैं, और यदि प्राणके प्रस्फुटनको, मनमें उन्मज्जित होती चेतनाका, अतिमानसिक सत्ताकी बृहत्तामें अपने स्वरूप-सत्यके संधानमें अपना संप्रसारण, अपना उन्नयन करती चेतनाका परिणाम कहें, तो भी वह शरीर के इस ढाँचे और इस जड़-तत्त्वके आधारसे अनुबद्ध है। शरीरका महत्व स्पष्ट है। चूँकि मनुष्यने ऐसा शरीर और मस्तिष्क प्रकट किया है या पाया है, जो एक प्रगतिशील मानसिक प्रकाशको ग्रहण करने और उसका अनुसेवी होनेमें समर्थ है, इसीलिये वह पशुसे ऊपर उठा है। समान रूपसे, वह अपने-आपके ऊपर केवल तभी उठ सकता है और एक पूर्णतः दिव्य मानवताको केवल अपने विचारमें और अपनी आंतरिक सत्तामें ही नहीं, प्रत्युत जीवनके अन्दर भी तभी उपलब्ध कर सकता है, जब वह ऐसे शरीरका, नहीं तो कम-से-कम, शारीरिक उपकरणकी ऐसी

क्रियाशीलताका विकास करे, जो उच्चतर आलोकको ग्रहण करने और उसका अनुसेवी होनेमें समर्थ हो। अन्यथा, या तो प्राणके बारेमें दिया गया वचन रद्द हो जाता है, उसका अर्थ मिट जाता है और पार्थिव जीव अपने-आपको नष्ट कर, मन, प्राण और शरीरको त्यागकर और शुद्ध अनन्तमें वापस जाकर ही सच्चिदानन्दकी उपलब्धि कर सकता है, या तब, मनुष्य दिव्य उपकरण ही नहीं है, उसे अन्य पार्थिव जीवोंसे पृथक् करनेवाली जो सचेतन रूपसे प्रगतिशील शक्ति है उसकी कोई सीमा निर्धारित है, और जिस प्रकार मनुष्यने जगत्‌की अन्य सत्ताओंको हटा कर आगेका स्थान ले लिया है, वैसे ही अंततः कोई अन्य सत्ता मनुष्यको हटाकर उसकी संपदापर अधिकार करेगी।

निस्सन्देह ऐसा लगता है कि शरीर, आरम्भसे ही, आत्माकी बड़ी कठिनाई, उसके मार्गमें निरंतर बाधक और दोषकी वेदी रहा है। अतएव, आध्यात्मिक सिद्धिके उत्सुक साधकने शरीरको हमेशा धिक्कारा है और जगत्‌के प्रति उसकी जो वितृष्णा है उसने अन्य सारी वस्तुओं-से अधिक इसी जागतिक तत्त्वको अपनी घृणाका विशेष पात्र चुना है। शरीर उसके लिए एक असहनीय अंधकाराच्छन्न भार हो जाता है; शरीर की हठी जड़-स्थूलतासे उसका मन इतना ग्रस्त हो जाता है कि उससे मुक्ति पानेके लिए वह संन्यासीके जीवनकी ओर खिंच जाता है। उससे छुटकारा पानेके लिए वह यहाँ तक बढ़ जाता है कि वह शरीरके अस्तित्वको और भौतिक विश्वकी सत्यताको ही अस्वीकार कर देता है। अधिकांश धर्मोंने जड़-तत्त्वको अभिशाप माना है और भौतिक जीवनके निषेधको या उसे उदासीनतासे कुछ समय तक सहन करते रहनेको ही धार्मिक सत्यकी और आध्यात्मिकताकी कसौटी माना है। किन्तु, प्राचीन-तर मत, जो अधिक धीर रहे हैं, चिंतनमें अधिक गभीर रहे हैं, जिन्हें कलियुगके भारसे आक्रांत आत्माकी पीड़ा और उत्तप्त अधीरताका स्पर्श नहीं हुआ है, उन्होंने यह विकट विभाजन नहीं किया था, उन्होंने पृथ्वी-को माता और द्युलोकको पिता माना और उन्हें समान प्रेम और आदर प्रदान किया; किन्तु उनके प्राचीन रहस्य हमारी दृष्टिके लिए अस्पष्ट और अगाध हैं, कारण, हमारी दृष्टि चाहे जड़वादी हो, चाहे आध्यात्मिक, हम समान रूपसे जीवनकी समस्याकी जटिल ग्रंथिको एकही निश्चित वारसे काट डालनेमें, और एक शाश्वत आनंदमें पलायन या एक शाश्वत विनाश या एक सनातन शान्तिमें अन्त-प्राप्ति स्वीकार करनेमें संतुष्ट हो जाते हैं।

वस्तुतः इस विवादका सूत्रपात हमारे आध्यात्मिक संभावनाओंकी ओर जाग्रत् होनेसे नहीं होता है; उसका आरम्भ तभी हो जाता है जब स्वयं प्राणका प्राकट्य होता है और वह अपनी क्रियाशीलताओंको, सजीव रूपकी चिरस्थायी संहतियोंको स्थापित करनेके लिए संघर्ष करने लगता है। यह संघर्ष तामसिकताकी शक्तिके विरुद्ध, निश्चेतनाकी शक्तिके विरुद्ध, परमाणविक विसंघटनकी शक्तिके विरुद्ध होता है जो जड़ तत्त्वके अन्दर उस महा प्रतिषेधकी ग्रंथि हैं। प्राण जड़से निरन्तर संग्रामरत रहता है और इस युद्धका अन्त सदा प्राणकी प्रतीयमान पराजयमें और जड़-तत्त्वकी ओर उस अवोमुखी पराभव में होता है जिसे हम मृत्यु कहते हैं। यह विसंगति मनके प्राकट्यके साथ और भी गहरी हो जाती है; क्योंकि प्राण और जड़, दोनोंके साथ मनका अपना कलह रहता है; उसका उनके सीमाबन्धोंसे निरंतर संग्राम रहता है, एककी स्थूलता तथा तामसिकताके, और दूसरेके रागावेश और कष्टके सतत शासनमें और उनसे विद्रोह करता रहता है; और यह युद्ध अंततः, यद्यपि बहुत निश्चित रूपसे नहीं, मनकी आंशिक और महँगी विजयकी ओर मोड़ लेता हुआ लगता है जिसमें मन प्राणिक लालसाओंको जीतता, उनका दमन करता, उनका हनन भी कर देता है, और वह शारीरिक शक्तिको क्षीण करता है और एक महत्तर मानसिक क्रियाशीलताके लिए और एक उच्चतर नैतिक सत्ताके हितके लिए शरीरका संतुलन भंग कर देता है। इसी संघर्षमें प्राणके प्रति अधीरताका, शरीरके प्रति वितृष्णाका, और दोनोंके प्रति जुगुप्सा रखकर किसी शुद्ध मानसिक तथा नैतिक जीवनकी ओरकी प्रवृत्तिका उदय होता है। जब मनुष्य मनसे परेके अस्तित्वकी ओर जागृत होता है तब विरोधके इस सिद्धांतको वह और भी आगे बढ़ा ले जाता है। मन, शरीर और प्राणको भव-सागर, मांस-देह और शैतानकी त्रिमूर्ति कहकर तिरस्कृत किया जाता है। मनको हमारे समस्त रोगका मूल कहकर उसपर भी प्रतिबंध लगा दिया जाता है; आत्मा और उसके उपकरणोंके बीच युद्धकी घोषणा कर दी जाती है और अंतर्वासी आत्माकी विजय उसके अपने संकीर्ण आवाससे बच पानेमें, मन, प्राण और शरीरका परित्याग करनेमें और अपनी अनन्तताओंमें वापस चले जानेमें खोजी जाती है। संसार विसंगति-संकुल है और उसकी पेचीदगियोंका उत्तम समाधान हम तब कर पायेंगे जब हम स्वयं उस बिसंगतिके सिद्धांतको उसकी चरम संभावना तक ले जायें, जगत्को काटकर अलग कर दें और अंतिम विच्छेद संपन्न करें।

किंतु ये विजयें और पराजय केवल देखनेमें ही विजय-पराजय हैं, यह समाधान समाधान नहीं, अपितु समस्यासे पलायन है। प्राण वास्तवमें जड़-तत्त्वसे पराजित नहीं होता; वह जीवनको अविच्छिन्न रखनेके लिए मृत्युका उपयोग कर एक समझौता कर लेता है। मन वास्तवमें प्राण और जड़पर विजयी नहीं हुआ है, उसने कुछ शक्यताओंकी वलि देकर, जो उसके प्राण और शरीरके श्रेष्ठतर उपयोगकी असंसिद्ध या परित्यक्त संभावनाओंसे बँधी रहती हैं, अन्य शक्यताओंको अपूर्ण रूपसे विकसित किया है। वैयक्तिक जीवने निम्नतर त्रैतको जीता नहीं है, वरन् उसने अपने ऊपर उनके दावेको अस्वीकार किया है और वह उस कार्यसे भाग खड़ा हुआ है जिसका व्रत आत्माने उस समय हाथमें लिया था जब उसने अपने-आपको पहली वार विश्वके रूपमें डाला था। समस्या वनी रहती है, क्योंकि विश्वके अन्दर भगवान्‌का श्रम जारी रहता है, किंतु न तो समस्याका कोई संतोषजनक समाधान मिलता है, न उस परिश्रमकी विजयिनी पूर्ति ही होती है। अतः, चूँकि हमारा अपना दृष्टि-विन्दु यह है कि सच्चिदानन्द ही आदि, मध्य और अन्त है, और संघर्ष तथा विसंगति सच्चिदानन्दकी सत्तामें सनातन एवं मूलगत तत्त्व नहीं हो सकते, वरन् उनके अस्तित्व मात्रसे ही एक पूर्ण समाधान और एक सम्पूर्ण विजयकी ओरका श्रम सूचित होता है, अतः हमें उस समाधानकी खोज जड़पर प्राणकी एक यथार्थ विजयमें करनी होगी जिसमें प्राणके हाथों शरीरका निर्वंध और पूर्ण उपयोग होगा, प्राण और जड़पर मनकी एक यथार्थ विजयमें करनी होगी जिसमें मनके हाथों प्राण-शक्ति और शरीरका निर्वंध तथा पूर्ण उपयोग होगा, और मन, प्राण और शरीरपर आत्माकी यथार्थ विजयमें करनी होगी जिसमें आत्माके हाथों इन तीनोंपर निर्वंध और पूर्ण अधिकार होगा। हमने जो दृष्टि निष्पादित की है, उसके अनुसार एकमात्र यह अंतिम विजय ही अन्य विजयोंको यथार्थतः संभव वना सकती है। तो, यह देखनेके लिए कि ये विजयें किस भाँति नितांत संभव या सम्पूर्णतः संभव हो सकती हैं, हमें जड़के तत्त्वको जानना होगा, जैसे मूलभूत ज्ञानकी खोज करते हुए हमने मन और अंतरात्मा और प्राणके तत्त्वको जान लिया है।

जड़, एक विशेष अर्थमें, अवास्तव और असत् है; अर्थात् जड़के संवंधमें हमारा वर्तमान ज्ञान, विचार और अनुभव उसका सत्य नहीं है, वरन् जिस सर्वमय सत्तामें हम विचरण करते हैं उसके और हमारी इन्द्रियोंके वीच विशेष संवंधका एक व्यापार मात्र है। जब

विज्ञान आविष्कार करता है कि जड़का पर्यवसान ऊर्जाके रूपोंमें होता है, तो वह एक वैश्व और मूलभूत सत्यको हस्तगत करता है, और जब दर्शनशास्त्र यह आविष्कार करता है कि चेतनाके लिए जड़का अस्तित्व वस्तुमय रूपकी नाईं ही है और आत्मा या शुद्ध चिन्मय-पुरुष ही एकमात्र सद्वस्तु है, तब वह एक श्रेष्ठतर और सम्पूर्णतर, एक और भी अधिक मूलभूत सत्यको हस्तगत करता है। किन्तु, फिर भी यह प्रश्न रह जाता है कि ऊर्जा केवल शक्ति-प्रवाहोंका रूप न लेकर जड़का रूप क्यों लेती है, या ऐसा क्यों होता है कि जो यथार्थत: आत्मा है वह जड़के प्रपंचको प्रवेश देता है, स्वयं आत्माकी स्थितियों, प्रेरणाओं और आनन्दोंमें ही नहीं रहता? कहा जाता है कि यह कार्य मनका है, या चूंकि यह स्पष्ट है कि 'विचार' न तो वस्तुओंके भौतिक रूपकी सीधे रचना ही करता है, न उनका प्रत्यक्षबोध ही पाता है, अत: यह इन्द्रिय-बोधका कार्य है; मनस (इन्द्रिय-मन) उन रूपोंकी रचना करता है जिनका उसे प्रत्यक्षबोध होता प्रतीत होता है और विचारात्मक-मन उन रूपों पर क्रिया करता है जिन्हें मनस उसके सामने रखता है। किन्तु स्पष्ट है, वैयक्तिक शरीरी मन जड़-प्रपंचका रचयिता नहीं है; पृथ्वी-का अस्तित्व मानव-मनका परिणाम नहीं हो सकता, जब कि स्वयं मानव-मन ही पृथ्वीके अस्तित्वका परिणाम है। यदि हम कहें कि जगत्का अस्तित्व केवल हमारे अपने मनमें रहता है तो हम एक तथ्यहीन और भ्रामक बात कहेंगे, क्योंकि, धरतीपर मनुष्यके आनेसे पहले ही जड़ जगत् विद्यमान था और धरतीसे मनुष्य तिरोहित हो जाय या हमारा वैयक्तिक मन अपने-आपको अनंतमें विलीन कर दे, तब भी जड़ जगत्का अस्तित्व चलता रहेगा। तो हमें इस निष्कर्ष पर आना होगा कि एक वैश्व मन[1] है, हमारे लिए विश्वके रूपमें अवचेतन या अपने आत्मामें अतिचेतन जिसने अपने आवासके लिए इस रूपकी सृष्टि की है। और, चूंकि स्रष्टा

---

1. मन, जैसा कि हम उसे जानते हैं, एक सापेक्षिक अर्थमें और उपकरणवत् ही सृष्टि करता है; उसमें संयोजन करनेका असीम सामर्थ्य है, किंतु उसकी सृजनात्मक प्रवर्तनाएं और रूप ऊपरसे आते हैं: मन, प्राण और जड़से ऊपर जो अनंत है उसीमें सारे सृष्ट रूपोंका आधार है। वे रूप यहां अल्पणुसे प्रतिरूपायित, पुनर्निर्मित—अधिकतर विकृत रूपमें पुनर्निर्मित—किये जाते हैं। ऋग्वेद कहता है, उनका मूल ऊपर है और शाखाएं नीचे। हम जिस अतिचेतन मनकी बात कहते हैं उसे अधिमानस कहा जा सकता है और आत्माकी शक्तियोंके क्रम-सोपानमें वह उस लोकका वासी है जो सीधे अतिमानसिक चेतनापर आश्रित है।

अवश्य ही सृष्टिसे पहले आया होगा और उसका अतिक्रम किये होगा, अतः, वास्तवमें, इससे एक अतिचेतन मन अभिप्रेत है जो एक वैश्व इन्द्रियवोधको करण वनाकर अपने अन्दर रूपके साथ रूपके संवंधकी रचना कर लेता है और जड़-विश्वकी छन्दोवद्धताका निर्माण करता है। किंतु यह भी पूरा समाधान नहीं है। यह हमें यह तो कहता है कि 'जड़' चेतनाकी सृष्टि है, किंतु यह व्याख्या नहीं करता कि चेतनाने अपनी विश्वव्यापी क्रियाओंके आधार-रूपमें जड़की सृष्टि कैसे की।

यदि हम तुरत वस्तुओंके मूल तत्त्वकी ओर लौट चलें तो अधिक अच्छी तरह समझ सकेंगे। सत् अपनी क्रियाशीलतामें एक चित्-शक्ति है जो अपनी शक्तिकी क्रियाओंको अपनी चेतनाके समक्ष अपनी स्व-सत्ताके रूपोंमें उपस्थित करती है। चूंकि शक्ति 'एकं सत्' चिन्मय पुरुषकी क्रिया मात्र है, अतः उसके परिणाम भी उस चित्पुरुषके रूप होनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकते। अतएव, रूपधातु या द्रव्य या जड़ आत्माका एक रूप मात्र है। आत्माका यह रूप हमारी इन्द्रियोंके समक्ष जिस भाँति प्रतिभासित होता है उसका कारण मनकी वह विभाजक क्रिया है जिससे हम विश्वके समस्त प्रपंच-व्यापारका एक सुसंगत सिद्धांत वना पाये हैं। अव हम जानते हैं कि प्राण चित्-शक्तिकी एक क्रिया है और जड़के रूप उसका परिणाम हैं। उन रूपोंके अंदर संवृत प्राण, उनमें, प्रथमतः, निश्चेतन शक्तिकी भाँति प्रकट होता हुआ, क्रमशः विवर्तित होता है और मन-रूपमें उस चेतनाको पुनः अभिव्यक्त करता है जो शक्तिका यथार्थ आत्मा है और जिसका अस्तित्व उस समय भी समाप्त नहीं हुआ था जव वह अनभिव्यक्त थी। हम यह भी जानते हैं कि मन मूल सचेतन ज्ञान या अतिमानसकी एक निम्नतर शक्ति है, एक ऐसी शक्ति जिसके लिए प्राण एक उपकरणात्मक ऊर्जाका काम करता है; वस्तुतः, अतिमानसमेंसे उतरता हुआ चित् (चेतना) अपने-आपको मनके रूपमें प्रत्युपस्थित करता है, तपस (चेतनाकी शक्ति) अपने-आपको प्राणके रूपमें प्रस्तुत करता है। अतिमानसमें अवस्थित अपनी उच्चतर स्वरूप-सत्तासे पृथक् होकर मन प्राणको विभाजनका रूप देता है, और तव अपनी ही प्राण-शक्तिमें निर्वतित होकर प्राणमें अवचेतन हो जाता है और इस भाँति अपनी जड़-लीलाको एक निश्चेतन शक्तिका वाह्य रूप दे देता है। अतएव, जड़की निश्चेतना, तामसिकता और आणविक विखंडनका उद्गम अवश्य ही मनकी इस सर्वविभाजनकारी और आत्म-निवर्तनकारी क्रियामें होना चाहिये जिसके द्वारा

हमारा विश्व अस्तित्वमें आया। जैसे मन सृष्टिकी ओर अभिमुख अवतरणमें अतिमानसकी अंतिम क्रिया ही है और प्राण मनके इस अवतरणके द्वारा सृष्ट अज्ञानकी अवस्थाओंमें क्रिया करती चित्-शक्तिकी एक क्रिया है, वैसे ही, जड़, जैसा हम उसे जानते हैं, उस क्रियाके परिणाम-स्वरूप, चित्-सत्ताके द्वारा धारण किया हुआ अंतिम रूप ही है। जड़ है उस अद्वय चित्-सत्ताकी रूपधातु जो एक वैश्व मनकी[2] क्रियाके द्वारा, अपने-आपके अन्दर दृश्यतः विभक्त है,—ऐसा विभाजन जिसे व्यष्टि मन दुहराता है और जिसमें वह निवास करता है, किंतु जो आत्माके एकत्वको या ऊर्जाके एकत्वको या जड़के यथार्थ एकत्वको न तो नष्ट करता है, न बिलकुल ही क्षीण।

किंतु, अविभाज्य सत्का यह दृश्य-जागतिक और व्यावहारिक विभाजन क्यों हो? इसका कारण यह है कि मनको बहुत्वके तत्त्वको उसकी चरम शक्यतातक ले जाना है और यह केवल पृथक्करण और विभाजनके द्वारा ही किया जा सकता है। यह करनेके लिए आवश्यक है कि बहुभावके लिए रूपोंकी रचनाके निमित्त प्राणमें उतर पड़नेवाला मन सत्ताके वैश्व तत्त्वको एक शुद्ध या सूक्ष्म धातुके बदले एक स्थूल और जड़ धातुका रूप दे। अर्थात्, वह उसे ऐसी धातुका रूप प्रदान करे जो मनके संस्पर्शको विषयोंके स्थायी बहुत्वके बीच एक स्थिर वस्तु या विषय लगे, न कि किसी ऐसी धातुका रूप दे जो शुद्ध चेतनाके संस्पर्शको निजकी शाश्वत शुद्ध सत्ता तथा सत्यताकी वस्तु लगे, या सूक्ष्म इन्द्रियको नमनीय आकारका तत्त्व जान पड़े जो चित्-सत्ताको निर्बंध रूपसे प्रकट कर सकता हो। अपने विषयोंके साथ मनका जो सम्पर्क होता है वह उस चीजकी रचना करता है जिसे हम इन्द्रियबोध कहते हैं, किंतु यहाँ उसे एक अस्पष्ट बहिर्मुख इन्द्रियबोध ही होना होता है जिसका अपने सम्पर्कके विषयकी वास्तविकताके संबंधमें विश्वस्त होना आवश्यक है। तो, अतिमानसके द्वारा मन और प्राणमें सच्चिदानन्दके अवतरणके अनिवार्य परिणाम-स्वरूप, शुद्ध धातुका जड़धातुमें अवतरण होता है। यह सत्ताके बहुत्वको और चेतनाके पृथक्-पृथक् केन्द्रोंसे वस्तुओंके प्रति चेतन होनेको जीवनकी इस निम्नतर अनुभूतिकी पहली विधि बनानेकी इच्छाका एक आवश्यक परिणाम

---

2. यहाँ मन शब्दका प्रयोग उसके वृहत्तम अर्थमें किया गया है जिसमें अधिमानस-शक्तिकी क्रिया भी सम्मिलित है, जो अतिमानसिक ऋत-चित्के समीपतम है और अविद्याकी सृष्टिका प्रथम स्रोत है।

होता है। यदि हम वस्तुओंके आध्यात्मिक आधारकी ओर वापस जायं तो धातु अपनी चरम शुद्धावस्थामें शुद्ध चित्-सत्तामें पर्यवसित होती है, जो स्वयंभू है, तादात्म्यके द्वारा नैसर्गिक रूपसे आत्म-संविद् है, किंतु अभीतक अपने-आपको विषय बनाकर अपनी चेतनाको उसकी ओर अभिमुख नहीं कर रही है। इस तादात्म्यसे प्राप्त आत्म-संवित्को अतिमानस अपने आत्म-ज्ञानकी धातुके रूपमें और आत्म-सृष्टिकी ज्योतिके रूपमें संरक्षित रखता है, किंतु उस सृष्टिके लिए वह सत्ताको उसके सामने उसकी अपनी सक्रिय चेतनाके विषयी-विषय, एक और बहुके रूपमें उपस्थापित करता है। वहाँ सत्ता एक परम ज्ञानमें विषय-रूपमें धारित रहती है, वह ज्ञान विज्ञानके द्वारा उसे अपने अन्दर दोनों, ज्ञानके विषय-रूपमें और विषयीभावसे निज-रूपमें देखता है, परंतु साथ ही, प्रज्ञानके द्वारा उसे अपनी चेतनाकी परिधिमें ज्ञानके विषय या विषयोंके रूपमें प्रक्षिप्त कर सकता है, अपनेसे भिन्न नहीं, वरन् अपनी सत्ताके अंगके रूपमें, किंतु ऐसे अंग (या अंगों)के रूपमें जो स्वयं उससे अलग हटा दिये गये हैं, अर्थात्, उस दृष्टि-बिन्दुसे देखता है जहाँ सत्ता ज्ञाता, साक्षी या पुरुष-भावमें संकेन्द्रित होती है। हम देख चुके हैं कि इस प्रज्ञान-चेतनासे मनकी वृत्ति उद्भूत होती है,—वह वृत्ति जिसके द्वारा वैयक्तिक ज्ञाता अपनी वैश्व सत्ताके ही किसी रूपको अपने-आपसे भिन्न देखता है; किन्तु दिव्य मनमें तत्काल, बल्कि संग ही संग, एक अन्य वृत्ति या उसी वृत्तिकी उल्टी दिशाकी क्रिया होती है, सत्तामें ऐक्यकी एक क्रिया होती है जो इस दृश्यगत विभाजनका उपचार करती और उस विभाजनको ज्ञाताके लिए, क्षण भरके लिए भी एकमात्र सत्य बन जानेसे रोकती है। सचेतन ऐक्यकी यह क्रिया ही विभाजनकारी मनमें अन्य रूपसे, कुंठित, अज्ञानी रूपसे, बिलकुल वाहरी तौरपर चेतनामें विभक्त सत्ताओं और पृथक् विषयोंके बीच होते सम्पर्ककी नाईं प्रतिरूपायित होती है, और विभक्त चेतनामें हुआ यह सम्पर्क हमारे लिए प्रथमतः इन्द्रिय-बोधके तत्त्वके द्वारा प्रतिरूपायित होता है। इन्द्रियबोधके इस आधारपर, इस विभाजनाधीन ऐक्यके सम्पर्कपर विचारात्मक मनकी क्रिया खड़ी होती है और ऐक्यके एक उच्चतर तत्त्वकी ओर वापस जानेकी तैयारी करती है जिसमें विभाजन एकताके अधीन और गौण वना दिया जाता है। तो, धातु, हम उसे जैसा जानते हैं, जड़धातु, वह रूप है जिसमें इन्द्रियबोध द्वारा क्रिया करनेवाला मन चित्-सत्तासे सम्पर्क स्थापित करता है जिसके ज्ञानकी एक वृत्ति वह स्वयं होता है।

किन्तु मनका स्वभाव ही ऐसा है कि वह चित्-सत्ताकी धातुको उसकी एकता या समग्रतामें नहीं, अपितु विभाजनके सिद्धांतके द्वारा जानना और अनुभव करना चाहता है। वह मानों उसे अत्यणु-विन्दुओंमें देखता है, एक समग्रता तक पहुँचनेके लिए उन्हें एक साथ समाहृत करता है, और वैश्व मन अपने-आपको इन दृष्टि-विन्दुओं और समाहारोंमें फेंक देता है और उनमें निवास करता है। इस भाँति निवास करता हुआ विश्व-मन, सत्-भावके अभिकर्त्ता-रूपमें अपनी नैसर्गिक शक्तिसे सृष्टि करता हुआ, अपने समस्त प्रत्यक्षबोधोंको प्राणकी ऊर्जामें परिवर्तित करनेके लिए स्वभावतः विवश हुआ,—जैसे सर्व-सत्तामय अपने समस्त आत्म-रूपोंको अपनी चेतना-की सर्जक शक्तिकी विविध ऊर्जाके रूपमें परिणत करता है,—इन्हें वैश्व सत्ता-विषयक अपने बहु दृष्टि-विन्दुओंको वैश्व प्राणके अवस्थान-बिन्दुओंमें परिवर्तित करता है; वह जड़-तत्त्वमें उन्हें परमाणविक सत्ताके रूपोंमें परिवर्तित करता है जो कि, जो प्राण उनका निर्माण करता है उससे अनुगर्भित रहते हैं, और जो मन तथा इच्छा इस निर्माणको प्रवृत्त करते हैं उनसे शासित होते हैं। साथ ही, वह इस भाँति जिन परमाणविक सत्ताओं-का निर्माण करता है, वे परमाणु अपनी सत्ताके धर्मवश ही सम्मिलित होना, संहत होना चाहेंगे, और इन संहतियोंमेंसे प्रत्येक संहति उस गुप्त प्राणसे अनुप्राणित रहती हुई, जो उसका निर्माण करता है, और उस मन तथा इच्छासे अनुप्राणित रहती हुई, जो उस निर्माणको प्रवृत्त करते हैं, एक पृथक्कृत वैयक्तिक अस्तित्वकी मिथ्या कल्पना लिये रहती है। ऐसे वैयक्तिक पदार्थ या सत्तामें मन अव्यक्त है या सुव्यक्त, अनभि-व्यक्त है या अभिव्यक्त, इसके अनुरूप ही उस पदार्थ या सत्ताका अव-लंब या तो उसकी शक्तिका यंत्रवत् अहं होता है जिसमें भवैषणा मूक और बंदी, किन्तु फिर भी सबल रहती है, या उसका आत्म-संविद् मनो-मय अहं होता है, जिसमें भवैषणा बंदीत्वसे मुक्त हो जाती है, सचेतन होती है, पृथक् रूपसे सक्रिय रहती है।

अतः, शाश्वत और आदि जड़का कोई शाश्वत और आदि धर्म नहीं, वरन् विश्व-मनकी क्रियाका स्वभाव ही परमाणविक सत्ताका कारण है। जड़ एक सृष्टि है, और उसकी सृष्टिके लिए एक आरंभ-बिन्दु या आधारके रूपमें अत्यणुकी, अंनतके चरम विखंडनकी आवश्यकता थी। आकाश जड़के स्पर्शागम्य, लगभग आध्यात्मिक आधार-रूपमें रह सकता है और है भी, किन्तु प्रातिभासिक रूपमें वह, कम-से-कम हमारे वर्तमान ज्ञानके लिए, जड़ रूपसे गोचर नहीं है। दृष्टिगोचर संहति या अणु-

रूपको मौलिक परमाणुओंमें प्रविभाजित कर दिया जाय, उसे सत्ताकी अत्याणविक धूलिमें खंडित कर दिया जाय, तो भी उनको बनानेवाले मन और प्राणके स्वभावके कारण, हम मात्र किसी अनाणविक विस्तार पर नहीं पहुँचेंगे जो अपने अन्दर कुछ भी धारण करनेमें असमर्थ हो, वरन् हम एक चरम आणविक सत्तापर ही पहुँचेंगे, जो, संभवतः, स्थितिधर्मी नहीं होगी, किन्तु, दृश्य-जागतिक रूपसे, सर्वदा अपने-आपको शक्तिके शाश्वत प्रवाहमें पुनर्निर्मित करती रहेगी। धातुका अनाणविक विस्तार, वह विस्तार जो समाहरण नहीं है, वह सह-अस्तित्व जो देशमें वितरणसे भिन्नतः होता है, वे शुद्ध सत्की, शुद्ध धातुकी वास्तविकताएँ हैं; वे अति-मानसका एक ज्ञान हैं और उसकी क्रियात्मक शक्तिका एक तत्त्व हैं, न कि विभाजक मनका सर्जनात्मक प्रत्यय, यद्यपि अपनी क्रियाओंके पीछे मनको उनकी संवित् हो सकती है। वे जड़की आधार-भूत सद्वस्तु हैं, किन्तु जिस दृश्य-विषयको हम जड़ कहते हैं वह वे नहीं हैं। मन, प्राण, स्वयं जड़ भी अपने निष्क्रिय स्वरूपमें उस शुद्ध सत्ता और सचेतन विस्तारके साथ एक हो सकते हैं, किन्तु अपनी क्रियात्मक गति, आत्म-दर्शन और आत्म-रूपायणमें उस एकत्वके द्वारा क्रिया नहीं कर सकते।

अतः हम जड़के इस सत्यपर पहुँचते हैं कि सत्ताका एक धारणात्मक आत्म-प्रसारण है जो विश्वमें चेतनाकी आधार-धातु या विषयके रूपमें चरि-तार्थ होता है और जिसे विश्वमन तथा विश्व-प्राण अपनी सर्जक क्रियामें आणविक विभाजन और समाहरणके द्वारा उस वस्तुके रूपमें प्रकट करते हैं जिसे हम जड़ कहते हैं। किन्तु मन और प्राणकी भाँति, यह जड़ तब भी, आत्म-सर्जनकारी क्रियारत सन्मात्र या ब्रह्म है। यह चित्-पुरुषकी शक्तिका एक रूप है, जो मनके द्वारा प्रदत्त और प्राणके द्वारा संसिद्ध है। वह अपने अन्दर चेतनाको अपने यथार्थ स्वरूपकी भाँति ऐसे धारण किये रहता है कि वह उससे प्रच्छन्न रहती है,—अपने ही आत्म-रूपायणके परिणाममें संवृत और निमग्न, अतः आत्म-विस्मृत। और, जड़ हमें चाहे कितना ही मूढ़ और बोधहीन क्यों न लगे, उसमें जो चेतना छिपी है उसके गुप्त अनुभवके समक्ष वह सत्ताका आनंद ही है जो अपने-आपको इस गुप्त चेतनाके समक्ष संवेदनके विषयके रूपमें उपस्थित करता है और इस भाँति उस छिपे देवको अपनी गुप्ततामेंसे बाहर निकल आनेका प्रलोभन देता है। रूपधातुकी नाईं अभिव्यक्त सत्ता, गुप्त आत्म-चेतनाके एक साकार आत्म-मूर्तीकरणमें ढली हुई सत्ताकी शक्ति, अपनी ही चेतनाके सामने अपने-आपको विषयके रूपमें

अर्पित करता हुआ आनन्द,—यह सच्चिदानन्द नहीं तो और क्या है? जड़तत्त्व सच्चिदानन्द ही है, वह सच्चिदानन्दके अपने मानसिक अनुभव के समक्ष अस्तित्वके विषय-रूपी ज्ञान, कर्म और आनंदके रूप-धारकी नाईं प्रत्युपस्थित होता है।

अध्याय पच्चीस

जड़तत्त्वकी ग्रंथि

> नाहं यातुं सहसा न द्वयेन ऋतं सपाम्यरुषस्य वृष्णः।
> . . . के धासिमग्ने अनृतस्य पान्ति क आसतो वचसः सन्ति गोपाः ॥

मैं ज्योतिर्मय प्रभुके सत्यके समीप न शक्तिके द्वारा जा सकता हूँ, न द्वैतके द्वारा। . . . . वे कौन हैं जो अनृतके आधारकी रक्षा करते हैं? असत् वाणीके संरक्षक कौन हैं?

—ऋग्वेद 5. 12. 2, 4

> नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
> किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥
> न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
> आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥
> तम आसीत्तमसा गूह्ळमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
> तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥
> कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
> सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥
> तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।
> रेतोधा आसन् महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥

तब न सत् था, न असत्, न अंतरिक्ष था, न आकाश, न वह था जो कि इनसे परे है। सबको किसने आवृत कर रखा था? वह कहाँ था? किसकी शरणमें? वह सघन और गभीर समुद्र क्या था? न मृत्यु थी, न अमृतत्व था, न दिवस और रात्रिका ज्ञान था। वह 'एक', श्वासके बिना, स्वधासे जीता था, उससे अन्य और कुछ नहीं था, न उससे परे ही कुछ और था। आरंभमें तम तमके द्वारा आवृत था, यह सब निश्चेतनाका समुद्र था। जब विश्वपुरुष खण्डांशोंसे छिपा हुआ था, तब अपनी ऊर्जाकी महिमासे वह 'एक' उत्पन्न हुआ। उसका प्रथम स्पंद

> अन्दरमें कामना-रूपमें हुआ, कामना ही मनका आरंभिक बीज थी। सत्यद्रष्टाओंने हृदयस्थ इच्छाके द्वारा और मनीषाके द्वारा असत्‌में सत्‌के निर्माणका संधान पाया; उनकी किरण क्षितिजतः विस्तृत हुई; किन्तु वहाँ नीचे क्या था, वहाँ ऊपर क्या था? वहाँ बीजका आधान करनेवाले थे, वहाँ महत्ताएँ थीं; नीचे थी स्वधा, ऊपर इच्छा।
>
> —ऋग्वेद 10. 129. 1-5

अतः हम जिस निष्कर्षपर पहुँचे हैं, यदि वह ठीक है, और जिन तथ्योंको लेकर हम बढ़ रहे हैं उनके आधारपर और कोई निष्कर्ष संभव भी नहीं है, तो व्यावहारिक अनुभवने और मनके लम्बे अभ्यासने आत्मा और जड़के बीच जिस तीक्ष्ण विभाजनकी रचना कर डाली है उसकी कोई आधारभूत वास्तवता नहीं रह जाती। जगत् एक भेदमय एकत्व है, बहुविध एकत्व है। वह चिरंतन विषमताओंके बीच समझौता करनेका कोई सतत प्रयत्न या मेल न खा सकनेवाले विरोधोंके बीच होने-वाला कोई चिर-संघर्ष नहीं है। एक अविच्छेद्य एकत्व, जो अनन्त वैविध्यको उत्पन्न करता है, वही उसका आधार और आरंभ है। प्रतीय-मान विभाजन और संघर्षके पीछे एक सतत संगतिकरण, जो सारे संभव वैषम्योंको विशाल लक्ष्योंके लिए एक ऐसी गुप्त चेतना एवं इच्छामें संबद्ध करे, जो सर्वदा एक है और अपनी सारी जटिल क्रियाकी स्वामिनी है, यह उसका मध्यमें वास्तविक स्वरूप लगता है। अतः हमें यह मानना होगा कि उन्मज्जित होती इच्छा तथा चेतनाकी संपूर्ति और एक विजय-कारी सामंजस्य ही उसकी निष्पत्ति होनी चाहिये। रूपधातु उसीका अपना रूप है, जिसपर उसकी क्रिया होती है, और यदि उस रूपधातुका एक छोर जड़तत्त्व है तो दूसरा छोर आत्मा है। दोनों एक हैं; हमारे बोधके लिए जो 'जड़' है, 'आत्मा' उसका सत्त्व और तत्त्व है; हमारी अनु-भूति के लिए जो 'आत्मा' है, 'जड़' उसका रूप और शरीर है।

अवश्य, ही एक विशाल व्यावहारिक भेद है और उस भेदपर जगत्-सत्ताकी अविभाज्य क्रमपरंपरा और निरंतर ऊपर उठती श्रेणियाँ प्रतिष्ठित हैं। जैसा हम कह चुके हैं, चित्-सत्ता जब इन्द्रियके समक्ष अपने-आपको विषय-रूपमें उपस्थापित करती है, तब वह रूपधातु या द्रव्यका आकार लेती है, ताकि जो कोई इन्द्रिय-संबंध स्थापित हो, उसके

आधारपर जगत्-निर्माण और वैश्व प्रगतिका कार्य अग्रसर हो सके। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि इन्द्रिय और रूपधातुके बीचके संबंधका कोई अपरिवर्तनशील रूपसे सृजित एक ही आधार, एक ही मौलिक तत्त्व हो; इसके विपरीत एक ऊपरकी ओर उठती हुई और प्रगतिशील क्रमपरंपरा होती है। हमें एक अन्य रूपधातुकी संवित् होती है; उसमें विशुद्ध मन अपने स्वाभाविक माध्यमकी तरह क्रिया करता है, और हमारी स्थूल इन्द्रियाँ जिसकी कल्पना जड़-रूपमें कर सकती हैं, वह रूपधातु उससे कहीं अधिक सूक्ष्म, लचीली और नमनीय होती है। हम मनोधातुकी बात कर सकते हैं, क्योंकि हमें एक सूक्ष्मतर माध्यमकी संवित् होती है जिसमें रूप उद्भूत होते हैं और क्रिया घटित होती है; हम विशुद्ध क्रियात्मक प्राण-ऊर्जाकी धातुकी भी बात कर सकते हैं जो जड़-धातुके सूक्ष्मतम रूपों और उसकी स्थूल इन्द्रिय-ग्राह्य शक्ति-तरंगोंसे भिन्न होती है। स्वयं आत्मा भी सत्की शुद्ध धातु है जो अपने-आपको विषय-रूपमें उपस्थित करता है, किन्तु शारीरिक, प्राणिक या मानसिक बोधके समक्ष नहीं, प्रत्युत् एक शुद्ध आध्यात्मिक प्रत्यक्ष-ज्ञानकी ज्योतिके समक्ष, जिसमें विषयी स्वयं अपना विषय बन जाता है, अर्थात् जिसमें वह कालातीत और देशातीत अपने-आपको सर्वसत्ताके आधार और आदि उपादान-रूपमें एक शुद्ध, अध्यात्मतः आत्म-धारणात्मक आत्म-विस्तारके अन्दर देखता है। इस भित्तिसे परे, विषयी और विषयके बीचका समस्त सचेतन विभेद एक पूर्ण तादात्म्यमें विलीन हो जाता है, और तब वहाँ हम धातुकी चर्चा तक नहीं कर सकते।

अतः यह शुद्ध धारणात्मक भेद है, मानसिक रूपसे धारणात्मक नहीं, आध्यात्मिक रूपसे धारणात्मक है; इसका अंत व्यावहारिक विभेदमें होता है, जो आत्मासे चलकर मनसे होती हुई जड़की ओर उतरती क्रमपरंपराकी, और फिर जड़से चलकर मनसे होती हुई आत्माकी ओर चढ़ती क्रमपरंपराकी रचना करता है। किन्तु सच्चा एकत्व कभी विनष्ट नहीं होता और हम जब मौलिक तथा सर्वांगीण दृष्टिपर वापस जाते हैं तो यहाँतक देखते हैं कि वह एकत्व, कभी भी, जड़के स्थूल-से-स्थूल घनत्वोंमें भी, न तो सत्यतः क्षीण ही हुआ है, न दुर्बल। ब्रह्म विश्वका केवल निमित्त कारण, उसको धारण करनेवाली शक्ति और विश्वमें निवास करनेवाला तत्त्व ही नहीं है, वह उसका उपादान भी है, और उसका एकमात्र उपादान है। जड़ भी ब्रह्म है, और वह ब्रह्मसे अन्य या भिन्न और कुछ नहीं है। जड़ यदि आत्मासे वस्तुतः वियुक्त हुआ होता तो ऐसा न होता, किन्तु,

जैसा हम देख चुके हैं, वह दिव्य सत्ताका अंतिम रूप और स्थूल आकार मात्र है, उसके अन्दर और उसके पीछे अखंड ईश्वर विद्यमान है। जैसे यह मूढ़ और तामसिक प्रतीत होनेवाला जड़ सर्वत्र, सर्वदा, प्राणकी गतिशील शक्तिसे अनुप्राणित रहता है, जैसे यह गतिशील किन्तु प्रतीयमानतः निश्चेतन प्राण अपने अन्दर सर्वदा क्रियारत रहनेवाले अदृश्य मनको छिपाये रखता है और वह उस मनके गुप्त व्यवहारोंकी प्रच्छन्न ऊर्जा भी है, जैसे शरीरमें यह अज्ञानी, प्रकाशहीन और अंधकारमें टटोलनेवाला मन अपने निजके यथार्थ आत्मा अतिमानसके द्वारा धारित और मूलतः निर्देशित होता है, और वह अतिमानस उस जड़में भी समान रूपसे विद्यमान होता है जिसने अभी मानसिक अवस्था प्राप्त नहीं की, वैसे ही समस्त मन, प्राण और अतिमानस, और जड़ भी, ब्रह्मकी, शाश्वतकी, आत्माकी, सच्चिदानन्दकी विभूतियाँ मात्र हैं; यह ब्रह्म उनके अन्दर केवल निवास ही नहीं करता, वरन् ये सारी वस्तुएँ भी है, यद्यपि इनमेंसे कोई भी उसकी पूर्ण सत्ता नहीं है।

किन्तु, तब भी, यह धारणात्मक अंतर और व्यावहारिक विभेद रहता ही है, और उसमें जड़ यदि आत्मासे यथार्थतः वियुक्त नहीं रहता तो भी वह ऐसी व्यावहारिक निश्चितताके साथ वियुक्त लगता है, वह अपने धर्ममें इतना भिन्न, इतना विपरीत होता है, जड़ाश्रित भौतिक जीवन समस्त आध्यात्मिक अस्तित्वका इतना अधिक प्रत्याख्यान लगता है कि उसका परित्याग ही इस कठिनाईमेंसे बाहर निकलनेका एकमात्र संक्षिप्त उपाय लग सकता है। निस्संदेह, है भी ऐसा ही; किन्तु कोई भी संक्षिप्त उपाय या खण्ड मार्ग समाधान तो नहीं होता। फिर भी, वहीं, जड़के अन्दर ही समस्याका मूल है; वहींसे बाधा उठती है; क्योंकि, जड़के कारण प्राण स्थूल, सीमित और मृत्यु तथा कष्टसे ग्रस्त रहता है; जड़के कारण ही मन आधेसे अधिक अंधा रहता है, उसके पंख कटे रहते हैं, उसके पैर एक सँकड़े अड्डेसे बँधे रहते हैं, और ऊपरकी जिस बृहत्ता तथा स्वतंत्रताका उसे बोध है उस ओर जानेसे रोक रखा जाता है। अतः, अध्यात्मकी एकांतिक खोज करनेवाला यदि जड़के कीचसे विरक्ति अनुभव करता हुआ, प्राणकी पाशव स्थूलताके प्रति विद्रोह करता हुआ, या मनके स्वनिर्मित कारावासकी संकीर्णता और अधोमुखी दृष्टिके प्रति अधीर होता हुआ, इन सबसे विच्छेद करने और निष्क्रियता तथा निश्चल-नीरवताके द्वारा आत्माकी अचल स्वतंत्रतामें वापस चले जानेका निश्चय कर ले, तो उसके दृष्टिकोणसे यह उचित ही है। किन्तु यह दृष्टिकोण एकमात्र दृष्टिकोण नहीं है, और

न हमारे लिए यह आवश्यक है कि उसे पूर्ण और अंतिम बुद्धिमत्ता इसलिये मान लें कि उसे ऊँचा स्थान देनेवाले या महिमान्वित करनेवाले दीप्तिमान और स्वर्णिम उदाहरण मिलते हैं। बल्कि, समस्त राग और विद्रोहसे मुक्त होकर हमें यह देखना चाहिये कि विश्वकी इस दिव्य व्यवस्थाका अर्थ क्या है, और जहाँतक आत्माका निषेध करनेवाली जड़की इस महा-ग्रंथि और उलझनकी बात है, हमें उसके धागोंको खोजना और पृथक् करना चाहिये ताकि किसी समाधानके द्वारा उसे सुलझा सकें, न कि हिंसासे उसे काट डालें। इस कठिनाईको, इस विरोधको हमें पहले संपूर्णतः, तीक्ष्ण रूपमें, उसे संकुचित करके नहीं, बल्कि आवश्यक हो तो अतिरंजनाके साथ, उपस्थित करना चाहिये, और तदुपरांत उसका समाधान खोजना चाहिये।

तो, आत्माके सम्मुख जिस मूलभूत विरोधको जड़ प्रथमतः उपस्थित करता है वह यह है कि वह *अज्ञानके तत्त्वकी पराकाष्ठा है।* यहाँ चेतना अपने कर्मोंके एक रूपमें खो गयी है, और अपने-आपको भूल गयी है, *जैसे कि चरम तल्लीनताकी अवस्थामें मनुष्य केवल यही नहीं भूल जाय कि वह कौन है, प्रत्युत यह भी कि वह है भी, और उन क्षणोंके लिए वह केवल वह कर्म बन जाय जो किया जा रहा है और वह शक्ति बन जाय जो उसे कर रही है।* स्वयं-प्रकाश आत्मा, वह आत्मा जो शक्तिकी समस्त क्रियाओंके पीछे अपनी विद्यमानताके प्रति अनन्ततः संविद् है और उनका स्वामी है, यहाँ विलुप्त लगता है; ऐसा लगता है कि वह है ही नहीं, या "वह" कहीं शायद है तो सही, परन्तु यहाँ तो ऐसा लगता है कि उसने मात्र एक मूढ़ तथा निश्चेतन जड़-शक्ति रख छोड़ी है जो, यह जाने विना कि वह स्वयं क्या है, वह क्या रचना कर रही है, या वह रचना करती ही क्यों है, या एक बार उसने रचना कर दी तो फिर उसे नष्ट ही क्यों करती है, शाश्वत रूपसे रचना और विनाश करती जाती है; वह जानती नहीं, क्योंकि उसके मन नहीं है; वह परवाह नहीं करती, क्योंकि उसके हृदय नहीं है। और, यदि यह यथार्थ सत्य नहीं है, जड़-विश्वका भी यथार्थ सत्य नहीं है, यदि इस सारे मिथ्या दृश्यके पीछे एक मन है, एक इच्छा है और मन या मनकी इच्छासे श्रेष्ठतर कोई वस्तु है, तो भी स्वयं यह जड़-विश्व तो इस तमोमय आकृतिको ही अपनी रात्रिमेंसे अपने अन्दर उन्मज्जित होती चेतनाके सम्मुख उपस्थित करता है; और यदि यह कोई सत्य न हो, केवल एक झूठ हो, तो भी यह अति प्रभावकारी झूठ है, क्योंकि वह हमारे जागतिक जीवनकी अवस्थाओंको निर्धारित

करता और हमारी समस्त अभीप्सा तथा हमारे समस्त प्रयत्नपर घेरा डाले रहता है।

कारण, जड़-विश्वका यही करालत्व है, भीषण और निर्दय चमत्कार है कि "निर्मन"मेंसे एक मन, या अंततः, बहुतसे मन उन्मज्जित होते हैं, वे प्रकाशके लिए निर्बलतासे उद्यम करते होते हैं, वे व्यष्टि-रूपसे असहाय होते हैं और जब विश्वके नियम-रूप महाअज्ञानके बीच आत्मरक्षाके लिए वे अपनी वैयक्तिक दुर्बलताओंको समवेत करते हैं तो उनकी निःसहायता बस कम ही होती है। इस हृदयहीन निश्चेतनामेंसे और उसके कठोर अधिकार-क्षेत्रके अन्दर ऐसे हृदय उत्पन्न होते रहते हैं जिनमें आस्पृहा रहती है और जो इस लौह सत्ताकी अंधी और संवेदन-हीन क्रूरताके बोझके नीचे यंत्रणा भोगते और अपना रक्त बहाते हैं; यह क्रूरता उनपर अपने नियमको लादती है और उनकी संवेदनशीलताको नृशंस, भीषण, भयंकर अनुभव होती है। किन्तु, आखिरकार, बाह्य रूपोंके पीछे यह रहस्य-जैसा क्या है? हम देख सकते हैं कि जो चेतना अपने-आपको खो चुकी थी वही अपनी ओर फिर वापस आ रही है, अपनी विपुल आत्म-विस्मृतिमेंसे, धीमे-धीमे, कष्टके साथ, ऐसे भावी सचेतन प्राणकी भाँति उन्मज्जित हो रही है जो अर्ध-चेतन होता है, अस्पष्ट रूपसे चेतन होता है, संपूर्णतः चेतन होता है और अंतमें चेतनसे अधिक और कुछ होनेके लिए, फिरसे दिव्यतः आत्म-चेतन, मुक्त, अनन्त, अमर होनेके लिए प्रयास करता है। किन्तु इस दिशामें वह ऐसे नियमके अधीन रहकर क्रिया करता है जो इन सारी वस्तुओंके विपरीत है; वह जड़की अवस्थाओंमें रहता हुआ, अर्थात्, अज्ञानकी पकड़के विरोधमें क्रिया करता है। उसे जिन गति-विधियोंका अनुसरण करना है, उसे जिन उपकरणोंका उपयोग करना है, वे इस मूढ़ तथा विभाजित जड़के द्वारा ही उसके लिए निर्मित और निर्धारित किये गये हैं, और वे हर डगपर उसपर अज्ञान और सीमाएँ लादते हैं।

कारण, दूसरा मूलगत विरोध, जिसे जड़तत्त्व आत्माके सन्मुख उपस्थित करता है, वह यह है कि वह यांत्रिक विधानकी दासताकी पराकाष्ठा है, और जो कुछ मुक्त होना चाहता है उसके सामने एक भीमकाय 'तामसिकता'का विरोध खड़ा कर देता है। यह नहीं कि स्वयं जड़ ही तामसिक या निस्पंद-निश्चेष्ट है; वह बल्कि एक अनंत स्पंद है, एक धारणातीत शक्ति है, एक सीमाहीन क्रिया है, जिसकी विपुल गतिधाराएं हमारी सतत प्रशंसाका विषय रहती हैं। किन्तु जब कि आत्मा मुक्त

है, अपने-आपका और अपने कर्मोंका स्वामी है, उनसे आवद्ध नहीं है, नियमका रचयिता है, उसके अधीन नहीं, यह भीमकाय जड़तत्त्व एक निर्धारित और यंत्रवत् नियमसे कठोरतासे आवद्ध रहता है, वह नियम उसपर लादा हुआ होता है, वह उसे न तो समझता है, न उसने उसकी कभी कल्पना ही की होती है, किन्तु वह उसे एक यंत्रकी भाँति, निश्चेतन भावसे चरितार्थ करता जाता है, वह नहीं जानता कि उसकी रचना किसने, किस प्रक्रियासे या किस उद्देश्यसे की है। और, जब प्राण जग जाता है और स्थूल देहपर और जड़ शक्तिपर लद जाना चाहता है और सारी वस्तुओंको स्वेच्छानुसार और अपनी निजकी आवश्यकताके लिये व्यवहारमें लाना चाहता है; जब मन जग जाता है और अपने तथा सबके बारेमें यह जानना चाहता है कि वह कौन है, क्यों है और कैसे है, और सबसे बढ़कर, जब वह अपने ज्ञानको सबपर अपने अधिक स्वतंत्र नियम और स्वयं-निर्देशक क्रियाको आरोपित करनेके लिये प्रयुक्त करता है, तो जड़-प्रकृति, यद्यपि कुछ संघर्षके बाद, अनिच्छासे और एक हदतक ही, उसके सामने सर झुकाती, यहाँतक कि उसका अनुमोदन करती और सहायता देती प्रतीत होती है। किन्तु, उस हदसे आगे वह जड़-प्रकृति एक हठी तामसिकता, बाधा और निषेध उपस्थित करती है, यहाँतक कि प्राण और मनको भी वह मना लेती है कि वे और आगे नहीं बढ़ सकते, वे अपनी आंशिक विजयको अंततक नहीं ले जा सकते। प्राण वर्द्धित और दीर्घजीवी होनेका प्रयत्न करता और सफल होता है, किन्तु जब वह पूर्ण वृहत्ता तथा अमरत्वकी खोज करता है तो उसे जड़की लौह बाधाके सामने आना पड़ता है और वह अपने-आपको संकीर्णता तथा मृत्युसे जकड़ा हुआ पाता है। मन प्राणकी सहायता करना चाहता है और वह, सर्व-ज्ञानका आलिंगन करनेके लिये, सर्व-प्रकाश बन जानेके लिये, सत्यको उपलब्ध करने और सत्य हो जानेके लिये, प्रेम तथा आनन्दको प्रतिष्ठित करने और प्रेम तथा आनन्द हो जानेके लिये, अपने अंतर्वेगकी पूर्ति करना चाहता है; किन्तु, सदा ही, भौतिक प्राणकी सहज-प्रवृत्तियोंकी विच्युति, भ्रान्ति और स्थूलता और स्थूल इन्द्रियबोध तथा स्थूल उपकरणोंका इंकार और विघ्न उपस्थित होते हैं। उसके ज्ञानके पीछे सदा भूल लगी रहती है, उसके प्रकाशके संगी और पृष्ठभूमि-रूपमें अंधकार सदा ही लगा रहता है; सत्यकी चाह सफल होती है, पर जब वह पकड़में आ जाता है तो वह सत्य नहीं रह जाता और खोज जारी रखनी पड़ती है; प्रेम विद्यमान रहता है, किन्तु वह अपने-आपको संतुष्ट नहीं कर पाता, हर्ष विद्यमान

रहता है, किन्तु वह अपने-आपको न्याय्य प्रमाणित नहीं कर सकता, और उनमेंसे प्रत्येक अपने विरोधी तत्त्वको, क्रोध, घृणा और उदासीनताको, वितृष्णा, दुःख और कष्टको अपने साथ इस प्रकार घसीटता चलता है मानो वे उसके साथ बँधी जंजीर हों, या, उन्हें इस भाँति प्रक्षिप्त करता है मानो वे उसकी छाया हों। मन और प्राणकी माँगोंका उत्तर जड़ जिस तामसिकतासे देता है, वह तामसिकता अज्ञानपर, और जो मूढ़ शक्ति अज्ञानका वल है, उसपर विजय-प्राप्तिका होना रोकती है।

और, जब हम यह जानना चाहते हैं कि ऐसा क्यों है, तो देखते हैं कि इस तामसिकता और विघ्नकी सफलता जड़के एक तृतीय बलके कारण होती है; क्योंकि जड़तत्त्व आत्माके सामने जो तीसरा मूलगत विरोध उपस्थित करता है वह यह है कि वह विभाजन और संघर्षके तत्त्वकी पराकाष्ठा है। वास्तवमें अविभाज्य रहनेपर भी उसकी क्रियाका सारा आधार ही विभाजनशीलता है और ऐसा लगता है मानो उसे उस आधारसे हटनेकी मनाही सदाके लिये है, क्योंकि उसकी ऐक्यकी दो ही विधियाँ हैं, या तो इकाइयोंकी संहति या इस प्रकार आत्मसात्करण कि एक इकाईका दूसरीके द्वारा विनष्ट होना आवश्यक है; और, ऐक्यकी ये दोनों विधियाँ शाश्वत विभाजनको स्वीकार कर लेती हैं; कारण, पहली विधि भी एकीकरण न करके संयोजन करती है और उसका स्वरूप ही वियोजनकी, विलयनकी सतत संभावनाको और परिणामस्वरूप अंतिम आवश्यकताको स्वीकार करता है। दोनों विधियाँ मृत्युका आश्रय लेती हैं, एक तो जीवनके साधन-रूपमें, और दूसरी उसकी आवश्यकीय अवस्था-रूपमें। और दोनों यह सूचित करती हैं कि यह तो जागतिक अस्तित्वकी परिस्थिति ही है कि विभक्त इकाइयोंमें सतत संघर्ष रहता है, प्रत्येक इकाई अपने संरक्षणके लिये, अपने संयोजनोंको बनाये रखनेके लिये, जो उसका प्रतिरोध करे उसको बाध्य और नष्ट करनेके लिये, अन्योंको भोजन-रूपमें अन्दर लेने और निगल जानेके लिये प्रयत्न करती है, किन्तु यदि और किसीके द्वारा उसे बाध्य, विनष्ट या भक्षण द्वारा आत्मसात् करनेकी क्रिया हो, तो वह उसके प्रति विद्रोह करने और उससे भाग जानेको प्रवृत्त रहती है। जब प्राणिक तत्त्व अपनी क्रियाशीलताओंको जड़में अभिव्यक्त करता है तो उसे अपनी सारी क्रियाशीलताओंके लिये यही आधार मिलता है और वह जुएके नीचे सिर देनेको विवश होता है; उसे मृत्यु, कामना और परिसीमनके नियमको और भक्षण, स्वायत्त और शासित करनेके उस सतत संघर्षको स्वीकार करना पड़ता है जिसे हम प्राणके प्रथम रूपकी नाईं

देख चुके हैं। और, जब मानसिक तत्त्व जड़में अभिव्यक्त होता है, तब उसे, वह जिस ढाँचे और सामग्रीमें क्रिया करता है, उससे परिसीमन-का और सुनिश्चित प्राप्तिसे रहित खोजका वही नियम स्वीकार करना पड़ता है, अपने लाभोंका और कार्योंके उपादानोंका वही सतत संयोजन तथा वियोजन स्वीकार करना होता है, जिससे यह होता है कि मनोमय प्राणी मनुष्य जो ज्ञान प्राप्त करता है, वह कभी अंतिम या निर्णायक नहीं मालूम होता, संशय या अस्वीकृतिसे मुक्त नहीं मालूम होता, ऐसा लगता है कि उसका सारा श्रम क्रिया और प्रतिक्रियाके, बनाने और तोड़नेके छंदमें चलते रहनेके लिये, रचना और अल्पकालीन संरक्षण और लम्बे विनाशके चक्रोंमें घूमनेके लिये अभिशप्त है, उसकी कोई निश्चित और आश्वासित प्रगति नहीं है।

विशेष रूपसे और सबसे अधिक घातक यह बात है कि जड़तत्त्वके अज्ञान, तामसिकता और विभाजन उसमें उन्मज्जित होती प्राणिक और मानसिक सत्तापर दुःख और कष्टका नियम, और विभाजन, तामसिकता और अज्ञानकी अवस्थाके प्रति असंतोषकी बेचैनी लादते हैं। यदि मनश्चेतना पूरी तरह ज्ञान-शून्य होती, यदि उसे अपने अज्ञानका बोध न रहता, या वह चेतना एवं ज्ञानके जिस सागरसे घिरी है उसके प्रति अज्ञ रहती हुई, किसी रीति-परंपराके घोंघेमें बन्द रहनेमें ही सन्तुष्ट रहती, तो अवश्य ही अज्ञान अपने साथ असंतोष या कष्ट नहीं लाता;—किन्तु जड़में उन्मज्जित होती चेतना ठीक इसी चीजके प्रति जाग्रत् होती है; पहले तो, जिस जगत्में उसका निवास है और जिसको जानना और जिसकी स्वामिनी होना उसके सुखी होनेके लिये आवश्यक है उसके संबंधमें अपने अज्ञानके प्रति, तब, इस ज्ञानकी अंतिम निष्फलता और सीमितताके प्रति, वह ज्ञान जो बल और सुख लाता है उसकी अल्पता और अस्थिरताके प्रति, और एक अनन्त चेतना, ज्ञान तथा सच्ची सत्ताकी संवित्के प्रति, एकमात्र जिसमें ही विजयी और अनन्त सुख मिल सकता है। न तामसिकताकी बाधा ही अपने साथ अशांति और असंतोष लाती, यदि जड़में उन्मज्जित होती प्राणिक सचेतनता संपूर्णतः निश्चेष्ट होती, यदि वह अपने निजके अर्ध-चेतन सीमित जीवनसे संतुष्ट रहती, यदि, वह जिस अनन्त शक्ति और अमर जीवनके अंग-रूपमें और फिर भी उससे पृथक् रहती है, उससे वह अज्ञ रहती, या यदि उसके अन्दर ऐसा कुछ भी न होता जो उसे अनन्तता और अमरतामें यथार्थतः भाग लेनेके लिये प्रयास करनेकी ओर प्रेरित करता। किन्तु ठीक इसी चीजका अनुभव करने और उसे खोजनेके

लिये समस्त प्राणको आरंभसे प्रेरित किया जाता है : उसे अपनी असुरक्षितताका बोध होता है, टिके रहनेकी, आत्म-संरक्षणकी आवश्यकताका और उसके लिये संघर्षका बोध होता है; अंतमें वह अपने जीवनकी सीमाओंके प्रति जगता है और बृहत्ता तथा स्थायित्वकी ओर, अनन्त एवं शाश्वतकी ओर प्रेरण अनुभव करना आरंभ करता है।

और, जब मनुष्यमें प्राण संपूर्णतः आत्म-चेतन हो जाता है तब यह अपरिहार्य संघर्ष, प्रयास और अभीप्सा अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाते हैं और अन्तमें जागतिक कष्ट तथा विसंगति इतनी अधिक उग्रतासे अनुभव होने लगते हैं कि उन्हें संतोषके साथ सहन नहीं किया जा सकता। अपने सीमा-संकोचोंसे सन्तुष्ट रहनेकी कोशिश करता हुआ, अथवा वह जिस भौतिक जगत्‌में निवास करता है उसपर जितनी प्रभुता प्राप्त की जा सके उतनी प्राप्त करनेके लिए, उसकी निश्चेतन नियम-निष्ठापर अपने प्रगतिशील ज्ञानकी कुछ मानसिक और स्थूल विजयके लिए, उसकी तामसिकतासे परिचालित प्रचंड शक्तियोंपर अपनी स्वल्प, एकाग्र सचेतन इच्छा और शक्तिकी विजयके लिए अपने संघर्षको सीमित करता हुआ, मनुष्य लम्बे समयतक अपने-आपको शान्त रख सकता है। किन्तु, यहाँ भी, वह जिन श्रेष्ठतम फलोंकी प्राप्ति कर सकता है उनकी सीमा, उनकी दरिद्र निर्णयहीनता उसके सामने आती है और वह आगे देखनेको वाध्य होता है। जवतक ससीमको यह चेतनता रहती है कि उससे महत्तर और कोई ससीम है या उसके परे कोई असीम है जिसके लिये वह अब भी अभीप्सा कर सकता है, तब तक ससीमको स्थायी संतोष प्राप्त नहीं हो सकता। और यदि ससीमको इस प्रकार संतुष्ट किया जा सके, तो भी जो प्रतीयमान ससीम जीव अपने-आपको यथार्थतः असीम अनुभव करता है अथवा अन्दर एक असीमकी मात्र विद्यमानताको या उसके अंतर्वेग और स्पन्दनका अनुभव करता है, वह तवतक कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकता जवतक कि इन दोनोंमें सामंजस्य न बैठ जाय, जवतक कि वह ससीम उस असीमको और असीम ससीमको अधिकृत न कर ले, फिर चाहे यह किसी भी परिमाणमें या किसी भी विधिसे क्यों न हो। मनुष्य ऐसा ही सांत प्रतीत होनेवाला आनंत्य है और वह 'अनंत'की खोज आरम्भ किये विना नहीं रह सकता। मनुष्य पृथ्वीका प्रथम पुत्र होता है जिसे अपने अन्दरके ईश्वरका, अपनी अमरताका अथवा उसकी आवश्यकताका अस्पष्ट भान होता है। और, जवतक वह ज्ञानको अनन्त ज्योति और हर्ष और शक्तिका स्रोत नहीं वना लेता तवतक वह उसे हाँकनेवाला चावुक या उसकी वलिका क्रूस वना रहता है।

यदि जड़का प्रारंभ कठोर विभाजनशीलतासे न हुआ होता तो जड़के अज्ञान और तमस्‌में आत्महारा दिव्य चेतना तथा शक्ति, ज्ञान तथा इच्छाका यह उत्तरोत्तर विकास, उसकी यह बढ़ती हुई अभिव्यक्ति हर्षसे महत्तर हर्षकी ओर और अन्तमें अनन्त आनन्दकी ओर अग्रसर होनेवाला प्रस्फुटन हो सकता था। व्यक्तिका पृथक् और परिसीमित मन, प्राण तथा शरीरकी अपनी ही व्यक्तिगत चेतनामें बन्द रहना उस चीजको रोकता है जो अन्यथा हमारे विकासका प्राकृत धर्म होती। वह शरीरमें आकर्षण और विकर्षण, रक्षा और आक्रमण, विसंगति और पीड़ाका धर्म ले आता है। क्योंकि, प्रत्येक शरीर एक सीमित चेतन-शक्ति होनेके कारण अपने-आपको अन्य ऐसी सीमित चेतन-शक्तिके या विश्वव्यापी शक्तियोंके आक्रमण, आघात, सबल संपर्कके प्रति खुला अनुभव करता है, और जहाँ वह यह अनुभव करता है कि उसपर कोई शक्ति टूट पड़ी है अथवा वह संपर्क करनेवाली और ग्रहण करनेवाली चेतनामें सामंजस्य बैठानेमें अक्षम रहता है, वहीं वह अशांति और पीड़ा अनुभव करता है, आकृष्ट या विकृष्ट होता है, उसे अपनी रक्षा करनी होती है या आक्रमण करना होता है; जिसे वह सहन करनेको अनिच्छुक या असमर्थ होता है उसीको भोगनेके लिये वह निरंतर विवश किया जाता है। विभाजनका धर्म भावुक मन और इंद्रिय-मानसमें वे ही प्रतिक्रियाएँ ऊँचे मूल्योंमें लाता है, वहाँ इनका रूप हर्ष और शोक, प्रेम और घृणा, दमन और अवसादका होता है, ये सब कामनाकी अभिधाओंमें ढाली जाती हैं, और कामनाके द्वारा प्रयास और अतिप्रयास बन जाती है, फिर, अतिप्रयाससे शक्तिके अतिरेक और उसकी न्यूनतामें, असामर्थ्यमें, प्राप्ति और निराशाके, उपलब्धि और जुगुप्साके सतत आलोड़नमें संघर्ष, कष्ट और व्याकुलतामें रूपित होती हैं। मनको कुल मिलाकर देखें तो उसमें इस दिव्य नियमके होनेके बदले कि संकीर्णतर सत्य महत्तर सत्यके अन्दर प्रवाहित हो, न्यूनतर प्रकाश अधिक विस्तृत प्रकाशमें चला जाय, निम्नतर इच्छा उच्चतर रूपांतरकारी इच्छाको समर्पित हो जाय, तुच्छतर तृप्ति अधिक उदात्त और अधिक संपूर्ण तृप्तिकी ओर प्रगति करे, वह अपने साथ वैसे ही द्वन्द्व ले आता है जिनमें सत्यके साथ भ्रान्ति, प्रकाशके साथ अंधकार, बलके साथ असामर्थ्य, खोज और प्राप्तिके सुखके साथ प्राप्तके प्रति विकर्षण तथा अतृप्तिका दुःख लगा रहता है; प्राण और शरीरके संतापके साथ-साथ मन अपना संताप भी ढोता है और उसे हमारी प्राकृत सत्ताकी त्रिविध त्रुटि और अपर्याप्तताकी संवित् होती है। इन सबका अर्थ होता है आनन्दका निराकरण, सच्चिदानन्दके त्रित्वका

निराकरण, और यदि यह निराकरण अलंघ्य हो तो जीवनकी व्यर्थता; क्योंकि, सत्ता जव चेतना और शक्तिमें प्रक्षिप्त होती है तो उसे उस गतिकी चाह अवश्य ही स्वयं गतिके लिये नहीं, वरन् लीलासे प्राप्त होनेवाली तृप्तिके लिये होनी चाहिये, और यदि लीलामें यथार्थ तृप्ति न मिल सके तो स्पष्टतः उसे अंतमें स्वयं-मूर्त आत्माका एक व्यर्थ प्रयास, उसकी एक भारी भूल, उसका एक उन्माद मानकर छोड़ देना होगा।

जगत्-संवंघी निराशावादी मतका सारा आधार यही है,—वह परवर्ती लोकों और अवस्थाओंके संबंघमें आशावादी हो सकता है, किन्तु पार्थिव जीवनके संवंघमें और भौतिक विश्वके साथ व्यवहार करनेवाले मनोमय प्राणीकी नियतिके संवंघमें निराशावादी रहता है। कारण, वह इस वातकी पुष्टि करता है कि चूँकि भौतिक जीवनका स्वभाव ही विभाजन है और शरीरधारी मनका वीज ही आत्म-परिसीमन, अज्ञान और अहं है, इसलिये पृथ्वीपर आत्माकी तृप्तिकी खोज अथवा जगत्-लीलाके लिये किसी निष्पत्ति और दिव्य अभिप्राय और उत्कर्पकी खोज व्यर्थ और भ्रान्ति है। तव जगत्में नहीं, वरन् आत्माके स्वर्गमें ही, आत्माकी प्रापंचिक क्रियाओंमें नहीं, वरन् आत्माकी सच्ची प्रशांतिमें ही हम जीवन और चेतनाको दिव्य आत्मानन्दसे पुनः संयुक्त कर सकते हैं। अपने-आपको ससीममें पानेके प्रयासको एक भूल और गलत डग मानकर उसका परित्याग करके ही असीम अपने-आपको पुनः प्राप्त कर सकता है। न जड़-विश्वमें मनश्चेतनाका उन्मज्जन ही दिव्य पूर्तिकी कोई आशा अपने साथ ला सकता है, क्योंकि विभाजन-तत्त्व जड़का नहीं, मनका धर्म है; जड़ तो मनका एक भ्रममात्र है, जिसमें मन अपना ही विभाजन और अज्ञानका शासन ले आता है। अतः मन इस भ्रमके अन्दर केवल अपने-आपको ही पा सकता है, वह स्वरचित विभाजित जीवनकी त्रयीके वीच ही यात्रा कर सकता है; यहाँ वह आत्माका एकत्व या आध्यात्मिक जीवनका सत्य नहीं प्राप्त कर सकता।

अव, यह सच है कि जड़में विभाजन-तत्त्व जड़-अस्तित्वके अन्दर उतर पड़े विभाजित मनकी ही रचना हो सकता है; क्योंकि, उस जड़-अस्तित्वकी आत्म-सत्ता नहीं होती, वह कोई मौलिक व्यापार नहीं होता, प्रत्युत एक सर्व-विभाजक मनकी धारणाओंको क्रियान्वित करनेवाली सर्व-विभाजक प्राण-शक्तिके द्वारा रचित एक रूप होता है। सत्ताको जड़तत्त्वके अज्ञान, तमस् और विभाजनके इन रूपोंमें कार्यान्वित करनेवाला विभाजक मन अपने-आपको अपने ही वनाये कारागारमें खो देता और वन्दी हो जाता

है, अपनी ही गढ़ी बेड़ियोंमें जकड़ जाता है। और यदि यह सच हो कि विभाजक मन ही सृष्टिका प्रथम तत्त्व है, तो वही सृष्टिमें संभव हो सकनेवाली अंतिम प्राप्ति भी होगा, और प्राण तथा जड़के साथ विफल संघर्ष करनेवाला, उनके द्वारा पराभूत होनेके लिए ही उनको पराभूत करनेवाला, एक निष्फल वृत्तको शाश्वत रूपसे दुहरानेवाला मनोमय पुरुष ही वैश्व जीवनका अंतिम और उच्चतम पद होगा। किन्तु, इसके विपरीत, यदि बात ऐसी हो कि अमर और असीम आत्मा ही जड़-वस्तुकी घनी पोशाकमें छिप गया है और वहाँ अतिमानसके परम सृजनकारी बलके द्वारा क्रिया कर रहा है, उसने मनके विभाजनोंको और निम्नतम या जड़-तत्वके शासनको 'बहु'में 'एक'के किसी विशेष क्रमविकासकी लीलाकी आरंभिक अवस्थाओंके रूपमें अनुमति दे दी है, तो ऐसा कोई परिणाम नहीं आता। अन्य शब्दोंमें, विश्वके रूपोंमें जो छिपा हुआ है वह यदि मात्र मनोमय पुरुष नहीं है, वरन् अनन्त सत्, ज्ञान, इच्छा है जिसका उन्मज्जन जड़मेंसे पहले प्राण-रूपमें, फिर मन-रूपमें होता है, और बाकी जो कुछ है वह तब भी अप्रकट रहता है, तो प्रतीयमान निश्चेतनमेंसे चेतनाके उन्मज्जनका एक अन्य और संपूर्णतर समापन होगा; तब एक ऐसे अति-मानसिक आध्यात्मिक पुरुषका प्राकट्य असंभव नहीं रह जाता जो अपने मन, प्राण और शरीरकी क्रियाओंपर विभाजक मनके धर्मकी अपेक्षा एक उच्चतर धर्म आरोपित करेगा। इसके विपरीत, यह विश्व-सत्ताके स्वरूपकी स्वाभाविक और अपरिहार्य निष्पत्ति है।

हम देख चुके हैं कि ऐसा अतिमानसिक पुरुष मनको उसके विभक्त अस्तित्वकी ग्रंथिसे मुक्त कर देगा और मनके व्यष्टि-रूपको सर्वालिंगनकारी अतिमानसकी एक उपयोगी गौण क्रियामात्रके रूपमें व्यवहृत करेगा; और वह प्राणको भी उसके विभक्त अस्तित्वकी ग्रंथिसे मुक्त करेगा और प्राणके व्यष्टि-रूपको अद्वय चित्-शक्तिकी एक उपयोगी गौण क्रियामात्रके रूपमें व्यवहृत करेगा, इस भांति प्राणकी सत्ता और आनन्द एक वैविध्यमय एकत्वके अन्दर सम्पन्न किये जायंगे। क्या इसका कोई कारण है कि वह शारीरिक अस्तित्वको भी मृत्यु, विभाजन और पारस्परिक भक्षणके वर्तमान नियमसे मुक्त न करे और शरीरके व्यष्टि-रूपको सांतमें अनन्तके आनन्दके लिये व्यवहार्य बना उस एक दिव्य चिन्मय सत्की एक उपयोगी गौण भूमिका-रूपमें व्यवहृत न करे? अथवा, यह आत्मा रूपके अन्दर प्रभुता-संपन्नतासे निवास करता हुआ स्वतंत्र क्यों न रहे, जड़की पोशाकको परिवर्तित करता हुआ भी सचेतनतः अमर क्यों न रहे, एकत्व, प्रेम एवं सौन्दर्यके विधानके

अधीन हुए जगत्‌में आत्मानन्दको क्यों न प्राप्त करे? और, यदि मनुष्य पार्थिव लोकका वह निवासी है जिसके द्वारा मानसका अतिमानसमें रूपान्तर अंततः साधित हो सकता है, तो क्या यह संभव नहीं कि दिव्य मन और दिव्य प्राणकी भाँति वह एक दिव्य शरीर भी विकसित कर सके? अथवा, यदि ये शब्द मानवीय शक्यता-संबंधी हमारी सीमित धारणाको अति विस्मयकारी लगें, तो यूँ कहें, क्या मनुष्य अपनी सच्ची सत्ताका और उसके प्रकाश और आनन्द और बलका विकास करता हुआ, मन, प्राण तथा शरीरके ऐसे दिव्य उपयोगकी अवस्थामें नहीं पहुँच सकता जिससे कि आत्माका रूपमें अवतरण मानवतः और साथ ही साथ दिव्यतः न्याय्य सिद्ध हो?

उस चरम पार्थिव संभावनाके मार्गमें एकमात्र बाधा तब हो सकती है यदि जड़तत्त्व और उसके नियमोंके संबंधमें हमारी जो वर्तमान दृष्टि है वह इन्द्रिय और रूपधातुके बीच, ज्ञाता-रूप भगवान् और ज्ञेय-रूप भगवान्‌के बीच एकमात्र संभव संबंध हो, अथवा, यदि अन्य संबंध संभव भी हों, तो भी, यहाँ तो वे किसी भी भाँति संभव न हों, प्रत्युत उन्हें सत्ताके किसी उच्चतर लोकमें खोजना हो। वैसी दशामें, जैसा कि धर्म कहते हैं, हमें अपनी समग्र दिव्य संपूर्तिकी खोज यहाँसे परे स्वर्गोमें ही करनी होगी, और धर्मोका जो दूसरा प्रतिपादन है कि पृथ्वीपर ईश्वरका राज्य हो या पूर्णताका राज्य हो, उसे भ्रम कहकर ही अलग हटा देना होगा। यहाँ, पृथ्वीपर, हम एक आंतरिक तैयारी या विजयका ही अनुसरण और उसकी प्राप्ति कर सकते हैं, और अन्तरमें मन, प्राण तथा अंतरात्माको मुक्त करनेके बाद हमें अविजित और अविजेय जड़तत्त्वसे विमुख होकर, अनुन्नत और अदम्य पृथ्वीसे विमुख होकर, अपनी दिव्य वस्तुको कहीं अन्यत्र पाना होगा। तथापि इसका कोई कारण नहीं कि हम इस प्रति-बंधकारी परिणामको स्वीकार करें। यह सुनिश्चित है कि स्वयं जड़तत्त्वकी भी अन्य स्थितियाँ हैं; यह असंदिग्ध है कि रूपधातुकी दिव्य श्रेणियोंकी एक ऊर्ध्वग परंपरा है; यह संभव है कि अन्नमय सत्ता अपने धर्मकी अपेक्षा उच्चतर धर्मको स्वीकार करती हुई अपने-आपको रूपान्तरित करे और वह उच्चतर धर्म, फिर भी, उसीका हो, क्योंकि वह उसके गहन अंतरमें सर्वदा अंतर्निहित और शक्यता-रूपमें रहता है।

अध्याय छब्बीस

रूपधातुका उत्क्रमण

स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।....अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः।
तेनैष पूर्णः।...अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः।....अन्योऽन्तर
आत्मा विज्ञानमयः।.....अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः।

एक आत्मा है जो अन्नरसमय है—एक अन्य आंतर आत्मा है, प्राणमय, जो कि उसे पूर्ण करता है—एक अन्य आंतर आत्मा है, मनोमय—एक अन्य आंतर आत्मा है, विज्ञानमय (सत्य-ज्ञानमय)—एक अन्य आंतर आत्मा है, आनन्दमय।

—तैत्तिरीयोपनिषद् 2. 1-5

ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे।
यत् सानोः सानुमारुहद् भूर्यस्पष्ट कर्त्वम्।
तदिन्द्रो अर्थं चेतति ....॥

वे इन्द्रपर सीढ़ीके समान चढ़े। चोटीपर चोटी पार करते जानेवालेको यह स्पष्ट होता जाता है कि कितना अधिक करना शेष है। इन्द्र यह चेतना लाता है कि वह "तत्" लक्ष्य है।

—ऋग्वेद 1. 10. 1, 2

चमूषच्छ्येनः शकुनो विभृत्वा गोविन्दुर्द्रप्स आयुधानि बिभ्रत्।
अपामूर्मिं सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति॥
मर्यो न शुभ्रस्तन्वं मृजानोऽत्यो न सृत्वा सनये धनानाम्।
वृषेव यूथा परि कोशमर्षन् कनिक्रदच्चम्वोरा विवेश॥

श्येनके समान, शकुनके समान वह पात्रपर अवस्थित होता और उसे ऊपर उठाता है, अपनी गति-धारामें वह किरण-राजिका संधान प्राप्त करता है, कारण, वह अपने शस्त्र धारण किये चलता है; वह अप (जल)की समुद्र-उर्मिसे संसक्त होता है;

महेश-रूप में वह चतुर्थ धामकी घोषणा करता है। मर्त्य प्राणी अपने शरीरको जैसे शुद्ध करता है, युद्ध-अश्व जैसे धनकी विजयके लिये छलांग भरता जाता है, उसी प्रकार वह आवाहन करता हुआ इन समस्त कोषोंमें वरसता आता है और इन पात्रोंमें प्रवेश करता है।

—ऋग्वेद 9. 96. 19,20

यदि हम इसपर विचार करें कि हमारे लिये जड़के जड़त्वको सबसे अधिक सूचित करनेवाला तत्त्व क्या है तो हमें ये पहलू दिखायी देंगे,—उसकी घनता, स्पृश्यता, बढ़ती हुई प्रतिरोध-शक्ति, इन्द्रिय-स्पर्शके प्रति दृढ़ अनुक्रिया। रूपधातु हमारे सामने जितना अधिक ठोस प्रतिरोध उपस्थित करती है और उस प्रतिरोधके कारण इन्द्रियगम्य रूपका एक स्थायित्व खड़ा करती है जिसपर हमारी चेतना टिक सकती है, उसी अनुपातमें वह हमें अधिक सत्यतः जड़ और वास्तव प्रतीत होती है। वह जितनी अधिक सूक्ष्म होती है, उसका प्रतिरोध जितना कम घन होता है और उसकी इन्द्रिग्राह्यता जितनी कम स्थायी होती है, वह उतनी ही कम जड़ या भौतिक प्रतीत होती है। जड़के प्रति हमारी सामान्य चेतनाका यह भाव उस मूलगत उद्देश्यका प्रतीक है जिसके लिये जड़की सृष्टि की गयी है। रूपधातु भौतिक अवस्थामें इसलिये चली जाती है ताकि, जिस चेतनाको उससे व्यवहार करना है, उसके सम्मुख वह स्थायी, दृढ़-ग्राह्य मूर्त रूपोंको उपस्थित कर सके जिनपर मन टिक सके और अपनी क्रियाओंको आश्रित कर सके और जिन्हें व्यवहृत करनेमें प्राणको, वह जिस रूपपर क्रिया करता है, उसके स्थायित्वकी अंततः एक सापेक्षिक निश्चितताका भाव रह सके। सुतरां, क्योंकि पृथ्वी द्रव्यकी अधिक ठोस अवस्थाओंका प्रकार है अतः प्राचीन वैदिक सूत्रोंमें पृथ्वीको जड़के प्रतीकात्मक नामकी भाँति स्वीकार किया गया था। इसीलिये, स्पर्श या सम्पर्क हमारे लिये इन्द्रिय-बोधका भी मूलभूत आधार है; अन्य जितने इन्द्रिय-बोध हैं, रस, घ्राण, श्रवण, दर्शन, ये सब द्रष्टा और दृष्टके बीच अधिकाधिक सूक्ष्म तथा परोक्ष सम्पर्कोंकी क्रमधारापर निर्भर हैं। समान रूपसे, सांख्यमें आकाशसे लेकर पृथ्वीतक रूपधातुका जो पाँच भूतोंका श्रेणी-विभाग किया गया है उसमें हम देखते हैं कि उनकी विशेषता है अधिक सूक्ष्मसे कम सूक्ष्मकी ओर निरन्तर प्रगति, जिसमें शिखरपर एक ओर

आकाशीय तत्त्वके सूक्ष्म स्पन्दन हैं और नीचे, आधारमें है पार्थिव या घनीभूत तत्त्वकी स्थूलतर घनता। इस प्रकार, शुद्ध धातुकी वैश्व संबंधके उस आधारकी ओर प्रगतिमें,——जिसमें प्रथम शब्द आत्मा न होकर रूप होगा, ऐसा रूप होगा, जो घनीभूतता, प्रतिरोध, स्थायी-स्थूल प्रतिमा, पारस्परिक अप्रवेश्यताकी अधिकतम संभावित विकासावस्थामें होगा, विभेद, पार्थक्य और विभाजनकी पराकाष्ठा होगा,——हमारे लिये ज्ञात अंतिम पर्व जड़ ही है। भौतिक विश्वका उद्देश्य और उसकी प्रकृति यही है; यह संसिद्ध विभाज्यताकी व्यवस्था है।

और, यदि जड़से आत्मातक रूपधातुके सोपानमें कोई आरोहण-क्रम है, और वस्तुओंके स्वभावको देखते हुए इसका होना आवश्यक है, तो यह अवश्य देखनेमें आयेगा कि स्थूल तत्त्वकी ये सबसे अधिक लाक्षणिक क्षमताएँ उत्तरोत्तर घटती जायँगी और उनकी विपरीत विशिष्टताएँ उत्तरोत्तर वृद्धि पायेंगी जिससे हम शुद्ध आध्यात्मिक आत्म-प्रसारणके सूत्रपर पहुँच जायँगे। अर्थात्, उनमें रूपके बंधन न्यूनतर होते दिखायी देंगे, उपादान और शक्तिकी सूक्ष्मता और नमनीयता अधिकाधिक होती जायगी, पारस्परिक संलयन, अन्तर्भेदन, आत्मसात्करणका बल, आदान-प्रदानका बल, वैविध्य, रूप-परिवर्तन और एकीकरणका बल अधिकाधिक होंगे। रूपके स्थायित्वसे अलग हटते हुए हम सारतत्त्वकी सनातनताकी ओर बढ़ते हैं; स्थूल जड़के दृढ़ पृथक्त्व और प्रतिरोधपर आश्रित अपने अवस्थानसे हटते हुए हम आत्माकी अनन्तता, एकता और अविभाज्यतामें आश्रित उच्चतम दिव्य अवस्थानकी ओर बढ़ते हैं। स्थूल रूपधातु और शुद्ध आध्यात्मिक धातुमें यह मौलिक विरोध अवश्य रहेगा। जड़में चित् या चित्-शक्ति अपने-आपको अधिकाधिक घनीभूत करती है, ताकि वह उसी चित्-शक्तिके अन्य पिंडोंका प्रतिरोध कर सके और उनके विरुद्ध खड़ी हो सके। आत्माकी धातुमें शुद्ध चेतना एक सारमूलक अविभाज्यता और सतत एकत्वकारी पारस्परिक आदान-प्रदानको आधारभूत सूत्र रखती हुई, अपनी स्व-शक्तिकी अधिकतम वैविध्यपूर्ण क्रीड़ाका भी यही आधारभूत सूत्र रखती हुई, अपने आत्म-बोधके अन्दर अपने-आपको स्वतंत्रतासे मूर्त करती है। इन दो सिरोंके बीच अन्तहीन श्रेणी-विन्यासकी संभावना रहती है।

ये विवेचन उस समय बहुत महत्वपूर्ण हो जाते हैं जब हम पूर्णत्व-प्राप्त मानव-जीवके दिव्य जीवन तथा दिव्य मन, और जिस भौतिक सत्ताके नियममें या बहुत ही स्थूल और प्रतीयमानतः अदिव्य शरीरमें हम वास्तवमें निवास करते हैं, इनके आपसी संबंधपर विचार करते हैं। वह

स्थूल नियम इन्द्रिय और रूपधातुके वीच उस विशेष निर्धारित संवंधका परिणाम है जिससे भौतिक विश्वका आरंभ हुआ है। किन्तु, चूँकि वह संवंध एकमात्र संभव संवंध नहीं है, अतः वह नियम भी एकमात्र संभव नियम नहीं है। प्राण और मन अपने-आपको रूपधातुके प्रति अन्य संवंवमें अभिव्यक्त कर सकते हैं और भिन्न स्थूल नियमोंको, अन्य और वृहत्तर अभ्यासोंको कार्यान्वित कर सकते हैं, यहाँतक कि वे शरीरकी एक भिन्न धातुको भी चरितार्थ कर सकते हैं जहाँ इन्द्रियोंकी अधिक स्वतंत्र क्रिया होगी, प्राणकी अधिक स्वतंत्र क्रिया होगी, और मनकी भी अधिक स्वतंत्र क्रिया होगी। हमारे भौतिक अस्तित्वका नियम है मृत्यु, विभाजन, एक ही चेतन प्राण-शक्तिके शरीरधारी पिंडोंमें पारस्परिक प्रतिरोध और वहिष्कार; इन्द्रियोंकी क्रीड़ाका संकीर्ण परिसीमन, प्राणकी क्रियाओंके क्षेत्र, अवधि और वलका एक छोटेसे वृत्तके अन्दर निर्धारण, मनकी तमिस्रा, उसकी पंगु गति, खंडित और सीमित क्रिया, ये वह जुआ हैं जिसे इस नियमने पशु-देहमें व्यक्त होकर उच्चतर तत्त्वोंपर आरोपित किया है। किन्तु ये वस्तुएँ वैश्व प्रकृतिका एकमात्र संभव छंद नहीं हैं; श्रेष्ठतर स्थितियाँ हैं, उच्चतर लोक हैं, और यदि मनुष्यकी किसी प्रगतिके द्वारा और हमारी उपादान-धातुकी अपनी वर्तमान अपूर्णताओंसे किसी मुक्तिके द्वारा इन स्थितियों और लोकोंका धर्म हमारी सत्ताके इस इन्द्रियग्राह्य रूप और उपकरणपर आरोपित किया जा सके तो यहाँ भी दिव्य मन एवं इन्द्रियकी भौतिक क्रिया हो सकती है, मानव ढाँचेमें दिव्य जीवनकी भौतिक क्रिया हो सकती है और पृथ्वीपर भी ऐसी किसी वस्तुका विकास हो सकता है जिसे हम दिव्य मानव-शरीर कह सकते हैं। हो सकता है कि मनुष्यका शरीर भी किसी दिन अपना रूपांतर प्राप्त कर ले, पृथ्वी माता भी हमारे अन्दर अपना देवत्व प्रकट कर दे।

स्थूल विश्वके विधानके अन्दर भी जड़के सोपानमें एक आरोही क्रम है जो हमें अधिक घनेसे कम घनेकी ओर, कम सूक्ष्मसे अधिक सूक्ष्मकी ओर ले जाता है। जहाँ हम उस क्रमकी उच्चतम भूमिकापर पहुँचते हैं, जड़-धातुकी अत्यधिक अति-व्योम सूक्ष्मतापर या शक्तिके रूपायणपर, उसके परे क्या है? नास्ति नहीं, शून्य नहीं; क्योंकि पूर्ण शून्य या यथार्थ नास्ति जैसी कोई चीज नहीं है, और इस नामसे हमारा अभिप्राय होता है किसी ऐसी वस्तुसे जो हमारे इन्द्रिय-वोध, हमारे मन या हमारी सूक्ष्मतम चेतनाकी पकड़से परे है। न यही सच है कि इससे परे कुछ नहीं है, या कि जड़की कोई आकाशीय धातु ही शाश्वत प्रारंभ है; क्योंकि हम जानते

हैं कि जड़ धातु और जड़ शक्ति एक शुद्ध धातु और शुद्ध शक्तिका ही अंतिम परिणाम हैं जिसमें चेतना ज्योतिर्मय रूपसे आत्म-संविद् और आत्म-धृत रहती है, उस तरह नहीं जैसे वह जड़में निश्चेतन निद्रा और निश्चेष्ट गतिमें आत्म-विलुप्त रहती है। तो इस जड़ धातु और उस शुद्ध धातुके बीचमें क्या है? क्योंकि, हम एकसे दूसरीमें एक छलांगमें नहीं जा पहुँचते, तुरन्त ही अचित्तिसे पूर्ण चेतनामें नहीं चले जाते। अचेतन धातु और पूर्णतः आत्म-चेतन आत्म-प्रसृत्तिके बीच वैसे क्रम-सोपान अवश्य होंगे और हैं, जैसे कि जड़-तत्त्व और अध्यात्म-तत्त्वके बीच हैं।

जिन-जिनने उन खाइयोंका अवगाहन कुछ भी किया है वे सब इस बातपर सहमत हैं और इसके साक्षी हैं कि रूपधातुके सूक्ष्मतर और अधिकाधिक सूक्ष्मतर रूपायणोंकी एक क्रम-धारा है जो जड़ विश्वके विधानसे बचकर उससे परे निकल जाती है। हमारी वर्तमान मीमांसाके लिये जो विषय अति गुह्य और कठिन हैं उनकी गहराईमें गये बिना, जिस सिद्धान्तको हमने अपना आधार बनाया है उसे धृत रखते हुए, हम कह सकते हैं कि रूपधातुके ये श्रेणी-विन्यास, क्रम-धारामें अपने रूपायणके एक महत्वपूर्ण वैशिष्ट्यमें जड़, प्राण, मन, अतिमानस और सच्चिदानंदके उस अन्य उच्चतर दिव्य त्रित्वकी ऊर्ध्वमुखी क्रम-धाराके सदृश दिखायी दे सकते हैं। अन्य शब्दोंमें, हम देखते हैं कि रूपधातु अपने आरोहणमें इन तत्त्वोंमेंसे प्रत्येकका आश्रय लेती है और उनकी ऊर्ध्वाभिमुखी क्रम-धारामें उनमेंसे प्रत्येककी आत्माभिव्यंजनाके प्रमुखतः विश्वव्यापी होनेके लिये यथाक्रम उनका विशिष्ट वाहन बन जाती है।

यहाँ, भौतिक जगत्में, हर चीज जड़धातुके विधानपर आधारित है। इन्द्रिय-बोध, प्राण, विचार, ये उसपर आधारित होते हैं जिसे प्राचीन मुनियोंने पृथ्वी-शक्ति कहा है। वे वहींसे आरंभ होते हैं, उसीके नियमोंका पालन करते हैं, अपनी क्रियाओंको इसी मूलभूत तत्त्वके अनुकूल बनाते हैं, अपने-आपको उसीकी संभावनाओंके द्वारा सीमित करते हैं, और यदि वे अन्य संभावनाओंको विकसित करना चाहते हैं, तो उस विकासमें भी इस मूल तत्त्वका, उसके प्रयोजनका और दिव्य विकासक्रमसे की गयी उसकी माँगका ध्यान रखते हैं। इन्द्रिय-शक्ति शारीरिक उपकरणोंके द्वारा कार्य करती है, प्राण शारीरिक नाड़ी-संस्थान और प्राणिक अंगोंके द्वारा काम करता है, मनको अपनी क्रियाएँ एक शारीरिक आधारपर निर्मित करनी पड़ती हैं और स्थूल उपकरणका उपयोग करना पड़ता है, उसकी शुद्ध मनोमय क्रियाओंको भी इस प्रकार प्राप्त हुए तथ्योंको अपनी क्रियाका

क्षेत्र और विषय-वस्तु बनाना पड़ता है। मन, इन्द्रिय और प्राणके मूलभूत स्वरूपमें ऐसी अनिवार्यता नहीं है कि वे इस भाँति सीमित हों: क्योंकि शारीरिक इन्द्रियाँ इन्द्रिय-बोधकी सृष्टिकर्त्री नहीं हैं, प्रत्युत वे स्वयं वैश्व इन्द्रिय-बोधकी रचना, उसके उपकरण और यहाँ उसकी आवश्यक सुविधा-जनक वस्तुएँ हैं; स्नायु-तंत्र और प्राणिक अंग प्राणकी क्रिया तथा प्रति-क्रियाके स्रष्टा नहीं हैं, प्रत्युत वे स्वयं वैश्व प्राण-शक्तिकी रचना, उसके उपकरण और यहाँ उसकी आवश्यक सुविधाजनक वस्तुएँ हैं; मस्तिष्क विचारका स्रष्टा नहीं है, प्रत्युत वह स्वयं वैश्व मनकी रचना, उसका उपकरण और यहाँ उसकी आवश्यक सुविधाजनक वस्तु है। अतः, मन, इन्द्रिय और प्राणके सीमित होनेकी आवश्यकता अपरिहार्य नहीं है, वरन् किसी विशेष हेतुके लिये है; वह भौतिक विश्वमें एक दिव्य वैश्व इच्छाका परिणाम है जो यहाँ इन्द्रिय और उसके विषयके बीच एक स्थूल संबंध बनानेका विचार रखती है, यहाँ चित्-शक्तिका एक भौतिक विधान और विधि स्थापित करती है और उसके द्वारा चिन्मय सत्‌के स्थूल रूपोंकी रचना करती है जो, जिस जगत्‌में हम रहते हैं, उसका आरंभिक, प्रमुख और निर्धारक तथ्य बन जाते हैं। यह सत्ताका मौलिक धर्म नहीं है, वरन् आत्माका जड़-जगत्‌में विकसित हो उठनेका जो अभिप्राय है उसके नाते आवश्यक हो जानेवाला रचनात्मक तत्त्व है।

रूपधातुकी अगली श्रेणीमें वस्तुमय रूप और शक्ति नहीं, वरन् प्राण और सचेतन कामना ही आरंभिक, प्रमुख और निर्धारक तथ्य हैं। अतः इस जड़ भूमिसे परेका लोक अवश्य ही ऐसा होगा जो किसी जड़ शक्ति और ऊर्जाका रूप लेती हुई किसी निश्चेतन या अवचेतन इच्छापर नहीं, अपितु एक चेतन वैश्व प्राण-ऊर्जापर, प्राणिक चाहकी किसी शक्ति और कामनाकी किसी शक्तिपर और उनकी आत्म-अभिव्यंजनापर आधारित होगा। उस जगत्‌में जो भी रूप, शरीर, शक्तियाँ, प्राण-गतियाँ, इन्द्रिय-गतियाँ, विचार-गतियाँ, विकास, पराकाष्ठा, आत्म-परिपूर्तियाँ होंगी, वे सब अवश्य ही चेतन प्राणके इस आरंभिक तथ्यके अधीन और उससे निर्धारित होंगी, भौतिक तत्त्व तथा मनको भी उसके अधीन रहना होगा और वहींसे प्रारंभ करना होगा, उसीके ऊपर आधारित होना होगा, उसीके नियम, बल, क्षमता और सामर्थ्योंसे सीमित या विस्तृत होना होगा; और यदि मन वहाँ किन्हीं उच्चतर संभावनाओंको विकसित करना चाहे तो उसे भी कामना-शक्तिके मूल प्राणिक सूत्रका, उसके उद्देश्यका और दिव्य अभि-व्यक्तिसे की गयी उसकी माँगका ध्यान रखना होगा।

यही बात उच्चतर श्रेणियोंकी भी है। इस क्रमकी अगली श्रेणीमें मन, अवश्य ही, प्रमुख और निर्धारक तत्त्व होगा और वहाँ शासन करेगा। वहाँ रूपधातु इतनी पर्याप्त सूक्ष्म और नमनीय अवश्य होगी कि मन उसपर जो आकार सीधे आरोपित करे उन्हें वह धारण कर सके, उसकी क्रियाओंका अनुगामी हो सके, उसकी आत्म-अभिव्यक्ति एवं आत्म-परिपूर्तिकी माँगके अनुगत हो सके। इन्द्रिय-बोध और वस्तुके बीचके संबंधोंको भी एक सदृश सूक्ष्मता और नमनीयता प्राप्त रहेगी और उनका निर्धारण भी अवश्य ही स्थूल पदार्थके साथ स्थूल अवयवके संबंधोंके द्वारा नहीं, वरन् जिस सूक्ष्मतर धातुपर मनकी क्रिया होती है उसके साथ मनके संबंधोंके द्वारा होगा। ऐसे लोकमें प्राण मनका सेवक होगा, ऐसे अर्थमें होगा जिसकी पर्याप्त धारणा हमारी दुर्बल मनोमय क्रियाएँ और सीमित, असंस्कृत और विद्रोही प्राणिक क्षमताएँ नहीं कर सकतीं। वहाँ मन मौलिक विधानके रूपमें प्रमुख रहता है, उसका प्रयोजन प्रधानता पाता है, उसकी माँग दिव्य अभि-व्यक्तिके नियममें अन्य सबसे अग्रगण्य होती है। एक और भी उच्चतर भूमिकापर अतिमानस, अथवा, मध्यवर्ती स्थितिमें, उससे स्पृष्ट तत्त्व, अथवा, उससे भी उच्चतर भूमिकामें, एक शुद्ध आनन्द, एक शुद्ध चित्-शक्ति या शुद्ध सत् मनके स्थानपर प्रधान तत्त्व होते हैं, और हम वैश्व सत्ताके उन स्तरोंमें प्रवेश करते हैं जो प्राचीन वैदिक ऋषियोंके लिए ज्योतिर्मय दिव्य सत्ताके धाम, "धामानि दिव्यानि" थे और जिसे वे अमृतत्व कहते थे उसका आधार थे; इन्हें ही बादमें भारतीय धर्मोंने ब्रह्मलोक अथवा गोलोक जैसे रूपकोंमें चित्रित किया, ये चिन्मय सत्पुरुषकी कोई परम आत्माभि-व्यक्ति हैं, जिसमें मुक्त जीव अपनी उच्चतम पूर्णताको प्राप्त कर शाश्वत ब्रह्मके आनंत्य एवं आनन्दका अधिकारी होता है।

वस्तुओंके भौतिक रूपायणसे परे उत्थित इस निरंतर ऊर्ध्वगामी अनुभव और दृष्टिके आधारमें जो तत्त्व रहता है वह यह है कि सारी वैश्व सत्ता एक जटिल सामंजस्य है और उसका अंत चेतनाकी उस सीमित परिधिके साथ नहीं हो जाता जिसके अन्दर बंदी होकर रहनेमें सामान्य मानव मन और प्राण संतुष्ट रहते हैं। सत्ता, चेतना, शक्ति, रूपधातु, ये बहुत डगोंवाली सीढ़ीपर उतरती और चढ़ती रहती हैं जिसके हर डगपर सत्ताका एक विशालतर आत्म-प्रसारण होता है, चेतनाको अपने निजके क्षेत्र, विशालता और हर्षका वृहत्तर बोध होता है, शक्तिको अधिक तीव्रता और अधिक वेगवती तथा आनंदमयी समर्थता होती है और रूपधातु अपने प्राथमिक प्रकृत सत्त्वको एक अधिक सूक्ष्म, नमनीय, तरणशील, लचीला रूप देती

है। कारण, जो अधिक सूक्ष्म होता है वह अधिक सशक्त भी होता है,—कह सकते हैं कि सत्यतः वह अधिक वास्तव होता है; वह स्थूलकी अपेक्षा कम बँधा होता है, उसकी सत्ताका अधिक स्थायित्व होता है, साथ ही उसकी संभूतिमें अधिक संभावना, नमनीयता और प्रसार रहते हैं। सत्ताके पर्वतका प्रत्येक पठार हमारी विस्तृत होती अनुभूतिको हमारी चेतनाका एक उच्चतर स्तर और हमारे जीवनके लिये एक समृद्धतर लोक देता है।

किन्तु, यह ऊपर चढ़ती क्रम-धारा हमारे भौतिक जीवनकी संभावनाओंको किस भाँति प्रभावित करती है? उसका कोई प्रभाव बिल्कुल न पड़ता यदि चेतनाका प्रत्येक स्तर, सत्ताका प्रत्येक लोक, रूपधातुकी प्रत्येक श्रेणी, वैश्व शक्तिकी प्रत्येक कोटि अपने पूर्ववर्ती तथा अपने परवर्तीसे सम्पूर्णतः वियुक्त होती। परंतु सत्य इसका ठीक उल्टा ही है; आत्माकी अभिव्यक्ति एक जटिल बुनावट है और किसी एक तत्त्वकी रूपरेखा और बुनावटमें अन्य सबके सब आध्यात्मिक समग्रके तत्त्वोंके रूपमें प्रवेश कर जाते हैं। हमारा भौतिक जगत् अन्य सबोंका परिणाम है, क्योंकि अन्य सारे-के-सारे तत्त्व स्थूल विश्वकी रचनाके लिये जड़में उतर आये हैं; और जिसे हम जड़ कहते हैं उसका प्रत्येक अणु उन सबको अपने अन्दर अव्यक्त रूपमें धारण किये रहता है; जैसा हम देख चुके हैं, उनकी गुप्त क्रिया उसके अस्तित्वके प्रत्येक क्षणमें और उसकी क्रियाशीलताकी प्रत्येक गतिमें संवृत रहती है। और, जड़ जैसे अवतरणका अंतिम पद है, वैसे ही वह आरोहणका प्रथम पद भी है। इन सभी स्तरों, लोकों, श्रेणियों, कोटियोंकी शक्तियाँ जड़ या भौतिक अस्तित्वमें निर्वातित हैं, अतः वे सब इनमेंसे विवर्तित होनेमें समर्थ हैं। यही कारण है कि भौतिक सत्ताका आदि और अंत गैसों और रासायनिक सम्मिश्रणोंसे, स्थूल शक्तियों और गतियोंसे या नीहारिकाओं, सूर्यों और पृथ्वियोंसे नहीं होता, वरन् वह प्राणको विवर्तित करती है, मनको विवर्तित करती है, और अंततः अतिमानसको और आध्यात्मिक सत्ताकी उच्चतर कोटियोंको विवर्तित करेगी। विकासक्रमका आगमन भौतिक लोकपर अतिभौतिक लोकोंके अनवरत दबावसे होता है, वह दबाव उसे विवश करता है कि वह अपने अन्दरसे उनके तत्त्वों और शक्तियोंको उन्मुक्त करे, जो, अन्यथा यह माना जा सकता है, जड़ विधानकी कठोरताके अन्दर बंदी बने सोये रहते। लेकिन, इस दशामें भी उनका ऐसे रहना असंभाव्य होता, क्योंकि उनका वहाँ विद्यमान रहना ही उन्मुक्त होनेका अभिप्राय लिये रहता है; किन्तु, तो भी, नीचेकी भूमिकाकी इस आवश्यकताको वास्तवमें उच्चतरके सजातीय दबावसे बहुत अधिक सहायता मिलती है।

और, इस विकासक्रमका अंत प्राण, मन, अतिमानस और आत्माके उस प्राथमिक स्वल्प रूपायणसे ही नहीं हो सकता जिसकी छूट जड़की अनिच्छुक शक्तिने इन उच्चतर शक्तियोंको दे दी हो। क्योंकि, ज्यों-ज्यों ये तत्त्व विवर्तित होते हैं, ज्यों-ज्यों ये जागृत होते हैं, ज्यों-ज्यों ये सक्रिय होते हैं और अपनी निजकी शक्यताओंके प्रति उत्सुक होते हैं, त्यों-त्यों उनपर ऊँचे स्तरोंका दबाव भी, जो कि लोकोंकी सत्ता, उनके घनिष्ठ संबंध और अन्योन्याश्रयमें अंतर्हित रहता है, अपने आग्रह, वीर्य और प्रभावशालितामें अवश्य बढ़ता जाता है। इन तत्त्वोंकी अभिव्यक्ति नीचेसे सीमाबद्ध और नियंत्रित उन्मज्जन-रूपमें हो, केवल यही नहीं, वरन् यह भी अनिवार्य है कि वे जड़-सत्तामें अपनी स्वरूप-शक्तिको साथ लिये अपने परिपूर्ण संभव प्रस्फुटन-रूपमें ऊपरसे अवतरित हों, और, भौतिक जीवको जड़में उन तत्त्वोंकी अधिकाधिक विशालतर क्रीड़ाके प्रति उन्मीलित होना होगा। आवश्यकता बस एक योग्य पात्र, माध्यम, यंत्रकी है, और मनुष्यके शरीर, प्राण तथा चेतनामें इसका प्रबंध है।

यदि वह शरीर, प्राण तथा चेतना स्थूल शरीरकी उन संभावनाओं-तक ही सीमित रहते जिन्हें हमारी स्थूल इन्द्रियाँ और स्थूल मानसिकता स्वीकार करती हैं, तो अवश्य ही इस विकासक्रमके लिये बहुत संकीर्ण परिधि रहती, और मानव जीव अपनी वर्तमान प्राप्तिकी अपेक्षा किसी मूलत: श्रेष्ठतर वस्तुको संसिद्ध करनेकी आशा न कर सकता। किन्तु, जैसा कि प्राचीन गुह्य विद्याको ज्ञात हुआ था, यह शरीर तो हमारी संपूर्ण स्थूल सत्ता भी नहीं है, यह स्थूल घनत्व हमारी सम्पूर्ण रूपधातु भी नहीं है। प्राचीनतम वैदांतिक ज्ञान हमारी सत्ताकी पाँच कोटियोंकी बात कहता है, अन्नमय (भौतिक), प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आध्यात्मिक या आनन्दमय, और हमारे आत्माकी इन श्रेणियोंमेंसे प्रत्येकके अनुरूप हमारी रूपधातुकी श्रेणी होती है जिसे प्राचीन आलंकारिक भाषामें कोष कहा गया है। एक परवर्ती मनोविज्ञानने यह संधान पाया कि हमारी रूपधातुके ये पाँच कोष स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण, इन तीन शरीरोंके उपादान हैं, और जीव वस्तुत: और एक साथ इन तीनोंमें निवास करता है, यद्यपि, यहाँ और अभी तो हमें केवल स्थूल आधारका बहिस्तलीय बोध ही रहता है। किन्तु यह संभव है कि हम अपने अन्य शरीरोंमें भी सचेतन हो जायं और वास्तवमें, उनके बीचके पर्देका खुलना, और परिणामस्वरूप हमारे अन्नमय, चैत्य और विज्ञानमय व्यक्तित्वोंके बीचका पर्दा खुलना ही उन "चैत्य" तथा गुह्य व्यापारोंका कारण है जिनका अब अधिकाधिक परीक्षण

होने लगा है, यद्यपि यह परीक्षण अभी बहुत अल्प मात्रामें और अति वेढंगे ढंगसे किया जाता है, और उसका अत्यधिक अनुचित लाभ उठाया जाता है। भारतमें प्राचीन हठयोगी और तांत्रिक उच्चतर मानव जीवन और शरीरके इस विषयको बहुत पहले एक विज्ञान वना चुके थे। स्थूल शरीरके अन्दर उन्होंने प्राणके छः नाड़ी-चक्रोंका पता पाया था जो सूक्ष्म शरीरके अन्दर प्राण और मनके छः चक्रोंके अनुरूपी हैं, और उन्होंने सूक्ष्म शारीरिक प्रक्रियाओंका पता पाया जिनके द्वारा ये अभी वंद रहनेवाले चक्र खोले जा सकते हैं, मनुष्य अपनी सूक्ष्म सत्ताके स्वाभाविक उच्चतर चैत्य जीवनमें प्रवेश कर सकता है, और विज्ञानमय तथा आध्यात्मिक सत्ताके अनुभवकी राहमें जो शारीरिक और प्राणिक वाधाएँ आती हैं उनका भी विनाश किया जा सकता है। यह वात अर्थपूर्ण है कि हठयोगियोंने अपने अभ्यासोंके लिये जिस प्रमुख परिणामका दावा किया था और जिसके सत्यकी परीक्षा वहुत प्रकारसे की जा चुकी है वह था शारीरिक प्राण-शक्तिपर अधिकार प्राप्त करना जिससे वे हमारी ऐसी सामान्य आदतों या तथाकथित नियमोंमेंसे कुछसे मुक्त हो जाते थे जिन्हें भौतिक विज्ञान शरीर में प्राणके लिये अपरिहार्य मानता है ।

प्राचीन मनो-शारीरिक विज्ञानकी इन सारी अभिधाओंके पीछे हमारी सत्ताका एक महान् तथ्य और नियम विद्यमान है कि इस भौतिक विकास-क्रममें हमारी सत्ताके रूप, चेतना और वलका जो कोई भी अस्थायी अवस्थान हो, उसके पीछे अवश्य एक श्रेष्ठतर, सत्यतर सत्ता होनी चाहिये और है, जिसका कि एक वाह्य परिणाम और स्थूलतः अनुभवगम्य रूप ही वह अवस्थान होता है। हमारी रूपधातुका अंत स्थूल शरीरके साथ ही नहीं हो जाता; स्थूल शरीर तो मात्र पार्थिव पादपीठ, पार्थिव आधार, भौतिक प्रारंभ-विन्दु है। जैसे हमारी जाग्रत् मानसताके पीछे चेतनाकी वृहत्तर भूमिकाएँ हैं, जो उसके लिये अवचेतन और अतिचेतन रहती हैं और जिनका वोध हमें कभी-कभी असाधारण अवस्थामें होता है, वैसे ही हमारी स्थूल अन्नमय सत्ताके पीछे रूपधातुकी अन्य और सूक्ष्मतर श्रेणियाँ होती हैं। इनका नियम सूक्ष्मतर और वल श्रेष्ठतर होता है, ये अधिक घने शरीरका आधार होती हैं और यदि हम उनकी चेतनाकी भूमिकाओंमें प्रवेश करें तो उन्हें वाध्य कर सकते हैं कि वे हमारे घने भौतिक तत्त्वपर वही नियम और वल आरोपित करें और हमारे वर्तमान भौतिक जीवन और अंतर्वेगों और अभ्यासोंकी स्थूलता और सीमितताके स्थानपर अपनी सत्ताकी शुद्धतर, उच्चतर, तीव्रतर अवस्थाएँ प्रतिष्ठित

करें। यदि ऐसा है तो ऐसे श्रेष्ठतर शारीरिक जीवनका विकास, जो पशुकी नाईं, जन्म, जीवन और मृत्युकी भरण-पोषणकी दुर्लभता और अव्यवस्था तथा रोगकी सुलभताकी सामान्य अवस्थाओंसे और दरिद्र तथा असंतुष्ट प्राणिक तृष्णाओंकी अधीनताकी सामान्य अवस्थाओंसे बद्ध न हो, स्वप्न और मरीचिका नहीं रह जाता; तब वह एक ऐसी संभावना हो जाता है जिसका आधार एक युक्तियुक्त दार्शनिक सत्य है; ऐसा सत्य है जो, हमने अभीतक अपनी सत्ताके व्यक्त और प्रच्छन्न सत्यके विषयमें जो जाना और अनुभव किया है या उसके बारेमें जो विचार कर पाये हैं, उस सबके अनुकूल है।

ऐसा होना युक्तियुक्त भी है; क्योंकि, हमारी सत्ताके तत्त्वोंका निरवच्छिन्न धाराक्रम और उनका घनिष्ठ पारस्परिक संबंध इतना अधिक स्पष्ट है कि यह संभव नहीं हो सकता कि उनमेंसे एक तो अभिशप्त और वियुक्त हो और अन्य सब दिव्य मुक्तिके लिये समर्थ हों। जड़से अतिमानसकी ओर मनुष्यका आरोहण अवश्य ही इस संभावनाका द्वार खोल देगा कि अतिमानस-सत्ताके उपयुक्त जो विज्ञानमय या कारण शरीर है, रूपधातुकी भूमिकाओंमें उसकी ओर एक अनुरूपी आरोहण हो, और अतिमानसके द्वारा निम्नतर तत्त्वोंपर विजय तथा उसके द्वारा उनका मुक्त होकर एक दिव्य प्राण एवं दिव्य मानसतामें पहुँचना अवश्य ही अतिमानसिक धातुके बल और तत्त्वके द्वारा हमारी स्थूल, भौतिक सीमितताओंपर विजय प्राप्त करना संभव कर देगा। और इसका अर्थ केवल इतना ही नहीं होता कि एक निर्बंध चेतनाका, ऐसे मन और इन्द्रिय-बोधका विकास होगा जो शारीरिक अहंकी दीवारोंमें बन्द न हो या शारीरिक इन्द्रियके द्वारा प्रदत्त ज्ञानके दरिद्र आधारतक सीमित न हो; अपितु एक ऐसी प्राण-शक्तिका विकास होगा जो अपनी मर्त्य सीमाओंसे अधिकाधिक मुक्त होगी, एक दिव्य निवासीके योग्य शारीरिक जीवनका विकास होगा, और हमारे वर्तमान शारीरिक निर्माणके प्रति आसक्ति या उसके बंधनके अर्थमें नहीं, वरन् भौतिक शरीरके नियमके अतिक्रमणके अर्थमें मृत्युपर विजय होगी, एक पार्थिव अमरत्व प्राप्त होगा, क्योंकि अमरत्वके प्रभु, अस्तित्वके आदि आनन्द, दिव्य आनंदसे चले आते हुए, उस आनंद-सुराको, सोम-रसको मनोमय प्राणभृत जड़के मर्त्तबानोंमें उड़ेल रहे हैं; वह शाश्वत एवं सुन्दर, सत्ता और प्रकृतिका सम्पूर्ण रूपांतर करनेके लिये रूपधातुके इन कोषोंमें प्रवेश कर रहे हैं।

अध्याय सत्ताईस

सत्ताकी सप्ततंत्री

पाकः पृच्छामि मनसाविजानन् देवानामेना निहिता पदानि।
वत्से वष्कयेऽधि सप्त तन्तून् वि तत्निरे कवय ओतवा उ॥

मनके द्वारा न जान सकनेके कारण मैं देवताओंके इन पदोंको जाननेकी इच्छा करता हूँ जो कि हमारे भीतर निहित हैं। सर्वज्ञ देवोंने एक वर्षके शिशुको ग्रहण किया है और उन्होंने यह वस्त्र बनानेके लिये उसके चारों ओर सात सूत्र बुने हैं।

—ऋग्वेद *1. 164. 5*

प्राचीन द्रष्टाओंने सत्ताके जिन सात महान् तत्त्वोंको समस्त विश्व-जीवनके आधार और सप्तधा संस्थानकी भाँति निर्धारित किया था, हम उनकी संवीक्षाके द्वारा विवर्तन तथा निवर्तनकी भूमिकाओंको देख आये हैं और जिस ज्ञानतक पहुँचनेका प्रयास कर रहे थे उसके आधारतक पहुँच गये हैं। हम कह आये हैं कि विश्वमें जो कुछ है उस सबका मूल, आधार, आदि और अंतिम सत्-तत्त्व है विश्वातीत और अनन्त सत्, चित् एवं आनन्दका त्रिविध तत्त्व जो कि दिव्य पुरुषका स्वरूप है। चेतनाके दो पहलू हैं, आलोककारी और कार्यसाधक, एक तो आत्म-संवित्की प्रतिष्ठा या अवस्था और बल, दूसरा आत्म-शक्तिकी प्रतिष्ठा या अवस्था और बल, जिसके द्वारा सत्-पुरुष, चाहे वह अपनी निष्क्रिय अवस्थामें हो या अपनी सक्रिय गतिमें, दोनोंमें स्व-प्रतिष्ठ रहता है। कारण, उसके अन्दर जो कुछ निहित है उसे वह अपने सृजनात्मक कर्ममें सर्व-शक्तिमान् आत्म-चेतनाके द्वारा जानता है और एक सर्वदर्शी आत्म-ऊर्जाके द्वारा अपनी शक्यताओंके विश्वको उत्पन्न और शासित करता है। सर्व-सत्की इस सृजनात्मक क्रियाकी ग्रन्थि चौथे मध्यवर्ती तत्त्व अतिमानस या सत्-भावमें मिलती है, जिसमें दिव्य ज्ञान आत्म-सत्ता एवं आत्म-संवित्के साथ एक रहता है और एक सद्वस्तुमय इच्छा उस ज्ञानके साथ पूर्ण एकत्वमें रहती

है, क्योंकि स्वधातु और स्वभावमें स्वयं यह इच्छा ज्योतिर्मय कर्ममें गतिमान वही आत्म-चेतन आत्म-सत्ता है; यह ज्ञान और इच्छा वस्तुओंको गति, रूप और धर्मका विकास ठीक-ठीक उनके स्वयम्भू सत्यके अनुसार और उसकी अभिव्यक्तिके तात्पर्योंके सामंजस्यमें अभ्रान्त रूपसे करते हैं।

सृष्टि एकत्व और वहुत्वके द्विदल तत्त्वपर निर्भर रहती और उनके वीच चलती रहती है। वह भाव और शक्ति तथा रूपकी वहुविधता है जो एक मूलगत एकत्वकी अभिव्यक्ति होती है, और वह एक शाश्वत एकत्व है जो असंख्य लोकोंका आधार और स्वरूप सत्य है और उनकी क्रीड़ाको संभव वनाता है। अतः *अतिमानस विज्ञान तथा प्रज्ञानकी द्विविध कर्म-शक्तिके* द्वारा अग्रसर होता है; मूलगत एकत्वसे परिणामगत वहुत्वकी ओर वढ़ता हुआ वह निखिल वस्तुओंका अवधारण अपने-आपके अन्दर इस भांति करता है मानो वह स्वयं ही अपने वहुविध रूपोंको धारण किये हुए 'एक' है और वह निखिल वस्तुओंका पृथक्-पृथक् प्रज्ञान अपने-आपके अन्दर इस भाँति पाता है मानो वे उसकी इच्छा एवं ज्ञानके विषय हैं। जव कि उसकी आद्य आत्म-संवित्में सारी वस्तुएँ एक ही सत्ता, एक ही चेतना, एक ही इच्छा, एक ही आत्मानन्द है और वस्तुओंकी समग्र गति एक ही तथा अविभाज्य गति है, वह अपनी क्रियामें एकत्वसे वहुत्वकी ओर और वहुत्वसे एकत्वकी ओर जाता है; तव वह उनके वीच एक व्यवस्थित संवंध और एक ऐसा विभाजन रच रहा होता है जिसका आभास तो होता है, किन्तु जिसकी कोई वंधनकारी सत्यता नहीं होती; यह एक सूक्ष्म अपृथक्कारी विभाजन होता है, वल्कि अविभक्तताके अन्दर एक सीमांकन और निर्धारण होता है। अतिमानस वह दिव्य 'विज्ञान' है जो लोकोंका स्रष्टा, शासक और धारयिता है: वह वह गुप्त प्रज्ञा है जो हमारे ज्ञान और हमारे अज्ञान दोनोंको ही धारण किये रहती है।

हमने यह भी देख लिया है कि मन, प्राण और जड़ इन्हीं उच्चतर तत्त्वोंके त्रिविध रूप हैं जो, जहाँतक हमारे विश्वका सम्वन्ध है, अज्ञान-तत्त्वके अधीन, उस एकमेवाद्वितीयकी अपनी विभाजन तथा वहुत्वकी लीलामें उपरितलीय और प्रतीयमान आत्म-विस्मृतिके अधीन रहकर क्रिया करते हैं। वस्तुतः, ये तीनों दिव्य चतुष्टयकी गौण शक्तियां ही हैं: मन अतिमानसकी एक गौण शक्ति है, वह अपना अवस्थान विभाजनके दृष्टिकोणमें लेता है, वहां वह वस्तुतः पीछे रहनेवाले एकत्वको भूल जाता है यद्यपि अतिमानससे पुनः प्रकाश पाकर वह उसतक वापस जानेमें समर्थ रहता है। इसी प्रकार प्राण सच्चिदानन्दके ऊर्जा-पक्षकी एक गौण शक्ति है,

वह मनके द्वारा सृष्ट विभाजनके दृष्टिकोणसे रूपको और सचेतन ऊर्जाकी क्रीड़ाको क्रियान्वित करनेवाली शक्ति है। और जड़, वह सत्ताके द्रव्यका वह रूप है जिसे सच्चिदानन्दकी सत्ता तब धारण करती है, जब वह अपने-आपको अपनी चेतना और शक्तिकी इस प्रपंचात्मक क्रियाके अधीन कर देती है।

इसके अतिरिक्त एक चौथा तत्त्व है जो मन, प्राण और शरीरकी ग्रंथिमें अभिव्यक्त होता है, जिसे हम पुरुष कहते हैं। किन्तु इसका द्विविध रूप होता है, आगेकी ओर कामना-पुरुष, जो वस्तुओंके अधिकार और आनन्दके लिये प्रयत्न करता है, और पीछेकी ओर, कामना-पुरुषसे पूरी तरह या बड़ी हदतक छिपा हुआ सच्चा चैत्य पुरुष, जो आत्माके अनुभवोंका यथार्थ भंडार है। और हम इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि यह चौथा मानव-तत्त्व अनन्त आनन्दरूप तृतीय दिव्य तत्त्वका प्रक्षेप और उसकी क्रिया है, किन्तु ऐसी क्रिया है जो हमारी चेतनाके अनुरूप और इस जगत्में होनेवाले अन्तरात्माके विकासक्रमकी अवस्थाओंके अधीन होती है। जैसे भगवान्की सत्ता स्वरूपतः एक अनन्त चेतना और उस चेतनाकी आत्मशक्ति है, उसी तरह उसकी अनन्त चेतनाका स्वभाव भी शुद्ध एवं अनन्त आनन्द है; आत्मवत्ता और आत्मसंवित् उसके आत्मानन्दका सार है। विश्व भी इस दिव्य आत्मानन्दकी लीला है और उस लीलाका आनन्द विश्वात्माको संपूर्णतः प्राप्त रहता है; किन्तु व्यक्तिके अन्दर अज्ञान और विभाजनकी क्रियाके कारण वह आनन्द अवगूढ़ और अतिचेतन सत्तामें रोका गया रहता है; हमारी सतहपर उसका अभाव रहता है, विश्वात्मकता और विश्वोत्तीर्णताकी ओर वैयक्तिक चेतनाके विकासके द्वारा उसे खोजना, पाना और अधिकृत करना होता है।

अतः, हम यदि चाहें तो सातके स्थानपर आठ[1] तत्त्व रख लें, और तब हम देखेंगे कि हमारी सत्ता दिव्य सत्ताका एक प्रकारका परावर्तन है जो आरोहण और अवरोहणके विपरीत क्रममें इस प्रकार आयोजित हैं :—

सत्	जड़ (या अन्न)
चित्-शक्ति	प्राण
आनन्द	चैत्य पुरुष (या अंतरात्मा)
अतिमानस	मन

1. वैदिक ऋषि सात किरणोंकी चर्चा करते हैं, साथ ही आठ, नौ, दस या बारहकी बात भी कहते हैं।

भगवान् चित्-शक्ति एवं आनन्दकी लीला और अतिमानसके सर्जनात्मक माध्यमके द्वारा शुद्ध सत्तासे उतरकर विश्व-सत्ताके अन्दर आते हैं; हम जड़से चलकर, विकासमान् प्राण, अन्तरात्मा और मनके द्वारा, अतिमानसके आलोककारी माध्यमसे होते हुए, दिव्य सत्ताकी ओर ऊपर चढ़ते हैं; इन दोनोंकी, परार्ध और अपरार्धकी ग्रंथि वहाँ है जहाँ मन और अतिमानस अपने बीच एक परदा रखते हुए मिलते हैं। इस पर्देका भेदन ही मानव जातिमें दिव्य जीवनकी शर्त है; क्योंकि, उस भेदनके द्वारा, निम्नतर सत्ताकी प्रकृतिमें उच्चतरके आलोककारी अवतरणके द्वारा और उच्चतरकी प्रकृतिमें निम्नतर सत्ताके सशक्त आरोहणके द्वारा मन अपनी दिव्य ज्योतिको सर्वविधारक अतिमानसमें पुनः प्राप्त कर सकता है, अंतरात्मा अपने दिव्य आत्माको सर्वधृत, सर्वानन्दमय आनन्दमें उपलब्ध कर सकता है, प्राण अपने दिव्य वीर्यको सर्वशक्तिमान् चित्-शक्तिकी क्रीड़ामें पुनः अधिकृत कर सकता है और दिव्य सत्का रूप रहनेवाला जड़तत्त्व अपनी दिव्य स्वतन्त्रताकी ओर खुल सकता है। और, जिस विकासक्रमकी वर्तमान स्थितिमें शीर्ष और मुकुट मानव जीव है, उसका लक्ष्य यदि निरुद्देश्य चक्कर लगाने और उस चक्करसे वैयक्तिक परित्राण पानेके अतिरिक्त और कुछ भी हो, जो मनुष्य आत्मा और जड़के बीच खड़ा होनेवाला एकमात्र ऐसा जीव है जिसमें उन दोनोंके बीच मध्यस्थता करनेका बल है, उसकी अनन्त शक्यताका तात्पर्य यदि वैश्व प्रयत्नकी ओरसे निराशा और विरक्ति लेकर अन्त्य रूपसे जीवनके विभ्रमसे जाग जाने और उसका संपूर्णतः परित्याग करनेके अतिरिक्त और कुछ हो, तो इस जीवमें ऐसा आलोकमय और शक्तिमान् रूपान्तर और भगवान्का आविर्भाव ही वह उच्च-ऊर्ध्व लक्ष्य और वह परम तात्पर्य होगा।

किन्तु, ऐसा रूपान्तर तात्त्विक संभावनाकी अवस्थासे क्रियात्मक शक्यतामें परिवर्तित हो सके, इसकी अन्तःकरणिक और व्यावहारिक शर्तोंकी ओर मुड़ सकनेसे पहले बहुत-सी बातोंपर विचार करना बाकी है; क्योंकि, हमें केवल विश्व-सत्ताके अन्दर सच्चिदानन्दके अवतरणके मूलभूत तत्त्वोंको ही नहीं देखना है, इन्हें तो हम देख आये हैं, वरन् यहाँ उसकी व्यवस्थाकी विशाल योजना भी देखनी है, और हम अभी जिन अवस्थाओंमें रह रहे हैं उनपर शासन करनेवाली चित्-शक्तिके अभिव्यक्त बलके स्वरूप और क्रियाको भी देखना है। अभी हमें सर्वप्रथम यह देखना है कि हमने जिन सात या आठ तत्त्वोंकी परीक्षा की है वे समस्त विश्व-सृष्टिके लिये आवश्यक हैं; और हमारे अन्दर, "इस एक वर्षके शिशुमें", जो कि हम अभी भी हैं,

क्योंकि हम अभी भी विकासशील प्रकृतिके वयस्क होनेसे दूर ही तो हैं, वे व्यक्त या अव्यक्त रूपसे मौजूद हैं। उच्चतर त्रिपुटी समस्त सत्ताका और सत्ताकी क्रीड़ाका मूल और आधार है, और सकल विश्व उसकी सार-सद्वस्तुकी ही अभिव्यक्ति और क्रिया होगा। कोई भी विश्व सत्ताका केवल ऐसा रूप नहीं हो सकता जो एक पूर्ण नास्ति और शून्यमेंसे उद्भूत और रूपायित हो और एक अस्तित्वरहित रिक्तताकी पृष्ठभूमिमें खड़ा रहता हो। उसे या तो सकल रूपोंसे अतीत अनन्त सत्ताके अन्दर सत्ताका कोई रूप होना चाहिये अथवा स्वयं उसे ही सर्व-सत्ता होना चाहिये। वास्तवमें, जब हम अपने आत्माको वैश्व सत्ताके साथ एक कर देते हैं तो देखते हैं कि वह यथार्थतः एक ही साथ ये दोनों वस्तुएँ है; अर्थात, वह काल तथा देशके रूपमें स्वकीय कल्पनाके अनुसार आत्म-प्रसारणके छन्दोंकी अनन्त क्रम-धारामें अपने-आपको रूपायित करता हुआ सर्व-सत् है। इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि यह वैश्व क्रिया या कोई भी वैश्व क्रिया इन सारे रूपों और गतियोंको उत्पन्न तथा नियमित करनेवाली सत्ताकी एक अनन्त शक्तिकी क्रीड़ाके बिना असंभव रहती है; और उसी प्रकार, वह शक्ति एक अनन्त चेतनाकी क्रिया सूचित करती है, या स्वयं वह शक्ति ही वह क्रिया होती है, क्योंकि वह स्वरूपतः एक वैश्व इच्छा है जो समस्त संबंधोंको निर्धारित करती और अपनी ही संवित्-विधिसे उसका प्रज्ञान प्राप्त करती है। वह यह निर्धारण और प्रज्ञान-प्राप्ति न कर सकती यदि उस वैश्व संवित्-विधिके पीछे विज्ञान-चेतना न होती; सत्-पुरुषके विकसित होते आत्म-रूपायण या आत्म-संभूतिमें, जिसे हम विश्व कहते हैं, सत्-पुरुषके संबंधोंका सूत्रपात और उनकी धृति, स्थिति तथा प्रतिबिंबन उस विज्ञान-चेतनासे ही, उस संवित्-विधिके द्वारा होते हैं।

अंतमें, जब कि चेतना इस भाँति सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमयी है, ज्योतिर्मय रूपसे सम्पूर्णतः आत्मधृत है, और यह सम्पूर्ण ज्योतिर्मय धृति अवश्यमेव अपने स्वरूपमें आनन्द होती है, क्योंकि वह इससे भिन्न और कुछ नहीं हो सकती, अतएव अवश्य ही एक बृहत् वैश्व आत्मानन्दको वैश्व सत्ताका कारण, सार और उद्देश्य होना चाहिये। प्राचीन ऋषिने कहा है, "अस्तित्वके आनन्दके जिस सर्वपरिवेष्टी आकाशमें हम निवास करते हैं यदि वह न होता, वह आनन्द यदि हमारा आकाश न होता, तो न कोई श्वास ले सकता, न कोई जी सकता।" यह आत्मानन्द अवचेतन बन जा सकता है, उपरितलपर आपाततः खोया हुआ-सा लग सकता है, किन्तु न केवल यही आवश्यक है कि वह हमारी जड़ोंमें विद्यमान हो,

वरन् समस्त सत्ता ही स्वरूपतः इसे जानने और स्वायत्त करनेके लिये एक खोज और आकृति-रूप होनी चाहिये। और, विश्वमें जीव जिस अनुपातमें अपने-आपको प्राप्त करता है, चाहे संकल्प और शक्तिमें, ज्योति और ज्ञानमें, सत्ता और विस्तारमें, या प्रेम और स्वयं हर्षमें, उसे उस गुप्त आनन्दके किसी-न-किसी रूपके प्रति उद्‌बुद्ध होना ही होगा। सत्ताका हर्ष, ज्ञानके द्वारा उपलब्धिका आनन्द, संकल्प और बल या सृजनात्मक शक्तिके द्वारा अधिकृत करनेका प्रहर्ष, प्रेम और हर्षमें मिलनका उल्लास, ये विस्तृत होते प्राणकी उच्चतम अवस्थाएँ हैं; क्योंकि ये स्वयं सत्ताके सारतत्त्व हैं, सत्ताको चाहे उसके गुप्त मूलोंमें देखें, चाहे उसकी अभीतक अदृष्ट रहने-वाली ऊँचाइयोंपर देखें। तो, जहाँ कहीं वैश्व सत्ता अपने-आपको अभि-व्यक्त करती है, वहाँ इन तीनोंको उसके पीछे और अन्दर अवश्य विद्यमान रहना चाहिये।

किन्तु, अनन्त सत्, चित् और आनन्द यदि इस चतुर्थ पद अति-मानसको, दिव्य विज्ञानको धारण न करते या अपने अन्दरसे विकसित और प्रकट न करते तो उन्हें अपनेको दृश्य सत्तामें प्रकट करनेकी आवश्यकता ही न होती, या यदि वे अपने-आपको इसमें व्यक्त भी करते तो यह अभिव्यक्ति कोई वैश्व सत्ता न होकर मात्र रूपोंका एक आनन्त्य होती, जिसमें कोई निर्धारित व्यवस्था या सम्बन्ध न होता। प्रत्येक विश्वमें ज्ञान तथा इच्छाकी एक शक्ति अवश्य होगी, जो अनन्त शक्यताओंमेंसे निर्दिष्ट संबंधोंको निर्धारित करती है, बीजमेंसे परिणाम विकसित करती है, विश्व-विधानके शक्तिमान् सामंजस्योंको लीलायित करती है, और लोकोंको उनके अमर तथा अनन्त द्रष्टा तथा शासककी दृष्टिसे देखती और शासित करती है।[2] यह शक्ति वस्तुतः सच्चिदानन्दके अतिरिक्त और कुछ नहीं है; वह ऐसी किसी भी वस्तुकी रचना नहीं करती जो उसकी स्वकीय आत्म-सत्तामें न हो और इसी कारण समस्त वैश्व और ऋत विधान बाहरसे आरोपित वस्तु न होकर अन्दरसे आता है, सारा विकास आत्म-विकास होता है, समस्त बीज और परिणाम वस्तुओंके एक सत्यका बीज और उस बीजकी शक्यताओंमेंसे निर्धारित परिणाम होते हैं। इसी कारण कोई भी विधान निरपेक्ष नहीं होता, क्योंकि केवल अनन्त ही निरपेक्ष है, और प्रत्येक वस्तु अपने अन्दर अनन्त शक्यताएँ समाये रहती है जो उसके निर्धारित

---

2. कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः। —ईशोपनिषद् 8
(वह कवि, वह मनीषी, वह जो सर्वत्र हो जाता है, वह स्वयंभू।)

रूप और धारासे बिल्कुल परे होती है और अन्तरमें विद्यमान अनन्त स्वातंत्र्यसे निःसृत होनेवाले दिव्य 'भाव' के द्वारा आत्म-परिसीमनसे ही निर्धारित होती हैं। आत्म-परिसीमनकी यह शक्ति असीम सर्व-सत्में अवश्यंभावी रूपसे अन्तर्निहित रहती है। वस्तुतः, अनन्त अनन्त न होगा यदि वह बहुविध सांतताको धारण न कर सके; निर्विशेष निर्विशेष न होगा यदि उसे ज्ञान, शक्ति और इच्छामें और सत्ताकी अभिव्यक्तिमें आत्म-निर्धारणका असीम सामर्थ्य न हो। तो, यह अतिमानस है सत्य या सत्-भाव, समस्त वैश्व शक्ति तथा सत्तामें अन्तर्निहित, जो स्वयं अनन्त रहता हुआ, अभिव्यक्तिके संबंध, क्रम और विस्तृत दिशाओंको निर्धारित, संयोजित और धारण करनेके लिये आवश्यक है। वैदिक ऋषियोंकी भाषामें, जैसे अनन्त सत्, चित् और आनन्द उस अनामके तीन परम और गुह्य नाम हैं, वैसे ही यह अतिमानस चतुर्थ नाम[3] है—अवतरणमें उस तत्से चतुर्थ और हमारे आरोहणमें चतुर्थ।

किन्तु मन, प्राण और जड़, ये निम्नतर तत्त्वत्रय भी समस्त वैश्व सत्ताके लिये अपरिहार्य हैं,—अनिवार्यतः उसी रूपमें या उस क्रिया और उन अवस्थाओंके साथ नहीं जिनसे हम पृथ्वीपर या इस भौतिक विश्वमें परिचित हैं, वरन् किसी भी प्रकारकी क्रियामें, वह चाहे जितनी ज्योतिर्मय, चाहे जितनी बलवती और चाहे जितनी सूक्ष्म क्यों न हो। कारण, मन, मूलतः, अतिमानसकी वह शक्ति है जो मापती और सीमित करती है, कोई विशेष केन्द्र स्थिर करके वहींसे वैश्व गतिविधि और उसकी पारस्परिक क्रियाओंको देखती है। यह मान लिया कि कोई ऐसा विशेष लोक, स्तर या वैश्व आयोजन है, जहाँ मनका सीमित हो जाना आवश्यक नहीं है, बल्कि जो पुरुष मनको एक गौण वृत्तिके रूपमें व्यवहृत करता है, उसके लिये वस्तुओंको अन्य केन्द्रों या दृष्टिकोणोंसे या सर्वके सच्चे केन्द्रसे अथवा एक विश्वव्यापी आत्म-विकिरणकी वृहत्तामें देखनेमें असमर्थ रहना आवश्यक नहीं है; तथापि, यदि उसमें यह सामर्थ्य नहीं हो कि वह दिव्य क्रियाशीलताके कुछ उद्देश्योंके लिए अपने-आपको स्वकीय दृढ़ दृष्टिकोणमें स्वाभाविक रूपसे स्थिर कर सके, यदि केवल विश्वव्यापी आत्म-विकिरण हो या केवल अनन्त केन्द्र हों, उनमें प्रत्येकके लिये कोई निर्णायक या स्वतंत्रतापूर्वक सीमित करनेवाली क्रिया न हो, तो उस दशामें कोई विश्व न होगा, वरन्

3. "तुरीयं स्विद्", "एक चतुर्थ", जिसे तुरीयं धाम, सत्ताका चतुर्थ धाम या पद भी कहा गया है।

केवल एक सत्-पुरुष रह जायगा जो अपने अन्दर अनन्त रूपसे उसी प्रकार मनन करता रहता होगा, जैसे कोई स्रष्टा या कवि सर्जनके निश्चायक कर्ममें अग्रसर होनेके पहले, नमनीय रूपमें नहीं, किन्तु स्वतन्त्र रूपसे मनन करता है। ऐसी स्थिति सत्ताके अनन्त क्रममें कहीं-न-कहीं अवश्य होगी, किन्तु यह वह स्थिति नहीं है जिसे हम विश्व समझते हैं। इसमें जो कोई व्यवस्था-क्रम हो, वह एक प्रकारका अनियत, शिथिल, वैसा व्यवस्था-क्रम होगा जैसा कि संबंधोंके निर्धारित विकास, मापन और पारस्परिक क्रियाके कार्यकी ओर अग्रसर होनेसे पूर्व अतिमानस विकसित कर सकता है। उस मापन और पारस्परिक क्रियाके लिए मन आवश्यक है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि मन अपने-आपको अतिमानसकी एक गौण क्रियाके अतिरिक्त अन्य कुछ जाने, न यह आवश्यक है कि वह एक आत्म-बंदी अहं-भावके आधारपर संबंधोंकी पारस्परिक क्रियाओंको उस रूपमें विकसित करे जिसे हम पार्थिव प्रकृतिमें सक्रिय देखते हैं।

एक बार जब मन अस्तित्वमें आ गया, तो प्राण और वस्तु-रूप भी आते हैं; क्योंकि प्राण तो शक्ति और क्रियाका, चेतनाके अनेक नियत केन्द्रोंसे ऊर्जाके संबंध और परस्पर क्रियाका निर्धारण मात्र है,—इन केन्द्रोंका स्थान या कालमें नियत होना आवश्यक नहीं है, बल्कि वे एक वैश्व सामंजस्यको अवलंबन देनेवाले शाश्वतके आत्मा-रूपों या सत्ताओंके निरवच्छिन्न सहअस्तित्वमें नियत होते हैं। हो सकता है कि वह प्राण-लीला उस प्राण-लीलासे बहुत भिन्न हो जिसे हम जानते या जिसकी हम कल्पना करते हैं; किन्तु सार रूपसे यह वही सक्रिय तत्त्व होगा जिसे हम यहाँ जीवनशक्ति-रूपमें अंकित देखते हैं—यह वह तत्त्व है जिसे प्राचीन भारतीय मनीषियोंने वायु या प्राणका नाम दिया था, यह विश्वमें वह प्राण-धातु, सद्वस्तुमय इच्छा और ऊर्जा है जो सत्ताके नियत रूप और कर्म तथा सचेतन क्रियाशक्तिमें कार्यान्वित होती हैं। स्थूल देहके संबंधमें हमारी जो दृष्टि और इन्द्रिय-बोध है, रूपधातु उससे बहुत भिन्न हो सकती है, बहुत अधिक सूक्ष्म हो सकती है, अपने आत्म-विभाजन और पारस्परिक प्रतिरोधके धर्ममें बहुत कम कठोरतासे बाँधनेवाली हो सकती है, और हो सकता है कि शरीर या रूप उपकरण हों, कारागार नहीं; तथापि, वैश्व अन्योन्य-क्रियाके लिये रूप और धातुका कोई-न-कोई निर्धारण सदा आवश्यक रहेगा, भले ही वह केवल मानस-शरीर हो या कोई ऐसी वस्तु हो जो स्वतन्त्रतम मानस-शरीरसे भी अधिक ज्योतिर्मय, अधिक सूक्ष्म हो, और अधिक बल तथा स्वतंत्रतासे अनुक्रिया करती हो।

इससे यह परिणाम निकलता है कि जहाँ कहीं विश्व है, वहाँ यदि प्रारम्भमें कोई एक ही तत्त्व दृश्यमान हो, प्रथमतः वह तत्त्व वस्तुओंका एकमात्र तत्त्व प्रतीत होता हो और जगत्‌में पीछे प्रकट होनेवाली अन्य सभी वस्तुएँ उसी तत्त्वके रूपों और परिणामोंके अतिरिक्त और कुछ न प्रतीत होती हों और वे वैश्व अस्तित्वके लिये अपने-आपमें अनिवार्य प्रतीत न होती हों, तो भी सत्ताके द्वारा प्रकट किया गया ऐसा रूप अपने यथार्थ सत्यका एक भ्रान्त छद्मवेश या प्रतीयमान रूप ही हो सकता है। विश्वमें जहाँ एक तत्त्व अभिव्यक्त होता है, वहाँ बाकी सब भी केवल विद्यमान और निष्क्रिय रूपसे अंतर्निहित ही नहीं होंगे, प्रत्युत गुप्त रूपसे सक्रिय भी। किसी भी लोकको लें तो उसकी सत्ताके क्रम और सामंजस्य ऐसे हो सकते हैं कि ये सातों तत्त्व क्रियाशीलताकी अधिक या कम मात्रामें खुले रूपसे विद्यमान हों; हो सकता है कि किसी अन्य लोकमें वे सब किसी एक तत्त्वके अन्दर संवृत हों जो उस लोकमें विकासक्रमका आरंभिक या आधारभूत तत्त्व बन जाय, किन्तु जो संवृत है उसका विकास होना अवश्यम्भावी है। सत्ताके सप्तधा वीर्यका विकास, उसके सप्तविध नामकी संसिद्धि उस हर लोककी नियति होगी जिसका आरम्भ प्रतीयमान रूपसे एक ही शक्तिके अन्दर सबके निवर्तनसे होता है।[4] सुतरां, भौतिक विश्व वस्तुस्थितिके अनुसार इस बातके लिये बाध्य था कि वह अपने छिपे प्राणमेंसे प्रकट प्राणको, अपने छिपे मनमेंसे व्यक्त मनको विकसित करे और उसी वस्तुस्थितिके अनुसार वह अपने छिपे अतिमानससे व्यक्त अतिमानसको और अपने अन्दर छिपे आत्मामेंसे सच्चिदानन्दकी त्रिविध महिमाको भी अवश्य विकसित करेगा। एकमात्र प्रश्न यह होता है : क्या पृथ्वी उस उन्मज्जनकी स्थली बनेगी ? या, क्या मानव-सृष्टि इस भौतिक रंगमंचपर या किसी अन्यपर, कालके विशाल चक्रोंके इस आवर्तनमें या किसी अन्यमें उस उन्मज्जनका उपकरण और वाहन बनेगी ? प्राचीन ऋषियोंने मनुष्यकी इस सम्भावनामें विश्वास किया था और उसे उसकी दिव्य नियति माना था; आधुनिक चिन्तक इसकी धारणातक नहीं करता, अथवा, यदि धारणा करता भी है, तो उसे अस्वीकार करता या उसपर सन्देह करता है। अति-मानव यदि उसकी दृष्टिमें आता भी है तो उसे वह मन या प्राणके

---

4. किसी भी लोकको लें तो उसमें निवर्तनका होना आवश्यक नहीं है, यह हो सकता है कि कोई एक तत्त्व मुख्य रहे. अन्य तत्त्व उसके सामने गौण रहें या उस एकमें समाविष्ट रहें; उस दशामें विकासक्रम उस लोकव्यवस्थाके लिये आवश्यक नहीं होता।

राजसंस्करण-रूपमें ही देखता है; उसे कोई अन्य सम्भावना नहीं दीखती, इन तत्त्वोंसे परे कुछ नहीं दीखता, क्योंकि अबतक इन्हीं तत्त्वोंने हमारी सीमा और परिधि अंकित की है। इस प्रगतिशील जगत्में, इस मानव जीवके लिये, जिसमें दिव्य स्फुलिंग प्रज्वलित किया गया है, सम्भावना यह है कि यथार्थ बुद्धिमत्ता उच्चतर अभीप्साके साथ निवास करेगी, न कि अभीप्साको अस्वीकार करनेकी वृत्तिके साथ, न कि उस आशाके साथ जो अपने-आपको प्रत्यक्ष सम्भावनाओंकी उन संकीर्ण दीवारोंमें सीमित और परिच्छिन्न करती है जो हमारी मध्यवर्ती प्रशिक्षणशाला ही होती हैं। वस्तुओंकी आध्यात्मिक धारामें, हम अपनी दृष्टि और अपनी अभीप्सा जितनी ऊँची प्रक्षिप्त करेंगे, उतना ही महत्तर सत्य हमपर अवतीर्ण होना चाहेगा, क्योंकि वह सत्य हमारे अन्तरमें पहलेसे ही विद्यमान है और अभिव्यक्त प्रकृतिमें जो आवरण उसे छिपाये रखता है उससे मुक्त होनेके लिये पुकार रहा है।

अध्याय अट्ठाईस

अतिमानस, मानस और अधिमानसी माया

ऋतेन ऋतमपिहितं ध्रुवं वां सूर्यस्य यत्र विमुचन्त्यश्वान्।
दश शता सह तस्थुस्तदेकं देवानां श्रेष्ठं वपुषामपश्यम्॥

एक ध्रुव है, एक ऋत है जो कि एक ऋतसे छिपा हुआ है जहाँ सूर्य अपने अश्वोंको विमुक्त करता है। दस सहस्र (उसकी किरणें) एकत्र हुईं—वह एकं तत्। मैंने देवोंके अत्यन्त श्रेष्ठ रूपोंको देखा। —ऋग्वेद 5. 62. 1

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत् त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥
पूषन्नेकर्षे............व्यूह रश्मीन्समूह।
···यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि।
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि॥

सत्यका मुख एक सुनहले पात्रसे ढका हुआ है, हे पोषक सूर्य ! सत्य-धर्मके लिये, दृष्टिके लिये उसे हटा दो। हे सूर्य ! हे एकमात्र द्रष्टा ! अपनी किरणोंको व्यूहवद्ध करो, उन्हें एकत्रित करो—अपना परम कल्याणमय रूप मुझे देखने दो; वह जो पुरुष सर्वत्र है, वही मैं हूँ। —ईशोपनिषद् 15,16

सत्यम्, ऋतं, बृहत्।

सत्य, ऋत, वृहत्।

—अथर्ववेद 12. 1. 10

अभवत्...सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्। यदिदं किं च॥

वह सत्य और अनृत (मिथ्यात्व) दोनों हो गया। वह सत्य हो गया, जो कुछ भी यह है वह सब भी।

—तैत्तिरीयोपनिषद् 2. 6

अब एक बात स्पष्ट करनी बाक़ी है जो अभीतक अस्पष्ट छोड़ दी गयी है, वह है अज्ञानमें स्खलित होनेकी प्रक्रिया, क्योंकि, हमने देखा है कि मन, प्राण या जड़के मौलिक स्वरूपमें ऐसा कुछ भी नहीं है जिसके कारण ज्ञानसे च्युत होना आवश्यक हो। निस्संदेह यह दिखाया जा चुका है कि अज्ञानका आधार है चेतनाका विभाजन,—वैयक्तिक चेतनाका विश्व-चेतना तथा विश्वातीत चेतनासे विभाजन, यद्यपि वह फिर भी उनका अन्तरंग अंग है और उनसे तत्त्वतः अपृथक्य है; मनका उस अतिमानसिक सत्यसे विभाजन, जिसकी उसे गौण क्रिया होनी चाहिये; प्राणका आद्या शक्तिसे विभाजन, जिसका वह एक ऊर्जारूप है; और जड़का मूल सत्से विभाजन जिसका वह एक वस्तु-रूप है। परन्तु अब भी यह स्पष्ट करना बाकी है कि अविभाज्यके अन्दर यह विभाजन कैसे घटित हुआ, शुद्ध सन्मात्रमें चित्-शक्तिकी किस विशेष आत्म-क्षयी या आत्म-विलोपी क्रियासे हुआ : क्योंकि, जब सब कुछ उसी शक्तिका स्पंद है तो अज्ञानका क्रियात्मक और प्रभावकारी व्यापार केवल तभी उद्भूत हो सकता है जब उस शक्तिकी कोई ऐसी क्रिया हुई हो जो उसकी अपनी पूर्ण ज्योति तथा वीर्यको आवृत कर दे। किन्तु इस समस्यापर विचार करना हम तबके लिये छोड़ सकते हैं जब हम ज्ञान-अज्ञानके द्विविध व्यापारकी परीक्षा अधिक निकटसे करेंगे। यह व्यापार ही हमारी चेतनाको प्रकाश और अंधकारका एक मिश्रण, अतिमानसिक सत्यके पूर्ण दिवस और जड़ अचित्तिकी रात्रिके बीच एक अर्ध-प्रकाश बनाता है। अभी जो कुछ ध्यानमें रखना आवश्यक है वह केवल इतना ही है कि वह, अपने सार-रूपमें, अवश्य ही चित्-पुरुषका किसी एक ही स्पंद तथा स्थितिपर ऐकांतिक रूपसे संकेन्द्रित होना है, जो चेतना और सत्ताके बाकी सारे अंशको पीछे कर देता है और उसे उस एक स्पंदके अब समग्र न रह गये ज्ञानसे आवृत कर देता है।

तथापि, इस समस्याका एक ऐसा पक्ष है जिसपर तत्काल विचार करना आवश्यक है; वह मन और अतिमानसिक ऋत-चित्के बीच बनायी गयी खाई है, एक ओर तो हमारा परिचित मन, और दूसरी ओर अति-मानसिक ऋत-चित्, जिसके संबंधमें हमने देखा है कि मन अपने मूलमें उसीकी एक गौण क्रिया है। वस्तुतः यह खाई काफी बड़ी है, और चेतनाके इन दो स्तरोंके बीच यदि मध्यवर्ती श्रेणियाँ नहीं हैं, तो इनमें किसी एकसे दूसरेकी ओर संक्रमण, चाहे वह जड़के अन्दर आत्माके उतरते निवर्तनमें हो, अथवा जड़में आत्माकी ओर वापस ले जानेवाली प्रच्छन्न भूमिकाओंके सदृश विवर्तनमें हो, यदि असम्भव नहीं तो अत्यधिक मात्रामें

असंभाव्य अवश्य लगता है। क्योंकि, मन, जैसा हम उसे जानते हैं, अज्ञानकी शक्ति है जो सत्यको खोजती है, उसे पानेके लिये कठिनाईसे टटोलती रहती है, किन्तु शब्द और भावमें, मनकी रचनाओंमें, ऐन्द्रिय रचनाओंमें उस सत्यकी मानसिक रचनाओं और प्रतिरूपोंतक ही पहुँच पाती है—मानो उसकी प्राप्तिकी सीमा किसी सुदूर सद्वस्तुके चमकदार या छायात्मक चित्रों या चलचित्रोंतक ही है। इसके विपरीत, अतिमानस सत्यको वस्तुत: और स्वभावत: अविकृत किये रहता है और उसकी रचनाएँ परम सद्वस्तुके रूप होती हैं, न कि उसके निर्माण, प्रतिरूप या संकेतात्मक आकार। इसमें संदेह नहीं कि हमारे अन्दर विकसित होते मनको इस प्राण और शरीरके तमकी पेटीमें रहनेके कारण बाधा पहुँचती है, और निवर्तनकारी अवतरणमें आनेवाला आद्य मानस-तत्त्व उस श्रेष्ठतर शक्तिकी वस्तु होता है जहाँतक हम पूरी तरह नहीं पहुँच पाये हैं। वह अपने स्व-क्षेत्र या प्रदेशमें स्वतन्त्रतासे क्रिया कर सकता है, अधिक प्रकटनकारी निर्माणोंका, अधिक सूक्ष्मतासे प्रेरित रचनाओंका, अधिक सूक्ष्म तथा सार्थक मूर्तरूपोंका निर्माण कर सकता है जिनमें सत्यकी ज्योति विद्यमान और प्रत्यक्ष रहती है। किन्तु तो भी यह संभावना नहीं रहती कि उसकी स्वभावसिद्ध क्रिया तात्त्विक रूपसे भिन्न होगी, क्योंकि वह भी अज्ञानमें ले जानेवाली वृत्ति ही है, वह अभीतक ऋत-चित्का अपृथक्कृत भाग नहीं है। सन्मात्रके उतरते और चढ़ते सोपानमें कहीं-न-कहीं चेतनाकी एक मध्यवर्ती शक्ति और भूमिका होगी, शायद उससे भी अधिक और कुछ, ऐसी कुछ होगी जिसमें आदि सर्जक शक्ति होगी, जिसके द्वारा ज्ञानावस्थित मनका अज्ञानावस्थित मनकी ओर निवर्तनकारी संक्रमण संपादित हुआ और जिसके द्वारा फिरसे विवर्तनका उल्टा संक्रमण बोधगम्य और संभव होता है। निवर्तनकारी संक्रमणके लिये यह मध्यस्थता एक युक्तियुक्त अनिवार्यता है, और विवर्तनकारी संक्रमणके लिये एक व्यावहारिक आवश्यकता। कारण, विकासक्रममें, निस्संदेह, आमूल संक्रान्तियाँ होती हैं; ये अव्याकृत ऊर्जासे जड़ व्यूहकी ओर, निष्प्राण जड़से प्राणकी ओर, अवचेतन अथवा अवमानसिकसे एक प्रत्यक्षणकारी, अनुभवकारी और क्रियाकारी प्राणकी ओर, आरंभिक पशु-मनसे धारणात्मक युक्तिशील मनकी ओर होती हैं जो प्राणका निरीक्षण और शासन करता और अपने-आपका भी निरीक्षण करता है, एक स्वतंत्र इकाईके रूपमें क्रिया करनेकी और आत्म-अतिक्रमणके लिए सचेतन चाह करनेकी योग्यता रखता है; किन्तु ये छलांगें, जब वे काफी लंबी होती हैं, तब भी, कुछ मात्रामें धीमे श्रेणी-क्रमके द्वारा तैयार

की गयी होती हैं जिससे वे कल्पनीय और साध्य बनती हैं। अतिमानसिक ऋत-चित् और अज्ञानावस्थित मानसके बीच इतना बड़ा क्रम-भंग नहीं हो सकता जितना दिखाई देता है।

किन्तु, यदि ऐसी अन्तर्वर्ती श्रेणियोंका अस्तित्व है तो यह स्पष्ट है कि वे मानव-मानसके लिये अतिचेतन होंगी, क्योंकि ऐसा लगता है कि मन अपनी स्वाभाविक अवस्थामें सत्ताकी इन उच्चतर श्रेणियोंमें बिलकुल प्रवेश नहीं पाता। मनुष्य अपनी चेतनामें मनके द्वारा सीमित है, यहाँतक कि वह मनके किसी विशेष प्रसार या क्रमके द्वारा भी सीमित होता है। जो कुछ उसके मनसे नीचे है,—वह चाहे अवमानसिक हो या मानसिक होकर भी उसके क्रमसे नीचे हो,—उसे सरलतासे अवचेतन या संपूर्ण निश्चेतनासे अप्रभेद्य लगता है; उसके ऊपर जो कुछ है वह उसे अतिचेतन लगता है और उसमें ऐसी प्रवृत्ति रहती है कि वह उसे संवित्-शून्य, एक प्रकारकी ज्योतिर्मयी निश्चेतना माने। जैसे वह ध्वनियों या रंगोंके किसी विशेष क्रमतक सीमित रहता है और जो कुछ उस क्रमसे ऊपर या नीचे है, वह उसके लिये अश्रव्य और अदृश्य, या कम-से-कम, अप्रभेद्य होता है, वही बात उसकी मानसिक चेतनाके क्रमके साथ रहती है, उसके दोनों छोरोंपर एक असामर्थ्यका परिसीमन रहता है जो उसकी ऊपरकी और नीचेकी सीमा अंकित करता है। मनुष्यके पास पशुके साथ संसर्गके पर्याप्त साधन भी नहीं हैं; जब कि पशु उसके बराबर तो नहीं, पर उसका मानसिक सगोत्र अवश्य है। और, चूँकि मनुष्य अपने अन्दर या अपनी जातिमें जिन गुणोंको देखता है पशुके गुण उनसे भिन्न-प्रकारके और अधिक संकुचित होते हैं, इसलिये वह यहाँ तक कह डालता है कि पशुमें मन या यथार्थ चेतना नहीं है; अवमानसिक प्राणीका वह बाहरसे निरीक्षण तो कर सकता है, किन्तु उसके साथ लेशमात्र भी संलाप नहीं कर सकता, न उसकी प्रकृतिमें अंतरंगतासे प्रवेश कर सकता है। समान रूपसे, उसके लिये अतिचेतन भी एक बन्द पुस्तक है जो, हो सकता है, कोरे पन्नोंसे ही भरी हो। तो, प्रथम दृष्टिमें ऐसा प्रतीत होगा मानो उसके पास चेतनाकी इन उच्चतर श्रेणियोंसे संपर्क करनेका कोई साधन नहीं है। यदि ऐसा है तो वे कड़ियों या पुलोंका काम नहीं कर सकतीं और उसका विकास उसके उपलब्ध मनकी श्रेणीके साथ समाप्त हो जायगा और वह उसको पार करके आगे नहीं जा सकता; ये सीमाएँ खींचकर प्रकृतिने उसके ऊर्ध्वमुखी प्रयासपर 'इति' लिख दिया है।

किन्तु, जब हम अधिक निकटतासे देखते हैं तो पाते हैं कि यह

सामान्यावस्था छलनेवाली होती है और वास्तवमें ऐसी कई दिशाएँ हैं जिनमें मानव-मन अपने-आपसे परे पहुँच जाता है, आत्मातिक्रमणकी ओर बढ़ता है; ठीक ये दिशाएँ ही संपर्ककी आवश्यक रेखाएँ या आवृत या अर्ध-आवृत राहें हैं जो कि मानव-मनको स्वयं-प्रकाशमान 'आत्मा' की चेतनाकी उच्चतर भूमिकाओंसे संबद्ध करती हैं। प्रथमतः, हम देख चुके हैं कि मनुष्यके ज्ञान-साधनोंमें संबोधिका क्या स्थान है, और संबोधि स्वरूपतः अज्ञ मनके अन्दर इन उच्चतर भूमिकाओंकी स्वभावसिद्ध क्रियाका एक प्रक्षेप है। यह सच है कि उसकी क्रिया मानव-मानसमें हमारी सामान्य बुद्धिके हस्तक्षेपोंके कारण बहुत छिप जाती है; शुद्ध संबोधि हमारी मानसिक क्रियाशीलतामें एक विरल घटना होती है: क्योंकि जिसे हम संबोधिका नाम देते हैं वह चीज सामान्यतः अपरोक्ष ज्ञानका एक बिन्दु होती है, इसे तुरंत पकड़कर उसपर मनके द्रव्यका मुलम्मा कर दिया जाता है, इससे संबोधि एक ऐसे आकारग्रहणका अदृश्य या अति सूक्ष्म केन्द्र ही हो पाती है जो पुंज-रूपमें बौद्धिक या किसी अन्य रूपसे मानसिक लक्षणशाली होता है। अथवा संबोधिकी झलक अपने-आपको अभिव्यक्त करनेका अवकाश पाये, उससे पहले ही उसका स्थान लेने या उसमें बाधा देनेके लिये कोई नकल करनेवाली तेज गति, अंतर्दृष्टि, या क्षिप्र प्रत्यक्षण, या विचारकी कोई तेज छलाँग मारनेवाली प्रक्रिया आ जाती है, जो कि प्रकट तो आती हुई संबोधिके उद्दीपनके कारण ही होती है, किन्तु उसके प्रवेशको अवरुद्ध करती है, अथवा उसे उसके स्थानपर आये मनके सही या गलत सुझावसे आवृत कर देती है, किन्तु इन दोनोंमें कोई भी प्रामाणिक संबोधि-क्रिया नहीं है। किंतु, तो भी, ऊपरके इस हस्तक्षेपका तथ्य, यह तथ्य कि हमारे समस्त मौलिक विचारोंके पीछे, वस्तुओंके सच्चे प्रत्यक्षके पीछे एक आवृत, अर्ध-आवृत, या क्षिप्रतासे अनावृत होनेवाला संबोधि-तत्त्व होता है, मन और उससे ऊपरके संबंधको प्रस्थापित करनेके लिये पर्याप्त है। वह आत्माकी श्रेष्ठतर भूमिकाओंके साथ संपर्क करने और उनमें प्रवेश करनेकी राह खोल देता है। और, मनका प्रयास होता है व्यक्तिगत अहं-सीमितताके अतिक्रमणका, वस्तुओंको एक विशेष निर्व्यक्तिकता और विश्वभावमें देखनेका। विश्वात्माका प्रथम गुण है निर्व्यक्तिकता; विश्व-भाव, किसी एक या परिसीमनकारी दृष्टिकोणसे सीमित न होना, यह वैश्व दृष्टि और ज्ञानका गुण है: अतः यह प्रवृत्ति मनके इन सीमित क्षेत्रोंको विस्तृत करती है, यह विस्तरण चाहे कितना ही प्राथमिक क्यों न हो, किन्तु वह होता है विश्वत्वकी ओर, ऐसे गुणकी ओर जो उच्चतर मनोलोकोंका

स्व-धर्म ही होता है, उस अतिचेतन विश्वमनकी ओर, जो कि, जैसा हमने संकेत किया है, वस्तुस्थितिको देखते हुए, वह मूल मनोक्रिया होगा जिसकी व्युत्पत्तिक और निकृष्ट प्रक्रिया ही हमारा मन है। फिर, ऐसा भी नहीं है कि हमारे मनकी सीमाओंमें ऊर्ध्वसे होते अनुप्रवेशका सर्वथा अभाव हो। प्रतिभाके व्यापार यथार्थतः ऐसे ही अनुप्रवेशका परिणाम होते हैं,—निस्संदेह आवृत रूपमें, क्योंकि श्रेष्ठतर चेतनाका प्रकाश संकीर्ण सीमाओंमें क्रिया करता है, सामान्यतया किसी विशेष क्षेत्रमें, अपनी विशिष्ट ऊर्जाओंका कोई नियमित पृथक् संगठन किये बिना, सचमुचमें प्रायः बिल्कुल मनमाने ढंगसे, अनियमिततासे और एक अतिप्राकृत या अप्राकृत दायित्वहीन शासनके साथ करता है; यही नहीं, मनमें प्रवेश करता हुआ, वह अपने-आपको मनोधातुके अधीन और अनुकूल कर देता है जिससे हमतक केवल एक आपरिवर्तित या क्षीण क्रिया ही पहुँच पाती है, न कि वह समग्र *मूलगत दिव्य ज्योतिर्मयता जो उस चेतनाकी होती है जिसे हम अपनेसे* परेकी, अपने मस्तकसे ऊपरकी चेतना कह सकते हैं। तथापि, हमारी कम आलोकित या कम सबल सामान्य मनोक्रियाकी सीमाको पार करने वाले, अंतःप्रेरणाके सत्योद्भासक दर्शनके या संबोधिमूलक प्रत्यक्ष और संबोधिमूलक विवेकके व्यापार विद्यमान रहते हैं और उनका मूल निर्भ्रांत रहता है। अंतमें, रहस्यमय और आध्यात्मिक अनुभूतिका वृहत् तथा बहुविध क्षेत्र है, और वहाँ हमारी चेतनाको वर्तमान सीमाओंसे आगे विस्तृत करनेके लिये इस क्षेत्रके द्वार चौड़े खुले मिलते हैं बशर्ते कि हम अनुसंधान करनेसे इन्कार करनेवाली ज्ञान-विरोधी वृत्ति रखते हुए, या मनकी सामान्य अवस्थाकी सीमाओंसे आसक्त रहते हुए, उन द्वारोंको बन्द न कर दें, या वे द्वार हमारे सामने जो प्रदेश खोलते हैं उनसे हम विमुख न हो जायें। किन्तु अपने वर्तमान अनुसंधानोंमें हम उन संभावनाओंकी उपेक्षा नहीं कर सकते जिन्हें मानवजातिके प्रयासके ये प्रदेश हमारे निकट लाते हैं, न आत्म-संबंधमें और आवृत सद्वस्तुके संबंधमें उनके द्वारा मानव-मनको दिये गये अतिरिक्त ज्ञानकी उपेक्षा कर सकते हैं, न उस महत्तर आलोककी ही उपेक्षा कर सकते हैं जो उन्हें हमारे ऊपर क्रिया करनेका अधिकार देता और उनके अस्तित्वका नैसर्गिक बल होता है।

हम अपने सचेतन जीवनकी श्रेष्ठतर भूमिकाओंतक पहुँच सकें इसके लिये चेतनाकी दो क्रमागत गतियाँ हैं, दोनों ही कठिन हैं, किन्तु भली-भाँति हमारे सामर्थ्यकी पहुँचमें हैं। पहले एक अन्तर्मुखी गति होती है जिसके द्वारा अपने सतही मनमें रहनेके बदले हम अपने बाह्य आत्मा और

अभी अवगूढ़ रहनेवाले आत्माके बीचकी दीवार तोड़ देते हैं; यह कार्य एक क्रमिक प्रयत्न और अनुशासनके द्वारा किया जा सकता है या उग्र संक्रमणके द्वारा, कभी-कभी सबल अनिच्छित तोड़-फोड़के द्वारा भी किया जा सकता है,—यह पिछला मार्ग अपनी सामान्य सीमाओंके अन्दर ही सुरक्षित रहनेके आदी सीमित मानव-मनके लिये कदापि निरापद नहीं होता; किन्तु दोनों ही मार्गोंसे, सुरक्षित रूपसे या अरक्षित रूपसे, यह कार्य किया जा सकता है। अपने-आपके इस गुप्त भागके अन्दर हम पाते हैं एक आंतरिक पुरुष, एक अन्तरात्मा; एक आंतरिक मन, एक आंतरिक प्राण, एक आंतरिक सूक्ष्म-भौतिक सत्ता, वह हमारे बाह्यतलके मन, प्राण या देहकी अपेक्षा अपनी शक्यताओंमें विशालतर है, अधिक नमनीय है, अधिक सबल है, एक बहुविध ज्ञान और क्रियाके लिये अधिक समर्थ है। विशेषत: उसमें विश्व-शक्तियों, विश्व-गतियों और विश्वके पदार्थोंके साथ अपरोक्ष संपर्ककी, उनके अपरोक्ष अनुभवकी और उनकी ओर सीधे उन्मीलनकी, उनपर अपरोक्ष क्रिया करनेकी और अपने-आपको व्यक्तिगत मन, व्यक्तिगत प्राण, और शरीरकी सीमाओंसे परे विस्तृत करनेकी भी समर्थता है। इससे वह अपने-आपको अधिकाधिक एक ऐसे विश्वपुरुष-रूपमें अनुभव करता है जो हमारे अति संकुचित मनोमय, प्राणमय, अन्नमय जीवनकी वर्तमान दीवारोंसे सीमित नहीं रह जाता। यह विस्तरण इतना अधिक विस्तृत हो जा सकता है कि वह विश्व-मनकी चेतनाके अन्दर विश्व-प्राणके साथ एकत्वमें, वैश्व जड़तत्त्वके साथ एकत्वमें भी संपूर्णत: प्रवेश कर जाय। तथापि, यह तादात्म्य, फिर भी, क्षीणता-प्राप्त वैश्व सत्य या वैश्व अज्ञानके साथ ही होता है।

किन्तु, एक बार जब आंतरिक सत्ताके अन्दर यह प्रवेश निष्पन्न हो जाता है, तो आंतर आत्मामें हमारे वर्तमान मनोस्तरसे परेकी वस्तुओंकी ओर उन्मीलनका, उनकी ओर ऊर्ध्वमुखी आरोहणका सामर्थ्य दिखाई देता है; यह हमारे अन्दर द्वितीय आध्यात्मिक संभावना है। प्रथम अति सामान्य परिणाम होता है एक वृहत्, स्थाणु तथा नीरव आत्माको ज्ञात करना; उस आत्माको हम अपनी प्रकृत अथवा आधारभूत सत्ता, और हम और जो कुछ भी हैं उस सबका आधार अनुभव करते हैं। यह भी हो सकता है कि हमारे सक्रिय जीवन और आत्म-बोध, दोनोंका अंत या निर्वाण एक ऐसी सद्वस्तुमें हो जाय जो अनिर्देश्य और अनिर्वचनीय हो। किन्तु हमें यह उपलब्धि भी हो सकती है कि यह आत्मा केवल हमारी अपनी निजकी आध्यात्मिक सत्ता ही नहीं, अपितु अन्य सबका भी सच्चा आत्मा

है; तब वह विश्व-सत्ताके आधारभूत सत्यके रूपमें उपस्थित होता है। यह संभव है कि समस्त व्यष्टि-भावके निर्वाणमें ही रहा जाय, किसी स्थाणु उपलब्धिपर रुक जाया जाय, या विश्व-क्रियाको नीरव आत्मापर आरोपित बाह्य क्रीड़ा या भ्रम-रूपमें मानते हुए विश्वसे परे किसी परम, अचल एवं अक्षर स्थितिमें जाया जाय। किन्तु अतिप्राकृत अनुभूतिकी एक अन्य, कम निषेधात्मक धारा भी सामने आती है; क्योंकि वहाँ हमारे नीरव आत्माके अन्दर ज्योति, ज्ञान, बल, आनन्द या अन्य अतिप्राकृत ऊर्जाओंका एक विशाल क्रियात्मक अवतरण होता है, और हम आत्माके उच्चतर प्रदेशोंमें आरोहण भी कर सकते हैं जहाँ उसकी निश्चल स्थिति उन महती तथा ज्योतिर्मयी ऊर्जाओंका आधार होती है। दोनों ही दशाओंमें यह स्पष्ट है कि हम मनसे परे उठकर एक आध्यात्मिक स्थितिमें पहुँच जाते हैं; किन्तु, क्रियात्मक स्पंदमें, परिणाम-रूपमें आनेवाली चित्-शक्तिकी जो महत्तर क्रिया होती है वह या तो मात्र ऐसी शुद्ध आध्यात्मिक क्रियात्मकताके रूपमें उपस्थित हो सकती है जिसका स्वरूप अन्यथा निर्दिष्ट नहीं होता, अथवा, वह एक ऐसा आध्यात्मिक मनोप्रदेश प्रकट कर सकती है जहाँ मन परम सद्वस्तुके प्रति अज्ञ नहीं रह जाता,—यह तबतक भी अतिमानसिक स्तर नहीं है, किन्तु, तो भी, अतिमानसिक ऋत-चित्से उद्भूत और उसके ज्ञानके कुछ अंशसे ज्योतिष्मान तो रहता ही है।

हम जिस रहस्यको, संक्रमणके साधनको, एक अतिमानसिक रूपान्तरकी ओरके आवश्यक डगको खोज रहे हैं, वह हमें इस दूसरे विकल्पमें मिलता है; कारण, हमें आरोहणकी एक क्रमिकता, ऊपरसे आती हुई अधिकाधिक गहरी तथा महती ज्योति तथा शक्तिके साथ होता संपर्क, तीव्रताओंका क्रम दिखाई देते हैं जिन्हें हम मनके आरोहणमें अथवा मनसे परेके तत्से उसके अन्दर होते अवतरणमें इतनी सारी सीढ़ियोंके समान मान सकते हैं। हमें अनुभव होता है कि स्वतःस्फूर्त ज्ञानके पुंज समुद्रकी नाईं बरस रहे हैं; यह ज्ञान विचारका रूप धारण करता है, किन्तु इसका स्वभाव विचारकी उस प्रक्रियासे भिन्न होता है जिसके हम अभ्यस्त होते हैं; क्योंकि यहाँ न कोई खोज जैसी चीज होती है, न मानसिक निर्माणका कोई चिह्न मिलता है, न परिकल्पना या कठिन आविष्कारका श्रम ही होता है; यह एक उच्चतर मनसे आता हुआ एक स्वचलित तथा स्वतःस्फूर्त ज्ञान होता है, वह मन गुप्त और अवरुद्ध सत्यताओंकी खोज करता हो, ऐसा नहीं लगता; बल्कि ऐसा प्रतीत होता है कि सत्य उसे अधिकृत है। यह दिखाई देता है कि एक ही दृष्टिमें ज्ञानके पुंजको तुरत आयत्त करनेमें यह 'विचार' मनकी अपेक्षा

वहुत अधिक समर्थ होता है, उसका स्वभाव वैश्व होता है, उसपर वैयक्तिक विचारणाकी छाप नहीं होती। इस सत्यात्मक विचारसे परे हम एक महत्तर ज्योतिको देख सकते हैं जो एक वर्द्धित वीर्य, तीव्रता तथा चालक शक्तिसे अनुप्राणित है, वहाँ सत्यात्मिका दृष्टिके स्वरूपकी एक ज्योतिर्मयता रहती है जिसमें विचार-रूपायण एक गौण और उपाश्रित क्रिया होता है। यदि हम सत्यके सूर्यका वैदिक रूपक स्वीकार करें, और इस अनुभवमें यह रूपक एक सच्ची वस्तु भी बन जाता है, तो हम उच्चतर मनकी क्रियाकी तुलना प्रशान्त और स्थिर सूर्यालोकसे कर सकते हैं, और इस उच्चतर मनसे आगे जो आलोकित मन है उसकी ऊर्जाकी तुलना जाज्वल्यमान सूर्य-सत्त्वके पुंजीभूत विद्युतोंके निर्झरणोंसे कर सकते हैं। और भी आगे सत्यात्मिका शक्तिका एक और भी महत्तर बल मिल सकता है. एक अंतरंग और यथातथ्य सत्यात्मिका दृष्टि, सत्यात्मक विचार, सत्यात्मक बोध, सत्यात्मक अनुभव, सत्यात्मक क्रिया मिल सकती है, जिसे हम एक विशेष अर्थमें संबोधिका नाम दे सकते हैं; क्योंकि, यद्यपि एक श्रेष्ठतर शब्दकी अनुपस्थितिमें हमने इस शब्दका प्रयोग जाननेकी किसी भी अतिबौद्धिक अपरोक्ष विधिके लिये किया है, तथापि, हम वस्तुतः जिसे संवोधिके रूपमें जानते हैं वह स्वयंभू ज्ञानकी केवल एक विशेष वृत्ति ही है। यह नया प्रदेश उसका उत्स है; वह हमारी संवोधियोंको अपने निजके स्पष्ट धर्मका कुछ अंश देता है और वहुत स्पष्टतः एक महत्तर सत्यात्मिका ज्योतिका मध्यवर्ती होता है, उस ज्योतिके साथ हमारे मनका साक्षात् संसर्ग नहीं हो सकता। इस संवोधिके मूलमें हम एक अतिचेतन विश्वमनको पाते हैं, जिसका अतिमानसिक ऋत-चित्‌से अपरोक्ष संपर्क रहता है, एक आद्या तीव्रताको पाते हैं जो अपनेसे नीचेकी समस्त गतियोंका और सारी मानसिक ऊर्जाओंका निर्धारण करती है,—यह हमारा परिचित मानस नहीं होता, प्रत्युत एक अधिमानस होता है जो मानो किसी स्रष्टा अधिआत्माके विस्तृत पंखोंसे ज्ञान-अज्ञानके इस समस्त अपरार्धको छाये रहता है, उसे उस महत्तर ऋत-चित्‌के साथ संयुक्त करता है, जब कि साथ ही साथ वह उस महत्तर सत्यके मुखको अपने हिरण्मय पात्रसे हमारी दृष्टिसे ओझल रखता है; अपने जीवनके आध्यात्मिक धर्मकी, उसके उच्चतम लक्ष्यकी, उसकी गुप्त सद्वस्तुकी हमारी खोजमें वह अपनी अनन्त संभावनाओंकी वाढ़ लिये आता है जो कि एक साथ ही वाधा और मार्ग दोनों होती है। तो यही वह गुह्य कड़ी है जिसे हम खोज रहे थे; यही वह शक्ति है जो कि परम ज्ञान तथा वैश्व अज्ञानको एक साथ ही संयुक्त और विभक्त करती है।

अधिमानस, अपने स्वभाव और स्वधर्ममें, अतिमानसिक चेतनाका प्रतिनिधि है, अज्ञान-लोकके लिये उसका प्रतिनिधि है। अथवा, हम उसके बारेमें यह कह सकते हैं कि वह उसकी आवरिका प्रतिच्छाया है, विसदृश सादृश्यका पर्दा है जिसके द्वारा अतिमानस अज्ञानपर परोक्ष रूपसे क्रिया कर सकता है, उस अज्ञानका अंधकार परम ज्योतिका सीधा आघात सहने या ग्रहण करनेमें असमर्थ है। यहाँ तक है कि इस ज्योतिर्मय अधिमानस-तेजोमंडलके प्रक्षेपणसे ही अज्ञानके अन्दर एक क्षीण ज्योतिका विकिरण और उस विपरीत छायाका, अचित्तिका प्रक्षेप संभव ही हो पाया, जो छाया कि अपने अन्दर सारी ज्योतिको निगल जाती है। कारण, अतिमानस अधिमानसमें अपनी सारी सत्यताओंका संचार तो कर देता है, किन्तु उसे उन्हें ऐसी क्रिया-धारामें और वस्तुओंकी ऐसी संवित्‌के अनुसार रूपायित करनेको छोड़ देता है जो कि सत्यकी दृष्टि तो होती है, किन्तु साथ-ही-साथ अज्ञानका प्रथम जनक भी। अतिमानस और अधिमानसको एक ऐसी रेखा विभक्त करती है जो कि निर्बाध संचरण होने देती है, निम्नतर शक्तिको उच्चतर शक्तिसे वह सब कुछ लेने देती है जिसे कि उच्चतर शक्ति धारण किये रहती या देखती है, किन्तु मार्गमें वह स्वचलित रूपसे एक संक्रमणकालीन परिवर्तन बाध्य करती है। अतिमानसका अखण्डत्व सदैव वस्तुओंके स्वरूपभूत सत्यको, समग्र सत्यको और अपने वैयक्तिक आत्म-निर्धारणोंके सत्यको स्पष्टतः एक साथ गुँथा रखता है; उनके अन्दर वह एक अविच्छेद्य एकत्वको और उनके बीच एक-दूसरेके घनिष्ठ अनुप्रवेशको और एक-दूसरेकी संपूर्ण तथा मुक्त चेतनाको बनाये रखता है; किन्तु अधिमानसमें यह अखण्डता नहीं रह जाती। और फिर भी, अधिमानसको वस्तुओंके सार सत्यकी संवित् भलीभाँति रहती है; वह समग्रताका आलिंगन करता है, वह वैयक्तिक आत्म-निर्धारणोंको उनके द्वारा सीमित हुए बिना उपयोगमें लाता है; किन्तु, यद्यपि वह उनके एकत्वको जानता है, उसे एक आध्यात्मिक संबोधके अंतर्गत उपलब्ध कर सकता है, तथापि उसकी क्रियात्मक गतिधारा, अपनी सुरक्षाके लिये उसपर निर्भर करती हुई भी, उसके द्वारा सीधे निर्धारित नहीं होती। अधिमानसिक ऊर्जा अखण्ड तथा अविभाज्य सर्वावधारक 'एकत्व'की शक्तियों तथा रूपोंके पृथक्कीकरण और सम्मिलनका एक असीमेय सामर्थ्य लेकर अग्रसर होती है। वह प्रत्येक रूप या शक्तिको लेती है और उसे एक स्वतंत्र क्रिया देती है जिसमें प्रत्येक एक संपूर्ण पृथक् महत्त्व प्राप्त करता है और, कह सकते हैं, सष्टिके अपने निजी लोकको कार्यान्वित कर पाता है। पुरुष और प्रकृति,

(चित्-पुरुष और कार्यकारिणी शक्ति), ये अतिमानसिक सामंजस्यमें दो पक्षोंवाला मात्र एक ही सत्य है, परम सद्वस्तुकी सत्ता और क्रियात्मक शक्ति है; इनमें परस्पर विसंतुलन नहीं हो सकता, किसी एककी दूसरेपर प्रधानता नहीं हो सकती। अधिमानसमें हमें विदारणका मूल मिलता है, यहीं हमें सांख्य दर्शनके द्वारा इनके बीच किये गये तीक्ष्ण विभेदका मूल मिलता है जिसमें वे दो स्वतंत्र सत्ताओंके रूपमें प्रकट होते हैं, प्रकृति पुरुषपर आधिपत्य जमा पाती है, उसके स्वातंत्र्य और बलपर आच्छादित हो पाती है, उसे अपने रूपों और क्रियाओंका साक्षी और ग्राही मात्र बना छोड़ती है, और पुरुष प्रकृतिके आदि आवरणकारी जड़ तत्त्वका परित्याग कर अपनी पृथक् सत्तामें वापस चला जाता है और निर्बंध स्व-प्रभुत्वमें निवास करता है। यही बात दिव्य सद्वस्तुके अन्य रूपों या शक्तियोंके लिये है, एक और बहु, दिव्य व्यक्तित्व और दिव्य निर्व्यक्तित्व और बाकी सबके लिये हैं; साथ ही, प्रत्येक उस एक सद्वस्तुका एक-एक रूप और शक्ति ही है, किन्तु प्रत्येकको यह क्षमता दी गयी है कि वह समग्रके अन्दर एक स्वतंत्र सत्ता-रूपमें क्रिया करे, अपनी पृथक् अभिव्यक्तिकी संभावनाओंकी परिपूर्णतातक पहुँचे और उस पार्थक्यके क्रियात्मक परिणामोंको विकसित करे। साथ ही, अधिमानसमें यह पार्थक्य फिर भी एक अंतर्निहित आधारगत एकत्वके आधारपर खड़ा होता है; पृथक् हुए रूपों और शक्तियोंके संयोजन और संबंधकी सारी संभावनाएँ, उनकी ऊर्जाओंकी समस्त आदान-प्रदानशीलता और पारस्परिकता निर्बंध रूपसे संगठित होती हैं और उनका वास्तव रूपायण सदा संभव रहता है।

यदि हम उस परम सद्वस्तुकी शक्तियोंको इतने सारे देवताओंके रूपमें देखें तो कह सकते हैं कि अधिमानस कोटि-कोटि देवोंको कर्मक्षेत्रमें उन्मुक्त करता है, प्रत्येकको अपना-अपना लोक रचनेका बल दिया जाता है, प्रत्येक लोक दूसरोंके साथ व्यवहार, संसर्ग और पारस्परिक क्रीड़ामें समर्थ रहता है। वेदमें देवोंकी प्रकृतिके भिन्न-भिन्न रूप हैं; कहा गया है कि वे सब एक ही सत् हैं जिसे विप्रगण विभिन्न नाम देते हैं; फिर भी प्रत्येक देवकी पूजा इस भांति की जाती है मानो वही अकेला परम सत् है, उसीमें सारे देव सम्मिलित हैं या उसीमें सारे देव समाये हुए हैं; और तो भी, प्रत्येक एक पृथक् देवता भी होता है, जो कभी साथी देवोंके साथ एक होकर, कभी उनसे पृथक् होकर और कभी उस अनन्य सत्से सम्बद्ध अन्य देवोंके प्रतीयमान विरोधमें भी कार्य करता है। अतिमानसमें यह सब उस एक सत्की एक सुसमंजस क्रीड़ामें साथ-साथ धारित होगा;

अधिमानसमें इन तीनों अवस्थाओंमेंसे प्रत्येक एक पृथक् क्रिया या क्रिया-आधार हो सकेगी, प्रत्येकमें विकासका अपना-अपना नियम हो सकेगा और अपने-अपने परिणाम हो सकेंगे, और तो भी, प्रत्येक अवस्था अन्योंके साथ एक अधिक संमिश्र सामंजस्यमें संयुक्त होनेका वल वनाये रखेगी। जो बात उस एक सत्की है, वही उसकी चेतना एवं शक्तिकी भी है। वह एक चेतना चेतना तथा ज्ञानके बहुत सारे स्वतंत्र रूपोंमें विभक्त हो जाती है; प्रत्येक रूप सत्यकी अपनी-अपनी रेखाका अनुसरण करता है जिसे उसे संसिद्ध करना है। वह जो एक समग्र तथा बहुपक्षीय सत्-भाव है, वह अपने विभिन्न पक्षोंमें खण्डित हो जाता है; प्रत्येक एक स्वतंत्र भाव-शक्ति बन जाता है. जिसे अपने-आपको संसिद्ध करनेका वल रहता है। वह एक चित्-शक्ति अपनी कोटि-कोटि शक्तियोंमें उन्मुक्त हो जाती है, और इनमेंसे प्रत्येक शक्तिको आत्म-संपूर्तिका या, यदि आवश्यकता हो तो, प्राधान्य धारण करने और अन्य शक्तियोंको अपने निजी उपयोगके लिये लेनेका अधिकार रहता है। इसी भाँति, अस्तित्वका आनन्द भी सब प्रकारके आनन्दोंमें छूट निकलता है और आनन्दोंका प्रत्येक. प्रकार अपनी स्वतंत्र परिपूर्णता अथवा निरंकुश चरम परिणति अपने अन्दर वहन कर सकता है। इस भाँति. अधिमानस उस एक सत्-चित्-आनन्दको अनन्त संभावनाओंसे प्रपूरित होनेका वैशिष्टय प्रदान करता है, जिन्हें वह लोकोंमें विकसित किया जा सकता है, या एक साथ किसी एक ही लोकमें डाल दिया जा सकता है जिसमें उनकी क्रीड़ाका अनन्त रूपसे परिवर्तनशील परिणाम सृष्टिका, उसकी प्रक्रियाका, उसके मार्गका और उसके परिणामका नियामक होता है।

चूंकि शाश्वत सत्की चित्-शक्ति विश्व-सृजनकारिणी है, अतः किसी भी लोककी प्रकृति, उस चेतनाका जो आत्म-रूपायण उस लोकमें प्रकट हो रहा है, उस पर निर्भर करेगी। समान रूपसे, प्रत्येक व्यष्टि-जीव जिस जगत्में रह रहा है, उस जगत्को वह जिस भाँति देखेगा या अपने सामने प्रत्युपस्थित करेगा, यह उस स्थिति या निर्माणपर निर्भर है जिसे उस चेतनाने उसके अन्दर धारण किया है। हमारी मानवीय मनश्चेतना जगत्को बुद्धि और इन्द्रियके द्वारा काटे गये खंडोंमें और फिर उसे ऐसी रचनामें संकलित करती है जो स्वयं भी खंड ही होती है; वह जो गृह निर्माण करती है, वह सत्यके किसी एक या दूसरे सामान्यीकृत निरूपणका समावेश करनेके लिये आयोजित होता है, किन्तु बाकीका बहिष्कार कर दिया जाता है या उनमेंसे कुछको उस गृहमें अतिथियों या

आश्रितोंके रूपमें प्रवेश दिया जाता है। अधिमानस-चेतना अपने ज्ञानमें विश्वमंडलीय होती है और मूलगत प्रतीत होनेवाले भेदोंकी किसी भी संख्याको एक संगतिकारी दृष्टिमें एक साथ एकत्रित धारण कर सकती है। इस भाँति, मनोबुद्धि सव्यक्तिक और निर्व्यक्तिकको विरोधी रूपोंमें देखती है; वह एक निर्व्यक्तिक सत्ताकी धारणा बनाती है जिसमें व्यक्ति और व्यक्तित्व अज्ञानकी कल्पनाएँ या क्षणिक निर्माण हैं; या, इसके विपरीत, वह इस भाँति देख सकती है कि सव्यक्तिक ही मूल सत्यता है और निर्व्यक्तिक है मनका भाव-रूप या अभिव्यक्तिका उपादान या साधन मात्र। किन्तु, अधिमानस-बुद्धिके लिये ये उस एक सत्की वियोज्य शक्तियाँ हैं जो अपनी-अपनी स्वतंत्र आत्म-स्थापनाका अनुसरण कर सकती हैं और अपनी भिन्न-भिन्न क्रियाविधियोंको एक साथ संयुक्त भी कर सकती हैं, और इस भाँति अपनी स्वतंत्रता और अपने सम्मिलन, दोनोंमें चेतना एवं सत्ताकी विभिन्न स्थितियोंकी सृष्टि कर सकती हैं, और ये सारी-की-सारी स्थितियाँ सार्थक हो सकती हैं और सबकी सब सह-अस्तित्वके लिये समर्थ हो सकती हैं। एक शुद्धतः निर्व्यक्तिक सत्ता और चेतना सत्य और संभव है, किन्तु एक संपूर्णतः सव्यक्तिक चेतना तथा सत्ता भी। निर्व्यक्तिक, निर्गुण ब्रह्म, और सव्यक्तिक, सगुण ब्रह्म यहाँ उस 'शाश्वत'के समान और सहवर्ती पक्ष होते हैं। निर्व्यक्तिक सव्यक्तिकको आत्माभिव्यक्तिकी विधि-रूपमें अधीन रखकर अभिव्यक्त हो सकता है, किन्तु समान रूपसे यह भी हो सकता है कि सव्यक्तिक सत्य हो और निर्व्यक्तिकता उसकी प्रकृतिकी एक विशेष विधि हो : चिन्मय सत्की अनन्त वैचित्र्यगत अभिव्यक्तिके ये दोनों रूप आमने-सामने होते हैं। मनोबुद्धिके लिये जो मेल न खा सकनेवाले भेद होते हैं, वे अधिमानसकी बुद्धिके सम्मुख परस्पर संबंध रखनेवाले सहवर्ती होते हैं; मनकी बुद्धिके लिये जो परस्पर-विपरीत हैं, अधिमानसकी बुद्धिके लिये वे सहपूरक हैं; हमारा मन देखता है कि समस्त वस्तुएँ जड़से या भौतिक ऊर्जासे उत्पन्न होती हैं, उसीके द्वारा अस्तित्वमें रहती हैं, उसीके अन्दर वापस चली जाती हैं, वह इस निर्णयपर पहुँचता है कि जड़ ही सनातन तत्त्व है, आदि और अंतिम सद्वस्तु है, ब्रह्म है। या, वह यह देखता है कि सारी वस्तुएँ प्राण-शक्ति या मनसे उत्पन्न होती हैं, प्राण या मनके द्वारा अपना अस्तित्व रखती हैं, विश्वप्राण या विश्वमनमें वापस जाती हैं, और वह यह निर्णय कर लेता है कि यह जगत् विश्वप्राण-शक्तिकी अथवा विश्वमनकी या Logos की, अर्थात् परा-वाक् की ही सृष्टि है। या नहीं तो, वह जगत्को और सारी वस्तुओंको

इस भाँति देखता है मानो उनका जन्म सत्-भावसे या आत्माकी ज्ञानात्मिका इच्छासे या स्वयं आत्मासे ही हुआ है, उसीसे उनका अस्तित्व रहता है और उसीमें उनका पुनर्गमन होता है, और उपसंहारमें वह विश्वके प्रति एक विज्ञानात्मक या आध्यात्मिक दृष्टिपर पहुँच जाता है। वह इनमेंसे कोई एक दृष्टिकोण स्थिर कर ले सकता है, किन्तु उसकी सामान्य पृथक्कारी दृष्टिके लिये प्रत्येक दृष्टिकोण अन्योंका बहिष्कार करता है। अधिमानसी चेतनाको यह प्रत्यक्ष होता है कि प्रत्येक दृष्टि अपने बनाये सिद्धान्तकी क्रियाके लिये सच्ची है, वह चेतना यह देख पाती है कि भौतिक जगत्का अपना विधान है, प्राणिक जगत्का अपना विधान है, मनोमय जगत्का अपना विधान है और आध्यात्मिक जगत्का भी अपना विधान है, और प्रत्येक अपने-अपने जगत्में प्रधान रह सकता है और साथ ही सबके सब एक ही जगत्में उसकी उपादान-शक्तियोंके रूपमें सम्मिलित हो सकते हैं। चित्-शक्तिका आत्म-रूपायण, जिसपर हमारा जगत् आधारित है, एक प्रतीयमान अचित्तिके रूपमें होना; उस अचित्तिका अपने-आपके अन्दर एक परम चित्-सत्ताको छिपाये रखना और सत्ताकी सारी शक्तियोंको अपने निश्चेतन अंतरालमें सम्मिलित धारण किये रखना; विश्वव्यापी जड़-तत्त्वका एक जगत् होना जो अपने अन्दर प्राण, मन, अधिमानस, अतिमानस और आत्माको संसिद्ध करता है, और इनमेंसे प्रत्येकका अपनी बारीमें दूसरोंको अपनी आत्माभिव्यक्तिके साधन-रूपमें लेना; आध्यात्मिक दृष्टिके लिये जड़का यह प्रमाणित होना कि वह स्वयं सर्वदा ही आत्माकी एक अभिव्यक्ति रहा है; यह सब अधिमानस-दृष्टिके लिये एक प्राकृत और सुसाध्य सृष्टि है। अपनी प्रवर्तन-शक्तिमें और अपनी कार्यकारिणी क्रियामें अधिमानस सत्की बहु शक्यताओंका संगठक है, वहाँ प्रत्येक शक्यता अपनी पृथक् सत्यताको प्रतिष्ठित करती है, किन्तु वे सब-की-सब बहुत सारी विभिन्न किन्तु युगपत् विधियोंमें अपने-आपको संयुक्त करनेमें समर्थ भी रहती हैं। अधिमानस एक ऐंद्रजालिक शिल्पी है, उसमें यह शक्ति है कि वह एक ही सत्ताकी अभि-व्यक्तिके बहुरंगी तानेबानेसे एक जटिल विश्व बुन दे।

बहुसंख्यक स्वतंत्र या संयुक्त शक्तियों या शक्यताओंके इस युगपत् विकासमें फिर भी, या अभीतक, अस्तव्यस्तता नहीं रहती, संघर्ष नहीं रहता, सत्य अथवा ज्ञानसे पतन नहीं हुआ रहता। अधिमानस सत्योंका स्रष्टा है, न कि भ्रमों या मिथ्यात्वोंका : किसी भी अधिमानसिक तपोवीर्य या गतिधारामें जो क्रियान्वित होता है वह स्वतंत्र क्रियामें उन्मुक्त हुए रूप, बल, भाव, शक्ति, आनन्दका सत्य होता है, उस स्वतंत्रताके अन्दर विद्यमान

उसकी सत्यताके परिणामोंका सत्य होता है। वहाँ कोई ऐसी ऐकान्तिकता नहीं होती जो प्रत्येकको सत्ताका एकमात्र सत्य या अन्योंको निकृष्ट सत्य माने : प्रत्येक देव सकल देवोंको और विश्व-जीवनमें उनके स्थानको जानता है; प्रत्येक भाव अन्य सारे भावोंको और उनके अस्तित्वाधिकारको मानता है; प्रत्येक शक्ति अन्य सारी शक्तियों और उनके सत्य तथा परिणामोंके लिये स्थान स्वीकार करती है; पृथक् परिपूर्ति-प्राप्त जीवन अथवा पृथक् अनुभवका कोई आनन्द अन्य जीवन अथवा अन्य अनुभवके आनन्दको न तो अस्वीकार करता है, न उसका तिरस्कार ही। अधिमानस वैश्व सत्यका तत्त्व है और एक वृहत् एवं असीम सार्वभौमता ही उसके मर्म-मर्ममें है; उसकी ऊर्जा एक सर्व-क्रियात्मकता है और साथ ही पृथक् क्रियात्मकताओंका तत्त्व भी : वह एक प्रकारका निम्नतर अतिमानस है,—यद्यपि मुख्यतः उसका संबंध निर्विशेष तत्त्वोंसे नहीं, वरन् जिन्हें परम सद्वस्तुकी क्रियात्मक शक्यताएँ या उसके व्यावहारिक सत्य कह सकते हैं उनसे है, या निर्विशेष तत्त्वोंके साथ जो संबंध है वह मुख्यतः उनकी व्यावहारिक या सर्जनात्मक मूल्योंको उत्पन्न करनेकी शक्तिके नाते है, यद्यपि यह भी है कि उसकी वस्तुओंकी अवधारणा सर्वांगपूर्ण होनेकी अपेक्षा विश्वमंडलीय अधिक होती है, कारण, उसकी समग्रता मंडलीय अखण्डोंसे बनी अथवा एक साथ मिलती या संयुक्त होती हुई पृथक् स्वतंत्र सत्यताओंसे निर्मित होती है, और यद्यपि अधिमानस मूलभूत एकत्वको धृत किये होता है और अनुभव करता है कि वह एकत्व ही वस्तुओंका आधार है और अभिव्यक्तिमें व्याप्त है, किन्तु तो भी, अतिमानसकी भाँति वह अब उसके लिये उनका अंतरंग और सर्वदा-विद्यमान रहस्य नहीं होता, उनका प्रधान आधार नहीं होता, उनकी क्रियाशीलता तथा प्रकृतिके सामंजस्यपूर्ण संपूर्णका प्रकट सतत निर्माता नहीं होता।

इस विश्वमंडलीय अधिमानस - चेतनाका हमारे मनकी पृथक्कारी और मात्र अपूर्णतया समन्वयात्मक चेतनासे जो अंतर है, उसे हम यदि समझना चाहें तो अपने भौतिक विश्वमें होनेवाली क्रियाके प्रति हमारी जो सही अर्थोमें मनोदृष्टि है, उसकी तुलना अधिमानसकी हो सकनेवाली दृष्टिसे करें, तो हम इस अंतरके समीप पहुँच सकेंगे। उदाहरण-स्वरूप, अधि-मानसके लिए समस्त धर्म उस एक शाश्वत धर्मके विकास-रूपमें सत्य होंगे, समस्त दर्शनशास्त्र सार्थक होंगे, प्रत्येक दर्शन अपने-अपने क्षेत्रमें अपने-अपने दृष्टिकोणकी अपनी-अपनी विश्व-दृष्टिके कथन-रूपमें प्रामाणिक होगा, समस्त राजनैतिक सिद्धान्त और उनके व्यावहारिक रूप एक ऐसी भाव-

शक्तिका न्यायसंगत क्रियान्वयन होंगे जिसे प्रकृतिकी ऊर्जाओंकी क्रीड़ामें प्रयुक्त होने तथा व्यवहार-रूपमें विकसित होनेका अधिकार है। हमारी पृथक्कारी चेतनामें, जिसमें सार्वभौमता और विश्वात्मकताकी झलकें अपूर्ण रूपसे आती हैं, ये चीजें विरोधियोंके रूपमें अस्तित्व रखती हैं; इनमेंसे प्रत्येक वस्तु सत्य होनेका दावा करती है और अन्योंको भ्रान्ति तथा मिथ्यात्व ठहराती है, प्रत्येक अन्योंका खण्डन या नाश करनेको प्रेरित रहती है, ताकि एकमात्र वही सत्य मानी जाय और अस्तित्ववान् रहे; उत्तम रूपमें इतना ही होता है कि प्रत्येक श्रेष्ठतर होनेका दावा करती है, अन्य सबको केवल निकृष्ट सत्याभिव्यंजनाओंके रूपमें मानती है। किन्तु अधिमानसी बुद्धि इस धारणाको या ऐकान्तिकताकी ओर इस बहावको एक क्षणके लिये भी माननेसे इन्कार कर देगी; वह सबको संपूर्णके लिये आवश्यक रहनेके नाते अनुमति देगी या प्रत्येकको संपूर्णके अन्दर उसके स्थानमें रखेगी अथवा प्रत्येकको उसका उपलब्धि या प्रयासका क्षेत्र प्रदान करेगी। कारण यह है कि हमारे अन्दर चेतना अज्ञानके विभाजनोंमें संपूर्णतया उतर आयी है; सत्य यहाँ कोई अनन्त या विश्वमंडलीय समग्रता नहीं रह जाता जिसके बहु-रूपायण संभव हों, बल्कि वह एक अनम्य प्रतिपादन होता है जो अन्य किसी भी प्रतिपादनको इसलिये मिथ्या ठहराता है कि वह स्वयं उससे भिन्न होता है और अन्य सीमाओंमें घँसा रहता है। निस्संदेह हमारी मनश्चेतना अपने संबोधमें एक समग्र व्यापकता और सार्वभौमताकी ओर काफी जा सकती है, किन्तु उसे कर्म तथा जीवनमें संगठित करना उसकी शक्तिसे बाहर प्रतीत होता है। विकसनशील मन, व्यक्तियों या समूहोंमें अभिव्यक्त होता हुआ, भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणोंकी कर्मकी भिन्न-भिन्न धाराओंकी बहुलता उद्‌भूत करता है और उन्हें एक दूसरेकी अगल-बगल रहते हुए, या परस्पर टक्कर लेते हुए, या एक विशेष अन्तर्मिश्रण करते हुए, क्रियान्वित होने देता है; वह चुने हुए सामंजस्य तो बना सकता है, किन्तु एक सच्ची समग्रताके सामंजस्यपूर्ण अधिकारतक नहीं पहुँच सकता। सब समग्रताओंकी भाँति, विश्वमनको विकासक्रमके अज्ञानके अन्दर भी ऐसा सामंजस्य अवश्य प्राप्त होगा, भले ही वह केवल व्यवस्थित की हुई संगतियों और असंगतियोंका ही सामंजस्य हो; उसके अन्दर भी एकत्वकी एक अंतःसलिला सक्रियता है: किन्तु इन वस्तुओंकी संपूर्णताको वह अपनी गहराईमें, शायद एक अतिमानसिक-अधिमानसिक अधःस्तरमें तो लिये चलता है, लेकिन उसे वह विकासक्रममें व्यष्टि-मनको प्रदान नहीं करता, उसे वह गहराइयोंसे निकाल उपरितलपर नहीं लाता

या अभीतक लाया नहीं है। अधिमानसिक जगत् सामंजस्यका जगत् होगा जब कि जिस अज्ञान-जगत्में हम रह रहे हैं वह अ-सामंजस्य और संघर्षका जगत् है।

किंतु, तो भी, हम अधिमानसमें आदि विश्व मायाको तुरन्त ही पहचान सकते हैं। वह अज्ञानकी माया नहीं, प्रत्युत ज्ञानकी माया है, फिर भी वह वह शक्ति है जिसने अज्ञानको संभव ही नहीं, अनिवार्य भी बनाया। क्योंकि, यदि कर्ममें उन्मुक्त किये गये प्रत्येक तत्त्वको अपनी स्वतंत्र धाराका अनुसरण करना है और अपने संपूर्ण परिणामोंको निष्पन्न करना है, तो पृथक्ताके तत्त्वको भी अपनी पूरी यात्रा करने देनी होगी और अपने चरम परिणामपर पहुँचने देना होगा। यही वह अपरिहार्य अवतरण है जिसका कि, एक बार पृथगात्मक तत्त्वको मान लेनेपर, चेतना तबतक अनुसरण करती जाती है जबतक कि वह आच्छादक सूक्ष्मतम खण्डभाव (तुच्छ्येन)[1] के द्वारा भौतिक निश्चेतनामें,—ऋग्वेदमें कहे गये निश्चेतन समुद्र (सलिलम्-प्रकेतम्) में—प्रवेश नहीं कर जाती, और यदि वह 'एकं' अपनी ही महिमाके द्वारा उसीसे उत्पन्न होता है तो भी पहले वह एक खण्डित पृथक्कारी सत्ता तथा चेतनाके द्वारा छिपा रहता है। वह खण्डित पृथक्कारी सत्ता और चेतना हमारी होती है, उसमें हमें संपूर्णतक पहुँचनेके लिये वस्तुओंके खंड-खंडको जोड़ना पड़ता है। उस धीमे और कठिन उन्मज्जनमें हिरेक्लिटसकी यह अभ्युक्ति कुछ सत्य प्रतीत होने लगती है कि युद्ध सब वस्तुओंका जनक है; क्योंकि, प्रत्येक भाव, शक्ति, पृथक् चेतना, सजीव प्राणी अपने अज्ञानकी आवश्यकताके ही कारण दूसरोंसे टकराता है और स्वतंत्र आत्म-प्रतिपादनके द्वारा, न कि बाकी सत्ताके साथ सामंजस्यके द्वारा, जीने और वर्द्धित होने और अपनी संपूर्तिके लिये प्रयत्न करता है। फिर भी वह अज्ञात, आधारभूत एकत्व रहता ही है जो हमें सामंजस्यके, अन्योन्याश्रयके, विषमताओंके संगतिकरणके, कठिन एकताके किसी रूपकी ओर धीरे-धीरे प्रयास करनेके लिये बाध्य करता है। किन्तु हम जिस सामंजस्य तथा एकत्वका प्रयास कर रहे हैं, वह मात्र अपूर्ण प्रयासों, अपूर्ण निर्माणों, नित्य परिवर्तित होती सन्निकटताओंतकमें ही उपलब्ध न होकर हमारी सत्ताके तन्तुओंतकमें और उसकी समस्त आत्म-अभिव्यक्तिमें केवल तभी क्रियात्मक रूपसे उपलब्ध हो सकता है, जब कि हमारे अन्दर वैश्व सत्यकी छिपी अतिचेतन शक्तियोंका विकास हो और जिस परम तत्त्वमें वे एक

---

1. ऋग्वेद 10. 129. 3

हैं उसका विकास हो। यदि हमें विश्व-जीवनमें अपने जन्मकी दिव्य संभावना कार्यान्वित करनी है तो हमारी सत्ता तथा चेतनापर आध्यात्मिक मनके उच्चतर लोकोंका उन्मेष होना होगा और जो आध्यात्मिक मनसे भी परे है उसे भी हमारे अन्दर प्रकट होना होगा।

अपने अवतरणमें अधिमानस ऐसी रेखापर पहुँचता है जो वैश्व सत्यको वैश्व अज्ञानसे विभाजित करती है; यह वह रेखा है जहाँ चित्-शक्तिके लिये यह संभव हो जाता है कि वह अधिमानसके द्वारा सृष्ट प्रत्येक स्वतंत्र गतिकी पृथक्तापर बल देती हुई और उनके एकत्वको छिपाती या अंधकारावृत करती हुई, एक ऐकांतिक संकेन्द्रणके द्वारा मनको अधिमानसिक मूलसे विभक्त कर दे। अधिमानसका अपने अतिमानसिक मूलसे वैसा ही पार्थक्य हो चुका है, किन्तु वहाँके परदेमें एक ऐसी पारदर्शकता है जो एक सचेतन संक्रमण होने देती है और एक विशेष ज्योतिर्मय सजातीयता बनाये रखती है जब कि यहाँका परदा अपारदर्शक होता है और मनमें अधिमानसके उद्देश्योंका संचरण गुह्य और धुँधला होता है। पृथक् हुआ मन ऐसे क्रिया करता है मानो वह एक स्वतंत्र तत्त्व हो और प्रत्येक मनोमय जीव, प्रत्येक आधारभृत मानसिक भाव, बल, शक्ति उसी भाँति अपनी पृथक् सत्तापर खड़े होते हैं; यदि उसका अन्योंके साथ संसर्ग या सम्मिलन या संपर्क होता है, तो अधिमानसी प्रवृत्तिके उदार विश्वत्वके सहित नहीं, आधारभूत एकत्वके आधारपर नहीं, प्रत्युत एक पृथक् निर्मित संपूर्णकी रचनाके लिये सम्मिलित होती हुई स्वतंत्र इकाइयोंकी भाँति। यही वह प्रवृत्ति है जिसके द्वारा हम वैश्व सत्यसे निकल कर वैश्व अज्ञानमें चले जाते हैं। इस स्तरपर विश्वमनको निस्संदेह अपने निजी एकत्वका बोध रहता है, किन्तु उसे यह संवित् नहीं रहती कि स्वयं उसका मूल और आधार आत्मामें है, या यह बात वह बुद्धिके द्वारा ही समझ पाता है, वह संवित् किसी स्थायी अनुभूतिमें नहीं होती। वह अपने तईं इस भाँति क्रिया करता है मानो इसके लिये उसे स्वाधिकार है, और वह जो कुछ सामग्री प्राप्त करता है उसे क्रियान्वित करनेमें वह उस मूलके सीधे संसर्गमें नहीं रहता जहाँसे उसे वह सामग्री मिलती है। उसकी इकाइयाँ भी एक-दूसरीके प्रति और वैश्व संपूर्णके प्रति अज्ञ रहकर क्रिया करती हैं, उन्हें केवल उतना ही ज्ञान रहता है जितना उन्हें संपर्क और संसर्गके द्वारा प्राप्त हो सकता हो; तादात्म्यका आधारभूत बोध और उससे उद्गत होनेवाले अन्योन्य अनुप्रवेश और अवबोध वहां विद्यमान नहीं होते। इस मानस-ऊर्जाकी समस्त क्रियाएँ अज्ञान और उसके विभाजनोंके विपरीत

आधारपर अग्रसर होती हैं, और यद्यपि वे एक विशेष सचेतन ज्ञानका परिणाम होती हैं, वह ज्ञान आंशिक होता है, न कि सच्चा और सर्वांगीण आत्म-ज्ञान, और न ही सच्चा और सर्वांगीण जगत्-ज्ञान। यह विशिष्टता प्राणमें और सूक्ष्म भूतमें रहती है और निश्चेतनामें अंतिम पतन घटित होनेसे उद्भूत हुए स्थूल भौतिक विश्वमें पुनः प्रकट होती है।

तो भी, हमारे अवगूढ़ या आंतरिक मनकी भाँति, इस मनमें भी संसर्ग और पारस्परिकताका वृहत्तर बल बना रहता है, मानव-मनकी अपेक्षा मानसता तथा इन्द्रियबोधकी एक स्वतंत्रतर क्रीड़ा रहती है, और अज्ञान संपूर्ण नहीं होता; एक सचेतन सामंजस्य, सही संबंधोंका एक अन्योन्याश्रित संगठन अधिक संभव होता है : अभीतक मन अंधी प्राण-शक्तियोंसे विक्षुब्ध नहीं होता, या प्रत्युत्तरहीन जड़से तमोवृत नहीं होता। वह अज्ञानका एक स्तर होता है, किंतु अभीतक मिथ्यात्व या भ्रांतिका स्तर नहीं हुआ होता,—या, कम-से-कम, मिथ्यात्व और भ्रांतिमें पतनका होना तबतक अनिवार्य नहीं हुआ होता; यह अज्ञान सीमित करनेवाला तो है, किन्तु अनिवार्य रूपसे मिथ्याकारी नहीं। यहाँ ज्ञानका परिसीमन होता है, आंशिक सत्योंका संगठन होता है, किन्तु सत्य या ज्ञानका प्रत्याख्यान या वैपरीत्य नहीं होता। पृथक्कारी ज्ञानके आधारपर आंशिक सत्योंके संगठनका यह स्वरूप प्राणमें और सूक्ष्म भूतमें अपना अस्तित्व बनाये रखता है, क्योंकि उन्हें पृथक्कारी क्रियामें लगानेवाला चित्-शक्तिका ऐकांतिक संकेन्द्रण मनको प्राणसे या प्राण और मनको जड़से संपूर्ण रूपसे वियुक्त या आवृत नहीं करता। संपूर्ण पार्थक्य तो केवल तभी घटित हो सकता है जब निश्चेतनाकी स्थिति आ जाती है और हमारा बहुविध अज्ञानका जगत् उस तमोग्रस्त गर्भसे उद्भूत होता है। निवर्तनकी ये अभीतक चेतन रहनेवाली अन्य स्थितियाँ, निस्संदेह, चित्-शक्तिके संगठन हैं जिनमें प्रत्येक व्यक्ति अपने निजी केन्द्रसे जीता है, अपनी निजकी संभावनाओंका अनुसरण करता है, और जो तत्त्व प्रधान होता है, चाहे वह मन हो या प्राण या जड़, वह वस्तुओंको अपने निजी स्वतंत्र आधारपर कार्यान्वित करता है, किन्तु जो कार्यान्वित होता है वह उसका अपना निजी सत्य ही होता है, भ्रम नहीं, न सत्य और मिथ्यात्वका, ज्ञान और अज्ञानका जाल ही। किन्तु चित्-शक्ति जब शक्ति तथा रूपपर ऐकांतिक संकेन्द्रणके द्वारा गोचर रूपमें चेतनाको शक्तिसे पृथक् करती हुई मालूम होती है, या जब वह चेतनाको रूप और शक्तिमें खोयी अंध निद्रामें निमग्न कर देती है, तब चेतनाको एक अंश-अंश विकासक्रमके द्वारा अपने-आप तक वापस पहुँचनेका उद्यम करना पड़ता है,

जिससे कि भ्रान्ति आवश्यक हो जाती है और मिथ्यात्व अनिवार्य हो जाता है। तदपि, ये वस्तुएँ भी किसी आदि असत्से उद्भूत भ्रम नहीं हैं; हम कह सकते हैं कि वे निश्चेतनासे उत्पन्न जगत्के अपरिहार्य सत्य हैं। कारण, अज्ञान यथार्थतः फिर भी एक ज्ञान ही होता है, जो अपने-आपको निश्चेतनाके आदि छद्मवेशके पीछे खोज रहा है; वह चूकता है और फिर पाता है; उसके परिणाम स्वाभाविक और अपनी धाराओंमें अनिवार्य भी होते हैं, वे उस पतनका सच्चा परिणाम होते हैं, एक प्रकारसे, उस पतनसे पुनरुत्थान होनेकी सही क्रिया भी होते हैं। सत्का प्रतीयमान असत्में, चेतनाका प्रतीयमान अचित्तिमें, अस्तित्वके आनन्दका एक वृहत् वैश्व असंवेदनामें निमज्जन उस पतनका प्रथम परिणाम होता है और कठोर प्रयाससे अंश-अंश अनुभव करते हुए उससे उठकर वापस जानेके मार्गमें चेतनाका सत्य और मिथ्यात्वकी, ज्ञान और भ्रान्तिकी द्विविध अभिधाओंमें, सत्ताका जीवन और मृत्युकी द्विविध अभिधाओंमें, अस्तित्वका आनन्दके सुख और कष्टकी द्विविध अभिधाओंमें अनूदित होना आत्म-प्राप्तिके लिये किये जानेवाले श्रमकी आवश्यक प्रक्रिया है। यहाँ सत्य, ज्ञान, आनन्द और अविनाशी सत्ताका शुद्ध अनुभव होना ही वस्तुओंके सत्यके विपरीत होगा। इससे भिन्न केवल तभी हो सकता था यदि विकासक्रममें समस्त जीव अपने अंतःस्थ चैत्य तत्त्वोंके प्रति और प्रकृतिके व्यापारोंके आधारमें रहनेवाले अतिमानसके प्रति शान्त भावसे प्रत्युत्तर देनेवाले होते, किन्तु यहीं पर प्रत्येक शक्तिका अपनी निजी संभावनाओंको कार्यान्वित करनेका अधिमानसिक नियम प्रवेश करता है। जिस जगत्में एक आदि निश्चेतना और चेतनाका विभाजन प्रधान तत्त्व होते हों, उस जगत्की स्वाभाविक संभावनाएँ होंगीं—अंधकारकी शक्तियोंका उन्मज्जन, जो अज्ञानके सहारे जीतीं और अज्ञानका अस्तित्व रखनेके लिये प्रेरित रहती हैं; जाननेका एक अज्ञानमय प्रयास, जिससे मिथ्यात्व और भ्रान्तिका सूत्रपात होगा; जीनेका एक अज्ञ प्रयास, जिससे गलत और अशुभकी उत्पत्ति होगी; भोग करनेका अहमात्मक प्रयास, जो आंशिक सुखों और दुःखों और कष्टोंका जनक होगा। सुतरां, ये चीजें हमारे विकासात्मक जीवनकी एकमात्र संभावनाएँ तो नहीं, किन्तु उसके अनिवार्य रूपसे प्रथम-अंकित लक्षण होंगी। तथापि, चूँकि असत् एक गुप्त सत् है, निश्चेतना एक गुप्त चेतना है, असंवेदनशीलता एक छद्मवेशधारी और प्रसुप्त आनन्द है, इसलिये इन गुप्त सत्यताओंका उन्मज्जन अवश्यंभावी है; अंतमें प्रच्छन्न अधिमानस और अतिमानस भी अपनी संपूर्ति एक अंधकारमय अनन्तसे उठनेवाले इस प्रतीयमानतः विपरीत संगठनके अन्दर अवश्य करेंगे।

दो वस्तुएँ हैं जो कि इस अंतिम स्थितिकी प्राप्तिको, वे अन्यथा जैसे हो पातीं उसकी अपेक्षा अधिक सुगम बनाती हैं। भौतिक सृष्टिकी ओर होते अवतरणमें अधिमानसने अपने-आपके कुछ आपरवितित रूप उत्पन्न किये हैं,—इनमें विशेषतया संबोधि है, जो अपनी सत्यकी अंतर्वेधनकारी चमकदार झलकोंको साथ लेकर हमारी चेतनामें स्थानिक बिन्दुओं और प्रदेश-विस्तारोंको आलोकित करती है। ये रूप वस्तुओंके छिपे सत्यको हमारे अवबोधके अधिक समीप ला सकते हैं, और हम प्रथम तो आंतर सत्तामें, और उसके फलस्वरूप, बाहरी सतहकी सत्तामें भी चेतनाके इन उच्चतर प्रदेशोंके संदेशोंके प्रति अधिक चौड़े खुलते हुए, उनके तत्त्वमें वर्द्धित होते हुए, स्वयं संबोधिमूलक और अधिमानसिक जीव बन सकते हैं; तब हम मनोबुद्धि और इन्द्रियके द्वारा सीमित नहीं होंगे, प्रत्युत, एक अधिक वैश्व बोधके लिये और सत्यके, उसके स्वयं आत्मा और शरीरके सीधे स्पर्शके लिये समर्थ होंगे। वास्तवमें, इन उच्चतर स्तरोंसे आलोककी झलकें अब भी हमारे पास आती हैं, किन्तु हमारे बीच उनका यह आगमन अधिकतया खांडिक, आकस्मिक या आंशिक ही होता है; उनके सादृश्यमें अपने-आपको विस्तृत करना और अपने अन्दर उन महत्तर सत्य-क्रियाशीलताओंके संगठनको आरंभ करना हमारे लिये अभी भी बाकी है जिनकी क्षमता हमारे अन्दर शक्यता-रूपमें रहती है। किन्तु, द्वितीयतः, जैसा कि हम देख चुके हैं, जिस निश्चेतनासे हम विकासक्रममें उठते हैं, अधिमानस, संबोधि, और अतिमानस भी केवल उस निश्चेतनामें निवर्तित और अंतर्निहित रहनेवाले तत्त्व ही नहीं हैं, और उनका क्रमविकास अवश्यंभावी ही नहीं है, प्रत्युत, वे मन, प्राण तथा जड़की विश्व-क्रियाशीलतामें प्रच्छन्न रूपसे विद्यमान हैं, संबोधिके उन्मज्जनकी झलकोंको साथ लिये सक्रिय रूपसे गुह्य हैं। यह सच है कि उनकी क्रिया छिपी रहती है, और उनका जब उन्मज्जन होता है तब भी वे जिस माध्यममें, भौतिक, प्राणिक, मानसिक माध्यममें क्रिया करती हैं, उसके द्वारा उनकी क्रियामें आपरिवर्तन आ जाता है और वह आसानीसे पहचानमें नहीं आती। अतिमानस अपने-आपको विश्वमें आरंभसे ही स्रष्ट्री शक्तिकी नाईं अभिव्यक्त नहीं कर सकता, क्योंकि, यदि वह ऐसा करता तो अज्ञान और निश्चेतना असंभव हो जाते या, नहीं तो, जो धीमा विकासक्रम आवश्यक है वह एक द्रुत रूपान्तरके दृश्यमें बदल जाता। तो भी, भौतिक ऊर्जाके प्रत्येक डगपर हम एक अतिमानसिक स्रष्टा द्वारा लगायी गयी अनिवार्यताकी छाप देख सकते हैं, प्राण और मनके सारे विकासमें संभावनाकी धाराओंकी और उनके

सम्मिलनकी क्रीड़ा देख सकते हैं जो कि अधिमानसके हस्तक्षेपकी छाप है। जैसे प्राण तथा मन जड़में उन्मुक्त किये गये हैं, वैसे ही प्रच्छन्न देवाधि-देवकी ये महत्तर शक्तियाँ भी, अपने समयपर, निवर्तनमेंसे उन्मज्जित होंगी और उनकी परमा ज्योति ऊपरसे हमारे अन्दर अवतरित होगी।

अतएव, यदि ये चीजें वैसी ही हैं जैसी कि हमने उन्हें देखा है, तो सृष्ट जगत्में दिव्य जीवन हमारे वर्तमान अज्ञान-जीवनके उच्च परिणाम और मुक्ति-मूल्यके रूपमें संभव ही नहीं, अपितु प्रकृतिके क्रमवैकासिक उद्योग-की अनिवार्य परिणति एवं चरम सिद्धि है।

प्रथम ग्रंथ समाप्त

परिशिष्ट

सूची

प्ररूपी लोक
प्राण, प्राण-सत्ता, प्राण-पुरुष
मन (मानस)
मनस्
मानव प्राणी
मानससे अतिमानस
मिथ्यात्व
मिलन (ऐक्य)
मुक्ति
योगमाया
रूपांतर
लय

लोक-लोकांतर
विज्ञान और भौतिक विज्ञान
विज्ञानपुरुष (विज्ञानमय पुरुष)
विवेक (सद्-विवेक)
विश्वचेतना
विश्वभावापन्नकरण
विश्वातीत (तुरीय)
श्रद्धा (श्रद्धा-विश्वास, आस्था)
श्रद्धा, केन्द्रीय
श्रद्धा, चैत्य

शिव (शुभ)
संबोधि
सच्चाई
सत्
सत्-भाव
सत्य तथा ऋत
समता
समर्पण
समाकलन (एकीकरण)
सांसारिक जीवन
सामंजस्य
सूत्र

[कुछ पर्यायवाची शब्द कोष्ठकोंमें दिये गये हैं ।]

अंतरात्मा, चैत्य सत्ता

अंग्रेजीके Soul शब्दकी तरह अंतरात्मा शब्दका व्यवहार बहुत अस्पष्ट रूपमें किया जाता है। इस प्रकारके व्यवहारमें इस शब्दमें सारी आंतरिक सत्ता, आंतरिक मन, आंतरिक प्राण, आंतरिक शरीर-सत्ता भी, और अंतस्तम सत्ता, चैत्य सत्ता भी सम्मिलित हो जाती हैं।

अंतरात्मा भगवान्‌का स्फुलिंग है: वह प्रत्येकके और सबके पीछे है—उसके बिना किसीका भी अस्तित्व नहीं रह सकता।

अंतरात्मा भगवान्‌का अंश है जो व्यक्तिके अज्ञानसे निकल ज्योतिकी ओर क्रमविकासको अवलंब देनेके लिये विकासक्रममें एक दिव्य 'तत्त्व'की नाईं अवतरित होता है। वह विकासक्रमके दौरानमें एक चैत्य व्यक्ति या आंतरात्मिक व्यक्तित्वका विकास करता है, जो मन, प्राण तथा शरीरका व्यवहार अपने करणोंकी भाँति करता हुआ, जीवन-जीवनांतर प्रगति करता जाता है। अंतरात्मा ही अमर है, जब कि बाकी सब कुछ विघटित हो जाता है। वह अपने अनुभवके सारको साथ रखता हुआ, व्यक्तिके विकास-क्रमकी अविच्छिन्नतामें जीवन-जीवनांतर चलता जाता है।

अंतर्निवास, अंतरमें निवास करना

मनुष्यमें एक आंतरिक सत्ता है जिसके प्रति वह सामान्यत: सचेतन नहीं होता। वह एक बहिस्तलीय चेतनामें निवास करता है, जिसे वह अपना आपा कहता है और जो सामान्यत: बाह्य वस्तुओंसे संबंध रखती है। मनुष्यको आंतरिक सत्ताकी संवित् या तो रहती ही नहीं है, या यदि रहती भी है तो पीछेकी ओरकी किसी ऐसी वस्तुके रूपमें जिससे वेदना, भाव, अन्तर्वेग, आदेश आदि यदा-कदा बाह्य भागमें आते हैं। मनुष्य जब बाहरी तथा ऊपरी वस्तुओंसे प्रधानत: संबंध रखना छोड़ देता है तब वह अधिक अंदर, इस आंतरिक सत्ताके समीपतर जा सकता है और अहं तथा बाह्य प्रकृतिसे भिन्न अन्य वस्तुओंके प्रति संविद् हो सकता है। वह आंतरिक सत्ताके प्रति संविद् हो सकता है, उसमें निवास कर सकता है और अन्य वस्तुओंकी पकड़मेंसे छूट जा सकता है, उनके साथ बाह्य प्रकृतिकी माँगोंके अनुसार व्यवहार करना छोड़कर, (बाह्य चेतनासे पृथक् अनुभूत होती) एक आंतरिक चेतनासे, अंतरात्मा तथा परमात्माके एक आंतरिक सत्यके अनुसार, व्यवहार कर सकता है।

अंतश्चेतन और परिचेतन

हमने अपने जिस भागको अंतश्चेतन और परिचेतन कहा है वह हमारी सत्ताकी गठनमें अवचेतनसे भी अधिक सबल और बहुत अधिक मूल्यवान तत्त्व होता है। इसमें एक आंतरिक बुद्धि और आंतरिक ऐन्द्रिय मानसकी, एक आंतरिक प्राणकी, एक आंतरिक सूक्ष्म-दैहिक सत्ताकी भी क्रिया सम्मिलित है जो हमारी जाग्रत् चेतनाकी धारयित्री है और उसका आलिंगन करती है, जो सम्मुख भागमें नहीं लायी गयी है, जो आधुनिक शब्दावलिमें अवगूढ़ (Subliminal) है। परंतु जब हम अपनी इस अंतर्गूढ़ सत्तामें प्रवेश और उसका अन्वेषण कर पाते हैं तो देखते हैं कि अधिकांशतः, हम जो कुछ गुप्ततः हैं अथवा हो सकते हैं, उसमेंसे एक निर्वाचित अंश ही हमारे जाग्रत् अनुभव और बुद्धि हैं, वे हमारी प्रकृत, हमारी प्रच्छन्न सत्ताका एक बाह्य रूपायित और बहुत विकलांग तथा हेय संस्करण हैं या उसकी गहराइयोंसे किये गये उत्क्षेप हैं।

अक्षर

अचल या अपरिवर्तनशील; अचल निष्क्रिय ब्रह्म; अक्षर ब्रह्म।

अज्ञान और सप्तधा अज्ञान

(दे० 'ज्ञान और अज्ञान')

अतिचेतना

कह सकते हैं कि हमारी सत्ताकी समग्रतामें तीन तत्त्व हैं: अवमानसिक और अवचेतन,...अवगूढ़,...तीसरे, यह जागृत चेतना, जो अवगूढ़ तथा अवचेतनके द्वारा सतहपर उत्क्षिप्त होती है।

एक अनुभूति होती है जिसमें हमें सत्ताके ऐसे विस्तारकी संवित् होती है जो इन तीनोंके लिये अतिचेतन है; किसी ऐसी वस्तुकी, एक परम उच्चतम सद्वस्तुकी भी संवित् होती है जो उन सबकी धारयित्री है और उनसे अतीत भी है, जिसके लिये मानव-जाति अस्पष्ट रूपसे कहती है कि वह अध्यात्म है, ईश्वर है, अधिआत्मा है। इन अतिचेतन प्रदेशोंसे हमारे यहाँ अवतरण होते हैं और अपनी सत्ताके उच्चतम भागमें हमारी प्रवृत्ति उन प्रदेशोंकी ओर और उस परम 'आत्मा'की ओर होती है। तो, हमारी सत्ताके सम्पूर्ण परिमंडलमें अवचेतना और निश्चेतना है, और एक अति-चेतना भी है, जो हमारी अवगूढ़ और जाग्रत् सत्ताओंपर मेहराबकी भाँति

फैली हुई है और शायद उन्हें आच्छादित भी करती है, परंतु वह हमारे लिये अज्ञात है, वह हमें अप्राप्य और अव्यवहार्य प्रतीत होती है।

यदि अवगूढ़ और अवचेतनकी तुलना समुद्रसे की जाय जो हमारी वहिस्तलीय सत्ताकी लहरोंको ऊपर फेंकता है, तो अतिचेतनाकी तुलना ऐसे आकाशसे की जा सकती है जो समुद्रकी और उसकी लहरोंकी गतियोंका उपादान और निर्माता होता है, उन्हें समाए रहता है, उनपर छाया रहता है. उनमें निवास करता और उनकी निर्देशना करता है। वहाँ, इस उच्चतर आकाशमें ही, हम आत्मा और अध्यात्म-सत्ताके प्रति अंतर्निहित और अंतर्भुक्त रूपसे सचेतन होते हैं, यहाँ नीचेकी भाँति नहीं जहाँ हम नीरव मनमें आते हुए प्रतिविम्बके द्वारा, अथवा अपने अन्दरके एक प्रच्छन्न 'सत्-पुरुष'के ज्ञानके अर्जनके द्वारा, आत्मा और अध्यात्म-सत्ताके प्रति सचेतन होते हैं; इसी आकाशसे होकर हम एक परम स्थिति, ज्ञान, अनुभवतक जा सकते हैं। यह जो अतिचेतन सत्ता है जिससे होकर हम अपने सच्चे, अपने उच्चतम 'आत्मा'तक पहुँच सकते हैं, उसके प्रति हम सामान्यतया अपनी शेप सत्ताकी अपेक्षा और भी अधिक अज्ञ रहते हैं; तो भी, निश्चेतनामें संवृत रहनेकी अवस्थामेंसे उन्मज्जित होती हुई हमारी सत्ता उस अतिचेतनाके ज्ञानकी ओर क्रमविकसित होनेका संघर्ष कर रही है।

अतिमानस

(दे० मानससे अतिमानस)

अतिमानसका अर्थ है दिव्य प्रकृतिकी परिपूर्ण ऋत-चेतना, जहाँ विभाजन तथा अज्ञानके तत्त्वके लिये कोई स्थान नहीं हो सकता। वह नित्य-परिपूर्ण ज्योति एवं ज्ञान है, सकल मनोधातुसे, मनकी सकल गतिसे श्रेष्ठतर।

अतिमानस है वृहत्। वह मूलतः सर्वाविधारक है।

अतिमानस विश्वाधार और विश्व-विकासक ब्रह्मका वृहत आत्म-प्रसरण है।

हमारे मनकी क्रियाओंमें सत्ता, ज्ञान-चेतना और इच्छा-चेतना विभाजित प्रतीत होती हैं, किन्तु अतिमानसमें ऐसा नहीं है, वहाँ वे एक त्रिक हैं, एक ही गति हैं जिसके तीन प्रभावी पक्ष हैं।

वेदके वचनोंसे हमें इस अतिमानसका परिचय इस रूपमें मिलता है कि वह हमारी चेतनाके सामान्य नभोमंडलके परेकी एक वृहत्ता है जिसमें सत्ताका सत्य अपने-आपको अभिव्यक्त करनेवाले तत्त्वोंके साथ ज्योतिर्मय

रूपमें एक होता है और जहाँ दृष्टि, रूपायण, व्यवस्था, शब्द, क्रिया और गतिका सत्य, और अतएव, गतिके परिणामका, क्रिया और अभिव्यक्तिके परिणामका सत्य भी, अचूक विधि या धर्म भी अनिवार्य रूपसे निश्चित रहते हैं।

अतिमानस अस्तित्वकी वह श्रेणी है जो मन, प्राण तथा जड़से परे है, और जैसे मन, प्राण और जड़ पृथ्वीपर अभिव्यक्त हुए हैं, वैसे ही अतिमानस भी वस्तुओंके अनिवार्य क्रममें इस जड़-जगत्में अभिव्यक्त होगा।

अतिमानसिक चेतना

अतिमानसिक चेतना, अवश्य ही, मूलतः एक ऋत-चेतना है, स्वरूप-सत्य और वस्तु-सत्यकी अपरोक्ष तथा अंतर्निहित संवित् है। वह है अनंतकी शक्ति जो उसके सांत रूपोंको जानती और कार्यान्वित करती है, वह है विश्वव्यापीकी शक्ति जो उसके एकत्वको और अंग-विस्तारको, उसके विश्वत्व और उसकी वैयक्तिकताओंको जानती और कार्यान्वित करती है; उसे सत्य अपने अन्दर प्राप्त रहता है, अतः उसे सत्यको खोजना नहीं होगा, न वह इस संभावनाके अधीन होगी कि सत्य उससे छूटा रह जाय, जैसा कि अज्ञानमय मनमें होता है।

अतिमानसिक प्रेम

इसका अर्थ होता है अतरात्माका अंतरात्माके साथ, मनका मनके साथ, प्राणका प्राणके साथ प्रगाढ़ एकत्व, और शरीर-चेतनाका एकत्वके शारीरिक अनुभवसे, प्रियतमकी उपस्थितिसे, अंग-प्रत्यंगमें, शरीरके कोषाणु-कोषाणुमें परिप्लावन।

अद्वैत

अद्वैतके विषयमें लोगोंकी इस भाँति चर्चा करनेकी प्रवृत्ति रहती है मानो वह मायावादी अद्वैत ही हो, जैसे वे वेदांतके विषयमें इस भाँति वोलते हैं मानो वेदांत और अद्वैत एक ही हों। परन्तु वात ऐसी नहीं है। भारतीय दर्शनके अनेक रूप ऐसे हैं जो इस आधारपर खड़े हैं कि सद्वस्तु एक ही है, परन्तु जगत्की सत्यता, वहुकी सत्यता, उस अद्वयकी एक-समताके साथ-साथ वहुकी भिन्नताओंकी सत्यता, भेदाभेदकी सत्यता भी उन्हें मान्य रहती हैं। परन्तु वहुका अस्तित्व होता है उस 'एक'के अन्दर और उस 'एक'के द्वारा; जो भिन्नताएं हैं वे अभिव्यक्तिमें उस

'एक'के भेद-रूप हैं, वह 'एक' मूलतः नित्य एकसम है। यह हमें वस्तुतः अस्तित्वके विश्वव्यापी नियममें दिखायी देता है, वहाँ सर्वदा एकत्व ही आधार है और उस एकत्वमें अंतहीन बहुत्व और विभिन्नत्व है। उदाहरणके लिये, मानव-जाति एक है, परन्तु मनुष्य अनेक प्रकारके हैं, पत्ती या फूल कही जानेवाली वस्तु एक है, परन्तु पत्ती और फूलके रूप, नक्शे और रंग बहुत हैं। इसके द्वारा हम अस्तित्वके मूलभूत रहस्योंमेंसे एकको, उस रहस्यको पुनः देख ले सकते हैं जो कि स्वयं उस अद्वय सद्वस्तुमें समाया हुआ है। 'अनंत'का एकत्व कोई सीमित वस्तु नहीं है, जो अपने एकत्वकी बेड़ियोंसे बँधा हो; वह तो अनंत बहुत्वके लिये समर्थ है। परम सद्वस्तु एक निर्विशेष है जो न तो एकत्वसे सीमित है, न बहुत्वसे, वरन् दोनोंके लिये युगपत् समर्थ है; कारण, दोनों ही उसके पहलू हैं, यद्यपि एकत्व है मूलभूत और बहुत्व निर्भर करता है एकत्वपर।

'जगन्मिथ्या'वादी अद्वैत संभव है और सद्वस्तुवादी अद्वैत भी। 'दिव्य-जीवन'का दर्शन जगत्को सत्य माननेवाला ऐसा ही अद्वैत है। जगत् 'सत्'की अभिव्यक्ति है, अतएव वह स्वयं भी सत्य है। सद्वस्तु है अनन्त एवं शाश्वत भगवान्, अनन्त एवं शाश्वत सत्, चित-शक्ति तथा आनन्द। इन भगवान्ने ही अपनी शक्तिसे जगत्की सृष्टि की है या बल्कि उसे अपनी ही सत्तामें अभिव्यक्त किया है। परन्तु, यहाँ जड़ जगत्में, या उसके आधारमें, उन्होंने अपने-आपको अपनी प्रतीयमान विपरीतताओं, असत्, निश्चेतना तथा निर्ज्ञानमें छिपा लिया है। इसे ही आजकल निश्चेतन कहा जाता है, जिसके बारेमें ऐसा लगता है कि उसीने भौतिक विश्वकी सृष्टि अपनी निश्चेतन ऊर्जाके द्वारा की है। परन्तु यह एक प्रतीतिमात्र है, क्योंकि अंतमें हम पाते हैं कि जगत्के सकल विन्यासोंका आयोजन एक परम गुप्त प्रज्ञाकी क्रियमाणताके द्वारा ही हो सकता था। जो निश्चेतन शून्य प्रतीत होता है उसमें छिपा हुआ सत् जगत्में प्रथमतः जड़में उन्मज्जित होता है, तब प्राणमें, बादमें मनमें और अंतमें आत्मा-रूपमें। सृष्टि-कारिका ऊर्जा, जो प्रतीयमानतः निश्चेतन है, वस्तुतः भगवान्की चित्-शक्ति है और उसका चेतना-तत्त्व, जो कि जड़के अन्दर गुप्त है, प्राणमें उन्मज्जित होना आरंभ करता है, मनके अन्दर अपने-आपका कुछ अधिक अंश पाता है और अपने सच्चे आत्माकी प्राप्ति एक आध्यात्मिक चेतनामें, और अंततः एक अतिमानसिक चेतनामें पाता है जिसके द्वारा हमें उस सद्वस्तुकी संवित् होती है, हम उसके अन्दर प्रवेश करते और उसके साथ युक्त हो जाते हैं। इसे ही हम क्रमविकास कहते हैं जो कि वस्तुओंके

अन्दर चेतनाका विकासक्रम है, आत्माका विकासक्रम है, और केवल बाह्य रूपसे ही जाति-प्रकारका विकासक्रम है। इसी भाँति, अस्तित्वका आनंद भी मूल निर्ज्ञानत्वमेंसे उन्मज्जित होता है, प्रथमतः सुख और कष्टके विरोधी रूपोंमें, और, तदनन्तर उसे अपने-आपकी प्राप्ति परमात्माके आनंदमें, या जैसा कि उपनिषदोंमें कहा गया है, ब्रह्मानंदमें करनी होती है। 'दिव्य-जीवन'में विश्वकी जो व्याख्या प्रतिपादित की गयी है उसका केन्द्रीय भाव यही है।

अधिमानस

(दे० मानससे अतिमानस)

अधिमानस एक प्रकारसे अतिमानससे आया हुआ प्रतिनिधि है, (ध्यान रहे यह एक रूपक ही है), जो वर्तमान क्रमवैकासिक विश्वको, जिसमें हम यहाँ 'जड़'में रह रहे हैं, अवलम्ब देता है। यदि अतिमानस यहाँ शुरूसे ही अपरोक्ष स्रष्ट्री शक्तिके रूपमें आरम्भ करता तो हम अभी जिस प्रकारका जगत् देख रहे हैं वह असंभव हो जाता; वह आरम्भसे ही दिव्य ज्योतिसे भरा होता, जड़तत्त्वकी निश्चेतनामें निवर्तन न होता, परिणाममें जड़तत्त्वमें चेतनाका क्रमिक प्रयासशील विवर्तन न होता। अतएव, चेतनाके विश्वके परार्ध और अपरार्धके बीच एक रेखा खींचनी होती है। परार्ध बना है सत्, चित्, आनंद तथा महस (अतिमानस)से, अपरार्ध बना है मन, प्राण तथा जड़से। यह रेखा मध्यवर्ती अधिमानस है। यद्यपि स्वयं अधिमानस ज्योतिर्मय है, वह परिपूर्ण अविभाज्य अतिमानसिक ज्योतिको हमसे अलग रखता है। वह वस्तुतः उस ज्योतिपर निर्भर करता है, परन्तु उसे ग्रहण करनेमें सब प्रकारके पृथक् पहलुओं, शक्तियों, बहुकताओंमें विभाजित, वितरित और खंडित करता है, और यह संभव होता है कि चेतनाके और भी ह्रासके द्वारा, जो ह्रास कि मनतक पहुँचनेमें हो जाता है, इनमेंसे प्रत्येकको एकमात्र या प्रधान सत्य और बाकी सबको उसके अधिगत या विपरीत माना जाय। अधिमानसकी इस क्रियापर उपनिषद्के ये शब्द प्रयुक्त किये जा सकते हैं, "सत्यका मुख एक स्वर्णिम पात्रसे ढका हुआ है", या ये वैदिक शब्द प्रयुक्त हो सकते हैं, "ऋतेन ऋतं अपिहितम्।" यहाँ एक प्रकारकी विद्या-अविद्यामयी मायाकी क्रिया होती है जो अविद्याका प्राधान्य संभव करती है।

अध्यात्मीकरण

अध्यात्मीकरणका अर्थ है उच्चतर शांति, शक्ति, ज्योति, ज्ञान, पवित्रता, आनंद आदिका अवतरण। ये चीजें उच्चतर मनसे अधिमानसतकके

उच्चतर लोकोंमेंसे किसी भी लोककी होती हैं, क्योंकि इनमें किसीमें भी आत्मन्‌की उपलब्धि हो सकती है। यह एक अंतर्निष्ठ रूपांतर घटित करता है; उपकरणात्मक प्रकृति केवल इतनी दूर रूपांतरित की जाती है कि वह किसी कार्यके किये जानेके हेतु विश्वरूप भगवान्‌के लिये उपकरण बन जाती है, परन्तु अन्दरमें आत्मा स्थिर, मुक्त, भगवान्‌से युक्त रहता है

अमरता, अमृतत्व

व्यक्ति दिव्य विश्वभाव और परम आनंत्यतक पहुँच जाय, उसमें निवास करे, उसे अधिकृत करे, अपनी सकल सत्तामें, चेतनामें, ऊर्जामें, आत्मानंदमें वही दिव्य विश्वभाव और परम आनंत्य हो जाय, उन्हें जाने, अनुभव करे और व्यक्त करे, प्राचीन वैदिक ऋषियोंका ज्ञानसे यही तात्पर्य था; यही वह अमृतत्व था जिसे उन्होंने मनुष्यके सम्मुख उसके दिव्य परमोत्कर्ष-रूपमें रखा था।

वैश्व अज्ञानमें रहना अंधता है, परन्तु ज्ञानके ऐकांतिक निर्विशेषवादमें आबद्ध हो जाना भी अंधता है; ब्रह्मको युगपत् और साथ-साथ ज्ञान और अज्ञानके रूपमें जानना, परा स्थितिकी प्राप्ति 'संभूति' और 'असंभूति'के यौगपद्यके द्वारा करना, विश्वातीत और विश्वात्माकी उपलब्धिको साथ-साथ संवंधित करना, अपार्थिवमें अधिष्ठान और पार्थिव सृष्टिमें आत्म-संविन्मय अभिव्यक्ति संसिद्ध करना, यही पूर्ण ज्ञान है, यही अमृतत्वका भोग है।

अवगूढ़

मनुष्यमें अवगूढ़ सत्ता उसकी प्रकृतिका सबसे बड़ा भाग है और उसके अन्दर उन अदृश्य क्रियाधाराओंका रहस्य है जिनसे उसकी बाह्य क्रिया-शीलताओंकी व्याख्या होती है।

अवगूढ़ पुरुष पीछे स्थित रहता है और सारे बहिस्तलीय मनुष्यको अवलंब देता है; उसके अन्दर बाह्य मनके पीछे एक विशालतर और अधिक कार्यक्षम मन रहता है, बाह्य प्राणके पीछे एक विशालतर और सबलतर प्राण रहता है, बाह्य शारीरिक जीवनके पीछे एक अधिक सूक्ष्म तथा अधिक स्वतंत्र शारीरिक चेतना रहती है। और, इनसे ऊपर वह उच्चतर अतिचेतनकी ओर भी उन्मीलित होता है जैसे इनसे नीचे निम्नतर अवचेतन प्रदेशोंकी ओर भी।

अवगूढ़ केवल इस अर्थमें अवचेतन है कि वह अपने समग्र अथवा अधिकांश रूपको सतहपर नहीं लाता, वह सदा पर्देके पीछे कार्य करता

है। वह अवचेतन होनेकी अपेक्षा वल्कि निगूढ़ अंतश्चेतन और परिचेतन है; कारण, जितना वह बाह्य प्रकृतिको अवलंब देता है उतना ही उसे परिवेष्टित भी करता है।

अवचेतन

हमारी सत्ताका वह सर्वथा निमज्जित भाग जिसमें कोई जाग्रततः सचेतन या संवद्ध विचार, इच्छा या अनुभव या संगठित प्रतिक्रिया नहीं है, परन्तु जो फिर भी सारी चीजोंकी छापें अस्पष्ट रूपसे पाता है और उन्हें अपने अन्दर संचित रखता है; और उसमेंसे भी सब प्रकारके उद्दीपन, दृढ़ अभ्यासगत गतियाँ, स्थूलतः पुनरावृत्त हो या विचित्र रूपोंमें छद्मवेश धारण कर, स्वप्नमें या जाग्रत् प्रकृतिमें ऊपर उठ आ सकती हैं।

सचेतन होनेकी यात्रामें चलता हुआ निश्चेतन ही अवचेतन है, अवचेतन हमारी सत्ताके अवर अंगों और उनकी गतियोंका एक आश्रय होता है और उनकी एक जड़ भी। हमारे अन्दर जो कुछ सबसे अधिक चिपके रहनेवाला होता है और परिवर्तित होना अस्वीकार करता है, हमारे वुद्धि-दीप्तिसे हीन विचारके यांत्रिक आवर्तन, हमारे अनुभव, संवेदन, अन्तर्वेग और प्रवणताके दृढ़ दुराग्रह, हमारे चरित्रकी अनायत्त दृढ़ वद्धताएं, अवचेतन इन सवका आश्रयदाता और पुष्टिदाता है। हमारे अन्दर जो कुछ पाशव है,—या नारकीय भी है,—उसकी माँद अवचेतनके घने वनमें ही रहती है। वहाँ घुस जाना, वहाँ प्रकाश ले आना और एक प्रशासन स्थापित करना किसी भी उच्चतर जीवनकी सम्पूर्णताके लिये, प्रकृतिके किसी भी सर्वांगीण रूपांतरके लिये अपरिहार्य रहता है।

आंतरिक चेतना, अंतश्चेतना

इसका अर्थ है आंतरिक मन, आंतरिक प्राण, आंतरिक देह, और उनके पीछे स्थित चैत्य जो उनके अंतरतमकी सत्ता है।

इस 'आंतरिक' शव्दका व्यवहार दो विभिन्न अर्थोंमें किया गया है। कभी इसका आशय वाह्य सत्ताके आवरणके पीछे रहनेवाली चेतनासे होता है, अन्दरके मन या प्राण या शरीरसे होता है जिसका वैश्व मन, वैश्व प्राण-शक्तियों, वैश्व स्थूल शक्तियोंसे सीधा स्पर्श रहता है। कभी, दूसरी ओर, हमारा आशय एक अंतरतमके मन, प्राण, शरीरसे होता है, जिसे अधिक विशेष रूपसे सच्चा मन, सच्चा प्राण, सच्ची शारीरिक चेतना कहा जाता है, जो अंतरात्माके अधिक समीप है और भागवत

उनकी सारभूत सद्वस्तुके रूपमें, और शक्तियोंकी क्रीड़ा और प्रपंचको उसी सारभूत सद्वस्तुसे निकलते देख सकते हैं।

आध्यात्मिक जीवन

आध्यात्मिक जीवन ऐसा कुछ नहीं है जिसे अनम्य परिभाषामें निरूपित किया जा सके या अटल मानसिक नियमसे बाँधा जा सके; यह विकासक्रमका क्षेत्र है, यह एक अपरिमेय राज्य है जो अपने नीचेके राज्योंकी अपेक्षा शक्यतामें वृहत्तर है; उसके सहस्रों प्रांत हैं, हजारों प्रकार, स्थितियाँ, रूप, मार्ग, आध्यात्मिक भावकी विविधताएँ, आध्यात्मिक विकासकी श्रेणियाँ हैं। आध्यात्मिकता और उसके साधकोंके संबंधकी चीजोंका निर्णय इसी सत्यके आधारसे करना होगा।

आध्यात्मिक पूर्णता तथा परिपूर्ति

आध्यात्मिक पूर्णता तथा परिपूर्तिका अर्थ यह है कि प्रकृतिका अध्यात्मीकरण हो गया हो, प्रकृतिने मुक्त आत्मन्की चेतनामें और आनंत्य, पवित्रता, ज्योति, शक्ति, आनन्द तथा ज्ञानकी दिव्य चेतनामें अभिनव रूप पाया हो।

आध्यात्मिक मुक्ति

आध्यात्मिक मुक्तिका अर्थ है अहंसे मुक्ति, मन, प्राणिक तथा शारीरिक प्रकृतिमें बंदी रहनेसे मुक्ति और अध्यात्म-सत्ताके प्रति सचेतनता और उसी चेतनामें निवास।

आध्यात्मिक शक्ति

आध्यात्मिक शक्तिका अपना ठोसत्व है; वह ऐसा रूप ले सकती है जिसके प्रति अवगत हुआ जा सकता है, (उदाहरणके लिये स्रोतका रूप), और जो कोई भी पात्र चुना जाय उसपर उसे ठोस रूपमें भेजा जा सकता है।

आध्यात्मिकता

आध्यात्मिकताका सार है अपनी सत्ताके आंतरिक सत्यकी ओर, अपने मन, प्राण तथा शरीरसे भिन्न एक आत्मा, पुरुष, अंतरात्माकी ओर जागृति; उसे जाननेकी, उसे अनुभव करनेकी, वही हो जानेकी अभीप्सा; विश्वातीत और विश्वव्यापी सद्वस्तु, जो हमारी अपनी सत्तामें भी निवास कर रही

है उसके सम्पर्कमें प्रवेश, उसके सामीप्यमें और उससे एक होकर निवास; और उस अभीप्सा, सम्पर्क, ऐक्यके परिणाममें हमारी समूची सत्ताका एक दिशा-परिवर्तन, एक घर्मांतर, एक रूपांतर, एक नव संभूति या नव सत्ताकी ओर विकास या जागृति, एक अभिनव आत्मा, एक अभिनव प्रकृति।

आध्यात्मिकताका आगमन केवल तब हो सकता है यदि अंतरतमके प्रति, उच्चतर आत्माके प्रति, भगवान्‌के प्रति, मन, प्राण तथा शरीरका उन्मीलन हो जाय, और वे आध्यात्मिक शक्तियोंके अधिगत हो जायँ और आंतरिक ज्योति, उच्चतर ज्ञान एवं शक्तिके माध्यम-रूपमें साधनविनियोग हो जायँ।

आनुवंशिकता

आनुवंशिक प्रभाव एक बंधुताकी रचना करता है और बंधुता एक लंबी चीज है। जब आनुवंशिक अतीत परिवर्तित कर दिया जाता है केवल तभी बंधुताका अंत होता है।

आनुवंशिकता बाह्य सत्तापर सबल प्रभाव डालती है; किंतु, आनु-वंशिकताके सारे प्रभाव वहाँ भी स्वीकार नहीं किये जाते हैं; केवल वे ही स्वीकार किये जाते हैं जो, हमें जो होना है, उससे मेल खाते हैं या कम-से-कम, उसका निरोध नहीं करते।

आरोहण और अवतरण

मानव प्राणी सजीव जड़में देहधारी मन है। मानव प्राणीकी सारी चेतनाको ऊपर आना होगा, ताकि वह उच्चतर चेतनासे मिल सके; उच्चतर चेतनाको भी मनमें, प्राणमें, जड़में, उतर आना है।

आलोकित मन

(दे० 'मानससे अतिमानस')

इच्छा, क्रतु

यह चेतनाकी शक्ति है, कार्यान्वियनकी ओर अभिमुख।

इच्छा, भागवत

भगवान्‌की इच्छा या भागवत इच्छा सर्वोच्च सत्यको अभिव्यक्त करने-वाली इच्छा है।

भागवत इच्छा कुछ ऐसी वस्तु है जो यहाँ अज्ञानके एक क्रमविकसनशील जगत्में उतर आई है, वस्तुओंकी पीठ पीछे खड़ी है, अन्धकारपर अपनी ज्योतिसे चाप दे रही है, अज्ञानके जगत्की अवस्थाओंके बीच जो उत्तम संभव है उसकी ओर वस्तुओंको वर्तमानमें निर्देशित कर रही है और अंततोगत्वा भगवान्की एक महत्तर शक्तिके अवतरणकी ओर ले जा रही है। वह महत्तर शक्ति रोक रखी गयी सर्वशक्तिमत्ता न होगी, उसपर वर्तमान जगत्के नियमका अवबन्ध न होगा, अपितु वह परिपूर्ण रूपसे सक्रिय होगी और फलतः ज्योति, शांति, सामंजस्य, हर्ष, सौन्दर्य एवं आनन्दका राज्य ला रही होगी, क्योंकि ये वस्तुएँ ही दिव्य प्रकृति हैं।

ईश्वर और मनुष्य

मनुष्य ईश्वर हो जाता है, और सारी मानव क्रियाशीलता अपना शीर्ष और उदात्ततम विन्दु तब प्राप्त करती है जब वह शरीर, हृदय तथा मनको आत्माके संस्पर्शमें ले आनेमें सफल होती है।

ईश्वर और प्रकृति

ईश्वर प्रकृतिका पृष्ठभाग है, प्रकृति ईश्वरका पुरोभाग।

उच्चतर मन

(दे० मानस से अतिमानस)

ऋत-चित्, ऋत-चेतना

वह चेतना, जो सत्यमें या सत्यके सतत सम्पर्कमें रहती है, न कि सामान्य मनकी भाँति अज्ञानमें।

कविक्रतुः

वह, जिसकी सक्रिय इच्छा या प्रभावोत्पादिका शक्ति द्रष्टाकी है,—अर्थात्, जो उस ज्ञानके साथ कार्य करता है जिसका आगमन ऋत-चेतनासे होता है और जिसमें कोई भ्रांत प्रयोग नहीं होता, भ्रांति नहीं होती।

क्रमविकास, विकासक्रम, विवर्तन

यह जगत् क्या सदा एक ही व्यापारका कभी न बदलनेवाला ताँता है? या कि उसमें क्रमविकासकी प्रेरणा है, क्रमविकासकी वास्तविकता

है, आरोहणका कोई सोपान है जिसका आरम्भ कहीं किसी आद्य प्रतीयमान निश्चेतनासे हुआ हो, वह आरोहण अधिकाधिक विकसित चेतनाकी ओर होता हो, प्रत्येक विकासके बाद और भी ऊँचा जाता हो, अबतक हमारी सामान्य पहुँचमें न आनेवाली उच्चतम उत्तुंगताओंपर जा निकलता हो? और यदि ऐसा हो तो उस प्रगतिका तात्पर्य क्या है? उसका मूल तत्त्व क्या है? उसका न्याय-संगत परिणाम क्या है?

हर चीज इस ओर इंगित करती है कि यह प्रगति एक वास्तविकता है और यह क्रमविकास केवल स्थूल नहीं, आध्यात्मिक है।

इसके समर्थनमें आध्यात्मिक अनुभूतिकी एक ऐसी धारा भी है जिसमें हम आविष्कार करते हैं कि जिस निश्चेतनसे सब कुछ आरंभ होता है वह प्रतीयमान रूपसे ही निश्चेतन है, क्योंकि उसके भीतर एक चेतना संवृत है। उस चेतनाकी संभावनाएँ अंतहीन हैं, वह चेतना सीमित नहीं, विश्वव्यापी तथा अनंत है। वहाँ प्रच्छन्न और स्वयं बंदी हुए भगवान् हैं, जड़के अन्दर बंदी, परन्तु प्रत्येक शक्यता उसकी निगूढ़ गहराइयोंके भीतर सँजोयी हुई है।

हरेक शक्यता इस प्रतीयमान निश्चेतनामेंसे अपनी पारीमें प्रकट की जाती है। प्रथम, संगठित जड़, जो अंतर्वासी 'आत्मा'को छिपा लेता है। फिर प्राण, जो वनस्पतिमें उन्मज्जित होता है और पशुमें उदीयमान मनके साथ उसका संयोग होता है। फिर स्वयं मन, मनुष्यमें विकसित तथा संगठित रूपमें।

क्रमविकासकी यह धारा, यह आध्यात्मिक प्रगति—क्या वह मनुष्य-नामी अपूर्ण मनोमय जीवसे और आगे न जाकर यहीं रुक पड़ती है? कम-से-कम, यह सम्भावना तो है, एक ऐसा विन्दु भी है जहाँ यह निश्चितता आती है कि हम जिसे मनुष्य कहते हैं उसकी अपेक्षा एक कहीं अधिक महत्तर चेतना है, और यह है कि सोपानपर और भी आगे चढ़ते हुए हमें वह विन्दु मिल जा सकता है जहाँ जड़-निश्चेतनाके, प्राणिक तथा मानसिक अज्ञानके अधिकारका अवसान हो जाता है। चेतनाका एक ऐसा तत्त्व अभिव्यक्तिके लिये समर्थ हो जाता है जो इन वन्दी भगवान्‌को अंशतः नहीं, अपूर्णतः नहीं, वरन् मूलतः तथा सम्पूर्णतः मुक्त कर देता है।

इस दर्शनमें क्रमविकासका प्रत्येक पर्व चेतनाकी एक अधिकाधिक उच्चतर शक्तिके अवतरणके परिणामकी नाईं आता प्रकट होता है जिससे इहलोकका स्तर ऊपर उठाया जाता है, एक नये स्तरकी सृष्टि होती है। परन्तु चेतनाकी उच्चतम शक्तियोंका अवतरण अभी भी बाकी है। पार्थिव

जीवनकी पहेलीका समाधान उन्हींके अवतरणसे मिलेगा, और तब केवल पुरुष ही नहीं, प्रकृति भी अपनी मुक्ति पायेगी।

गुण

वस्तुओंकी प्रकृतिकी रचना तीन मौल गुणोंसे होती है : सत्त्व, प्रकाशकारी गुण, स्वच्छता; रजस, कर्मकी ओर संचालित करनेवाला गुण, ऊर्जा; तमस्, छिपाने या तमोवृत करनेवाला गुण, जड़ता।

गुणोंका रूपांतर

ये तीन गुण विशुद्ध और परिष्कृत होकर अपने दिव्य पर्यायोंमें परिवर्तित हो जाते हैं : सत्त्व हो जाता है ज्योति, सच्ची आध्यात्मिक ज्योति; रजस हो जाता है तपस, प्रशांत-तीव्र दिव्य शक्ति; तमस् हो जाता है शम, दिव्य अचंचलता, विश्रांति, शांति।

गुरु

वह, जिसने सत्यको उपलब्ध कर लिया है और स्वयं जिसे वह ज्योति, वह अनुभूति प्राप्त है और जो उसका संचरण करनेमें समर्थ है; ऐसा पथ-प्रदर्शक, जो इतना सबल है कि राहकी शिक्षा दे सकता है, राह बता सकता है और हाथ पकड़कर ले चल भी सकता है, कठिन राहें पार करा सकता है।

गुह्यविद्या

गुह्यविद्या प्रकृतिकी प्रच्छन्न शक्तियोंका ज्ञान और उनका सही उपयोग है। सच्ची गुह्यविद्याका अर्थ है अतिभौतिक सत्यताओंमें अन्वेषण और सत्ता तथा प्रकृतिके प्रच्छन्न विधानोंका अनावरण, सतहपर जो कुछ प्रकट नहीं है उस सबका अनावरण।

चेतना

चेतनाको सामान्यतः मन मान लिया जाता है, परन्तु मनश्चेतना केवल मानवीय सीमाक्षेत्र है। मनुष्यकी दृष्टि रंगोंकी समस्त श्रेणियोंको नहीं देख पाती, उसकी श्रवणशक्ति ध्वनिकी समस्त श्रेणियोंको नहीं सुन पाती, ऊपर और नीचे बहुत कुछ ऐसा है जिसे वह देख नहीं सकता, जिसे वह सुन नहीं सकता; इसी प्रकार उसकी मनोमयी चेतना चेतनाके समस्त

संभव विस्तारोंको शेष नहीं कर पाती। मानवीय क्षेत्रसे ऊपर और नीचे चेतनाकी अन्य विस्तृतियाँ भी हैं,—अतिमानसिक या अधिमानसिक शिखर, और मनसे नीचेके क्षेत्र। सामान्यत: मनुष्यका इनसे संपर्क नहीं होता और उसे ये अचेतन लगते हैं।

जब हम प्रगति करते हुए अपने अन्दरके और वस्तुओंके अन्दरके आत्माके प्रति जागृत होते हैं, तब हमें पता चलता है कि पौधेमें, धातुमें, अणुमें, विद्युतमें, भौतिक प्रकृतिकी हर चीजमें चेतना रहती है। हमें यह भी पता चलेगा कि मनोमयी चेतनाकी तुलनामें यह चेतना वास्तवमें सब दिशाओंमें उससे नीचेकी या अधिक सीमित श्रेणीकी नहीं है। इसके विपरीत, बहुतसे "निर्जीव" रूपोंमें वह अधिक तीव्र गतिमयी और तीक्ष्ण होती है, यद्यपि सतहकी ओर वह कम विकसित रहती है।

चेतना केवल अपनी और विषयोंकी संवित्‌का बल ही नहीं है, वह एक क्रियात्मक और सर्जनात्मक ऊर्जा भी है अथवा यह ऊर्जा उसे रहती है। वह अपनी निजी प्रतिक्रियाएँ निर्धारित कर सकती या प्रतिक्रियाओंसे अलग रह सकती है। वह शक्तियोंको केवल प्रत्युत्तर ही नहीं दे सकती, अपितु अपने-आपमेंसे शक्तियोंको सृष्ट या प्रकट भी कर सकती है। चेतना चित् है और चित्-शक्ति भी।

मनुष्यकी चेतना प्रकृतिकी ही चेतनाका एक रूप होनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकती। वह मनसे नीचे अन्य संवृत रूपोंमें भी विद्यमान है, वह मनमें उन्मज्जित होती है, वह मनके परे और भी श्रेष्ठतर रूपोंमें जा पहुँचेगी।

चेतना, आंतरिक और बाह्य

हमारी सत्तामें सर्वत्र, उसके सारे स्तरोंपर एक आंतरिक तथा एक बाह्य चेतना है। सामान्य मनुष्यको केवल अपने बाह्य आत्माकी संवित् रहती है और बहिस्तलने जो कुछ छिपा रखा है उस सबके प्रति वह सर्वथा अनभिज्ञ रहता है। और, फिर भी, सतहपर जो कुछ है, हम अपने-आपके बारेमें जो जानते हैं या मानते हैं कि जानते हैं और यह विश्वास भी करते हैं कि वही हमारा समग्र स्वरूप है, वह हमारी सत्ताका एक लघु भाग मात्र है; हमारा कहीं अधिक बृहत्तर भाग सतहसे नीचे है, या, अधिक ठीक-ठीक कहें, वह सम्मुख भागकी चेतना के पीछे है, पर्देके पीछे है, गुह्य है और केवल गुह्य ज्ञानके द्वारा ही ज्ञेय है।

चैत्य पुरुष, हृत्पुरुष

चैत्य पुरुष क्रमविकासमें चैत्य सत्ताके द्वारा गठित होता है। वह मन, प्राण और देहको सहारा देता है, उनके अनुभवोंसे वर्धित होता है, प्रकृतिको एक जीवनसे दूसरे जीवनमें ले जाता है। वह अंतःपुरुष या चैत्य पुरुष कहलाता है। आरंभमें वह मन, प्राण और देहसे आच्छादित रहता है, किन्तु ज्यों-ज्यों वह वर्धित होता है त्यों-त्यों वह आगे आने तथा मन, प्राण और शरीरपर अधिकार जमानेमें सक्षम होता जाता है।

चैत्य पुरुषकी अनुभूति होती है हृदयके पीछे स्थित पुरुषके रूपमें। वह जीवात्माकी भाँति विश्वव्यापी नहीं होता, बल्कि वैयक्तिक अन्तरात्मा होता है जो अपने हृच्चक्रके पीछे रहनेवाले स्थानसे प्रकृतिके अन्दर सत्ताके मनोमय, प्राणिक, दैहिक और चैत्य विकासक्रमको सहारा देता रहता है।

आंतरिक सत्ता निर्मित होती है आंतरिक मन, आंतरिक प्राण और आंतरिक शरीरसे,—किन्तु यह चैत्य सत्ता नहीं है। चैत्य सत्ता अंतस्तम सत्ता है और इन सबसे बिलकुल भिन्न है।

सबके और प्रत्येकके पीछे एक अंतरात्मा रहता है जो कि भगवान्‌का स्फुलिंग होता है—इसके बिना किसीका अस्तित्व नहीं रह सकता। परन्तु यह बिलकुल संभव है कि मनुष्यमें प्राणमय और अन्नमय पुरुष हो और उसके पीछे कोई स्पष्टतः विकसित चैत्य पुरुष न हो।

यह चैत्य पुरुष ही मनुष्यके आध्यात्मिक जीवनकी ओर मुड़नेका सदा सच्चा कारण—यद्यपि, बहुधा, गुप्त कारण—होता है और उस जीवनमें उसका सबसे वड़ा सहायक होता है।

जीव और जीवात्मा

जीव है जगत्‌में अभिव्यक्त व्यष्टि-अंतरात्मा।

जीवात्मा जन्म नहीं लेता, न वह विकसित होता है, पर वह वैयक्तिक जन्म तथा विकासक्रमकी अध्यक्षता करता है।

यहाँ वैयक्तिक प्रकृतिमें जीवात्माकी प्रतिनिधि शक्ति होती है; यह शक्ति है प्रकृतिका धारयिता पुरुष,—केन्द्रीय रूपसे चैत्य पुरुष और प्रकृतिमें, अधिक साधन-यंत्र-रूपसे मनोमय, प्राणमय तथा अन्नमय पुरुष और प्रकृतिमें।

जीवन

मनुष्यमें जीवन प्रमुखतः प्राणिक सत्ताके द्वारा अभिव्यंजित होना चाहता है। कामना, आसक्ति, महत्वाकांक्षा, लोभ, वासना आदि उसकी

सामान्य गतियोंके उपादान होती हैं। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि प्राणकी क्रिया सदा निम्नतर चेतनासे आबद्ध रहे।

जीवनका संन्यासात्मक निषेध भी कोई समाधान नहीं है, क्योंकि जीवन-शक्ति आध्यात्मिक सिद्धिके लिये अपरिहार्य है। अतः जीवनको हमारी क्रियाशीलताके साधन और ऐसे क्रियात्मक साँचेकी भाँति स्वीकार करना होगा जिसके अन्दर हमें दिव्य सत्ताको उँड़ेलना है; परन्तु उसे केवल इस कारण स्वीकार किया जा सकता है कि वह एक दिव्य ऊर्जाका रूप है और स्वयं वह दिव्य ऊर्जा जीवन-शक्तिसे महत्तर है। जड़में प्राण प्रकट होता है और प्राणधारी भौतिक जीव प्रकट होते हैं। परन्तु प्राण या जड़ एकमात्र सत्यता नहीं है; वह आत्माका एक बल ही है।

जीवनके प्ररूप

सामान्य जीवन औसत मानव चेतनाका जीवन है, जो अपने ही सच्चे आत्मासे वियुक्त है और मन, प्राण तथा शरीरके सामान्य अभ्यासोंसे निर्देशित है जो कि अज्ञानके नियम हैं। धार्मिक जीवन उसी अज्ञ मानव चेतनाकी एक गतिधारा है, वह पृथ्वीसे विमुख हो भगवान्‌की ओर अभिमुख होता या होनेकी चेष्टा करता है, परन्तु अभी भी ज्ञानहीन है और पार्थिव चेतनाके बंधनोंमेंसे निकाल किसी आनंद-स्वर्गमें ले जानेका मार्ग पा लेनेका दावा करनेवाले किसी सम्प्रदाय या मतके हठधर्मी सिद्धांतोंके द्वारा निर्देशित होता है। धार्मिक जीवन आध्यात्मिक जीवनके लिये प्रथम उपगमन हो सकता है, परन्तु बहुत प्रायः करके वह कर्मकांड, अनुष्ठान और आचारों या निर्धारित विचारों और रूपोंके चक्करमें अंत पाये बिना घूमते रहना होता है। इसके विपरीत, आध्यात्मिक जीवन चेतना-परिवर्तनके द्वारा सीधे अग्रसर होता है। यह परिवर्तन है अपने सदात्मा और ईश्वरसे वियुक्त हुई अज्ञानी सामान्य चेतनासे चलकर एक महत्तर चेतनामें परिवर्तन जिसमें हम अपनी सच्ची सत्ताको प्राप्त करते हैं और भगवान्‌के साथ पहले प्रत्यक्ष और जीवंत सम्पर्क पाते हैं और तदनंतर उनसे ऐक्य प्राप्त करते हैं।

ज्ञान और अज्ञान

ज्ञान और अज्ञानका भेद ऋग्वेदकी ऋचाओंके साथ आरंभ होता है। वहाँ ज्ञानका अर्थ प्रतीत होता है सत्यकी, ऋतकी चेतना, सत्यं ऋतम्, और

जो कुछ भी सत्य और ऋतकी श्रेणीका है वह सव; और अज्ञान है सत्य और ऋतके प्रति अचेतना, अचित्ति, 'सत्यं ऋतम्'की क्रियाओंके प्रति विरोध और मिथ्या अथवा प्रतिकूल क्रियाओंकी सृष्टि।

वैदिक रहस्यज्ञानियोंका भाव एक अधिक तत्त्वदार्शनिक विचार और भाषामें इस प्रत्ययमें व्यक्त किया जा सकता है कि अज्ञान अपने मूलमें एक विभाजनकारी मानसिक ज्ञान है जो वस्तुओंके एकत्व, सार और स्वधर्मको उनके अद्वय मूल और उनकी विश्वात्मकताके भावमें ग्रहण नहीं करता, अपितु, वल्कि, विभक्त विशेषों, पृथक् व्यापारों, आंशिक संवंधोंके आधारपर क्रिया करता है, मानो वे ही वह सत्य हों जिसका हमें अभिग्रहण करना है, या मानो विभाजनके पीछे एकत्वकी ओर, छितरावके पीछे विश्वात्मकताकी ओर वापस गये विना ही उन्हें यथार्थतः समझा जा सकता हो। ज्ञान वह है जिसकी प्रवृत्ति एकत्वकी ओर होती है, और जो कि अतिमानसिक क्षमताको प्राप्त कर अस्तित्वके एकत्व, सार और स्वधर्मको ग्रहण करता और वस्तुओंके वहुत्वके साथ उसी प्रकाश और पूर्णतामेंसे व्यवहार करता है, कुछ इस भाँति जैसे कि स्वयं भगवान् उस अनुत्तर ऊँचाईसे करते हैं जहाँसे वह जगत्का आलिंगन करते हैं।

अज्ञान-विषयक इस धारणाके अनुसार अज्ञान फिर भी एक प्रकारका ज्ञान रहता है, परन्तु चूँकि वह परिसीमित रहता है, अतएव किसी भी विंदुपर मिथ्यात्व और भूलके अनाहूत आगमनके लिये वह खुला रहता है; वह वस्तुओंकी गलत धारणामें मुड़ जाता है जो कि सच्चे ज्ञानके विपरीत रूपमें खड़ी होती है।

सप्तधा अज्ञान

मूला अविद्या, विश्वगत अज्ञान, अहमात्मक अज्ञान, कालावच्छिन्न अज्ञान, मनोगत अज्ञान, आधारगत या सांस्थानिक अज्ञान, व्यावहारिक अज्ञान।

पूर्ण ज्ञान

इस सप्तविध अज्ञानसे जो कुछ छूटा और अज्ञात रहता है उसके आविष्कार के द्वारा, हमारी चेतनामें सप्तविध आत्म-प्रकटनके द्वारा, इस सप्तविध अज्ञानका निरसन ही पूर्ण ज्ञानका अर्थ होगा।

ज्ञानकी चार विधियाँ

तादात्म्यके द्वारा ज्ञान,
अंतरंग अपरोक्ष संपर्कके द्वारा ज्ञान,
भेदात्मक अपरोक्ष संपर्कके द्वारा ज्ञान,
परोक्ष संपर्कके द्वारा संपूर्णतया भेदात्मक ज्ञान।

तपस

तपस विश्वपुरुषकी ऊर्जायिनी चित्-शक्ति है जिसके द्वारा जगत्की सृष्टि होती है, उसका पालन और शासन होता है। शक्ति, इच्छा, ऊर्जा, बलके जितने भी प्रत्यय हैं, वे सब, हर क्रियावंत वस्तु, हर क्रिया-परिस्फुरणकारिणी वस्तु उसके अंतर्गत है।

तपस्या

किसी आध्यात्मिक साधना या प्रक्रियामें एकाग्र होकर आध्यात्मिक प्रयास करना।

साधनाके परिणामकी प्राप्ति और निम्नतर प्रकृतिपर विजयके लिये इच्छा-शक्तिका एकाग्रीकरण।

तितिक्षा

जीवनके सब आघातोंका सामना करना, उन्हें सहना और उनपर विजय प्राप्त करना; वीरतापूर्वक सहना; सहनेका संकल्प तथा बल।

दृष्टि तथा श्रुति, सत्य-दृष्टि तथा सत्य-प्रेरणा

दृष्टि है सत्यका साक्षात्कार।
श्रुति है सत्यके शब्दका प्रत्यक्ष श्रवण।

देश और काल

आद्या स्थिति है कालातीत एवं देशातीत 'सद्वस्तु'। उस सद्वस्तुके अन्दर जो था उसके प्रविस्तारको धारण करनेके लिये आत्म-विस्तृत हुई वही सद्वस्तु देश और काल होंगे। अन्य सारे द्वन्द्वोंकी भांति यहां भी अन्तर यह होगा कि एकमें 'आत्मा' अपने-आपको सत्ताके स्वरूप और

तत्त्वमें देखता है और दूसरी अवस्थामें वही अपने-आपको अपने स्वरूप और तत्त्वकी क्रियात्मकतामें देखता है। उस एक 'सद्वस्तु'के इस आत्म-विस्तरणको ही हम देश और काल कहते हैं।

...दो वस्तुओंका अस्तित्व है, देशके अन्दर गति, कालके अन्दर गति, पहली है विषयगत, दूसरी है विषयीगत। विस्तार वास्तविक है, काल-प्रवाह वास्तविक है, देश और काल वास्तविक हैं।

देश और काल सीमित नहीं, अनंत हैं। वे चेतनाके एक विस्तरणकी अभिधाएँ हैं जिसमें वस्तुएँ एक संबंध, अनुक्रम, व्यवस्थामें घटित होतीं या आयोजित की जाती हैं।

और, देश और कालकी विभिन्न श्रेणियाँ हैं, यह भी चेतनापर निर्भर है।

'शाश्वत' देश और कालमें प्रसरित है, परन्तु वह सकल देश और कालसे अतीत भी है। कालातीतता और काल शाश्वत सत्ताकी दो अभिधाएँ हैं।

निवर्तन, संवृति

जड़-ऊर्जामें निवर्तित आत्मा वहाँ अपनी सारी शक्तियोंके साथ विद्यमान है; प्राण, मन तथा महत्तर अतिमानसिक शक्ति जड़के अन्दर निवर्तित हैं। परन्तु जब हम कहते हैं कि वे निवर्तित हैं तो इसका क्या अर्थ होता है? क्या हमारा यह अभिप्राय रहता है कि वे सारी वस्तुएँ सर्वथा भिन्न-भिन्न ऊर्जाएँ हैं जो मूलस्थ पार्थक्यके द्वारा एक दूसरीसे वियुक्त की हुई हैं, परन्तु एक पारस्परिक क्रियामें साथ-साथ लपेटी हुई हैं? या कि हमारा अभिप्राय यह है कि एक ही सत्-पुरुष है, जिसकी एकमेव ऊर्जा है, जिसके बलके प्रकाशकी भिन्न-भिन्न छायाएँ हैं जो प्रकृतिके वर्णक्रममें सभेद हो उठती हैं?

जड़तत्त्व कभी प्राणमय नहीं हो सकता था यदि प्राण-तत्त्व जड़की गठनके अन्दर नहीं होता और जड़के-अन्दर-प्राणके व्यापारकी नाईं उन्मज्जित न हो उठता; जड़के-अन्दर-प्राणमें संवेदना, अनुभव, विचार और बुद्धिकी क्रियाका आरम्भ नहीं होता, यदि मनका तत्त्व प्राण और जड़-धातुके पीछे न होता, वह यदि उसे अपना क्रियाक्षेत्र नहीं बनाता और विचारशील प्राण तथा शरीरके व्यापारमें उन्मेषशील नहीं होता; इसी भाँति, मनमें उन्मज्जित होती आध्यात्मिकता भी ऐसी शक्तिका चिह्न है स्वयं जो प्राण, मन एवं शरीरका अधिष्ठान और उपादान है और सजीव तथा विचारशील देहमें आध्यात्मिक जीवके रूपमें उन्मज्जित हो रही है।

निर्विशेष, निरपेक्ष

निर्विशेष व्यक्तित्वसे परे है और निर्व्यक्तित्वसे भी। फिर भी वह निर्व्यक्तिक और परम पुरुष दोनों ही है और सकल पुरुष भी है। निर्विशेष एकत्व और बहुत्वके विभेदसे परे है, और फिर भी सकल विश्वोंमें वह 'एक' और असंख्य 'बहु' है। वह समस्त गुण-सीमासे अतीत है और फिर भी किसी निर्गुण शून्यसे सीमित नहीं है, अपितु अनंतगुण भी है।

निर्व्यक्तिक

निर्व्यक्तिक ब्रह्म है निष्क्रिय, पृथक्, तटस्थ, विश्वमें जो घटित होता है उससे उदासीन।

निर्व्यक्तिककी खोज उन लोगोंका मार्ग है जो जीवनसे उपरत होना चाहते हैं। परन्तु सामान्यत: वे अपने निजी पुरुषार्थके द्वारा ही प्रयत्न करते हैं, न कि अपने-आपको एक श्रेष्ठतर शक्तिकी ओर उन्मीलित करके या समर्पण-मार्गके द्वारा; क्योंकि, निर्व्यक्तिक ऐसा कुछ नहीं है जो पथ-निर्देशन करे और सहायता दे, वरन् ऐसा कुछ है जिसे प्राप्त करना है, और वह प्रत्येक मनुष्यको उसके स्वभावकी राह और सामर्थ्यानुसार यह प्राप्ति करने छोड़ देता है।

निश्चल-नीरवता, नीरवता

विश्वके पीछे स्थित निश्चल-नीरवतापर ही विश्वकी सकल गतिधारा अवलंबित है। निश्चल-नीरवतासे ही शांति आती है; जब शांति गहरी और और गहरी होती जाती है, वह अधिकाधिक निश्चल-नीरवता होती जाती है।

निश्चल-नीरवतामें भी क्रिया हो सकती है, अविक्षुब्ध रूपसे, जैसे कि वैश्व क्रिया वैश्व निश्चल-नीरवतामें चलती रहती है।

निश्चल-नीरवतामें विचारकी सकल गतिका या क्रियाशीलताके अन्य किसी भी स्पन्दनका अभाव होता है।

निश्चेतन

(ऋग्वेद :—अप्रकेतं सलिलं)

स्वयं निश्चेतन चेतनाकी एक संवृत अवस्था है जिसमें 'ताव' या 'शून्य'की भाँति, यद्यपि एक भिन्न रीतिसे, सब वस्तुएँ उसके अन्दर दमित होकर समायी हुई हैं जिससे कि ऊपर या अन्दरसे आते किसी चापसे सब कुछ उसमेंसे विवर्तित हो सके।

सारी दिव्य प्रकृति निश्चेतनके अन्दर निगूढ़, किन्तु विद्यमान रहती है, अतः उसे अवश्य ही उसके अन्दरसे क्रमशः निर्मुक्त करना होगा।

नींव, आधार

नींव ऊपर है, न कि नीचे, उपरि बुध्न एशाम्। वस्तुओंकी सच्ची नींव अतिचेतन है, अवचेतन नहीं।

परब्रह्म

परम सत्; विश्वातीत भगवान्; देशातीत तथा कालातीत निर्विशेष।

परा प्रकृति

मनुष्य प्रकृतिका अनुसरण करता हुआ एक परा प्रकृतिको पाता है जो सकल भासमानके पीछे है, कालमें और कालसे परे, देशमें और देशसे परे 'अध्यात्म'की परम शक्ति है, 'आत्मा'की चिन्मयी शक्ति है जिसके द्वारा 'आत्मा' समस्त संभूतियाँ हो जाता है, 'निर्विशेष'की चिन्मयी शक्ति है जिसके द्वारा 'निर्विशेष' समस्त विशेषोंको अभिव्यक्त करता है। अन्य शब्दोंमें वह प्रकृतिको केवल भौतिक ऊर्जा, प्राण-शक्ति, मानस ऊर्जाकी नाईं ही नहीं ज्ञात करता है, जो उसके इतने सारे मुखड़े हैं, वरन् सत्ताके दिव्य प्रभुके ज्ञान-ऋतुकी शक्तिके रूपमें, स्वयम्भू शाश्वत एवं अनंतकी चित्-शक्तिके रूपमें ज्ञात करता है।

अज्ञान-जगत्में जीव जिस मुक्ति, पूर्णता, आत्म-संपूर्तिकी खोज कर रहा है, वहाँतक केवल तभी पहुँचा जा सकता है यदि वह अपनी वर्तमान अज्ञान-प्रकृतिमेंसे निकल कर आध्यात्मिक आत्म-ज्ञान तथा जगत्-ज्ञानकी प्रकृतिमें चला जाय। इस उच्चतर प्रकृतिको ही हम परा प्रकृति कहते हैं, कारण, वह उसकी चेतना तथा सामर्थ्यके वर्तमान स्तरसे परे है। परन्तु वस्तुतः वह उसकी अपनी ही सच्ची प्रकृति है, उसकी चोटी और सम्पूर्णता है; यदि उसे अपने सच्चे आत्माको और सत्ताकी समूची सम्भावनाको पाना है तो वहाँतक उसे पहुँचना ही होगा।

पवित्रता, आंतरिक और बाह्य

चेतनामें पवित्रता और आचरणमें पवित्रता, सामान्यतः इनका यही अभिप्राय होता है।

पिशाच

निम्नतर प्राणिक स्तरोंकी देव-विरोधी सत्ताएँ।

पुरुष

प्रकृतिकी क्रीड़ाको अवलंब देता हुआ मूलभूत सत्।

पुरुष एक है; उसकी क्रिया समय-विशेषकी चेतनाकी स्थिति और आवश्यकतानुसार होती है।

पुरुष सब स्तरोंपर विद्यमान है: एक मनोमय पुरुष है, प्राण-शरीर-नेता, जैसा कि उपनिषद् कहती है; एक प्राणमय पुरुष है; एक अन्नमय पुरुष है; फिर, चैत्य पुरुष है जो मानो इन सबको अवलंबन देता और वहन करता है। कह सकते हैं कि ये जीवात्माके प्रक्षेप हैं जिन्हें जीवात्माने सत्ताके विभिन्न स्तरोंपर प्रकृतिको धारण करनेके लिये वहाँ रखा है। उपनिषद्ने एक अतिमानसिक तथा एक आनंदमय पुरुषकी बात भी कही है, और *अतिमानसिक एवं आनंदमयी प्रकृति यदि पृथ्वीपर विकासक्रममें* संगठित हो जायं, तो हमें यह संवित् हो सकती है कि वे यहाँकी गतियोंको अवलंब दे रहे हैं।

ऐसा नहीं है कि पुरुष=निष्क्रियता और प्रकृति=कर्मण्यता, जिससे ऐसा हो कि जब सब कुछ निष्क्रिय हो तो प्रकृति नहीं होती और जब सब कुछ क्रियाशील हो तो पुरुष नहीं रहता। जब सब कुछ सक्रिय होता है तब भी सक्रिय प्रकृतिके पीछे पुरुष रहता है और जब सब कुछ निष्क्रिय होता है तब भी प्रकृति रहती है, परन्तु विश्राम करती प्रकृति।

पूर्ण ज्ञान

(दे० 'ज्ञान और अज्ञान')

पूर्ण मुक्ति

कामनात्मक इच्छासे मुक्ति और अहंसे मुक्ति, ये दोनों चीजें एक हैं, और कामनात्मक इच्छा तथा अहंके सुखद विलोपसे आनेवाला एकत्व मुक्तिका सारतत्त्व है।

प्रकृतिसे मुक्ति पाकर आत्माके निष्क्रिय आनन्दमें गमन मोक्षका प्रथम रूप है। प्रकृतिका और भी मुक्त होकर दिव्य गुणमें और जगत्-अनुभवकी आध्यात्मिक शक्तिमें गमन कर जाना परम शांतिको ज्ञान, शक्ति, हर्ष तथा

प्रभुताके परम क्रियात्मक आनंदसे भर देता है। परम पुरुष एवं उनकी परा प्रकृतिका दिव्य एकत्व पूर्ण मुक्ति है।

प्रकृति

प्रकृति है शक्ति अथवा चित्-शक्तिका बाह्य या कार्यकारी रूप जिससे लोकोंकी रचना और उनका संचालन होता है। यह बाह्य रूप यहाँ यांत्रिक प्रतीत होता है, शक्तियों, गुणों आदिकी क्रीड़ा प्रतीत होता है। उसके पीछे है भगवान्‌की जीवंत चेतना एवं शक्ति, दिव्य शक्ति।

प्रकृति वह शक्ति है जो कार्य करती है।

प्रकृति परा (उच्चतर) और अपरा (निम्नतर)में विभाजित है: परा प्रकृति है सच्चिदानंदकी दिव्य प्रकृति जिसके साथ अतिमानसकी अभिव्यक्तिकारिणी शक्ति है, सर्वदा भगवान्‌के प्रति संविन्मय और अज्ञान तथा अज्ञान-परिणामोंसे मुक्त; अपरा है अज्ञानकी प्रकृति, चेतनामें भगवान्‌से वियुक्त हुए मन, प्राण और जड़की प्रकृति; त्रिगुणात्मिका प्रकृति।

प्ररूपी लोक

अन्य लोक प्ररूपी लोक हैं, प्रत्येक अपने-अपने प्रकार और प्ररूप और नियम-धर्ममें स्थिर-निर्धारित है। क्रमविकास पृथ्वीपर घटित होता है और अतः पृथ्वी ही प्रगतिके लिये उचित क्षेत्र है। अन्य लोकोंकी सत्ताएँ एक लोकसे अन्य लोकको ओर प्रगति नहीं करतीं। वे अपने निजी प्ररूपसे बद्ध रहती हैं।

प्राण, प्राण-सत्ता, प्राण-पुरुष

प्राण-शक्तिका अर्थ है जीवनी-शक्ति—जहाँ कहीं भी जीवन है, वनस्पतिमें या पशुमें या मनुष्यमें, वहाँ जीवनी-शक्ति है—प्राणके विना जड़में जीवन नहीं हो सकता और कोई जीवंत क्रिया नहीं हो सकती। प्राण एक आवश्यक शक्ति है और प्राण यदि करण-रूपमें वहाँ विद्यमान न हो तो शारीरिक अस्तित्वमें कुछ भी किया नहीं जा सकता, न सृष्ट किया जा सकता है। साधनाको भी प्राणिक शक्तिकी आवश्यकता रहती है। प्राण एक अच्छा करण है, परन्तु बुरा स्वामी।

प्राणको मार नहीं देना है, उसे नष्ट नहीं करना है, वरन् चैत्य तथा आध्यात्मिक नियंत्रणके द्वारा विशुद्ध और रूपांतरित करना है।

प्राण-सत्ताके चार भाग हैं—पहला मनोमय प्राण है जो प्राण-सत्ताके

भावों, कामनाओं, आवेगों, संवेदनों तथा अन्यान्य क्रियाओंको विचार, वाणी या अन्य रूपसे मानसिक अभिव्यक्ति प्रदान करता है।

दूसरा है भावात्मक प्राण, जो प्रेम, हर्ष, शोक, घृणा तथा अन्यान्य प्रकारके विभिन्न हृद्गत भावोंका अधिष्ठान है।

तीसरा है केन्द्रीय प्राण, जो महत्वाकांक्षा, गर्व, भय, प्रतिष्ठाकी चाह, आकर्षण और विकर्षण जैसी सवलतर प्राणिक लालसाओं और प्रतिक्रियाओं, नाना प्रकारकी कामनाओं और आवेगों आदिका अधिष्ठान है तथा अनेक प्राणिक शक्तियोंका क्षेत्र है।

अंतिम, चौथा है निम्नतर प्राण, जो छोटी-छोटी कामनाओं और हृद्गत भावोंमें, ऐसी कामनाओं और भावोंमें व्यस्त रहता है, जो दैनिक जीवनके अधिकांश भागका निर्माण करते हैं, जैसे भोजनकी इच्छा, काम-वासना, मामूली पसंदगियाँ, नापसंदगियाँ, मिथ्याभिमान, लड़ाई-झगड़े, प्रतिष्ठा पानेकी चाह, निंदा होनेपर क्रोध, सभी प्रकारकी तुच्छ इच्छाएँ आदि—तथा अन्यान्य चीजोंकी अनगिनत जमात।

इन चारों भागोंके स्थान क्रमशः ये हैं—(1) गलेसे लेकर हृदयतकका क्षेत्र, (2) हृदय,—यह द्विविध केन्द्र है,—सामनेकी ओर यह भावात्मक प्राणका क्षेत्र है और पीछेकी ओर चैत्य पुरुषका, (3) हृदयसे लेकर नाभि-केन्द्रतक, और (4) नाभिकेन्द्रके नीचेका भाग।

मन, मानस

प्रकृतिका वह भाग जिसका संबंध अवधारणा और बुद्धिसे, भावोंसे, मानसिक या विचारजात प्रत्यक्षोंसे, वस्तुओंके प्रति विचारकी प्रतिक्रियाओंसे, यथार्थ मानसिक गतियों और रूपायणोंसे, मानसिक दर्शनों और इच्छा आदिसे होता है, जो कि बुद्धिके अंग हैं।

मन मूल तत्त्वके ज्ञानका नहीं, विश्लेषण और संश्लेषणका उपकरण है।

मनका कार्य है अज्ञात स्वयम्भू सद्वस्तुका कोई अंश अनिर्दिष्ट रूपसे काट लेना और उसके इस सीमांकन या मापको समग्र मानना, और उस समग्रका फिर उसके विभिन्न अंगोंमें विश्लेषण करना,—और उन अंगोंको वह पृथक्-पृथक् मानसिक विषय मानता है।

हमें यदि महत्तर, गभीरतर और यथार्थ ज्ञान चाहिये तो मनको एक ऐसी अन्य चेतनाके लिये स्थान खाली करना होगा जो मनका अतिक्रमण करके मनको परिपूर्ण करेगी या उससे आगे छलाँग लगाकर उसकी क्रियाओंको उल्टा मोड़ देकर सुधारेगी। मन तो मार्ग है, अंतकी मंजिल नहीं।

मनस्

यह ऐंद्रिय मन है जो स्थूल पदार्थों और घटनाओंको इन्द्रियोंके द्वारा देखता और उनके बारेमें मानसिक प्रत्यय बनाता है, उनके प्रति मानसिक प्रतिक्रियाएँ करता है। वह भावनाओं, भावावेगों, संवेदनों आदि चित्तकी प्रतिक्रियाओंका भी अवलोकन करता है।

मानव प्राणी

मनुष्य जड़-जगत्में अवतरित एक उच्चतर सत्का ठीक-ठीक वह तत्त्व और प्रतीक है जिसमें यह संभव है कि निम्नतर अपने-आपको रूपांतरित करे और उच्चतरकी प्रकृति धारण करे और उच्चतर अपने-आपको निम्नतरके रूपमें प्रकट करे।

मानससे अतिमानस

यह पदक्रम चार प्रधान आरोहणोंके सोपानमें रूपित हो सकता है जिसमें प्रत्येककी परिपूर्तिका अपना उच्च स्तर होगा। इन सोपान-श्रेणियोंका संक्षिप्त विवरण इस भाँति दिया जा सकता है कि यह चेतनाके ऊर्ध्व-पातनोंका एक धाराक्रम है जो उच्चतर मन, आलोकित मन और संबोधिके बीच होकर अधिमानसमें और अधिमानससे परेकी ओर जाता है; आत्म-रूपांतरोंका एक अनुक्रम है जिसके शिखरपर अतिमानस अथवा 'दिव्य विज्ञान' है।

उच्चतर मन

उच्चतर मन आध्यात्मिक मनकी भूमियोंमें एक भूमि है, उनमें पहली और सबसे नीचेकी; वह सामान्य मानसके स्तरसे ऊपर है।

हमारा अपनी मानवीय बुद्धि, अपनी सामान्य मानसतामेंसे बाहर जानेका प्रथम निश्चायक डग है एक उच्चतर मनमें आरोहण जो प्रकाश और अंधकारका सम्मिश्रण या अर्ध-प्रकाश नहीं है, वरन् आत्माकी एक विशाल स्वच्छता है।

यह एक ज्योतिर्मय विचारात्मक मन, आत्मासे उत्पन्न प्रत्ययात्मक ज्ञानका मन होता है।

परन्तु यहाँ, इस महत्तर 'विचार'में न तो खोज करनेकी और न युक्ति-विचारके द्वारा अपनी आलोचनाकी आवश्यकता होती है, यहाँ निष्कर्षकी ओर ले जानेवाली कोई डग-प्रति-डग तार्किक गतिधारा नहीं होती।

आलोकित मन

वह मन जो अब उच्चतर विचारका मन नहीं रह गया है, वरन् आध्यात्मिक ज्योतिका मन है। यहाँ आध्यात्मिक बुद्धिकी स्वच्छता, उसकी प्रशांत दिवा-दीप्ति आत्माकी एक तीव्र द्युति, एक भास्वरता और ज्योतिको स्थान देती या उसके अधिगत हो जाती है।

आलोकित मनकी क्रियाका प्रमुख साधन विचार नहीं, वरन् दर्शन है; वहाँ विचार दर्शनकी अभिव्यंजनाके लिये केवल एक गौण गति होता है।

जैसे उच्चतर मन आध्यात्मिक भाव और उसकी सत्यकी शक्तिके द्वारा सत्ताके अन्दर एक नयी चेतना लाता है, वैसे ही, आलोकित मन एक सत्य-दृष्टि और सत्य-ज्योति और उसकी दर्शिका तथा ग्राहिका शक्तिके द्वारा एक और भी महत्तर चेतना लाता है।

संबोधि

संबोधि वस्तुओंके सत्यको सीधे आंतरिक संपर्कके द्वारा देखती है, न कि सामान्य मानसिक बुद्धिकी तरह जो कि इन्द्रियों आदिके द्वारा खोजती और आगे बढ़ती है।

संबोधि तादात्म्यजनित आद्य ज्ञानके अधिक समीप और अधिक अंतरंग रहनेवाली चेतनाकी शक्ति है।

संबोधिकी शक्ति चतुर्विध है। एक शक्ति है सत्यके साक्षात्कारकी, सत्य-दर्शनकी, एक शक्ति है अनुप्रेरणाकी अथवा सत्य-श्रुतिकी, एक शक्ति है सत्य-स्पर्शकी अथवा अर्थके अपरोक्ष ग्रहणकी, एक शक्ति है सत्यके साथ सत्यके व्यवस्थित और यथातथ संबंधके सच्चे और स्वतःस्फूर्त विवेककी।

संबोधियाँ उच्चतर तथा आलोकित मनसे भी आती हैं और मानसिक, प्राणिक, सूक्ष्म-शारीरिक संबोधियाँ भी होती हैं। शरीरकी भी अपनी संबोधियाँ होती हैं।

अधिमानस

आरोहणका अगला डग हमें अधिमानसतक ले जाता है; संबोधिमय परिवर्तन इस उच्चतर आध्यात्मिक उन्मेषके लिये केवल एक भूमिका ही हो सकता है।

अतिमानस और मानव-मनके बीच चेतनाकी अनेक श्रेणियाँ, भूमियाँ या स्तर हैं, जिन्हें कई प्रकारसे देखा जा सकता है। उनमें मनका तत्त्व या उपादान और, परिणामतः, उसकी गतियाँ भी अधिकाधिक आलोकित,

सबल तथा विशाल होती हैं। अधिमानस इन श्रेणियोंमें सबसे ऊँचा है, वह ज्योतियों तथा शक्तियोंसे भरा है। परन्तु अधिमानससे ऊपर जो है, उसके दृष्टिकोणसे, अधिमानस वह रेखा है जहाँ जीव सम्पूर्ण तथा अविभाज्य ज्ञानसे अलग हटता और अज्ञानमें उतरता है। कारण, यद्यपि वह 'सत्य'से आहरण करता है, वहींपर सत्यके पहलुओंका, शक्तियोंका विभाजन आरम्भ होता है, उनका इस रूपमें कार्यान्वयन आरम्भ होता है मानो वे स्वतंत्र सत्य हों।

अधिमानसिक परिवर्तन सक्रिय आध्यात्मिक रूपांतरकी अंतिम सिद्धिकरी गति है। परन्तु वह मनको अपने-आपसे परे नहीं ले जा सकता, और इस आद्या निश्चेतनाके जगत्में वह विश्वातीतको सक्रिय नहीं कर सकता।

अतः क्रमविकासिनी प्रकृतिके इस पर्वमें यह आवश्यंक होता है कि अधिमानससे अतिमानसकी ओरका अंतिम संक्रमण और अतिमानसका अवतरण घटित हों।

अतिमानस

अतिमानस केवल अध्यात्मभावापन्न मनसे ही नहीं, वरन् उस मन और अतिमानसिक भूमिके बीच आनेवाले जो स्तर उस मनसे ऊपर हैं उन सबसे सम्पूर्णतया भिन्न चेतना है। एक बार जब हम अधिमानससे अतिमानसमें संक्रमण कर जाते हैं तो हम ऐसी चेतनामें प्रवेश करते हैं जिसमें अन्य स्तरोंके मानक बिल्कुल ही प्रयुक्त नहीं होते।

अतिमानस सच्चिदानंद और निम्नतर सृष्टिके बीच है। केवल उसमें ही दिव्य चेतनाका आत्म-निर्धारक सत्य रहता है। सत्य-सृष्टिके लिये वह आवश्यक है।

मन, प्राण तथा शरीरका रूपांतर अतिमानसिक शक्ति ही करती है।

अतिमानसिक चेतनामें समस्याएँ नहीं होतीं। समस्याकी सृष्टि होती है मनके द्वारा खड़े किये गये विभाजनसे। अतिमानसी चेतना सत्यको एक अखंड समग्रताकी नाईं देखती है और प्रत्येक वस्तु उस समग्रताके अन्दर अपना-अपना स्थान पा लेती है।

मिथ्यात्व

अविद्याका एक चरम परिणाम। यह एक आसुरिक शक्तिकी सृष्टि है जो इस सृष्टिमें हस्तक्षेप करती है। केवल यही नहीं है कि सत्यसे

उसका विच्छेद हो गया हो, और अतः उसका ज्ञान परिसीमित हो; केवल यही नहीं है कि वह भूलकी ओर खुली हुई हो, प्रत्युत, वह 'सत्य'के विरुद्ध विद्रोहमें रहती है, या उसे यह अभ्यास रहता है कि सत्यको गृहीत भी करे तो उसे केवल विकृत करनेके लिये ही।

मिलन, ऐक्य

(सायुज्य, सालोक्य, साधर्म्य)

मिलन या ऐक्य त्रिविध होता है। एक मिलन आध्यात्मिक सार-रूपमें होता है, तादात्म्यके द्वारा; एक मिलन इस सर्वोच्च सत् तथा चेतनामें हमारे अंतरात्माके अंतर्निवासके द्वारा होता है; एक क्रियात्मक मिलन उस तत् और यहाँ हमारी करणात्मक सत्ताके बीच प्रकृतिके सारूप्य या एकत्वके द्वारा होता है। प्रथम है अज्ञानसे मुक्ति, मोक्ष, और सत् तथा शाश्वतके साथ तादात्म्य, सायुज्य, जो कि ज्ञान-योगका विशिष्ट लक्ष्य है। द्वितीय है जीवका भगवान्के साथ या भगवान्में निवास, सामीप्य, सालोक्य; यह प्रेम तथा आनंदके सकल योगकी आशा है। तृतीय है प्रकृतिमें अभिन्नता, भगवान्से सारूप्य, तत्के पूर्णत्ववत् पूर्ण होना, साधर्म्य; यह शक्ति तथा पूर्णताके या दिव्य कर्म तथा सेवाके सकल योगका उच्च उद्देश्य है।

आत्माभिव्यक्तिकारी भगवान्के बहुविध एकत्वपर अधिष्ठित इन तीनोंकी सम्मिलित संपूर्णता, और यहीं; यह पूर्णयोगका संपूर्ण परिणाम है, उसके त्रिमार्गका लक्ष्य है और उसके त्रियज्ञका फल है।

मुक्ति

आत्माकी शांति, निश्चल-नीरवता, पवित्रता, स्वतंत्रतामें रहना।

मायासे मोक्ष। सकल पार्थिव प्राणियोंको पकड़ रखनेवाले अज्ञानसे मोक्ष।

योगमाया

चेतनाकी शक्ति, जिसके द्वारा भगवान् कालातीत सत्तामेंसे कालिक जगत्की सृष्टि करते और उसका यथार्थ स्वरूप उसके प्रतिभासोंके पीछे छिपा देते हैं।

रूपांतर

'रूपांतर'का अभिप्राय प्रकृतिके किसी परिवर्तनसे नहीं है—उदाहरणके लिये साधुता या नैतिक पूर्णता या (तांत्रिकों जैसी) यौगिक सिद्धियाँ या

चिन्मय देह इसका अभिप्राय नहीं हैं। रूपांतर शब्दका प्रयोग एक विशेष अर्थमें किया गया है, चेतनाके परिवर्तनके अर्थमें,—एक आमूल और सम्पूर्ण और एक निश्चित, विशेप प्रकारका परिवर्तन, जिसकी धारणा यों की गयी है कि वह सत्ताके आध्यात्मिक विकासक्रममें एक सवल और सुनिश्चित डग आगे ले जायगा; प्राणिक और भौतिक पशुजगत्में मनोभावापन्न प्राणीका प्रथम आविर्भाव होनेपर जो कुछ हुआ था उसकी अपेक्षा यह डग एक महत्तर तथा उच्चतर प्रकारका होगा, उसका प्रसार विशालतर होगा, वह सम्पूर्णताशाली होगा।

मन, प्राण और शरीर यथार्थमें चैत्य पुरुष तथा आत्माके करण हैं; जव वे अपने-आपके लिये कार्य करते हैं तो अज्ञानी तथा अपूर्ण वस्तुएँ उत्पन्न करते हैं—उन्हें यदि चैत्य पुरुप एवं आत्माके सचेतन करण वना दिया जा सके तो उन्हें अपने-आपकी दिव्यतर परिपूर्ति प्राप्त होती है।

लय

सम्पूर्ण विलय, पूर्ण विलोप।

लयकी ओरका अंतर्वेग मनकी सृष्टि है, वह जीवकी एकमात्र संभव नियति नहीं है। जव मन अपने निजके अज्ञानको नष्ट करनेका प्रयत्न करता है, तो उससे निस्तार पानेका लयके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं पाता; क्योंकि उसे यह अनुमान रहता है कि स्वयं उससे परे कोई वैश्व अनुभव नहीं है—स्वयं उससे परे केवल शुद्ध आत्मा है, निर्विशेप, निर्व्यक्तिक भगवान ही हैं। हृदय (प्रेम, भक्ति) मार्गके पथिक लयको स्वीकार नहीं करते; उनका विश्वास रहता है कि परेकी एक स्थिति है जिसमें भगवान्का शाश्वत संग होता है या लय न होकर भगवान्में निवास होता है।

लोक-लोकांतर

भौतिक जगत् ही एकमात्र जगत् नहीं है; अन्य लोक भी हैं जिनकी संवित् हमें स्वप्न-प्रलेखोंके द्वारा, सूक्ष्मेन्द्रियोंके द्वारा, प्रभावों और सम्पर्कोंके द्वारा, कल्पना, संवोधि और अंतर्दृष्टिके द्वारा होती है। हमारे जीवनकी अपेक्षा वृहत्तर सूक्ष्मतर जीवनके लोक, प्राणिक लोक हैं; मनोमय लोक हैं जहाँ मन अपने निजी आकार और रूप निर्मित करता है; चैत्य लोक हैं जो अंतरात्माके धाम हैं; ऊपर अन्य लोक हैं जिनके साथ हमारा सम्पर्क अल्प है।

विज्ञान और भौतिक विज्ञान

भौतिक विज्ञानके द्वारा और केवल बाह्य ज्ञानके द्वारा तो जड़ वस्तुओं-तकका सत्य भी संपूर्णतया नहीं जाना जा सकता है, न हमारे भौतिक जीवनके सही उपयोगका ही पता चल सकता है, न केवल स्थूल और यांत्रिक प्रक्रियाओंपर अधिकार पा लेनेसे ही यह संभव हो सकता है। ठीकसे जाननेके लिये, सही व्यवहार करनेके लिये हमें स्थूल दृश्य तथा प्रक्रियाके सत्यसे आगे जाना होगा, उसके अन्दर और उसके पीछे जो है उसे जानना होगा। कारण, हम केवल शरीरधारी मन ही नहीं हैं; एक आध्यात्मिक सत्ता है, एक आध्यात्मिक तत्त्व है, प्रकृतिका एक आध्यात्मिक लोक है।

विज्ञान है समग्र रूपसे आत्मवित् तथा सर्ववित् परम 'प्रज्ञा'।

विज्ञान 'आत्मा'का कार्यकर तत्त्व है, आध्यात्मिक जीवनका एक सर्वोच्च क्रियावीर्य है।

विज्ञानपुरुष, विज्ञानमय पुरुष

वह आध्यात्मिक मनुष्यका चरमोत्कर्ष होगा; रहने, विचारने, जीने और करनेकी उसकी सारी विधि एक वृहत् विश्वव्यापिनी आध्यात्मिकतासे शासित होगी। 'आत्मा'के सारे त्रित्व उसकी आत्म-संवित्के लिये वास्तव और उसके आंतरिक जीवनमें उपलब्ध हुए होंगे। उसकी समग्र सत्ताका विश्वातीत एवं विश्वक आत्मा एवं पुरुषके साथ एकत्वमें संलयन हुआ होगा; उसका समस्त कर्म प्रकृतिपर परम पुरुष एवं परमात्माके शासनसे उद्गत और उसके अनुगत होगा। सकल जीवनमें उसे चिन्मय सत्का, अंत:स्थ पुरुषका बोध होगा, यह बोध होगा कि वह पुरुष ही प्रकृतिमें अपनी अभिव्यक्ति पा रहा है; उसका जीवन और उसके सारे विचार, भावनाएँ और कार्य उसके लिये उसी अर्थसे भर जायँगे और अपनी इसी सत्यताकी भित्तिपर निर्मित होंगे। वह अपनी चेतनाके केन्द्र-केन्द्रमें, अपनी प्राण-शक्तिके स्पंदन-स्पंदनमें, अपने शरीरके कोषाणु-कोषाणुमें भगवान्को विराजमान अनुभव करेगा। अपनी प्रकृति-शक्तिकी सारी क्रियाओंमें उसे परम जगन्माताकी, पराप्रकृतिकी क्रियाकी संवित् होगी; वह अपनी प्राकृत सत्ताको जगन्माताकी शक्तिकी संभूति और अभिव्यक्तिकी नाईं देखेगा।

विवेक, सद्विवेक

गुप्त चैत्य सत्ता ही हमारे अन्दरकी सच्ची और आदि सद्विवेक शक्ति है जो नीतिवादीके निर्मित और रूढ़िगत विवेकसे गभीरतर है।

विश्वचेतना

वर्तमानमें मनुष्य अपनी वहिस्तलीय वैयक्तिक चेतनामें वन्द है और जगत्को (या वल्कि उसके वहिस्तलको) केवल अपने वाह्य मन और इन्द्रियोंके द्वारा और जगत्के साथ उनके सम्पर्कोंकी व्याख्या करके जानता है।

मनुष्यमें एक ऐसी चेतना उन्मीलित हो सकती है जो जगत्की चेतनाके साथ एक हो जाती है।

विश्वचेतना वह है जिसमें अहं और व्यक्तिगत मन तथा शरीरकी सीमाएँ विलुप्त हो जाती हैं। विश्वचेतनाकी प्राप्ति होनेपर हम विश्वात्माको अपने ही आत्माकी नाईं अनुभव कर सकते हैं; हम विश्वके सकल भूतोंके साथ एकत्व अनुभव कर सकते हैं; हम प्रकृतिकी सकल शक्तियोंको अपने अन्दर गतिमान अनुभव कर सकते हैं; सकल आत्माओंको अपने ही आत्माकी नाईं अनुभव कर सकते हैं।

विश्वभावापन्नकरण

सकल वस्तुओंको आत्मामें देखना और आत्माको सकल वस्तुओंमें,—सर्वत्र एक ही सत्ताकी संवित् होनी; विभिन्न लोकों, उनकी शक्तियों, उनकी सत्ताओंकी प्रत्यक्ष संवित् होनी।

विश्वातीत, तुरीय

वह, जो कि विश्वके ऊपर है, विश्वाभिव्यक्तिके अंतर्गत नहीं है, हमारे मन, प्राण तथा शरीरके विश्वसे ऊपर है।

श्रद्धा, श्रद्धा-विश्वास, आस्था

एक क्रियात्मक सम्पूर्ण विश्वास तथा स्वीकारकरण। बौद्धिक विश्वास नहीं, वरन् अंतरात्माकी एक क्रिया। भगवान्में विश्वास और भगवान्की विजयकी अडिग निश्चितता।

श्रद्धा, केन्द्रीय

अंतरात्मामें या पीछेकी ओर स्थित केन्द्रीय पुरुषमें रहनेवाली श्रद्धा। वह श्रद्धा, जो तव भी विद्यमान रहती है जव मन संशय करता है, प्राण निराश होता है और शरीर समाप्त हो जाना चाहता है। जव आक्रमण समाप्त हो जाता है तो यह श्रद्धा पुनः प्रकट होती है और पथपर फिर प्रवृत्त करती है।

श्रद्धा, चैत्य

वह भगवान्‌के सीध स्पर्शकी ओर उन्मीलित करती और सायुज्य तथा समर्पणके निष्पादनमें सहायता देती है।

शिव, शुभ

सर्वोच्च शुभ स्वरूपतः और आंतरिक प्रभावमें सर्वोच्च आनन्द है।

संबोधि

(दे० 'मानससे अतिमानस')

सच्चाई

सच्चाईका अर्थ है भगवान्‌की ओर सम्पूर्णतः मुड़ना और केवल दिव्य प्रेरणाओंको स्वीकार करना, इसका अर्थ ऐसा होनेके लिये सच्ची और अनवरत पुकार या प्रयत्न भी होता है।

सत्

वह जो सत्यतः है; सत्ता; अस्तित्व; अद्वय अस्तित्व; शुद्ध सत्।

सत्-भाव

वह भाव जो कि चित्-शक्तिका सत्-पुरुषको अभिव्यक्त करनेवाला एक वीर्य है, सत्-पुरुषसे उत्पन्न हुआ है और उसका स्वभावधर्मी है; वह न शून्यकी संतान है, न कोरी कल्पनाएँ बुननेवाला। वह चिन्मय सद्वस्तु है जो अपने-आपको अपनी अपरिवर्तनशील और अक्षर स्वरूप-धातुके परिवर्तनशील रूपोंमें प्रक्षिप्त करती है।

सत्य तथा ऋत

सत्य है सत्ताका सत्य। अपने क्रिया-रूपमें वह ऋत है।

समता

हर्ष या शोकसे, सुख या दुःखसे, लोगोंके वचन या कर्मसे, किसी भी बाह्य वस्तुसे विचलित न होना, योगमें इसे ही समताकी स्थिति कहा जाता है।

समर्पण

अपने-आपको भगवान्‌को दे देना, हम जो कुछ हैं और जो कुछ हमारा है, हर कुछ भगवानको दे देना, किसी भी वस्तुको अपनी निजी न मानना,

केवल भगवान्की इच्छाका पालन करना, अन्य किसीका नहीं; भगवान्के लिये जीना, अहंके लिये नहीं।

समाकलन, एकीकरण

प्रत्येक व्यक्ति दो ही नहीं, वहुतसे व्यक्तित्वोंका सम्मिश्रण होता है।

समाकलनका अर्थ है उच्चतर तत्त्वके नियंत्रण और कार्यान्वियनके द्वारा व्यक्तित्वके विरोधरत अंगोंमें सामंजस्य वैठाना; एक कम या अधिक सम्पूर्ण रूपांतर, जिससे समूची सत्ता एवं प्रकृतिकी एक समग्र परिवर्तित क्रियाका समावेश हो सके।

सांसारिक जीवन

संसारका जीवन स्वरूपतः अशांतिका क्षेत्र है; इसके बीच सही विधिसे चलते जानेके लिये अपने जीवन और अपने कर्म भगवान्को अर्पित करने होंगे और अंतःस्थ भगवान्की शांतिके लिये प्रार्थना करनी होगी। जब मन अचंचल हो जाता है तब यह अनुभव किया जा सकता है कि भगवती माता जीवनको अवलंव दे रही हैं और सब कुछ उनके हाथों सौंप दिया जा सकता है।

सामंजस्य

सब कुछका अद्वय 'सत्य'के मेलमें रहना या उसकी एक अभिव्यक्ति होना, यही सामंजस्य है।

ब्रह्मांड या विश्व सर्वदा एक सामंजस्य है, अन्यथा उसका अस्तित्व नहीं रह सकता था, वह टुकड़े-टुकड़े हो जाता। परन्तु यह विकासक्रमके अन्दर वर्धमान सामंजस्य है—अर्थात् सब कुछ एक ऐसे लक्ष्यकी ओर उद्योग करनेको सम्मिलित किया गया है जहाँ अभीतक पहुँचा नहीं गया है।

सामंजस्य आत्माका स्वाभाविक नियम है, वह बहुत्वके अन्दर एकत्वका, अद्वयकी वहुरूपी अभिव्यक्तिका अंतर्निहित विधान तथा स्वतःस्फूर्त परिणाम है।

सूत्र

ईश्वरके विषयमें हम जो भी सूत्र रचें, वह यद्यपि प्रतीक-रूपमें सदैव सच्चा रहता है, जव हम उसे पर्याप्त सूत्र-रूपमें स्वीकार करते हैं मिथ्या हो जाता है।

परिशिष्ट दो

शब्द-परिचय

(जहाँ कोष्ठकों में श्रुति वेदांत आदि का उल्लेख है, वे अर्थ उन ग्रंथों से लिये गये हैं।)

अ

अंतर्यामी—अन्तरमें रहकर नियंत्रित करनेमें समर्थ।

अंतर्वलित—अंदरमें परिवृत्त, वेष्टित, घेरा या लपेटा हुआ।

अंतारोधन—राहमें पड़ना, रोकना, अटकाना, बाधा देना आदि।

अग्राह्य—अनुभवके क्षेत्रसे बाहर।

अचित्ति—चेतना या बोधका नितांत अभाव।

अज्ञेयवाद—चरम तत्त्वको कोई नहीं जान पायेगा, यह मत।

अतिप्राकृतिक—प्रकृति या स्वभावसे बाहर।

अतिसामान्य—सामान्यसे आगे या परे।

अतींद्रिय दृष्टि— जो वस्तुएँ इंद्रियोंके सामने नहीं हैं, उन्हें देखनेकी शक्ति।

अधःस्थ—किसीके नीचे या अधीन।

अधिष्ठान—मूल आधार।

अध्यक्ष—जो ऊपरसे सब देख रहा है।

अध्यारोप—आत्मापर अनात्माका आरोपण।

अध्यास—विभिन्न-धर्मी दो वस्तुओंके बीच अभेदभावका आरोप।

अनिर्देश्य—जिसके लक्षण या विशिष्ट धर्मका उल्लेख नहीं किया जा सकता। जिसकी निर्देशना न हो सकती हो।

अनिर्वचनीय ; अनिर्वाच्य—वह जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती; जिसका कथन नहीं किया जा सकता।

अनीश—जिसका कर्तृत्व स्वाधीन नहीं है। जो ईश नहीं है।

अनुपहित—जो उपहित नहीं है।

अनुप्रवेश—अंदर घुस जाना या पैठ जाना।

अनुवृत्ति—धारावाहिकता।

अनुस्यूति—अंतर्व्याप्त, ग्रथित या पिरोये होनेकी अवस्था।

अनृत—जो ऋत या सत्य न हो।

अन्तरावृत्त—जो अन्दरकी ओर मुड़ा हुआ है।

अन्तर्वत्नी—गर्भिणी स्त्री।

अन्नमय—अन्न या [illegible] जिसका उपादान है।

अन्योन्याश्रय—परस्पर एक-दूसरेका आश्रय।

अपरार्ध—[illegible] अर्थात् मन, प्राण तथा देह।

अपरिग्रह—एकांत प्रयोजनीयके अतिरिक्त अन्य किसी भी भोग्य वस्तुको ग्रहण न करना ।

अप्रतर्क्य—तर्क-बुद्धिसे अतीत ।

अभिधा—शब्द । नाम । शब्दका वाच्यार्थ या अक्षरार्थ ।

अभिनिवेश, ऐकांतिक—और सब कुछको छोड़कर केवल एक ही ओर एकाग्र होना ।

अलक्षण—जिसके लक्षण या परिचायक धर्मका उल्लेख करना संभव नहीं है । लक्षणरहित ।

अलवार—इस तामिल शब्दका अर्थ है वह व्यक्ति जो भगवान्में खो गया है, निमज्जित हो गया है । दक्षिण भारतमें अलवार कहलाने-वाले संतोंमें श्री विष्णुचित्त 'पेरि-यालवार', बड़े अलवार कहलाये ।

अवकर्ष—नीचेकी ओर खिंचाव ।

अवकिरण—छितराने, बिखेरने या फैलानेकी क्रिया या भाव ।

अवचेतना—साधारण चेतनासे नीचेका स्तर ।

अवधारक—अवधारण करनेवाला ।

अवधारण—अपने अंदर धारण करना ।

अवर—नीचेका ।

अवस्थान—विशिष्ट स्थिति ।

अवस्थिति—वर्तमानता । उपस्थिति ।

अविकल्प—जिसके रूप या भंगिमामें परिवर्तन नहीं होता ।

अव्याकृत—जो विशिष्ट रूप या आकारमें रूपायित नहीं हुआ है, इस कारण जिसके धर्म-भेदका निरूपण संभव नहीं है ।

असंभवापत्ति—यह आपत्ति कि ऐसा होना असंभव है ।

असंभूति—संभूतिके उस पार, जहाँ किसी भी भावका स्पंदन नहीं है ।

अहरिमन—पारसी धर्ममें पाप और अशुभका अधिष्ठाता देवता ।

अहुरमज़द—पारसी धर्मका प्रधान देवता, शुभका तत्त्व ।

आ

आत्म-रूपायण—निजको रूपमें व्यक्त करना ।

आत्म-विशेषण—निजको विशिष्ट आकार-में सीमित करना ।

आत्म-विसर्पण—निजको किसी या 'कुछ' पर प्रक्षिप्त करना ।

आत्म-शक्ति—अंतरात्माकी शक्ति ।

आत्म-संवित्—स्वरूपका स्वच्छ तथा सम्यक् अनुभव ।

आत्मसात् करना—अपने-आपमें लीन कर लेना या समा लेना ।

आत्म-हारा—जिसने अपने-आपको खो दिया है ।

आपरिवर्तन—हल्का परिवर्तन या अव-स्थांतर ।

आपूरण—कमतीको पूरा कर देना ।

आप्तकाम—जिसे निजके अन्दर ही निजको पूर्ण माननेके कारण काम्य वस्तुको बाहर नहीं खोजना होता है ।

आवृत—चारों ओरसे घिरा हुआ, आविष्ट ।

आवृत्त—पुनः-पुनः वापस आता हुआ ।

इ

इति और नेति–उपनिषदोंमें ब्रह्मके संबंधमें कुछ वर्णन करके दो तरहसे कहा गया है : वह यह है, वह वह भी है,... (इति), या वह यह नहीं है, वह वह भी नहीं है,... (नेति)। श्री अरविंद कहते हैं कि परम सद्वस्तुको न तो स्वीकारोक्तियोंसे, इति-प्रत्ययसे, न निषेधोक्तियोंसे, नेति-प्रत्ययसे सीमित किया जा सकता है।

इति-प्रत्यय, इति-भाव–भावात्मक धर्मका निर्देश। 'एक कुछ है' ऐसे भाव-रूपका बोध। विद्यमानताका भाव।

इतिमूलक, इतिवाची–इति-भाव पर आश्रित प्रत्यय, धारणा आदि।

इलहाम–देववाणी। पैगंबरी मतोंमें ऐसी बात जो ईश्वरकी ओरसे कही हुई मानी जाय।

ई

ईक्षण–देखना। विवेचन। जाँच-पड़ताल।

उ, ऊ

उत्क्रमण–पर्व-पर्व करके ऊपर उठना। उत्क्रांति।

उत्क्षेप–ऊपरकी ओर छूट पड़ना, फूट आना, बाहर आना।

उत्तरायण–(चेतनाका) ऊर्ध्वमुखी क्रमिक अभियान।

उद्देश्यवादी–जो किसी लक्ष्य या उद्देश्य-की ओर अभिमुख हो।

उन्मिषंत–जिसका उन्मेष हो रहा हो या होनेवाला हो।

उपचय–वृद्धि।

उपद्रष्टा–जो कुछ न करता हुआ भी साक्षी दृष्टिसे देखता रहता है।

उपपत्ति–तर्क, युक्ति आदिका प्रमाण या साक्ष्य।

उपरितल–बाहरकी सतह, ऊपरकी सतह।

उपशम–स्पंदनहीन प्रशांतिका भाव। निवृत्ति।

उपहित–उपाधिके द्वारा सीमित, विशेष गुण या क्रियाके अधीन या उसके द्वारा परिचित। संकुचित।

उपादान–मूल उपकरण या धातु।

उभयतःपाश–जहाँ दोनों ओरसे फाँस पड़ती है अर्थात् दोनों विकल्पोंमें कोई भी न चलता हो।

उरौ अनिबाधे–उस महाविपुलतामें जहाँ कहीं भी कोई बाधा नहीं है।

ऊर्ध्वग–जो ऊपरकी ओर सीधे जाता हो। जिसकी गति ऊपरकी ओर हो।

ऊर्ध्वपातन–1. तापके द्वारा हल्का बनाकर ऊपर उठाना और फिर जमा देना।
2. उक्त प्रक्रियाके द्वारा शुद्धि।
3. किसी श्रेष्ठतर वस्तुमें रूपांतरण।

ऋ

ऋतंभर–जिसने ऋतको धारण कर रखा हो या जो उसका पोषण करता हो।

ऋत–(विश्वके मूलमें) सत्य एवं सुश्रृंखल शाश्वत विधान, सत्यका छंद। (व्यक्तिके) स्वभाव तथा आचरणमें धर्म एवं न्यायका स्फुरण। सत्य। सम्यक् और सत्य।

ऋताचार–ऋतकी पूर्ण चेतना द्वारा नियंत्रित व्यवहार।

ए, ऐ

एकात्म-प्रत्ययसार–जहाँ एकमात्र आत्म-सत्ताके निविड़ अनुभवको छोड़कर और कुछ भी नहीं है। (श्रुति)

एकीभाव–एकाकार होकर रहना। एकत्वमें लीन होकर रहना।

एषणा–इच्छा, चाह, अभिलाषा, याचना।

एकांतिक ; ऐकांतिक–एकदेशीय। किसी एक ही विषय, व्यक्ति आदिसे संबंध रखनेवाला।

क

कालावच्छिन्न–काल द्वारा विशेषित या सीमित।

कर्त्री विभूति–कार्यकर दैव विभूति।

क्रोमोसोम–गुणसूत्र। कोषाणुका एक अंश जिसका कोषाणुके समसूत्रीय विभाजनमें, और ऐसा माना जाता है, आनुवंशिक चरित्र और लक्षणोंके सचरणमें महत्वपूर्ण भाग होता है।

क्षर–1. जिसका विकार, अवस्थांतर या रुपांतर घटित होता है। 2. नश्वर।

ग

गुणसूत्र–दे० क्रोमोसोम

गोचर–जिसका ज्ञान इंद्रियोंद्वारा हो सके।

गोष्ठी–दल, मंडली, यूथ।

च

चित्ति–चेतना या बोधके द्वारा धारणा कर पाना। (श्रुति)। चेतना या बोध।

चैत्यिक–चैत्यसे संबंधित। अंतर्लोक या आंतरिक सत्तासे संबंधित।

ज

जड़-धातु–जड़रूपी उपादान।

जिजीविषा–बचे रहनेकी इच्छा।

जीन–एक भौतिक इकाई जिसका संचरण (अन्य अवस्थाएँ पूरी होनेपर) निर्दिष्ट इकाई-स्वरूपके वंशानुक्रमणका निर्धारण करता है।

जीववाद–सजीव और निर्जीव, समस्त वस्तुमें प्राणात्माकी व्याप्ति है, यह मत। यही प्राणवाद भी है।

जीवाधार–जीवका दैहिक आधार।

जुगुप्सा–संकुचन और सिकुड़न।

ज्ञ

ज्ञान-क्रतु–ज्ञानात्मिका इच्छा।

ज्ञेय–ज्ञानका विषय।

ट

टेलिपैथी–इन्द्रियोंके ज्ञात माध्यमके बिना, मन और मनके बीच विनिमय या दूसरेके मनकी बातें या विचार जाननेकी क्रिया या भाव।

त

तंत्र–1. भारतकी एक प्रसिद्ध साधना-पद्धति। 2. नियम। व्यवस्था।

तत्–ब्रह्मकी चरम और परम स्थिति, जहाँ उसे 'तत्' या 'वह'के अलावा अन्य किसी प्रकार निर्देशित नहीं किया जा सकता।

तत्त्ववाद–यह मत कि वस्तुओंका एक अज्ञात स्वरूप-तत्त्व है जो इंद्रिय-ग्राह्य विषयोंसे, प्रपंचसे परे है।

तनु–कृश। अल्प। दुबला-पतला।

तनूकरण–किसी चीजको जलमें घोलकर या मिलाकर उसकी घनता, तीव्रता आदि कम करना।

तपोविग्रह–शक्तिका घनीभूत रूप।

तात्त्विकता–वास्तविकता। यथार्थता। तत्त्वयुक्तता।

तादात्म्य–अन्यके साथ एकात्मता या अभेदभाव।

तादात्म्य-ज्ञान–ज्ञानके विषयको संपूर्णतया आत्मसात् करनेके फलस्वरूप जिस ज्ञानमें ज्ञाता और ज्ञेयका भेद नहीं रहता।

तुरीय–विश्वातीत। स्वप्न, जाग्रत् और सुषुप्तिसे अतीत आत्माकी स्वप्रकाश भूमि।

त्र

त्रयी–तीन अंगों, इकाइयों या रूपोंका समाहार।

त्रिक–त्रयी। एकमें तीन।

त्रिपुटी–तीनका समाहार।

त्रिमार्ग–ज्ञान, भक्ति तथा कर्मका त्रिविध मार्ग।

त्र्येक–त्रिक।

द

दिव्योल्लास–भगवान्के साथ तादात्म्य होनेपर अनुभव होनेवाला उल्लास।

दिव्य ऋतु–परम पुरुषकी इच्छा और सृष्टि-वीर्य। चिन्मय संकल्प और सामर्थ्य।

देश–1. सब ओर फैला हुआ वह विस्तृत अवकाश जिसके अंदर सभी दिखाई देनेवाली चीजें रहती हैं। 2. सामान्य अर्थमें प्रचलित देश, जैसे भारत देश।

देही–1. देहको धारण किये हुए आत्मा। 2. शरीरी।

द्रव्य–गुण और क्रियाका आश्रय-रूपी पदार्थ।

ध

धर्म–1. शाश्वत विधान। (श्रुति)। 2. किसी व्यक्ति या वस्तुकी विशेष धारा या गुण जो उसमें स्थायी रूपसे हो। 3. (सामान्य अर्थमें प्रचलित) धर्म, जैसे हिंदू धर्म, ईसाई धर्म आदि।

धर्मी–किसी विशिष्ट धर्म, गुण आदिसे युक्त।

धातु–वस्तुका मौल उपादान और उसके गुणोंका आश्रय।

धातु-प्रकृति–धातुगत स्वभाव।

धूर्त्ति–कुटिल चलन।

धृत–पकड़ा हुआ। धारण किया हुआ। निश्चित या स्थिर किया हुआ।

न

निदान–मूल और प्रमुख कारण।

निदिध्यासन–अनवरत चिंतन। निरंतर या सदा किसीका स्मरण।

निरपेक्ष–जिसे किसी चीजकी अपेक्षा न हो, जो किसीके अवलंब, आधार या आश्रयपर न हो।

नियति–1. विधाताका निर्दिष्ट विधान। नियम। 2. कार्य-कारणका अलंघ्य व्यापार जिसके कारण कहीं भी किसीके स्वतंत्र होनेकी धारणा नहीं की जा सकती। (श्रुति)। 3. नियत होनेकी अवस्था या भाव।

निरुपाधिक–1. जिसकी कोई 'उपाधि' या विशेष परिचायक धर्म नहीं है। 2. असंकुचित (वेदांत)।

निर्ज्ञानता–ज्ञानका ऐकांतिक अभाव।

निर्देश–1. स्पष्ट रूपसे कुछ वतलाना या समझाना। 2. यह वतलाना कि अमुक काम या वस्तु इस प्रकार या इस रूपमें होनी चाहिए। 3. निश्चित करना। नियत करना। 4. नाम। संज्ञा।

निर्देशन–निर्देश करनेकी क्रिया या भाव।

निर्देशना–निर्दिष्ट या निर्धारित करनेकी क्रिया या भाव।

निर्देश्य–जिसकी निर्देशना की जा सकती हो।

निर्वहण–नाटच कथा-वस्तुको विकसित कर उसकी अंतिम परिणतितक ले जाना।

निर्विशेष–जिसपर कोई भी विशेषण प्रयुक्त नहीं होता, कोई भी वैशिष्टचकी भावना नहीं चलती। दे० परिशिष्ट 'एक'।

नेति–दे० इति और नेति।

नेति-प्रत्यय; नेति-भाव–इति-प्रत्ययका, इति-भावका विपर्याय।

नेतिमूलक; नेतिवाची–इतिमूलकका, इतिवाचीका विपर्याय।

नैमित्तिक–जिसकी उत्पत्ति किसी निमित्त या कारणसे होती हो। जो निमित्तपर आश्रित हो।

न्याय–तर्कशास्त्र। सुविचार।

न्याय-विधान–विधानका न्यायसंगत रूप।

प

पराक्–जिसका मोड़ वाहरकी ओर घूमा हुआ है। विषयगत।

परात्पर–जिसने सव कुछ का अतिक्रमण किया है, जिसके परे कुछ या कोई नहीं है।

परात्पर प्रकृति–परमा पराप्रकृति।

परार्ध–अखंड सत्ताका ऊपरका भाग : सत्, चित्, आनंद और अतिमानस।

परावर्तन, चेतनाका–चेतनाका आमूल परिवर्तन।

परा-वाक्–आद्य वाक्।

पराहंता–विश्वपुरुषका अहं-वोध।

परिचेतन–चेतनाकी व्याप्तिसे आसपासको भी निजके अन्दर जानना।

परिणाम–फल, नतीजा।

'परिणाम'–परिणत रूप। अवस्थांतरण या रूपांतरण।

परिभू–जो विचित्रविध होकर चारों दिशाओंमें फूट उठे।

पुरुषार्थ–मनुष्यके जीवनका लक्ष्य।

प्रकृति-स्थ पुरुष–प्रकृतिमें अवस्थित पुरुष।

प्रतिक्षेप–कुछ दूर आगे जाकर क्रिया या शक्तिकी धाराका फिर मूल उत्सकी ओर वापस आना।

प्रतिभास–जो आँखोंको भासित होता है।

प्रतिभू–प्रतिनिधि। जामिन, प्रतिभूति।

प्रतिवर्ती–कुछ दूर आगे जाकर जो फिर वापस आता है।

प्रतिषेध–अस्वीकार।

प्रत्यक्–जिसका मोड़ भीतरकी ओर घूमा हुआ है। विषयीगत।

प्रत्यक्ष–जिसका ज्ञान इंद्रिय या इंद्रियोंसे स्पष्ट रूपमें हो रहा हो। जो आँखोंके सामने उपस्थित हो तथा स्पष्ट रूपसे दिखाई दे रहा हो।

प्रत्यक्ष बोध–इंद्रियोंके द्वारा होनेवाला किसी वस्तु या विषयका बोध, ज्ञान या जानकारी।

प्रत्यक्षण–प्रत्यक्ष बोधकी क्रिया या भाव।

प्रत्यय–1. धारणा। विश्वासमय धारणा। 2. ज्ञान।

प्रत्यावर्तन–वापस आना। लौटाना।

प्रपंच–बाहर दिखाई देनेवाला जगत्-वैचित्र्य। फैलाव, विस्तार।

प्रपंचोपशम–जिस निस्तरंग आत्मानुभवमें जगत्का विलोप हो जाता है।

प्रमाण्य–जिसे प्रमाणित किया जा सके। जिसकी सच्चाई जाँची जा सके।

प्रवर्तक–1. किसी काम या बातका आरंभ या प्रचलन करनेवाला। 2. प्रेरित करनेवाला।

प्रवाह-नित्यता–अनंत काल चलते जाना।

प्राकृत पुरुष–बहिर्प्रकृतिमें जड़ा हुआ पुरुष।

प्राकृतिक निर्वाचन–जो परिवेशके साथ निजका मेल न वैठा सके, इस कारण उसका विलोप प्रकृति जिस रीतिसे करती है।

प्राक्कल्पना–सिद्धांतकी प्राथमिक कल्पना।

प्राक्तन–पूर्वकालीन, पहलेका।

प्रातिभासिक–प्रतीयमान। प्रतिभाससे संबंधित।

प्रामाण्य–प्रमाण। विश्वसनीयता।

फ

फल्गु-धारा–अन्दर-ही-अन्दर बहनेवाली धारा।

ब

बहिश्चर–जिसका स्वभाव बाहर-बाहर ही घूमनेका है। बाहरी।

बौद्धिक–बुद्धि-जात। बुद्धि-संपर्कित।

भ

भवति–होना। सत्ता।

भवैषणा–होनेकी, सत्ताकी एषणा या इच्छा।

भव्यार्थ–संभव विषय। भविष्यमें हो सकनेवाला।

भाव–1. वह मानस-उद्भावना जिससे विचारोंकी उत्पत्ति होती है। 2. अस्तित्व, सत्ता। 'अभाव' इसीका विपर्यय है। 3. मनमें उत्पन्न होनेवाली कोई भावना, ख्याल, विचार।

भावन–भाव-क्रिया।

भावना–मनमें उत्पन्न होनेवाली कोई कल्पना, भाव, विचार या ख्याल।

भाववाद–यह मत कि भाव ही सत्य है, वस्तु उसका आभासमात्र है।

भावात्मक–1. जो भावसे युक्त हो अर्थात् जिसमें अभाव न हो। सहिक। 2. भावोंसे परिपूर्ण या युक्त।

भूत–1. सृष्ट जीव और पदार्थ। 2. अतीत।

भूति–अस्तित्वमें आना। उत्पत्ति।

भौतिकीकरण–भौतिक रूप देना।

म

मनन–मनकी क्रिया। मानसिक अभ्यास।

मनोधातु–(आधारका) मनोमय उपादान।

मनोवासित–मनके धर्मद्वारा आविष्ट और अनुप्राणित।

मरमी–रहस्यपंथी। अतींद्रिय तत्त्व-वस्तुका जिज्ञासु और रसिक। मर्मको जाननेवाला।

मातृका–मूल उत्स। जननी।

मानसातीत–जो मनसे अतीत है।

मायोपहित–जिसके स्वरूपको मायाके मिथ्या आवरणने आच्छन्न कर रखा है।

मूल भाव–भावका मूल; वह मूल भाव जो कि 'मानसातीत'में है।

मूला अविद्या–1. मूल अज्ञान। 2. वेदांतके अनुसार सृष्टिके मूलमें रहनेवाली अज्ञान-शक्ति; समष्टि-अज्ञान। 3. श्री अरविंदने कहा है कि हमारी सत्ता एवं संभूतिका मूल है 'निर्विशेष', किन्तु हम उसे जानते नहीं, हम सत्ताके आंशिक तथ्योंको, संभूतिके कालिक संबंधों-को जीवनका सारा सत्य मान लिया करते हैं, यही मूल अज्ञान है।

य

यदृच्छा–आकस्मिक घटन। संयोग।

यावदनंत–अनंततातक।

योग्यतमावशेष–यह सिद्धांत कि जो योग्यतम है वही अवशिष्ट रहेगा। योग्यतमकी अतिजीविता।

यौगपद्य–एक ही समय साथ-साथ होने-की अवस्था।

र

रूप-धातु–रूपायणका मूल उपादान।

रूपादर्श–जिस रूपका अनुकरण कर अन्यान्य रूप बनाये जाते हैं।

ल

लोक-संस्थान–लोक-लोकोंकी सुविन्यस्त परंपरा।

व

विज्ञान–1. आविष्कृत सत्यों तथा प्राकृतिक नियमोंपर आधारित, विशेषतः भौतिक जगत्से संबंधित, क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित ज्ञान। भौतिक विज्ञान, जिसे अंग्रेजीमें सायंस Science कहते हैं।
2. वह ज्ञान जिसका सार है ऋत; आध्यात्मिक सत्य। (तैत्तिरीय उपनिषद्)। श्री अरविन्दने इसे अंग्रेजीमें Gnosis कहा है। श्री अरविन्दके शब्दोंमें इसके विवरणके लिए परिशिष्ट 'एक' देखें।

विपर्यय–ऐसा उलट-फेर या परिवर्त्तन जिसमें क्रमका व्यतिक्रम हो। अव्यवस्था।

विभु–विश्वव्यापी।

विभूति–ऐश्वर्य। शक्ति-विशेष। अलौ-किक शक्ति-विशेष। पूर्णकी अंश-कला।

विभौतिकीकरण–भौतिक रूप और गुण-से वंचित करना।

विभ्रम–इंद्रिय-बोधकी भित्ति छोड़ शून्यमें होनेवाला भ्रम। भ्रम।

विश्रांति–निस्तरंग अवस्था। गतिहीन अवस्था।

विश्व-सद्वस्तुवाद–यह सिद्धांत कि सकल विश्वका उपादान सद्वस्तु ही है।

विश्वक–1. विश्वसंबंधी। 2. जिसका प्रभाव, विस्तार आदि विश्व-व्यापी हो।

विश्वात्मभाव–आत्माको जगन्मय अनु-भव करना।

विश्वात्मा–जगत्के मूलमें अविष्ठित और जगत्-रूपमें प्रकटित आत्म-सत्ता।

सत्ता–1. आत्मा। 2. अस्तित्व। 3. जीव। 4. होने या रहनेकी अवस्था, गुण या भाव।

सनक–मन या आचरणकी चपलता।

सन्निकर्ष–पास-पास होना।

सन्मात्र–शुद्ध सत्ता।

समंजन–एक चीज दूसरी चीजके साथ जोड़ना, बैठाना या मिलाना। मेल मिलाना।

समव्याप्त–सब-कुछमें समान-भावसे व्याप्त।

समवाय–समूह।

समष्टि–समूह; साकल्य।

समाकलन–सत्ताके नाना अवयवों या अंशोंमें समन्वय या सामंजस्य बैठाकर एक अखंडकी रचना।

समाघात–टक्कर। युद्ध।

समुच्चय–समूह। संकलन। कुछ वस्तुओंका एकमें मिलना।

सम्यक्–उचित, उपयुक्त, ठीक। पूरा, सब, समस्त।

सर्वात्मभाव–आत्मा ही सब कुछ हुआ है, यह अनुभव। विश्वचेतनाके साथ तादात्म्य।

सर्वेश्वरवाद–ईश्वर ही सारा जगत् हो गये हैं, यह मतवाद।

सहजवृत्ति; सहजप्रवृत्ति–प्राणीमात्रके स्वभावमें रहनेवाली वह प्रवृत्ति जो विचार या ज्ञानके विना सहज रूपसे उत्पन्न होती है।

सहभावी–सहवर्ती।

सहयोजन–साथ मिलाने या संयुक्त करनेकी क्रिया या भाव।

साक्षी–विषयका निरपेक्ष और निर्विकार द्रष्टा।

साक्षी चेतना–तटस्थ रहकर देखनेवाली चेतना।

सापेक्ष–अन्योन्य-संवद्ध। परस्पर पर निर्भर। किसीकी अपेक्षा करनेवाला।

सामान्य–1. प्रायः सभी व्यक्तियों, अवसरों, अवस्थाओं आदिमें पाया जानेवाला या उनसे संवंध रखनेवाला। 2. जो अपनी संगत या साधारण अवस्था, स्थिति आदिमें ही हो, विशेप घटा-वढ़ा या इधर-उधर हटा हुआ न हो।

साम्राज्य–विश्व-चेतनाकी निरंकुश प्रतिष्ठा तथा ऐश्वर्य।

सुषमित्त–सुषमापूर्ण। सामंजस्यपूर्ण।

सूक्ष्म भूतमय सत्त्व–सूक्ष्म भूतसे वनी हुई सत्ताएँ।

सोपाधिक–'उपाधि' या किसी विशेष परिचायक लक्षणसे युक्त।

स्वचलित–जो निजसे निजको चला लेता है।

स्वतः परिणामी–जो निजसे ही निजका परिणाम या सार्थक अवस्थांतर घटित करता है।

स्वधा–स्व-प्रकृतिमें प्रतिष्ठाका भाव या धर्म।

स्वभाव–अपना या निजी भाव। प्रकृति।

स्वयम्भू–जो अन्य किसीसे उत्पन्न नहीं हुआ है और स्वयं स्थित है।

स्वयं-प्रज्ञ–जिसको निजमें निजका ज्ञान है।

स्वयं-संवित्–जिसको निजमें निजकी संवित् है।

स्वरूप–निजका रूप। निजकी सच्ची प्रकृति।

स्वरूप-धातु–स्वरूपका उपादान।

स्वरूप-निष्ठ–जो स्वकीय प्रकृतिमें रहता है।

स्वाराज्य–आत्मचेतनाकी निरंकुश प्रतिष्ठा और ऐश्वर्य; स्वातंत्र्य।

स्वैर–अपनी खुशीके अनुसार चलना।

स्वोत्तर–निजसे ऊपर।

ह

हिरण्मय–सोनेका बना हुआ। सुनहला।

हेतु–कारण। प्रवर्तक कारण।

परिशिष्ट तीन

अंग्रेजी-हिन्दी शब्दावली

A

abacus	गिनतारा
abandon	परित्याग करना
aberration	विपथन
abeyance	आस्थगन
abiding	स्थायी
abnormal	अपप्राकृत, अप्राकृत, असामान्य
abolition	उन्मूलन
absolute	निर्विशेष, परम, निरपेक्ष, केवल
absolute power	निरंकुश शक्ति
absolve	विमुक्त करना
absorbed	तन्मय, निमग्न, लीन
abstraction	विमूर्तन
accepting, acceptor	स्वीकारी, स्वीकारक
accelerated	द्रुततर
accessory	उपांग, अनुषंगी
a certain fourth	तुरीयं स्विद्
accommodate	स्थान देना
accommodation	स्थान, समंजन-क्षमता, समायोजन
account	विवरण, हिसाब
accuracy	परिशुद्धता
acme	पराकाष्ठा
acquiesce	सहमत होना
act	कार्य, अंक
action	कर्म, क्रिया
actionlessness	नैष्कर्म्य
activity	क्रियाशीलता, सक्रियता, क्रिया
actuality	वास्तविकता
adapt	अनुकूल करना
adaptation	अनुकूलन
adept	निपुण
adjustment	समंजन, समायोजन, अनुकूलन
admits of	उसमें प्रतिपन्न है
adventure	साहसिक कर्म, अभियान
aeon	युग
aesthesis	रसबोध
aesthetics	सौंदर्य-शास्त्र
affinity	बंधुता
affirmation	दृढ़ोक्ति, स्वीकरण, दृढ़ प्रत्यय, अभिकथन, प्रतिष्ठापन
affirmative	अस्तिवाची, स्वीकारात्मक, इतिवाचक
affirmative witness	अभिपोषक साक्षी
afflicted	आक्रांत
ageless	अजर
agent	अभिकर्त्ता
aggrandizement	विवर्धन

aggregate — संघात, समवाय, समाहार, समष्टि, संहति, समुच्चीकृत
aggregation — संघातन, समाहरण, संहति
all — सर्व, अखिल, निखिल, सकल
All-blissful — सर्व-आनन्दमय, आनन्दमय
all-comprehending — सर्वावधारक, सर्व-व्यापक
all-comprehensive — सर्वावधारक, सर्वव्यापक
All-enjoying — आनन्दमय, सर्व-भोक्ता
All-overruling — सर्वाधिशासक
All-pervading — विभु, सर्वगत, सर्वव्यापी
All-Soul — सर्वात्मा, सर्व-भूतात्मा, सर्वांतरात्मा
All-will — सर्वेच्छा
All-wise — सर्ववित्
allegiance — निष्ठा
allurement — प्रलोभन
alternation — प्रत्यावर्तन
altruism — परहितवाद, परहितनिष्ठा
amazement — विस्मय
amoral — निर्नैतिक
amorphous — अनियताकार
amplify — वर्धन करना, प्रवर्धन करना
analogy — तुल्यरूपता, साम्यानुमान, सादृश्य
anguish — व्यथा
anguished — व्यथित
Anima — प्राणपुरुष
animism — जीववाद
annex — जोड़ना
annexe — उपभवन, संलग्न उपप्रांत
antechamber — उपकक्ष
anthropomorphic — मानवत्वारोपी
ape — नकल करना; वानर
apocalypse — इलहाम, ईश्वरवाणी
apparatus — उपकरण, औजार
apparent — प्रतीयमान, प्रत्यक्ष, आभासी
application — विनियोग, प्रयोग
appointed — नियुक्त, नियोजित
appreciation — मूल्यांकन
apprehending consciousness — प्रज्ञान-चेतना
apprehending knowledge — प्रज्ञान
approach — उपगमन, पहुँचमार्ग
a priori — बिना ठीकसे विचारे
arduous — श्रमसाध्य
arrogance — दर्प, धृष्टता
as one inconsequent in thought and impulse — उन्मत्तवत्
as the wild and disordered soul — पिशाचवत्
ascension, ascent — आरोहण
ascetic — संन्यासी
asleep — सुषुप्त
aspect — पक्ष, पहलू, रूप, दृश्य
assertion — अभिकथन, प्रस्थापन, दृढ़ोक्ति

assimilate	आत्मीकरण करना, आत्मसात् करना
assimilation	स्वांगीकरण, आत्मीकरण, परिपाक
association	साहचर्य, संयोग, सम्मिलन, समूहन
assort	छाँटना
assured	निश्चित, आश्वस्त
astrology	ज्योतिष
atavistic	पूर्वजप्रवृत्तिक
atheism	निरीश्वरवाद
attachment	आसक्ति, संग
attained	प्राप्त
attainment	प्राप्ति
attitude	अभिवृत्ति, मनोभाव
attraction	आकर्षण, राग
attribute	गुण
austerity	तप, तपश्चर्या, एकाग्र संयम
authentic	प्रामाणिक
authority	अधिकार, आप्त-वचन
automatic	स्वचलित, स्वतःक्रिय
automatism	स्वतःक्रियाशीलता, स्वचलता, स्वयं-क्रियाशीलता, स्वयंचलता
automaton	कल-पुतला
autonomous	स्वतंत्र
aware	संविन्मय, संविद्, अभिज्ञ
awareness	संवित्, चेतना, बोध, अभिज्ञता

B

beatitude	आनन्द
becoming	संभूति
bedrock	आधार-शैल
being	सत्ता, पुरुष, सत्, भूत, सत्-पुरुष, सत्त्व, जीव, जीव-सत्ता, आधार
beginning	आरंभ, आदि
beginning, without	अनादि
being, conscious	पुरुष, चेतन सत्ता, चेतन पुरुष, चित्पुरुष
being, inner	आंतरिक सत्ता, आंतरिक पुरुष, अंतःसत्ता
being, psychic	चैत्य पुरुष
benediction	शुभाशीष
benign	मंगलकर
best	श्रेष्ठ, उत्तम
beyond	परे, अतीत, आगे
beyond duality	द्वंद्वातीत
beyond-life, a	उत्तर-जीवन
beyond-mind	मानसातीत
beyond the three gunas	त्रिगुणातीत, गुणातीत
beyond thought	अचिंत्य, विचारसे परे
birth	जन्म, उत्पत्ति
biune	द्व्येक,
blind darkness	अन्ध तम
blind gloom	अन्ध तम
bliss	आनन्द
Bliss-Brahman	आनन्द-ब्रह्म
Bliss-Self	आनन्दमय पुरुष
Bliss-Sheath	आनन्द-कोष
Bliss-Vehicle	आनन्द-कोष
body	शरीर, देह, काया

bondage — बन्धन
boon — वर
born with — सहज, सहजात
bound — निबद्ध, बद्ध
Brahman, higher than the highest — परात्पर ब्रह्म
brain-power — मेधा, मस्तिष्क-बल
breath — श्वास
brilliancy — दीप्ति, कान्ति
building — रचना, भवन
business — काम, व्यवसाय, धंधा

C

cadre — वर्ग, संगठन, ढाँचा
calm — स्थिरता
caprice — सनक
casual — अनियत
catholic — उदार, सार्वभौम
causality — कारणता
cause, constituting — उपादान-कारण
cause, efficient — निमित्त-कारण
celestial — स्वर्गिक, स्वर्गीय
centralised — केन्द्रीकृत
centralising — केन्द्रणकारी, संकेन्द्रक
challenge — चुनौती
chance — यदृच्छा, संयोग
chaos — अव्यवस्था, विश्रृंखलता
character — गुण, स्वभाव, चरित्र, प्रकारता
characteristic — वैशिष्टय
chromosome — क्रोमोसोम
chisel — गढ़ना
chrysalis — कोषावस्था
circumconscient — परिचेतन
circumvent — प्रवंचना करना
clairvoyance — अतींद्रिय दृष्टि
clinch — दृढ़ करना
co-existence — सह-अस्तित्व
co-existent — सहवर्ती, सह-अस्तित्वमान्
coalesce — समालीन होना
coeval — समकालीन
cognition — संबोध, ज्ञान, प्रत्यय
cognitive — ज्ञानात्मक, बोधात्मक
coherence — संबद्धता
cohesion — संसंजन, संसक्ति
coincide — एक साथ होना
collectivity — सामूहिकता, समष्टि
collision — संघट्ट
collocation — संस्थिति
combination — संयोजन
commensurate — सम्मेय, समानुपातिक
common — सामान्य
common life — सामान्य जीवन, संघ-जीवन
communication — ज्ञापन, विनिमय
communion — समागम, सामीप्य, निविड़ संपर्क
complementary — सम्पूरक, पूरक
complex (n) — संसृष्टि
complex (adj) — जटिल, संसृष्ट
complex associations — वहुमुखी संयोग
complexus — जटिल रचना
composite — मिला-जुला, संमिश्र
composition — संघटन
comprehending — अवधारक, व्यापी
comprehending consciousness — विज्ञान-चेतना, अवधारक चेतना

comprehension	अवधारणा
comprehensive	अवधारक, व्यापक
compulsion	बाध्यता
concentrated	संकेंद्रित, एकाग्र, सान्द्रित, घनीभूत
concentration	एकाग्रीकरण, एकाग्रता, संकेन्द्रण
concept	संप्रत्यय
conception	धारणा, मानस-भावना
conclusive	निर्णायक, निश्चायक
concomitant	सहवर्ती
conditioned	उपहित, सीमित
conduct	संचालन, आचरण
confined	परिरुद्ध
confirmation	पुष्टि
confusion	संभ्रम, संभ्रान्ति
connection	संवंधन
conscience	विवेक, सद्विवेक
conscious being	पुरुष, चित्-सत्ता, चिन्मयी सत्ता
conscious Spirit	चिदात्मा
consciousness	चेतना, चैतन्य, चित्
consecration	उत्सर्ग-भावना
consonant	सन्नादी
constitution	संघटन
constraint	प्रतिवंध
constriction	संकुचन
contact	संपर्क
contactual	सांपर्किक
content	अंतर्वस्तु
continuity	निरंतरता, सातत्य, अविच्छिन्नता
contradiction	अंतर्विरोध, विरोध, प्रतिवाद, प्रत्याख्यान
contrary	विपरीत
contrastive	व्यतिरेकी, विषमता-प्रदर्शक
contrivance	यंत्र. प्रयुक्ति
control	नियंत्रण
converge	अभिविन्दुत होना, अभिसृत होना
convergence	अभिसरण
conversion	रूपांतरण, धर्मांतर, परिवर्तन
conviction	दृढ़ विश्वास
coordinating	आसंजनकारी, सहयोजनकारी
coordination	आसंजन, सहयोजन
corresponding	संवादी, समरूप, अनुरूप
cosmic	विश्वव्यापी, वैश्व
cosmos	विश्व, ब्रह्मांड
coupled	युग्मित
courage	साहस
creation	सृष्टि, सृजन, सर्जन
creative	सर्जनात्मक, सृष्टिकारक
creator	स्रष्टा
creatrix	स्रष्ट्री
creed	पन्थ, मत
crevice	तरेड़
crisis	संकटावस्था
critical point	क्रान्तिक विंदु
crowd-movements	भीड़-गतियाँ
crucial	निर्णायक
crystallization	आकार-ग्रहण, क्रिस्टलन
culmination	चरमोत्कर्ष, चरम परिणति
curve	घुमाव, वक्रता, वक्ररेखा

cycle चक्र, आवर्तन

D

daemon प्रेरक आत्मा
data प्राप्त सामग्री
dawn उषा
dealing व्यवहार
debase दूषित करना
decimal, recurring आवर्त्तक दशमलव
decisive निश्चायक, निर्णायक
defence रक्षा
delight आनन्द, आह्लाद
delusion भ्रांति
dematerialization विभौतिकीकरण
demerit अवगुण
demiurge विश्वस्रष्टा
demon पिशाच
denouement निर्वहण
dependent परतंत्र, आश्रित
depiece खंड-खंड करना
deploy प्रविस्तार करना
deputy प्रतिभू
derivative व्युत्पत्तिक
derogation अपकर्ष
descent अवतरण
design अभिकल्प, नकशा
desire कामना
detached तटस्थ, वियुक्त
detachment तटस्थता, वियुक्तता
determinable निर्देश्य
determination निर्देशना, निर्धारण
determined निर्दिष्ट, निर्धारित, निर्देशित
device साधन, उपाय
devolution निर्गमन
dialectical तार्किक
dictum अभ्युक्ति
differentiated विभेदित
diffusion विसरण, विसृति
dilemma उभयत:पाश
diluting तनूकारी
dilution तनूकरण, तरलीकरण
dimension आयाम
diminution ह्रसन
direct perception प्रत्यक्ष बोध, साक्षात्कार
disability अक्षमता, वैकल्य
discord विस्वरता, विसंगति
discharge विसर्जन
discursive बहुगति
disfigure विरूपण करना
disfigured विरूपित
dispersed अवकीर्ण, व्यासृत
dispersion अवकिरण, व्यासरण, विक्षेपण
dissolution लय
distaste वैराग्य, विरक्ति
distinguish प्रभेद करना
divergence विषमरूपता, भेद, भिन्नता, अपसरण
divided विभक्त
divine } Divine } दिव्य, भगवान्, भागवत
divine right दैवी अधिकार
divinity दिव्यता
divisible विभाज्य
dogmatism मताग्रहिता
driven चालित
dualism द्वैतवाद
duality द्वैत, द्वंद्व
duality, beyond द्वंद्वातीत

duration	काल-प्रवाह, कालिक परिमाण, अवधि
dwarf	खर्व करना, बौना, वामन
dwell upon	(उसके प्रति) सचेतन रहना, धृत रखना, एकाग्र होना, संकेंद्रित होना
dwelling	निदिध्यासन, निवास
dynamic	क्रियात्मक, सक्रिय, गतिशील, क्रियावंत, प्राणवंत
dynamic action	सक्रिय क्रिया, गत्यात्मक क्रिया
dynamise	सक्रिय करना, सचल करना
dynamism	क्रियाशक्ति, क्रियावीर्य, क्रियाबल, क्रियाधारा

E

economy	व्यवस्था
ecstasy	उल्लास
eddy	आवर्त
effect	संपन्न करना, प्रभाव
effective	कार्यकर, प्रभावी
effective deity	कर्त्री विभूति
ego	अहं
ego-centric	अहंकेन्द्रिक
ego-sense	अहं-भाव, अहं-बोध
egoism	अहंता, अहंभाव, अहंवाद
elasticity	लचीलापन
element	तत्त्व
elemental beings	सूक्ष्मभूतमय सत्त्व
embryo	भ्रूण
embryonic	भ्रूणीय
emergence	उन्मज्जन, निर्गमन, उद्गमन, आविर्भाव
emotion	संवेग, भावावेग, आवेग, भावोच्छ्वास
empire of oneself	स्वाराज्य
empire of one's world	साम्राज्य
endurance	तितिक्षा, सहन-शक्ति
energising consciousness	तपोमयी चेतना
energism of consciousness	तपस्
energy	ऊर्जा, शक्ति
energy-substance	ऊर्जा-धातु
enforcement	प्रवर्तन
engrossment	तल्लीनता
enjoyment	भोग, भुक्ति, रसास्वादन
enlargement	परिवर्धन, आवर्धन, वृद्धि
enlightened	ज्ञानदीप्त, आलोकित, प्रबुद्ध, ज्ञानप्राप्त, प्रदीप्त
ensoul	आत्मानुप्रवेश करना, अनुप्राणित करना
entity	सत्ता

environment	पर्यावरण, परिवेश, परिपार्श्व
environmental	पर्यावारिक, परिवेशी, पारिपार्श्विक
equality	समता
erratic	अनियत
escape	पलायन, निष्क्रमण, निष्कृति
essence	सार, सारतत्त्व
essential	मूलस्थ, अनिवार्य, सत्य, सारगत, सारभूत
eternal	शाश्वत, नित्य
ethics	नीतिशास्त्र
evil	अशुभ, अमंगल, अशिव, बुराई
evolution	क्रमविकास, विकास-क्रम, विवर्तन
evolutionary	क्रमविकासी, क्रमविकासिनी, क्रम-वैकासिक, वैकासिक
evolve	विकसित करना, प्रस्तुत करना
exact	यथातथ
exaltation	उन्नयन
exclusion	अपवर्जन
exclusive	ऐकांतिक, व्यावर्तक, अपवर्जी
exclusiveness	अनन्यता, ऐकांतिकता
excursion	सैर
executive	कार्यकारी
exemplary	अनुकरणीय
existence	अस्तित्व, सत्, सत्ता, जीवन, भूति, भवति
existence, the fourth placing or poise of	तुरीयं धाम
existent	सत्, अस्तित्ववान्
exit	निर्गम
expedient device	उपाय-कौशल
expectation	आशंसा
experience	अनुभव, अनुभूति
exploration	गवेषणा, खोज
expression	अभिव्यंजना, प्राकट्य, अभिव्यक्ति
extinction	निर्वापण, निर्वाण
extra-cosmic	विश्वबहिर्भूत
extreme	चरम
extrovert	बहिर्मुख
exultation	उन्मादना

F

face	चेहरा
face value	प्रत्यक्ष मूल्य
factor	तत्त्व, करण, अंग, उपादान
faculty	क्षमता, कार्यक्षमता
fairly	बहुत कुछ, न्यायत:
faith	श्रद्धा, श्रद्धा-विश्वास, आस्था
falsehood	मिथ्यात्व
fate	नियति, भाग्य
feature	लक्षण
fetishism	जड़पूजा
figment	कपोलकल्पना
figure	आकृति
filtration	अंत:स्यन्दन
finality	अंतिमता
finite	सांत, ससीम

finite circling	सांत आवर्तन
fixed	निर्धारित
flowering	पुष्पण
force	शक्ति
force-soul	शक्तिरूप पुरुष, चिन्मयी शक्ति
force of being	सत्ताकी शक्ति
form	रूप, आकार
form of dynamic nature	स्वधर्म
form of essential being	स्वरूप
formal	आकारिक, रूपात्मक
formation	रूपायण, रूपण, रचना, विरचना, संस्कार
formative	निर्माणात्मक
formless	अरूप, निराकार
formula	सूत्र, विधान, विधि, धर्म, सिद्धांत
formulate	सूत्रित करना, रूपायित करना, रूप देना
fortuitous	आकस्मिक
foundation	प्रतिष्ठा, आधार, नींव
fraction	अंश, भिन्न
fruition	फलन
fulcrum	आलंब
fulfilment	परिपूर्ति, पूर्ति, संपूर्ति
fullness	परिपूर्णता
fungus	फफूंद
fusion	संलयन

G

gain	लाभ
generalisation	सामान्यीकरण, सामान्य सिद्धांत
generalised	सामान्यीकृत, व्यापकीकृत
geometry	ज्यामिति
glamour	चकाचौंध
global	विश्वमंडलीय, संवर्तुल, सार्विक
gnosis	विज्ञान
gnostic	विज्ञानमय, विज्ञान-घन
gnostic being	विज्ञानमय पुरुष
gnostic consciousness	विज्ञानचेतना, विज्ञानमयी चेतना, विज्ञान-घन चेतना
gnostic existence	विज्ञानमयी सत्ता
gnostic force	विज्ञानमयी शक्ति, विज्ञानशक्ति
gnostic knowledge	चिद्घन ज्ञान
gnostic life	विज्ञानमय जीवन, विज्ञान-जीवन
gnostic light	विज्ञानज्योति, विज्ञानमयी ज्योति, विज्ञान-घन ज्योति
goal	लक्ष्य, उद्देश्य, ध्येय
God	ईश्वर
God-ecstasy	दिव्योल्लास
God-enjoyment	ईश्वर-भुक्ति
Godhead	दिव्यत्व, देव
gradation	श्रेणीकरण, श्रेणी-क्रम
graph	लेखाचित्र
gravitation	गुरुत्वाकर्षण
groove	खाँचा, लीक

group	गोष्ठी, दल
group-being	गोष्ठी-सत्ता, दलीय सत्ता
growth	वर्धन, वृद्धि
guess	अनुमान, अटकल

H

habitation	वास
habitual	अभ्यासजन्य, अभ्यस्त, नित्य
hallucination	विभ्रम
happiness	सुख
harmonic	समस्वर
harmonious	समंजस, समस्वर
harmonisation	समंजसीकरण
harmonised	समस्वरित, सामंजस्ययुक्त
harmony	सामंजस्य, सामरस्य
hidden	गूढ़, प्रच्छन्न
higher	उच्चतर
highest	उच्चतम, सर्वोच्च
higher than the highest	परात्पर
hemisphere, higher and lower	परार्ध और अपरार्ध
heredity	आनुवंशिकता
heterogenous	विषमांग
homogenous	समांग
horizontal	दिगन्तसम, समतल
hypnosis	सम्मोहन

I

idea	भाव, विचार
ideation	प्रत्ययन, विचारण, भावन
identical	अभिन्न, तदात्मा
identification	तादात्म्य, तादात्म्य-भाव
identity	तादात्म्य, एकात्मता
illumine	द्योतित करना, आलोकित करना
illusion	भ्रम, माया
illusionism	मायावाद, भ्रमवाद, जगन्मिथ्यावाद
immanence	अंतःस्थता, अनुस्यूति
immanent	अनुस्यूत, अंतर्व्याप्त
immediate	अव्यवहित, तात्कालिक
immortality	अमरता, अमृतत्व
immunity	निरापदता
immutable	अक्षर
impact	आघात, समाघात
imperative	अनुल्लंघ्य विधान, आदेश, अनिवार्य
impersonal	निर्व्यक्तिक
impinge	टकराना
implied	लक्षित, अंतर्निहित, निहित
impulse	अंतर्वेग, आवेग
impulsion	प्रेरण
impure	अपवित्र, अमेध्य
inapprehension	प्रज्ञानाभाव
incidence	आपतन, संपात, प्रभाव
inclusion	समावेश, सम्मिलन
incomprehension	अनवधारण, अवधारणका अभाव
inconscient	निश्चेतन
inconstant	अस्थिर
indeterminable	अनिर्देश्य
indeterminate	अनिर्दिष्ट
individualisation	व्यष्टीकरण, व्यक्तिकरण, वैयक्तिकीकरण

indivisible अविभाज्य
individuation व्यक्तीयन
inexorable अनमनीय, अप्रशाम्य, अटल
inference अनुमिति, अनुमान
inflow अंतर्वाह
influx अंत:स्राव
inherence अंत:स्थिति
inherent अंतर्निहित
initiating प्रवर्तक, आरंभक
initiative स्वत:प्रेरण, उपक्रम
inordinate अत्यधिक, अमित, वेहद
inquiry जाँच, परिप्रश्न, अन्वेषण
insecurely अरक्षित रूपसे, अनिरापद रूपसे
insensibility संज्ञाहीनता, असंवेदनशीलता
inseparable अवियोज्य
inspiration श्रुति, प्रेरणा, सत्यप्रेरणा
instigator उकसानेवाला
instinct सहजप्रवृत्ति, सहजबोध
instrument उपकरण, यंत्र, साधन
instrumentation साधनविनियोग, उपकरण
integral पूर्ण, सर्वांगीण
integration समाकलन, एकीकरण
intellectual reason विचार-बुद्धि
intelligence प्रज्ञा, बुद्धि
intended अभिप्रेत, अभीष्ट
intensity तीव्रता
intensive अंतरावगाही
interaction अन्योन्यक्रिया, पारस्परिक क्रिया, परस्परक्रिया
interception अन्तारोधन
interdependence अन्योन्याश्रय
interested स्वार्थबद्ध
intermediary मध्यग
intermittence अंतर्विराम
intermittent आंतरायिक
intermixture अंतर्मिश्रण
interregnum अंतर्काल
interval अंतराल
intimation संकेत
intraconscient अंतश्चेतन
intrinsic अंतर्भूत, अंतर्भुक्त, आंतर, अंतरंग, अंतर्जात, अंतरीय
introspection अंतर्निरीक्षण
introvert अंतर्मुख
intuition संबोधि, बोधि
inverse प्रतिलोम
involution निवर्तन, संवरण, संवृति
involved संवृत, निवर्तित, अंतर्लीन, अंतर्वलित, उलझा हुआ
inward-drawn प्रत्यक्-वृत्त, अंतरावृत्त
isolation विलगन
issue परिणाम, समाधान, अंत

J

joy हर्ष, आनन्द

justification — न्याय-संगतता, प्रतिपत्ति, औचित्य, समर्थन
juxtaposition — सन्निधि

K

key-word — आधार-शब्द
kinetic — गतिक
knowledge, all-comprehending — विज्ञान, सर्वविधारक ज्ञान
knowledge and ignorance — ज्ञान और अज्ञान, विद्या और अविद्या
knowledge-will — ज्ञानात्मिका इच्छा, ज्ञान-क्रतु

L

law — धर्म, विधान
law, cosmic — विश्वविधान
level — स्तर
liberate — परिमुक्त करना
liberated — विमुक्त
liberation — मुक्ति, विमुक्ति
lid — ढक्कन
life — जीवन, प्राण
life-being — प्राण-सत्ता, प्राण-पुरुष
life-consciousness — प्राण-चेतना
life-ego — प्राण-अहं
life-energy — प्राण-ऊर्जा
life-force — प्राण-शक्ति, जीवनीशक्ति
life-nature — प्राण-प्रकृति
life-plane — प्राणलोक
Life-Spirit — प्राण-पुरुष, प्राण-सत्ता
light — ज्योति, आलोक, प्रकाश
logic — तर्क, न्याय, न्याय-विधान, न्याय-रीति
logomachy — वाग्युद्ध
Logos — परावाक्, शब्दब्रह्म
Lord — प्रभु
love — प्रेम
luck — भाग्य

M

macrocosm — विराट् विश्व
magician — जादूगर
magnified — आवर्धित, विशालित
magnitude — परिमाण, महत्ता
Manicheanism — मैनिकीवाद
manifestation — अभिव्यक्ति, सृष्टि
manipulation — क्रिया-कौशल, हेरफेर
many — बहु, बहुत, अनेक
manysided — बहुमुखी
mask — मुंखपट, मुखौटा
massed — घनीभूत
Master-consciousness — प्रभु-चेतना, ईश्वर-चेतना
material — सामग्री, उपादान, भौतिक, स्थूल, जड़-तात्त्विक
material existence — भौतिक सत्ता, भौतिक जीवन
materialism — भौतिकवाद, जड़वाद
materialization — भौतिकीकरण, जड़रूपण
mathematical — गणितीय
matrix — गर्भाशय, मातृका, जननी

Matter	जड़, जड़तत्त्व, अन्न
Maya, undivine	अदैवी माया
mechanisation	यंत्रीकरण
mechanism	यांत्रिकता, यंत्रकारी
medium	माध्यम
mellow	नरम
memory	स्मृति
mental	मनोमय, मानसिक
mental being	मनोमय सत्ता, मनोमय पुरुष, मनोमय जीव
mental cognition	मनोमय संबोध, मानसिक संबोध
mentalisation	मानसीकरण
mentality	मानसिकता, मानसता, मनोवृत्ति
merger	विलय
merit	गुण
mermaid	मत्स्यनारी
metaphysics	तत्त्वमीमांसा, तत्त्वदर्शन
microcosm	अणुविश्व
mind	मन, मानस
mind, higher	उच्चतर मन
mind, illumined	आलोकित मन
mind, sense-	मनस्, इंद्रिय-मन
misdirected	अपनिदेशित
misdirection	अपनिदेशन
mislead	पथभ्रष्ट करना, भुलावा देना
mode	गुण, विधि, रीति
model	प्रतिमान
modern	आधुनिक
molecule	अणु
monism	अद्वैत
motional	गतिक
motive	अभिप्रेरणा, उद्देश्य, हेतु, प्रेरक
motive power	चालन-शक्ति
mould	साँचा
movement	गति, गतिधारा, स्पंदन, क्रिया, चेष्टा, प्रवृत्ति
multipersonal	बहुव्यक्तिक
multiplication	गुणन
multiplicity	बहुकता, बहुत्व, बहुलता
mystic	रहस्यवादी, रहस्यपंथी, रहस्यविद्, मरमिया
myth	पुराणकथा

N

name	नाम
nameless	अनाम
nation	राष्ट्र
naturalistic atheism	निरीश्वर प्रकृतिवाद
nature	प्रकृति, स्वभाव
nature, higher	उच्चतर प्रकृति, पराप्रकृति
nature, lower	अवर प्रकृति, निम्नतर प्रकृति, अपरा प्रकृति
nature, material	भौतिक प्रकृति, जड़प्रकृति
nature, physical	स्थूल प्रकृति, भौतिक प्रकृति
nature, terrestrial	पार्थिव प्रकृति
necessity	आवश्यकता, अनिवार्यता, नियति

negation	निषेध, इन्कार, अस्वीकार, नेतिभाव
negative	अभावात्मक, निषेधात्मक, नेतिवाचक, प्रतिकूल
nescience	निर्ज्ञान, अचित्ति, निर्ज्ञानिता
neutral	उदासीन
nexus	संबंध, संपर्क
nihil	शून्य
no-consciousness	अ-चेतना
No-man's-land	लावारिस भूमि
no-mind	निर्मन
nodus	ग्रन्थि
nomad	यायावर
non-becoming	असंभूति
non-being	असत्
non-dualism	अद्वैत
non-existence	असत्, अनस्तित्व
non-manifest	अव्यक्त
normal	सामान्य, प्राकृत
not-Brahman	अ-ब्रह्म
not-self	अनात्मन्
not self-mobile	जड़वत्
nothing	शून्य, कुछ नहीं
notion	धारणा, भावना
nucleus	केन्द्रक
nullification	शून्यन
nullity	शून्यता
Numen	नामन्
nursery	नर्सरी

O

object	विषय, वस्तु, उद्देश्य, पदार्थ
objective	विषयगत, विषयभूत, बाह्य, पराक्, पराक्वृत्त, बहिर्व्यक्त
objectivity	विषयनिष्ठता, वास्तविकता, वस्तुपरकता
obliteration	अभिलोपन
obscurantism	ज्ञान-विरोध
obscure	तमोवृत, धूमिल, अंधकाराच्छन्न
obscurity	तमाच्छन्नता, अस्पष्टता, तमिस्रा
observation	प्रेक्षण, अवलोकन
obsession	ग्रस्तता
occasional	आवसरिक
occult	गुह्य
occultism	गुह्यविद्या
ochre	गेरुआ
oestrus	उन्माद
ogre	दैत्य
omnipotence	सर्वशक्तिमत्ता
omnipresence	सर्वव्याप्ति, सर्वत्र-विद्यमानता
omnipresent	सर्वगत, सर्वव्यापी, विभु, सर्वत्र-विद्यमान
omniscience	सर्वज्ञता
one	एक, एकं, अद्वय, अद्वितीय
oneness	एकत्व
oneself	आत्मसत्ता
operation	क्रिया, क्रिया-व्यापार, चालन, संक्रिया
operative	क्रियाकारी

order — व्यवस्था, क्रम, श्रेणी, संस्थान, नियम
organism — अवयव-संस्थान, जीवाधार
origin, without — अनादि
original — मूल, आद्य, मौल
other-knowledge — अन्य-ज्ञान
other-nature — अन्य-प्रकृति
other-reality — अन्य-वस्तु
otherwise — अन्यथा
other-worldly — अन्य-लौकिक, पारलौकिक
outleap — विच्छुरण
overflow — बह निकलना
overlapping steps — परस्पर-व्यापी पैड़ियाँ
overmental — अधिमानसिक, अधिमानसी
overmind — अधिमानस
overruler — अधिशासक
overseeing — पर्यवेक्षण
oversoul — अधि-आत्मा
overwhelming — अभिभूतकारी

P

pantheism — विश्वदेवतावाद, सर्वेश्वरवाद
parallel — समान्तर, समानान्तर
paroxysm — आवेग
passage — संक्रमण, पथ
passion — अनुराग, आवेश, आवेग
passive — निष्क्रिय
pattern — प्रतिमान, नकशा, नमूना
penetrated — अंतर्विद्ध, अंतःप्रविष्ट, ओत-प्रोत
penetrating — अनुप्रविष्ट, अंतर्वेधी
penetration — वेधन, अंतर्वेधन, अनुप्रवेश, अंतःप्रवेश
perceive — ईक्षण करना, देखना, अनुभव करना
percept — प्रत्यक्ष
perception — अनुभव, प्रत्यक्ष अनुभव, प्रत्यक्षण, प्रत्यक्ष वोध, अवगम
percipient — द्रष्टा
perfection — पूर्णता, सिद्धि
persistent — स्थायी, अविच्छेद, नित्यानुवृत्त
person — पुरुष, व्यक्ति
personal-impersonal — सव्यक्तिक-निर्व्यक्तिक
personality — व्यक्तित्व
phenomenal — 'व्यावहारिक', प्रातिभासिक, प्रापंचिक
phenomenon — प्रतिभास, दृश्य, प्रपंच, दृग्विषय, क्रिया, व्यापार, 'परिणाम', नाम-रूप
physical — स्थूल, अन्नमय, शारीरिक, दैहिक, भौतिक
physical man — अन्नमय मनुष्य
physical mind — स्थूल मन
physicality — शरीर-सत्ता, शरीर

physics	भौतिकी, भौतिक विज्ञान
physiognomy	मुखाकृति, मुखाकृति-विज्ञान
pitch	कोटि
plane	भूमि, लोक
plastic	नमनीय, सुनम्य
pleasure	सुख
pliable	आनम्य
poise	संतुलन, स्थिति, अवस्थान
positive	भावात्मक, वस्तुनिष्ठ, निश्चयात्मक, घन, अनुकूल
positivism	प्रत्यक्षवाद
positivist	प्रत्यक्षवादी
postulate	स्वीकृत सत्य
potency	अन्तःशक्ति, वीर्य, शक्ति
potential	सम्भाव्य, शक्य
potentiality	शक्यता
practicable	व्यवहार्य, साध्य
precaution	पूर्वविधान
precedent	पूर्वदृष्टान्त
preoccupation	सर्वोपरि व्यवसाय, लगन, अभिनिवेश, व्यापृति
preservation	परिरक्षण, संरक्षण
precipitation	अवक्षेप
precise	सूक्ष्म, यथातथ्य, सुव्यक्त
precision	यथातथ्यता, सूक्ष्मता, परिशुद्धि, विशुद्धता
predictable	पूर्वकथनीय, पूर्वानुमेय
premature	समयपूर्व
presence, Presence	विद्यमानता, उपस्थिति, अवस्थिति, वर्तमानता, सत्ता
present	वर्तमान
principle of existence	अस्तित्वका तत्त्व, सत् तत्त्व
priority	प्राथमिकता
process	प्रक्रिया, प्रक्रम
progress	प्रगति
prolongation	दीर्घतर स्थायिता, दीर्घायण
prominent	प्रमुख
propensity	प्रवणता, प्रवृत्ति, रुचि
prophet	पैगंबर
psychic being	चैत्य पुरुष, हृत्पुरुष
psychic entity	चैत्य सत्ता, अंतरात्मा
psycho-spiritual	चैत्यिक-आध्यात्मिक
psychological	मनोवैज्ञानिक, मनोगत, अंतःकरणिक, अतीन्द्रिय, आंतरिक
puerile	बालेय
purification	पवित्रीकरण, शुद्धीकरण
puritan	विशुद्धिकारी
purity	पवित्रता, शुचिता
pursuit	अनुसरण, प्रयत्न, खोज

Q

quality	गुण
quantum	प्रमात्रा, आधार

quest — खोज
quicksand — चोर रेत
quiescence — उपशम, निष्क्रियता
quiet — शान्त, अचंचल
quietude — अचंचलता

R

race — जाति; दौड़
radical — आमूल
range — परास, प्रक्षेत्र, प्रसार
rapture — रभस, आनंद
rare — सूक्ष्म, विरल, अघन, दुर्लभ
rational — युक्तिसंगत, युक्ति-युक्त, यौक्तिक
ready-made — बना-बनाया
real — सत्, यथार्थ, सत्य
Real-Idea — सत्-भाव
real-unreal — वास्तव-अवास्तव
realisation — अनुभूति, उपलब्धि, प्राप्ति, सिद्धि
reality, Reality — सद्वस्तु, प्रकृतता, सत्-तत्त्व, यथार्थता, वास्तविकता वास्तवता
rearrangement — पुनर्विन्यास
reason — युक्ति, बुद्धि, युक्तिबुद्धि
reason, absolute — अव्यभिचारी बुद्धि
reasoning — तर्कणा
reasoning, logical — तर्क-विचार
reason of our being — पुरुषार्थ, हमारी सत्ताका हेतु
rebirth — पुनर्जन्म, पुनर्देह-धारण
receptivity — ग्रहणशीलता
recognise — स्वीकार करना, पहचानना
reconcile — पुनर्मेल करना
record — अभिलेख
recurrence — प्रत्यावृत्ति, आवर्तन पुनरावृत्ति, आवृत्ति
recurrent — प्रत्यावर्ती, आवर्तक
redemption — उद्धार
reductio ad absurdum — असंभवापत्ति, अनिष्टापत्ति
reference — संदर्भ, निर्देश
reflection — मनन, विचार
reflex — प्रतिवर्त
refraction — अपवर्तन
refuge — शरण
regulate — नियंत्रित करना, विनियमित करना
reincarnation — पुनर्जन्म,नवकलेवर-धारण
relapse — पुनरावर्तन
relation, beyond — अव्यवहार्य
relative — सापेक्ष
relativity — सापेक्षता, आपेक्षिकता
release — विमोचन, मुक्ति, निर्मुक्ति
relief — उभार
religion — धर्म
renderings — विविध रूप, अनुवाद
renunciation — त्याग, परित्याग
repellent — बीभत्स
repetition — पुनरावृत्ति
replacement — प्रतिस्थापन
replica — प्रतिरूप
representation — प्रत्युपस्थापन, चित्रण

reproduction प्रत्युत्पादन
repulsion प्रतिकर्षण, विकर्षण
resolve into पर्यवसित होना
resort आश्रय, आश्रय-ग्रहण
response अनुक्रिया, प्रत्युत्तर
responsive प्रत्युत्तरदायी, अनुक्रियाशील, संवेदनशील
restriction प्रतिबंध, नियंत्रण
resultant परिणामी
resurrection पुनर्जीवन
retention धारण
retrogression पश्चगमन
retrospect सिंहावलोकन
revaluation पुनर्मूल्यन
revelation सत्य-प्रकाश, सत्य-दृष्टि, दृष्टि
reversal of consciousness चेतनाका परावर्तन
reverse प्रतिलोम, विपरीत, प्रतीप
reversion प्रत्यावर्तन
review पुनर्विलोकन, सिंहावलोकन
riches and substance (Vedic) बाज और वस्तु,
right ऋत, ठीक, सम्यक्
righteousness शील, धर्मपरायणता
rigid अनम्य, कठोर, अनमनीय
role भाग, भूमिका
rude अपरिष्कृत
rudimentary प्रारंभिक
ruler शासक

S

sacrifice यज्ञ, त्याग, बलिदान
sadistic परपीड़न-रतिक
sage मुनि, ऋषि
sanction अनुमति, अनुमोदन, अनुशासन, शास्ति
sanction, giver of अनुमंता
satisfactory संतोषप्रद
scale क्रम, सोपान
science विज्ञान, भौतिक विज्ञान
scope क्षेत्र, व्याप्ति
scripture शास्त्र
scrutiny संवीक्षा
second sight अंतश्चक्षु
seeker साधक, खोजनेवाला, खोजी
seer द्रष्टा, कवि
seer-will कवि-क्रतु
selection चयन, वरण, चुनाव
selective वरणक्षम, वरणात्मक, विशिष्ट
self आत्मा, सत्ता
selfhood आत्मता, आत्म-स्थिति, आत्म-स्वरूप
selfness आत्मता
self-absorption आत्मलीनता, आत्म-निमग्नता
self-achieving आत्म-सिद्धिप्रद
self-active आत्म-क्रिय
self-aware स्वयंप्रज्ञ, स्वतः-संविन्मय, आत्म-चेतन
self-becoming आत्म-संभूति
self-being आत्म-सत्ता
self-compulsion आत्म-बाधन

self-definition	आत्म-विशेषण, आत्म-संज्ञा, आत्म-निर्वचन	self-possessive	आत्मधृत
self-deployment	आत्म-प्रविस्तार	self-projection	आत्म-विसर्पण, आत्म-प्रक्षेप
self-determination	आत्म-निर्देशना, आत्म-निर्धारण	self-ruler	स्वराट्
self-effective	स्वयं-प्रभावी, स्वतः-परिणामी, स्वतः-फलप्रद, स्वतः-फलसाधक, स्वतःकार्यक्षम	self-sufficient	आत्मतृप्त, स्वयम्पूर्ण
self-effectuating	आत्म-संसाधक, आत्म-संपादक, स्व-साधक	self-status	आत्म-स्थिति
self-evident	स्वतःसिद्ध	self-transcendence	आत्मातिक्रमण
self-executing	स्व-निष्पादक	self-view	आत्म-दर्शन
self-existence	स्वयम्भुत्व, स्वयम्भू सत्ता, आत्म-सत्ता	self-willed	स्वैरी, हठी
self-existent	स्वयंभू	self, nature	प्राकृत सत्ता
self-form	स्वरूप	self of being	सत्ताका स्वरूप, आत्मा
self-formed	स्वयंकृत	self of knowledge	ज्ञानमय आत्मा
self-formulation	आत्म-रूपायण	selves	सत्ताएँ
self-found	स्वयंलब्ध	sempiternal	शाश्वत, सनातन
self-founded	आत्म-प्रतिष्ठ	sense	इंद्रिय, इंद्रियबोध, इंद्रियानुभव, बोध, अर्थ
self-fulfilled	आत्म-चरितार्थ, स्वयंकृतार्थ	senses, beyond the	अतीन्द्रिय
self-fulfilling	आत्मपरिपूर्तिकारी, स्वचरितार्थ-कारी	sensibility	संवेदनशीलता
self-identity	आत्म-तादात्म्य	separated	विविक्त, पृथक् किया हुआ
self-illumination	आत्म-ज्योति	separative	पृथगात्मक, पृथक्कारक
self-law	स्वधर्म	separative knowledge	भेदात्मक ज्ञान
self-possessed	आत्मवान्	shrinking	जुगुप्सा
self-possession	आत्मवत्ता	silence	नीरवता, निश्चल-नीरवता, निःशब्दता
		silhouette	छायाचित्र
		sincerity	सच्चाई,
		slogan	नारा

sorrowful, terrible and horrible or repellent (rhetoric) — करुण, भयानक तथा बीभत्स
soul — अंतरात्मा, आत्मा, जीव, पुरुष
soul-essence — आत्मा-स्वरूप
soul-form — आत्मा-रूप
soul-life in the body — अंतरात्माका दैहिक जीवन
soul-person — चैत्य पुरुष
soul-personality — चैत्य व्यक्तित्व
soul-power — आत्म-शक्ति
source — स्रोत, उत्स, उद्गम
sovereign — प्रभुतासंपन्न, प्रभु
Space — देश
Spaceless — देशातीत
spasm — संक्षोभ
specialisation — विशेषीकरण, विशिष्टीकरण
specialised — विशेषित, विशेषीकृत
species — जाति
specification — विनिर्देश
spectrum — वर्ण-क्रम
spiral line — सर्पिल रेखा
Spirit — आत्मा, अध्यात्म, अध्यात्मसत्ता, ब्रह्म
spirit — अंतर्भाव
Spirit in Nature — प्रकृति-स्थ पुरुष
spirit, modern — आधुनिक मनोवृत्ति
spiritual — आध्यात्मिक
spiritualisation — अध्यात्मीकरण
spirituality — आध्यात्मिकता
spontaneous — स्वतःस्फूर्त, सहज, स्वजात, नैसर्गिक
spotless, pure — निरंजन, शुद्ध, निष्कलंक
spray — फुहार
stable — स्थिर, स्थाणु
standard — मानक
standardised — मानकित
statement — कथन, उक्ति, निरूपण
status — स्थिति, अवस्था, धाम, प्रतिष्ठा, पदवी
statutory — सांविधिक
step — डग, पैड़ी
stereotyped — रूढ़िगत, रूढ़
structure — निर्माण, निर्मिति
subconscient — अवचेतन
subjective — प्रत्यक्, आत्मगत, आत्ममुख, आत्मनिष्ठ, आत्मपरक, विषयीगत
subjectivity — आत्मपरकता, आंतरिकता, प्रत्यक्-वृत्ति
sublimated — उदात्तीकृत, ऊर्ध्वायित
sublimation — उदात्तीकरण, ऊर्ध्वायन, उन्नयन
subliminal — अवगूढ़
substance — धातु, वस्तु, रूप-धातु, स्वरूप-धातु, सार, द्रव्य
substance-energy — मूलवस्तुगत ऊर्जा, धातु-ऊर्जा, सत्त्व-ऊर्जा
substantial — वस्तुभूत, सारयुक्त, वास्तव

substantial existence	वस्तुभूत सत्ता
substantial nature	धातु-प्रकृति
substratum	अधःस्तर, आधार, अधिष्ठान
subtle body	सूक्ष्म देह
subtle organs	सूक्ष्म इन्द्रिय
subtle senses	सूक्ष्म इन्द्रिय
subtle vision	सूक्ष्म दृष्टि
successive	आनुक्रमिक, उत्तरोत्तर
suffering	दुःख
sum	समवाय, योग, राशि योगफल
super-ego	पराहंता
super-conscience	अतिचेतना
superconscient	अतिचेतन
superficial	छिछला, वाहरी, अगभीर
superman	अतिमानव
supermanhood	अतिमानवता, अतिमानवत्व
Supermind	अतिमानस
supernatural	अतिप्राकृतिक
supernature	पराप्रकृति
supernormal	अतिसामान्य, अधिसामान्य
superreason	पराबुद्धि
superstructure	अधिरचना
suppression	निग्रह, निरोध, दमन
supracosmic	विश्वातीत, विश्व-वहिर्भूत
supramental	अतिमानसिक, अतिमानसी
supramental light	अतिमानसिक ज्योति
supraphysical	अतिभौतिक, जड़ोत्तर, स्थूलोत्तर
suprarational	अप्रतर्क्य, अतियौक्तिक
supreme	परम
Supreme Being	परम सत्ता, पुरुषोत्तम
Supreme conscious being	परम पुरुष
supreme nature	परमाप्रकृति
surface	सतह, वहिस्तल, उपरितल
surge	हिल्लोल
surrender	समर्पण
survival	अतिजीविता, उत्तरजीवन, अतिजीवन, उत्तरजीविता
survival of the fittest	योग्यतमावशेष
susceptible	सुग्राही
suspended	निलंबित
suspension	निलंबन
symbol	प्रतीक
synthesis	समन्वय
system	प्रणाली, तंत्र, पद्धति

T

taboo	वर्जन
tact	व्यवहारकुशलता, चातुर्य
taint	दूषित करना
teleological	उद्देश्यात्मक, उद्देश्यवादी
telepathy	टेलिपैथी
temperament	स्वभाव
temporal	कालिक

temporary	अल्पस्थायी, अस्थायी, सामयिक
tendency	प्रवृत्ति
tension	तनाव
tentative	प्रयोगात्मक, अनन्तिम
term	अभिधा, तत्त्व, प्रान्त, भाव, पद, संज्ञा, नाम
tertium quid	तृतीयं किं स्विद्
texture	गठन
That	तत्
the fourth placing or poise of existence	तुरीयं धाम
thought	विचार
thought, beyond our	अचिन्त्य
time	काल, समय
Time positive	अस्ति-काल
Time Spirit	कालपुरुष, कालात्मा
Timeless	अकाल, कालातीत
timidity	भीरुता
tolerantly	सहिष्णु भावसे
totemism	टोटमवाद
trance	समाधि
tranquil	प्रशान्त
transcendence	अतिक्रमण, अतिक्रांति, तुरीय, तुरीयता, विश्वातीत सत्ता, विश्वोत्तीर्णता
transcendent	विश्वातीत, तुरीय
transformation	रूपांतर
transient	अनित्य
transcription	प्रतिलेखन
transition	संक्रमण
transitional	संक्रामी, अंतःकालीन, मध्यवर्ती
translation	अनुवाद
transmigration	देहांतरण
transparent	पारदर्शी, पारदर्शक
treachery	विश्वासघात
trenchant	तीक्ष्ण
triune	त्रिक, त्र्यंक
truth	सत्य, ऋत
truth-action	सत्यात्मक कर्म
truth-awareness	सत्य-संवित्
truth-conscious	ऋत-चिन्मय
truth-consciousness	ऋत-चित्, ऋत-चेतना
truth-dynamis	ऋत-क्रियाबल
truth-feeling	सत्यात्मक अनुभव
truth-force	सत्यात्मिका शक्ति
truth-light	सत्यात्मिका ज्योति, ऋतज्योतिः
truth-sense	सत्यात्मक बोध
truth-sight	सत्यात्मिका दृष्टि
truth-thought	सत्यात्मक विचार
truth-vision	सत्यात्मिका दृष्टि
truth-will	सत्यात्मिका इच्छा, सत्य-संकल्प
truth of active being, ordered	ऋत
truth of being, essential	सत्य
turn	घुमाव
typal	प्ररूपी
type	प्रकार, प्ररूप
typical	प्रारूपिक

U

unanimism एकप्राणता
unawareness अनभिज्ञता
unborn अज
unconditioned अनुपहित, निरपेक्ष
unconsciousness अचेतनता, अचेतना
undelight निरानंद
underlying अध:स्थ, अध:शायी, आधारनिष्ठ, अंत:स्यूत, अंत:सलिल
understanding(n) अवबोध, समझ, सुमति
understanding (adj) समझदार
undifferentiated अविभेदित
undivine अदिव्य
unification एकीकरण
uniformity एकरूपता
union ऐक्य, मिलन
unity एकत्व, एकता
unknown अज्ञात
unknowable अज्ञेय
unmanifest अव्यक्त, अनभिव्यक्त
universal वैश्व, विश्वक, सर्वव्यापी, विराट्, विश्वमय, सार्विक
universal-individual विश्वात्मक-वैयक्तिक
universal realism विश्व-सद्वस्तुवाद
universalisation विश्वभावापन्नकरण
universality विश्वात्मकता, विश्वभाव, विश्वव्याप्ति, सार्विकता, विश्वमयता
universe विश्व
untoward अभद्र
uplift उत्थापन, उत्थान
use उपयोग
user उपयोक्ता
utilisation उपयोग
utilitarian उपयोगात्मक

V

valid मान्य, वैध, न्याय्य
validity प्रामाण्य, वैधता, न्याय्यता
value मूल्य, गुण, महत्ता
valuation मूल्यांकन, मूल्यन
vast बृहत्
verifiable सत्यापनीय, प्रमाण्य
vertical ऊर्ध्वाधर
vessel पात्र
vicissitude उलटफेर
violent हिंस्र, रुद्र
virtue पुण्य
vision दृष्टि, दर्शन, अवलोकनशक्ति
vital प्राणिक, प्राणमय, मार्मिक
vital being प्राणमय पुरुष, प्राण-सत्ता।
vital monism प्राणिक अद्वैतवाद
vital sheath प्राणकोष
vitalistic प्राणवादी, जैववादी
vitality प्राण-सत्ता, प्राणशक्ति, प्राणिकता

vitiate	विदूषित करना
vividly	स्पष्टतासे
void	शून्य
vulgar	गँवारू, अशिष्ट

W

waking consciousness	जागृत चेतना
whirl	भँवर, घूर्णन, आवर्तन
whole	अखण्ड, समग्र, पूरा
will	इच्छा, इच्छा-शक्ति, क्रतु, संकल्प, संकल्प-शक्ति
Will, Divine	भगवदिच्छा
will-force	इच्छा-शक्ति
will, free	स्वतंत्र इच्छा
will-power	इच्छा-बल
will-to-be	भवैषणा
will-to-live	जिजीविषा
wisdom	बुद्धिमत्ता, प्रज्ञा
wise	बुद्धिमान्
with infinite qualities	अनंतगुण
withdrawal	प्रत्याहार
witness	साक्षी, उपद्रष्टा
work, divine	दिव्य कर्म
world	जगत्, लोक
world-creation	जगत्-सृष्टि
world-existence	जगत्-सत्ता, जगत्-जीवन
world-illusion	जगन्मिथ्या, विश्वभ्रम
world-knowledge	जगत्-ज्ञान
wrong(n)	प्रमाद
wrong(adj)	गलत, अनुचित
wrong-doing	दुष्ट-कर्म

Y

yearning	चाह, एषणा
yoga-trance	योग-समाधि

Z

zeal	उत्साह
zero	शून्य
zigzag	टेढ़ा-मेढ़ा

परिशिष्ट चार

हिन्दी-अंग्रेजी शब्दावली

अ

अंग	part, factor
अंत:करणिक	psychological
अंत:प्रविष्ट	penetrated
अंत:प्रवेश	penetration
अंत:शक्ति	potency
अंत:सत्ता	inner being, inner self
अंत:सलिल	underlying
अंत:स्राव	influx
अंत:स्थता	immanence
अंत:स्थिति	inherence
अंतरंग	intimate, intrinsic
अंतरात्मा	soul
अंतरात्माका दैहिक जीवन	soul-life in the body
अंतराल	interval
अंतरावगाही	intensive
अंतरावृत्त	inward-drawn
अंतर्काल	interregnum
अंतर्कालीन	transitional
अंतर्जात	inborn, intrinsic
अंतर्निरीक्षण	introspection
अंतर्निहित	inherent, implied
अंतर्भाव	spirit
अंतर्भुक्त	intrinsic
अंतर्भूत	intrinsic
अंतर्मुख	introvert
अंतर्लीन	involved
अंतर्वस्तु	content
अंतर्वाह	inflow
अंतर्विद्ध	penetrated
अंतर्विराम	intermittence
अंतर्विरोध	contradiction
अंतर्वेग	impulse
अंतर्वेधी	penetrating
अंतर्व्याप्ति	immanent
अंतश्चक्षु	second sight
अंतश्चेतन	intraconscient
अंतारोधन	interception
अंतिमता	finality
अंधकाराच्छन्न	obscure
अंध तम	blind darkness, blind gloom
अंश	fraction, portion
अजर	ageless
अकाल	timeless
अज्ञात	unknown
अक्षमता	disability
अक्षर	immutable
अखण्ड	whole
अखिल	all
अगम्भीर	superficial
अघन	rare
अचित्ति	Nescience
अचिन्त्य	beyond thought
अचेतनता	unconsciousness
अचेतना	unconsciousness

अ-चेतना — no-consciousness
अज — unborn
अज्ञेय — *unknowable*
अटकल — guess
अटल — inexorable
अणु — molecule
अणुविश्व — microcosm
अतर्क्य — suprarational
अतिक्रमण — transcendence
अतिक्रान्ति — transcendence
अतिचेतन — superconscient
अतिचेतना — superconscience
अतिजीवन — survival
अतिजीविता — survival
अतिप्राकृतिक — supernatural
अतिभौतिक — supraphysical
अतिमानव — superman
अतिमानवता — supermanhood
अतिमानवत्व — supermanhood
अतिमानस — Supermind
अतिमानसिक — supramental
अतिमानसिक ज्योति — supramental light
अतिमानसी — supramental
अतीत — beyond
अतीन्द्रिय — beyond the senses
अत्यधिक — inordinate
अदिव्य — undivine
अदैवी माया — undivine Maya
अद्वय — One
अद्वितीय — One
अद्वैत — monism, non-dualism
अध:शायी — underlying
अध:स्तर — substratum
अध:स्थ — underlying
अधि-आत्मा — oversoul
अधिकार — authority
अधिमानस — overmind
अधिमानसिक — overmental
अधिमानसी — overmental
अधिरचना — superstructure
अधिशासक — overruler
अधिष्ठान — foundation, substratum
अधोगति — retrogression
अध्यात्म — Spirit
अध्यात्म-सत्ता — Spirit
अध्यात्मीकरण — spiritualisation
अनन्तगुण — with infinite quality
अनन्तिम — tentative
अनन्यता — exclusiveness
अनभिज्ञता — unawareness
अनभिव्यक्त — unmanifest
अनमनीय — inexorable, rigid
अनम्य — rigid
अनस्तित्व — non-existence
अनात्मा — not-self
अनादि — without origin
अनाम — nameless
अनियत — casual, erratic
अनियताकार — amorphous
अनिर्दिष्ट — indeterminate
अनिर्देश्य — indeterminable
अनिवार्य — imperative, inevitable
अनिवार्यता — inevitability, necessity
अनुकरणीय — exemplary
अनुकूल — favourable, positive

अनुकूल करना	adapt
अनुकूलन	adaptation, adjustment
अनुक्रिया	response
अनुक्रियाशील	responsive
अनुचित	improper, *wrong*
अनुपहित	unconditioned
अनुप्रवेश	penetration
अनुभव	experience, perception
अनुभूति	experience, realisation
अनुमंता	giver of sanction
अनुमति	sanction, permission
अनुमोदन	sanction
अनुराग	passion
अनुरूप	corresponding
अनुल्लंघ्य प्रेरणा, विधान या आदेश	imperative
अनुवाद	translation, rendering
अनुशासन	discipline, sanction
अनुसरण	pursuit
अनुस्यूत	immanent
अनुस्यूति	immanence
अनेक	many
अन्नमय मनुष्य	physical man
अन्यथा	otherwise
अन्यलौकिक	other-worldly
अन्योन्य-क्रिया	interaction
अन्योन्याश्रय	interdependence
अन्वेषण	inquiry
अपकर्ष	derogation
अपनिदेशन	misdirection
अपप्राकृत	abnormal
अपरिष्कृत	rude, crude
अपवर्तन	refraction
अपवर्जन	exclusion
अपवर्जी	exclusive
अपवित्र	impure
अपसरण	divergence
अप्रशाम्य	inexorable
अब्रह्म	non-Brahman
अभद्र	untoward
अभावात्मक	negative
अभिकथन	affirmation, assertion
अभिकल्प	design
अभिधा	term
अभिनिवेश	preoccupation, concentration
अभिपोषक साक्षी	affirmative witness
अभिप्रेत	intended
अभिप्रेरणा	motive
अभिबिन्दुत होना	converge
अभियान	adventure
अभिलेख	record
अभिलोपन	obliteration
अभिवृत्ति	attitude
अभिव्यंजना	expression
अभिव्यक्ति	expression, manifestation
अभिसरण	convergence
अभिसृत होना	converge
अभीष्ट	intended, desired
अभ्यस्त	habitual
अभ्यासजन्य	*habitual*

अभ्युक्ति	dictum
अमंगल	evil
अमरता	immortality
अमित	inordinate
अमृतत्व	immortality
अरक्षित रूपसे	insecurely
अरूप	formless
अर्थ	sense
अल्पस्थायी	temporary
अवक्षेप	precipitation
अवगुण	demerit
अवगूढ़	subliminal
अवचेतन	subconscient
अवतरण	descent
अवधारक	comprehending
अवधारक चेतना	comprehending consciousness
अवधारण, अवधारणा	comprehension
अवधारणका अभाव	incomprehension
अवधि	duration
अवबोध	understanding
अवयव-संस्थान	organism
अवर प्रकृति	lower nature
अवलोकन	observation
अवलोकन-शक्ति	vision
अवस्था	condition, *poise*, *status*
अवस्थान	poise
अवस्थिति	presence
अविच्छिन्नता	continuity
अविच्छेद	continuous, persistent
अविभाज्य	indivisible
अविभेदित	undifferentiated
अवियोज्य	inseparable
अव्यक्त	non-manifest, unmanifest
अशिव	evil
अशिष्ट	vulgar
अशुभ	evil
असंभवापत्ति	reductio ad abesuerdum
असंवेदनशीलता	insensibility
असत्	non-being, non-existent, non-existence
अस्तित्व	existence
अस्ति-काल	Time positive
अस्तित्वका तत्त्व	principle of existence
अस्तित्ववान्	existent
अस्तिवाची	affirmative
अस्थायी	temporary
अस्थिर	inconstant
अहं	ego
अहं-केन्द्रिक	ego-centric
अहंता	egoism
अहं-बोध	ego-sense
अहं-भाव	ego-sense
अहंवाद	egoism

आ

आंतर	inner
आंतरायिक	intermittent
आंतरिक	inner, psychological
आंतरिकता	subjectivity
आंतरिक पुरुष	inner being
आंतरिक सत्ता	inner being
आकर्षण	attraction
आकस्मिक	fortuitous
आकार	form

आकारिक	formal
आकृति	figure
आक्रान्त	afflicted
आघात	impact, shock
आचरण	conduct
आत्म-क्रिय	self-active
आत्मगत	subjective
आत्म-चरितार्थ	self-fulfilled
आत्म-चेतन	self-aware
आत्म-ज्योति	self-illumination, self-luminous
आत्मलीनता	self-absorption
आत्मता	selfhood, selfness
आत्म-तादात्म्य	self-identity
आत्म-तृप्त	self-sufficient
आत्मदर्शन	self-view
आत्मधृत	self-possessive
आत्मनिमग्नता	self-absorption
आत्म-निर्वचन	self-definition
आत्म-निर्धारण	self-determination
आत्मपरक	subjective
आत्मपरकता	subjectivity
आत्म-परिपूर्तिकारी	self-fulfilling
आत्म-प्रक्षेप	self-projection
आत्म-प्रतिष्ठ	self-founded
आत्म-प्रविस्तार	self-deployment
आत्ममुख	subjective
आत्मरूपायण	self-formulation
आत्मवत्ता	self-possession
आत्मवान्	self-possessed
आत्म-विशेषण	self-definition, self-determination
आत्म-विसर्पण	self-projection
आत्म-शक्ति	soul-power
आत्म-सत्ता	self-existence, self-being
आत्म-संज्ञा	self-definition
आत्म-संपादक	self-effectuating
आत्म-संभूति	self-becoming
आत्म-संसाधक	self-effectuating
आत्मसात् करना	assimilate
आत्म-सिद्धिप्रद	self-achieving
आत्म-स्थिति	self-status, self-hood
आत्म-स्वरूप	selfhood
आत्मा	self, soul, Spirit
आत्मातिक्रमण	self-transcendence
आत्मानुप्रवेश	ensouling
आत्मा-रूप	soul-form
आत्मीकरण	assimilation
आदि	beginning
आद्य	original
आधार	being, foundation, substratum, quantum
आधारनिष्ठ	underlying
आधार-शब्द	keyword
आधार-शैल	bed-rock
आधुनिक मनोवृत्ति	modern spirit
आध्यात्मिक	spiritual
आध्यात्मिकता	spirituality
आनंद	delight, joy, bliss, rapture, beatitude, ecstasy
आनंदकोष	Bliss-Sheath, Bliss-Vehicle
आनंदब्रह्म	Bliss-Brahman

आनंदमय	all-blissful, all-enjoying
आनंदमय पुरुष	Bliss-Self
आनम्य	pliable
आनुक्रमिक	successive
आनुवंशिकता	heredity
आपतन	incidence
आपेक्षिकता	relativity
आप्तवचन	authority
आभासी	apparent
आमूल	radical
आयाम	dimension
आरम्भ	initiation
आरम्भक	initiating
आरोहण	ascent
आलम्ब	fulcrum
आलोक	light
आलोकित	illumined
आलोकित करना	illumine
आलोकित मन	illumined mind
आवर्त	eddy
आवर्तक	recurrent
आवर्तन	whirl, recurrence, cycle
आवर्ती दशमलव	recurring decimal
आवर्धन	enlargement
आवर्धित	magnified
आवश्यकता	necessity
आवसरिक	occasional
आविर्भाव	emergence
आवृत्ति	recurrence
आवेग	paroxysm, passion, impulse, emotion
आवेश	passion
आशंसा	expectation
आश्वस्त	assured
आश्रय	resort
आश्रय-ग्रहण	resort
आश्रित	dependent
आसंजन	coordination
आसंजनकारी	coordinating
आह्लाद	delight

इ

इच्छा	will
इच्छा-बल	will-power
इच्छा-शक्ति	will, will-force
इतिवाचक	affirmative
इनकार	negation
इन्द्रिय	sense
इन्द्रियबोध	sense
इन्द्रिय-मन	sense-mind
इन्द्रियानुभव	sense
इलहाम	apocalypse

ई

ईक्षण करना	perceive
ईश्वर	God
ईश्वर-चेतना	Master consciousness
ईश्वर-भुक्ति	God-enjoyment
ईश्वर-वाणी	apocalypse

उ

उकसानेवाला	instigator
उच्चतम	highest
उच्चतर	higher
उच्चतर प्रकृति	higher nature
उच्चतर मन	higher mind
उत्तम	best
उत्तरजीवन	beyond life

उत्तरजीविता	survival
उत्थान	uplift
उत्थापन	uplift
उत्पत्ति	birth
उत्स	source
उत्सर्ग-भावना	consecration
उत्साह	zeal
उद्‌गम	source
उद्‌गमन	emergence
उदात्तीकरण	sublimation
उदात्तीकृत	sublimated
उदार	catholic
उदासीन	neutral
उद्देश्य	motive, goal, object
उद्देश्यवादी	teleological
उद्देश्यात्मक	teleological
उन्नयन	sublimation, exaltation
उन्मज्जन	emergence
उन्माद	oestrus
उन्मादना	exultation
उपकक्ष	antechamber
उपकरण	apparatus, instrument
उपक्रम	initiative
उपगमन	approach
उपद्रष्टा	witness
उपप्रांत	annexe
उपभवन	annexe
उपयोग	use, utilisation
उपयोक्ता	user
उपयोगात्मक	utilitarian
उपरितल	surface
उपलब्धि	realisation
उपशम	quiescence
उपस्थिति	presence
उपांग	accessory
उपादान	substance, stuff, factor
उपादान-कारण	constituting cause
उपाय	device
उपाय-कौशल्य	expedient device
उभार	relief, upsurge
उलट-फेर	vicissitude
उल्लास	ecstasy
उषा	dawn

ऊ

ऊर्जा	energy
ऊर्ध्वाधर	vertical
ऊर्ध्वायन	sublimation
ऊर्ध्वपातन	sublimation
ऊर्ध्वायित	sublimated

ऋ

ऋत	truth, right
ऋत-क्रियाबल	truth dynamism
ऋत-चित्	truth-consciousness
ऋत-चिन्मय	truth-conscious
ऋत-चेतना	truth-consciousness
ऋत-ज्योति	truth-light
ऋषि	sage

ए

एक	one
एकता	unity
एकत्व	oneness, unity
एकप्राणता	unanimism
एकरूपता	uniformity
एक साथ होना	coincide

एकाग्र — concentrated
एकाग्र संयम — austerity
एकाग्र होना — concentrate, dwell upon
एकाग्रता — concentration
एकाग्रीकरण — concentration
एकात्मता — identity
एकीकरण — unification, integration
एषणा — yearning

ऐ

ऐकांतिक — exclusive
ऐकांतिकता — exclusiveness
ऐक्य — union

औ

औजार — apparatus

क

कठोर — rigid
कपोल-कल्पना — figment
करण — factor, instrument
कर्त्री विभूति — effective deity
कर्म — action, work
कलपुतला — automaton
कवि — seer, poet
कविक्रतु — seer-will
कान्ति — brilliancy
काम — business
कामना — desire
काया — body
कारणता — causality
कार्यंकर — effective
कार्यकारी — executive
कार्यक्षमता — faculty
काल — time
कालपुरुष — Time-Spirit
काल-प्रवाह — duration
कालातीत — Timeless
कालात्मा — Time-Spirit
कालावधि — duration
केन्द्रक — nucleus
केन्द्रणकारी — centralising
केन्द्रीकृत — centralised
केवल — absolute
कोटि — degree, pitch
कोषावस्था — chrysalis
क्रम — order, scale
क्रमविकास — evolution
क्रमविकासिनी — evolutionary
क्रमविकासी — evolutionary
क्रमवैकासिक — evolutionary
क्रांतिक बिन्दु — critical point
क्रिया — action, activity, operation, movement
क्रियाकारी — operative
क्रियाकौशल — manipulation
क्रियाधारा — dynamism
क्रियाबल — dynamism
क्रियावंत — dynamic
क्रियावीर्य — dynamism
क्रियाशक्ति — dynamism
क्रियाशीलता — activity, dynamism
क्रिस्टलन — crystallization
क्रोमोसोम — chromosome

क्ष

क्षमता — faculty
क्षेत्र — scope

ख

खंड-खंड करना	depiece
खर्व करना	dwarf
खाँचा	groove
खोज	exploration, quest
खोजनेवाला	seeker

ग

गँवारू	vulgar
गठन	texture
गढ़ना	chisel
गतिक	motional, kinetic
गणितीय	mathematical
गलत	wrong
गुण	attribute, character, merit, mode, quality, value
गुणन	multiplication
गुणसूत्र	chromosome
गुणातीत	beyond the gunas
गुह्य	occult
गुह्यविद्या	occultism
गूढ़	hidden
गेरुआ	ochre
गोष्ठी	group
गोष्ठी-सत्ता	group-being
ग्रंथि	nodus
ग्रस्तता	obsession
ग्रहणशीलता	receptivity

घ

घनीभूत	concentrated, massed
घुमाव	curve, turn
घूर्णन	whirl

च

चकाचौंध	glamour
चक्र	cycle
चयन	selection
चरम	extreme
चरम परिणति	culmination
चरमोत्कर्ष	culmination
चरित्र	character
चालन	operation
चालन-शक्ति	motive power
चालित	driven
चाह	yearning
चित्	consciousness
चित्-पुरुष	conscious being
चित्रण	representation
चिदात्मा	conscious spirit
चिद्घन ज्ञान	gnostic knowledge
चिन्मय पुरुष	conscious being
चिन्मयी शक्ति	force-soul
चुनाव	selection
चुनौती	challenge
चेतना	consciousness
चेतन पुरुष	conscious being
चेतन सत्ता	conscious being
चेतनाका परावर्तन	*reversal of consciousness*

चेहरा	face
चैतन्य	consciousness
चैत्य पुरुष	psychic being, soul-person
चैत्य सत्ता	psychic entity
चैत्यिक-आध्यात्मिक	psycho-spiritual
चोर रेत	quicksand

छ

छांटना	assort
छायाचित्र	silhouette
छिछला	superficial

ज

जगत्-जीवन	world-existence
जगत्-ज्ञान	world-knowledge
जगत्-सत्ता	world-existence
जगन्मिथ्या	world-illusion
जगन्मिथ्यावाद	illusionism
जटिल	complex
जटिल रचना	complexus
जड़	matter
जड़ (वि०)	material, inert
जड़तत्त्व	Matter
जड़-तत्त्व	Matter
जड़-प्रकृति	material nature
जड़पूजा	fetishism
जड़ीकरण	materialisation
जड़वाद	materialism
जड़ोत्तर	supraphysical
जननी	mother, matrix
जांच	inquiry
जागृत चेतना	waking consciousness
जाति	species, race
जादूगर	magician
जिजीविषा	will-to-live
जीव	soul, being
जीव	creature
जीवन	life
जीवनी शक्ति	life-force, vitality
जीववाद	animism
जीव-सत्ता	being
जीवाधार	organism
जुगुप्सा	shrinking
जैववादी	vitalistic
ज्ञाता और ज्ञेय	knower and known
ज्ञान और अज्ञान	knowledge and ignorance
ज्ञानदीप्त	enlightened
ज्ञानमय आत्मा	self of knowledge
ज्ञान-विरोध	obscurantism
ज्ञानात्मक	cognitive
ज्ञानात्मिका इच्छा	knowledge-will
ज्ञापन	communication
ज्यामिति	geometry
ज्योति	light
ज्योतिष	astrology

ट

टकराना	impinge
टेढ़ा-मेढ़ा	zigzag
टोटमवाद	totemism

ड

डग step

ढ

ढक्कन lid
ढाँचा cadre

त

तटस्थ detached
तटस्थता detachment
तत् That
तत्त्व element, principle, term, factor
तत्त्व-दर्शन metaphysics
तत्त्व-मीमांसा metaphysics
तदात्मा identical
तनाव tension
तनूकरण dilution
तनूकारी diluting
तंत्र system
तन्मय absorbed
तप austerity
तपश्चर्या austerity
तपस् energism of consciousness
तपोमयी चेतना energising consciousness
तमाच्छन्नता obscurity
तमिस्रा obscurity
तमोवृत obscure
तरलीकरण dilution
तरेड़ crevice
तर्क logic
तर्क-विचार logical reasoning
तर्कणा reasoning
तल्लीनता engrossment
तादात्म्य identification
तादात्म्य-भाव identification
तार्किक dialectical
तीक्ष्ण trenchant
तुरीय transcendent
तुरीयं धाम the fourth placing or poise of existence
तुरीयं स्विद् a certain fourth
तुरीयता Transcendence
तृतीयं किं स्विद् tertium quid
त्रयी triune
त्रिक triune
त्रिगुणातीत beyond the three gunas
त्र्यात्मक triune

द

दमन suppression
दर्प arrogance
दर्शन vision
दिगन्तसम horizontal
दिव्य divine
दिव्य कर्म divine work
दिव्यता divinity
दिव्यत्व godhead
दीप्ति brilliancy
दीर्घतर स्थायिता prolongation
दीर्घायण prolongation
दुःख sorrow, suffering
दुर्लभ rare
दुष्ट कर्म wrong doing
दूषित करना debase, taint
दृग्विषय phenomenon

दृढ़ करना clinch
दृढ़ प्रत्यय affirmation
दृढ़ विश्वास conviction
दृढ़ोक्ति affirmation, assertion
दृश्य scene, phenomenon
दृष्टि vision, revelation, sight
देश Space
देशातीत Spaceless
देह body
देहान्तरण transmigration
दैत्य ogre
दैवी अधिकार divine right
द्योतित करना illumine
द्रव्य substance
द्रष्टा percipient, seer
द्वन्द्व duality, conflict
द्वन्द्वातीत beyond duality
द्विक biune
द्वैत duality
द्वैतवाद dualism

ध

धन (वि०) positive
धर्म law, religion, formula
धर्मपरायणता righteousness
धर्मान्तर conversion
धातु substance
धातु-ऊर्जा substance-energy
धाम status
धारण retention, assumption
धारणा conception, notion
धूमिल obscure
धृत रखना dwell upon, hold

न

नकल करना ape
नकशा pattern
नमनीय plastic
नमूना pattern
नरम mellow
नर्सरी nursery
नवकलेवर-धारण reincarnation
नाम name
नामन् numen
नारा slogan
निःशब्दता silence
नित्य habitual, eternal
नित्यानुवृत्त persistent
निपुण adept
निबद्ध bound
निमग्न absorbed
निमित्त कारण efficient cause
निम्नतर प्रकृति lower nature
नियति necessity, fate
नियम order
नियमितता regularity
नियंत्रण control
नियंत्रित करना control
निरंकुश शक्ति absolute power
निरन्तरता continuity
निरपेक्ष unconditioned, absolute
निराकार formless

निरानन्द	undelight
निरापदता	immunity
निरीश्वरवाद	atheism
निरीश्वर प्रकृति-वाद	naturalistic, atheism
निरोध	suppression
निर्गम	exit
निर्गमन	devolution, emergence
निर्ज्ञान	nescience
निर्ज्ञानता	nescience
निर्णायक	decisive, conclusive, crucial
निर्दिष्ट	determined, determinate
निर्देश	reference
निर्देशित	determined
निर्देश्य	determinable
निर्धारण	determination
निर्धारित	fixed
निर्नैतिक	amoral
निर्मन	no-mind
निर्माण	structure
निर्मिति	structure
निर्मुक्ति	release
नियुक्त	appointed
नियोजित	appointed
निलंबन	suspension
निलंबित	suspended
निर्वहण	denouement
निवास	dwelling
निर्वाण	extinction
निर्वापण	extinction
निर्विशेष	Absolute
निर्वर्तित	involved
निश्चयात्मक	positive
निश्चल-नीरवता	silence
निश्चायक	conclusive, decisive
निश्चित	assured
निश्चेतन	inconscient
निषेध	negation
निषेधात्मक	negative
निष्कलंक	spotless
निष्कृति	escape
निष्क्रमण	escape
निष्क्रिय	passive
निष्क्रियता	quiescence
निष्ठा	allegiance
निस्यन्दन	filtration
निहित	implied
नीतिशास्त्र	ethics
नींव	foundation
नीरवता	silence
नेतिवाचक	negative
नैष्कर्म्य	actionlessness
नैसर्गिक	spontaneous
न्याय	logic
न्यायत:	fairly
न्याय-विधान	logic
न्याय-संगतता	justification
न्याय्य	valid
न्याय्यता	validity

प

पंथ	path, way, creed
पक्ष	aspect
पथ	passage, path, way
पथभ्रष्ट करना	mislead
पद	term
पदार्थ	object
पद्धति	system
परतंत्र	dependent

परपीड़न-रतिक	sadistic
परम	supreme
परम पुरुष	Supreme Being, Supreme Person
परम सत्ता	Supreme being
परमा प्रकृति	supreme Nature
परस्पर-क्रिया	interaction
परस्परव्यापी	overlapping
परहित-निष्ठा	altruism
परहितवाद	altruism
पराक्	objective
पराक्वृत्त	objective
पराकाष्ठा	acme
परात्पर	higher than the highest
परात्पर ब्रह्म	Brahman, higher than the highest
परा प्रकृति	supernature
परा बुद्धि	superreason
परार्ध और अपरार्ध	higher and lower hemi-sphere
परावर्तन	reversal
परा वाक्	Logos
पराहंता	super-ego
परिचेतन	circumconscient
परिणाम	issue
परिणामित, परिणामी	resultant
परित्याग	renunciation
परिपाक	assimilation
परिपूर्णता	fullness
परिपूर्ति	fulfilment
परिप्रश्न	inquiry

परिमाण	magnitude, duration
परिमुक्त करना	liberate
परिरक्षण	preservation
परिरुद्ध	confined
परिवर्तन	change, conversion
परिवर्धन	enlargement
परिवेश	environment
परिवेशी	environmental
परिशुद्धता	accuracy
परिशुद्धि	precision
परे	beyond
पर्यवसित होना	resolve into
पर्यवेक्षण	overseeing
पर्यावरण	environment
पर्यावारिक	environmental
पलायन	escape
पवित्रता	purity
पवित्रीकरण	purification
पश्चगमन	retrogression
परास	range
पहचानना	recognise
पहलू	aspect
पारदर्शक	transparent
पारदर्शी	transparent
पारलौकिक	other-worldly
पारस्परिक क्रिया	interaction
पार्थिव प्रकृति	terrestrial nature
पिशाच	demon
पिशाचवत्	as the wild and disor-dered soul
पुण्य	virtue
पुनरावर्तन	relapse
पुनरावृत्ति	recurrence, repetition

पुनर्जन्म rebirth, re-incarnation
पुनर्जीवन *resurrection*
पुनर्देहधारण rebirth
पुनर्मूल्यन revaluation
पुनर्मेल करना reconcile
पुनर्विन्यास rearrangement
पुनर्विलोकन review
पुराणकथा myth
पुरुष being, conscious *being*, person, soul.
पुरुषोत्तम Supreme Being
पुष्टि confirmation
पुष्पण (न) flowering
पूरक *complementary*
पूर्ण integral, perfect
पूर्णता perfection
पूर्ति fulfilment
पूर्वकथनीय predictable
पूर्वजप्रवृत्तिक atavistic
पूर्व दृष्टान्त precedent
पूर्वानुमेय predictable
पूर्वविधान precaution
पृथक् किया हुआ separated
पृथक्कारक separative
पृथगात्मक separative
पैगंबर prophet
पैड़ी step
प्रकार type
प्रकारता character
प्रकाश light
प्रकृति nature
प्रकृति-स्थ पुरुष Spirit in Nature
प्रक्रम *process*
प्रक्रिया process
प्रक्षेत्र range

प्रगति progress
प्रच्छन्न hidden
प्रज्ञा intelligence, wisdom
प्रज्ञान apprehending knowledge
प्रज्ञान-चेतना apprehending consciousness
प्रज्ञानाभाव inapprehension
प्रणाली system
प्रतिकर्षण *repulsion*
प्रतिकूल contrary, negative
प्रतिगमन retrogression
प्रतिपत्ति justification
प्रतिबंध *restriction*, constraint
प्रतिभास phenomenon
प्रतिमान *model, pattern*
प्रतिरूप replica
प्रतिलेखन *transcription*
प्रतिलोम inverse, reverse
प्रतिवर्त reflex
प्रतिवाद contradiction
प्रतिष्ठा foundation, *status*
प्रतिष्ठापन affirmation
प्रतिस्थापन replacement
प्रतीक symbol
प्रतीप reverse
प्रतीयमान *apparent*
प्रत्यक् subjective
प्रत्यक्-वृत्त inward-drawn, subjective
प्रत्यक्ष percept, perception, apparent, obvious

प्रत्यक्ष मूल्य face value
प्रत्यक्षण perception
प्रत्यक्ष बोध perception
प्रत्यक्षवाद positivism
प्रत्यक्षवादी positivist
प्रत्ययन ideation
प्रत्याख्यान contradiction
प्रत्यावर्तन reversion, alternation
प्रत्यावर्ती recurrent
प्रत्यावृत्ति recurrence
प्रत्याहार withdrawal
प्रत्युत्तर response
प्रत्युत्तरदायी responsive
प्रत्युपस्थापन representation
प्रत्युत्पादन reproduction
प्रदीप्त enlightened
प्रपंच phenomenon
प्रबुद्ध enlightened
प्रभाव effect, incidence
प्रभावी effective
प्रभु sovereign, lord
प्रभुतासंपन्न sovereign
प्रभेद करना distinguish
प्रमात्रा quantum
प्रमाद wrong
प्रमुख prominent
प्रयुक्ति contrivance
प्रयोगात्मक tentative
प्ररूप type
प्ररूपी typal
प्रलोभन allurement
प्रवर्धन करना amplify
प्रवंचना करना circumvent
प्रवर्तक initiating
प्रवणता propensity
प्रवृत्ति tendency, propensity, movement
प्रविस्तार करना deploy
प्रशान्त tranquil
प्रसार range
प्रस्तुत करना evolve
प्रस्थापन assertion
प्राकृत normal
प्राकृत-आत्मा nature-self
प्राकट्य expression
प्राथमिकता priority
प्राण life
प्राण-अहं life-ego
प्राण-ऊर्जा life-energy
प्राणकोष vital sheath
प्राण-चेतना life-consciousness
प्राण-पुरुष life-being, life-spirit, Anima
प्राणमय, प्राणिक vital
प्राणमय पुरुष vital being
प्राण-प्रकृति life-nature
प्राणलोक life-plane
प्राणवंत dynamic
प्राणवादी vitalistic
प्राणशक्ति vitality, life-force
प्राण-सत्ता vital being, vitality, life-being, life-spirit
प्राणिक अद्वैतवाद vital monism
प्राणिकता vitality
प्रान्त term
प्राप्त attained
प्राप्त सामग्री data
प्रामाण्य validity

प्रामाणिक	authentic
प्रारूपिक	typical
प्रेक्षण	observation
प्रेम	love
प्रेरक	motive (adj)
प्रेरक-हेतु	motive (noun)
प्रेरण	impulsion
प्रेरणा	inspiration

फ

फफूंद	fungus
फलन	fruition
फुहार	spray

ब

वद्ध	bound
वना वनाया	readymade
वन्धन	bondage
वह निकलना	overflow
वहिर्मुख	extrovert
वहिर्व्यक्त	objective
वहिस्तल	surface
वहु	many
वहुलता	multiplicity
वहुगति	discursive
वहुमुखी	many-sided
वहुमुखी संयोग	complex association
वहुव्यक्तिक	multipersonal
वाध्यता	compulsion
वालवत्	as a child
वालेय	puerile
वाह्य	objective
वाहरी	superficial
वुद्धि	intelligence, reason
वुद्धिमत्ता	wisdom
वुद्धिमान्	wise
वुराई	evil
वेहद	inordinate
वोध	sense
वौना	dwarf
व्रह्म	Spirit

भ

भगवदिच्छा	Divine Will
भगवान्	Divine
भवति	existence
भवैषणा	will-to-be
भागवत	divine
भाग	role
भाग्य	luck
भाव	idea
भावन	ideation
भावना	notion, feeling
भावमय	emotional
भावमूलक	ideative
भावावेग	emotion
भावात्मक	positive
भावात्मक	emotional
भावोच्छ्वास	emotion
भिन्न	fraction
भिन्नता	divergence
भीड़-गतियाँ	crowd-movements
भीरुता	timidity
भुक्ति	enjoyment
भूत	being
भूति	being
भूमि	plane
भूमिका	role
भेद	divergence, difference
भेदात्मक ज्ञान	separative knowledge
भोग	enjoyment

भौतिक	physical, material
भौतिक जीवन	material existence
भौतिक प्रकृति	material nature, physical nature
भौतिकवाद	materialism
भौतिक विज्ञान	science
भौतिक सत्ता	material existence
भौतिकी	physics
भौतिकीकरण	materialisation
भँवर	whirl
भ्रम	illusion
भ्रमवाद	illusionism
भ्रान्ति	delusion
भ्रूण	embryo
भ्रूणीय	embryonic

म

मत	creed
मताग्रहिता	dogmatism
मत्स्यनारी	mermaid
मध्यग	intermediary
मध्यवर्ती	transitional
मन	mind
मनन	reflection
मनस्	sense-mind
मनोमय	mental
मनोमय जीव	mental being
मनोमय पुरुष	mental being
मनोमय सत्ता	mental being
मनोमय संबोध	mental cognition
मनोवृत्ति	mentality
मरमिया	mystic
महत्ता	magnitude, value
मस्तिष्क-बल	brain-power
मातृका	matrix
माध्यम	medium
मानक	standard
मानकित	standardised
मानवत्वारोपी	anthropomorphic
मानस	mind
मानस-भावना	conception
मानसता	mentality
मानसातीत	Beyond-Mind
मानसिक	mental
मानसिकता	mentality
मानसिक संबोध	mental cognition
मानसीकरण	mentalisation
मान्य	valid
माया	Illusion
मायावाद	illusionism
मिथ्यात्व	falsehood
मिलन	union
मिला-जुला	composite
मुक्ति	liberation, release
मुखपट	mask
मुखाकृति	physiognomy
मुखाकृति-विज्ञान	physiognomy
मुखौटा	mask
मुनि	sage
मूल	original
मूलवस्तुगत ऊर्जा	substance-energy
मूलस्थ	essential
मूल्य	value
मूल्यन	valuation
मूल्यांकन	valuation

मेधा	brain-power
मैनिकीवाद	manicheanism
मोद	delight
मौल	original

य

यंत्र	contrivance, instrument
यंत्रकारी	mechanism
यंत्रीकरण	mechanisation
यथातथ	exact
यथातथ्य	precise
यथातथ्यता	precision
यथार्थ	real
यथार्थता	reality
यदृच्छा	chance
यांत्रिकता	mechanism
यायावर	nomad
युक्ति	reason
युक्तिबुद्धि	reason
युक्तियुक्त	rational
युक्तिसंगत	rational
युग्मित	coupled
योग, योगफल	sum
योग-समाधि	yoga-trance
योग्यतमकी अति-जीविता	survival of the fittest
योग्यतमावशेष	survival of the fittest
यौक्तिक	rational

र

रक्षा	defence
रचना	formation, building
रभस	rapture
रसबोध	aesthesis
रसास्वादन	enjoyment
रहस्यपंथी	mystic
रहस्यवादी	mystic
रहस्यविद्	mystic
राशि	sum
राष्ट्र	nation
रीति	mode
रूढ़	stereotyped
रूढ़िगत	stereotyped
रूप	aspect
रूप देना	formulate
रूपधातु	substance
रूपण	formation
रूपान्तर	transformation
रूपान्तरण	conversion
रूपात्मक	formal
रूपायण	formation
रूपायित करना	formulate

ल

लक्षण	feature
लक्षित	implied
लक्ष्य	goal
लगन	preoccupation
लचीलापन	elasticity
लय	dissolution
लाभ	gain
लावारिस भूमि	No-man's-land
लीक	groove
लेखाचित्र	graph
लोक	world, plane

व

वक्रता	curve
वक्ररेखा	curve
वर	boon
वरण	selection
वरणक्षम	selective
वरणात्मक	selective

वर्ग	cadre
वर्जन	exclusion, taboo
वर्ण-क्रम	spectrum
वर्तमानता	presence
वर्धन	growth
वर्धन करना	amplify
वस्तु	object, substance, thing
वस्तुनिष्ठ	positive
वस्तुपरकता	objectivity
वस्तुभूत सत्ता	substantial existence
वाग्युद्ध	logomachy
वाज और वस्तु (वैदिक)	riches and substance
वानर	ape
वास	habitation
वास्तव-अवास्तव	real-unreal
वास्तवता	reality
वास्तविकता	reality, actuality, objectivity
विकसित करना	evolve
विकासक्रम	evolution
विक्षेपण	dispersion
विचार	thought, idea, reflection
विचारण	ideation
विचार-बुद्धि	intellectual reason
विचारसे परे	beyond thought
विच्छुरण	outleap
विज्ञान	gnosis
विज्ञान (भौतिक)	science
विज्ञानघन	gnostic
विज्ञानघन चेतना	gnostic consciousness
विज्ञानघन ज्योति	gnostic light
विज्ञानचेतना	gnostic consciousness, comprehending consciousness
विज्ञानजीवन	gnostic life
विज्ञानज्योति	gnostic light
विज्ञानपुरुष	gnostic being
विज्ञानमय	gnostic
विज्ञानमय पुरुष	gnostic being
विज्ञानमयी चेतना	gnostic consciousness
विज्ञानमय जीवन	gnostic life
विज्ञानमयी ज्योति	gnostic light
विज्ञानमयी शक्ति	gnostic force
विज्ञानमयी सत्ता	gnostic existence
विज्ञानशक्ति	gnostic force
विदूषित करना	vitiate
विद्यमानता	presence
विद्या और अविद्या	knowledge and ignorance
विधान	law, formula
विधि	mode, formula
विनिमय	communication
विनियमित करना	regulate
विनियोग	application
विनिर्देश	specification
विपथन	aberration
विपरीत	contrary
विभक्त	divided
विभाज्य	divisible
विभु	omnipresent all-pervading
विभेदित	differentiated
विभौतिकीकरण	dematerialisation

विभ्रम	hallucination
विमुक्त	liberated
विमुक्त करना	liberate, absolve
विमुक्ति	liberation
विमूर्तन	abstraction
विमोचन	release
वियुक्त	detached
वियुक्तता	detachment
विरक्ति	distaste
विरल	rare
विराट् विश्व	macrocosm
विरूपण करना	disfigure
विरूपित	disfigured
विरोध	contradiction
विलगन	isolation
विलय	merger
विवरण	account
विवर्तन	evolution
विवर्धन	aggrandisement
विविक्त	separated
विविध रूप	renderings
विवेक	conscience
विशालित	magnified
विशिष्ट	selective
विशिष्टीकरण	specialisation
विशुद्धता	precision
विशुद्धिवादी	puritan
विशेषित	specialised
विशेषीकरण	specialisation
विशेषीकृत	specialised
विश्व	universe, cosmos
विश्वक	universal
विश्वक-वैयक्तिक	universal-individual
विश्वदेवतावाद	pantheism
विश्वबहिर्भूत	extra-cosmic, supra-cosmic
विश्वभाव	universality
विश्वभ्रम	world-illusion
विश्वमंडलीय	global
विश्वमय	universal
विश्वमयता	universality
विश्व-विधान	cosmic law
विश्वव्यापी	cosmic
विश्वव्याप्ति	universality
विश्वसद्वस्तुवाद	universal realism
विश्वस्रष्टा	demiurge
विश्वातीत	transcendent, transcendence, supra-cosmic
विश्वात्मकता	universality
विश्वासघात	treachery
विश्वोत्तरता, विश्वोत्तीर्णता	transcendence
विषमता-प्रदर्शक	contrastive
विषम-रूपता	divergence
विषमांग	heterogeneous
विषय	object
विषयगत	objective
विषयनिष्ठता	objectivity
विषयभूत	objective
विषयिगत	subjective
विसंगति	discord
विसरण	diffusion
विसर्जन	discharge
विसृति	diffusion
विस्मय	amazement
विस्वरता	discord
वीर्य	potency, power
वृद्धि	growth
वृहत्	vast
वेधन	penetration

वैकल्य	disability
वैकासिक	evolutionary
वैध	valid
वैधता	validity
वैयक्तिकीकरण	individualisation
वैराग्य	distaste
वैशिष्टय	characteristic
वैश्व	cosmic, universal
व्यक्तीयन	individuation
व्यक्ति	person, individual
व्यक्तित्व	personality
व्यतिरेकी	contrastive
व्यथा	anguish
व्यथित	anguished
व्यवसाय	business, occupation
व्यवस्था	economy, order
व्यवहार	dealing
व्यवहार्य	practicable, communicable
व्यष्टिकरण	individualisation
व्यापक	comprehensive
व्यापकीकृत	generalised
व्यापार	phenomenon
व्यापी	comprehending, pervading
व्यापृति	preoccupation
व्यासरण	dispersion
व्यासृत	dispersed
व्युत्पत्तिक	derivative

श

शक्ति	force, energy
शक्तिरूप पुरुष	force-soul
शक्य	potential
शक्यता	potentiality
शब्दब्रह्म	Logos
शरण	refuge
शरीर	body
शरीर-सत्ता	physicality
शान्त	quiet
शाश्वत	eternal, sempiternal
शासक	ruler
शास्ति	sanction
शास्त्र	scripture
शील	righteousness
शुचिता	purity
शुद्ध	pure, spotless
शुद्धीकरण	purification
शुभाशीष	benediction
शून्य	void
शून्य	nothing
शून्य	nihil, zero
शून्यता	nullity
शून्यन	nullification
श्रद्धा	faith
श्रमसाध्य	arduous
श्रुति	inspiration, scripture
श्रेणी	order
श्रेणीकरण	gradation
श्रेणीक्रम	gradation
श्रेष्ठ	best
श्वास	breath

स

संकल्प	will
संकल्प-शक्ति	will-power

संकुचन	constriction	संवेदनशील	responsive
संकेत	intimation	संवेदनशीलता	sensibility
संकेन्द्रक	centralising	संयम, एकाग्र	austerity
संकेन्द्रण	centralisation	संयोग	chance, association
संकेन्द्रित	centralised		
संकेन्द्रित होना	dwell upon	संयोजन	combination
संक्रमण	transition, passage	संरक्षण	preservation
		संलग्न	annexed
संक्षोभ	spasm	संलयन	fusion
संग	attachment	संसक्ति	cohesion
संगठन	cadre, organisation	संसृष्ट	complex
		संसृष्टि	complex
संघ-जीवन	common life	संस्कार	formation
संघट्ट	collision	संहृति	aggregate, aggregation
संघटन	composition, constitution		
		संवर्तुल	global
संघात	aggregate	संवित्	awareness
संघातन	aggregation	संविद्	aware
संचालन	conduct	सकल	all
संज्ञा	term	सक्रिय	dynamic
संज्ञाहीनता	insensibility	सक्रिय करना	dynamise
संतुलन	poise	सक्रिय क्रिया	dynamic action
संतोषप्रद	satisfactory		
संदर्भ	reference	सक्रियता	activity
संन्यासी	ascetic	सत्	existence, existent, real, being
संप्रत्यय	concept		
संबोधि	intuition		
संपूरक	complementary	सत्-तत्त्व	reality, principle of existence
संपूर्ति	fulfilment		
संमिश्र	composite		
संबंधन	connection	सत्-पुरुष	Being
संबोध	cognition	सत्-भाव	Real-Idea
संभूति	becoming	सत्ता	being, entity, presence, self
संभ्रम	confusion		
संभ्रांति	confusion	सत्ताकी शक्ति	force of being
संबद्धता	coherence	सत्ताएँ	beings, selves
संवीक्षा	scrutiny	सत्य	truth, real
संवेग	emotion	सत्यता	reality

सत्यप्रकाश	revelation
सत्यप्रेरणा	inspiration
सत्य-संकल्प	truth-will
सत्य-संवित्	truth-awareness
सत्यात्मक अनुभव	truth-feeling
सत्यात्मक कर्म	truth-action
सत्यात्मक बोध	truth-sense
सत्यात्मक विचार	truth-thought
सत्यात्मिका इच्छा	truth-will
सत्यात्मिका दृष्टि	truth-sight
सत्यात्मिका ज्योति	truth-light
सत्यापनीय	verifiable
सत्त्व	being, substance
सत्त्व-ऊर्जा	substance-energy
सद्वस्तु	reality
सनक	caprice
सनातन	sempiternal
सन्नादी	consonant
सन्निधि	juxtaposition
समंजन-क्षमता	accommodation
समंजन	adjustment
समंजस	homogeneous
समकालीन	coeval
समग्र	whole
समतल	horizontal
समता	equality
समन्वय	synthesis
समयपूर्व	premature
समरूप	corresponding
समर्पण	surrender
समवाय	sum, aggregate
समष्टि	aggregate, collectivity
समस्वर	harmonious
समस्वरित	harmonised
समांग	homogeneous
समाकलन	integration
समाघात	impact
समाधान	issue
समाधि	trance
समान्तर	parallel
समानान्तर	parallel
समानुपातिक	commensurate
समायोजन	adjustment, accommodation
समावेश	inclusion
समाहार	aggregate
समाहरण	aggregation
समुच्चीकृत	aggregated
समूहन	association
सम्पर्क	contact
सम्मिलन	inclusion, association
सम्मेय	commensurate
सम्मोहन	hypnosis
सम्यक्	right
सर्जन	creation
सर्जनात्मक	creative
सर्पिल रेखा	spiral
सर्व	all
सर्वगत	omnipresent
सर्वज्ञता	omniscience
सर्वत्र-विद्यमान	omnipresent
सर्वभूतात्मा	All-Soul
सर्ववित्	All-wise
सर्वव्यापक	all-comprehending
सर्वव्यापी	All-pervading, omnipresent, universal
सर्वव्याप्ति	omnipresence

सर्वशक्तिमत्ता omnipotence
सर्वात्मा All-Soul
सर्वविधारक ज्ञान all-comprehending knowledge
सर्वाधिशासक all-overruling
सर्वांतरात्मा All-Soul
सर्वांगीण integral
सर्वावधारक all-comprehending, all-comprehensive
सर्वेच्छा All-will
सर्वेश्वरवाद pantheism
सर्वोच्च highest
सर्वोपरि व्यवसाय preoccupation
सव्यक्तिक-निर्व्यक्तिक personal-impersonal
सशरीर physically
सह-अस्तित्व co-existence
सह-अस्तित्ववान् co-existent
सहज spontaneous, born with
सहजप्रवृत्ति instinct
सहज बोध instinct
सहजात born-with
सहयोजन co-ordination
सहयोजनकारी co-ordinating
सहवर्ती co-existent, concomitant
सहिष्णु भावसे tolerantly
साँचा mould
सांत finite
सांपर्किक contactual
सांविधिक statutory
साक्षात्कार direct perception
साक्षी witness

सातत्य continuity
साधक seeker
साधन instrument, device, means
साधन विनियोग instrumentation
साध्य practicable
सापेक्ष relative
सापेक्षता relativity
सामंजस्य harmony
सामंजस्ययुक्त harmonised
सामयिक temporary
सामग्री material
सामान्य common, normal
सामान्य जीवन common life
सामान्य सिद्धांत generalisation
सामान्यीकरण generalisation
सामान्यीकृत generalised
सामीप्य communion
सामूहिकता collectivity
साम्यानुमान analogy
साम्राज्य empire of one's world
सार substance, essence
सारगत essential
सारतत्त्व essence
सारभूत essential
सार्विक universal, global
सार्विकता universality
साहचर्य association
साहस courage
साहसिक कर्म adventure
सिंहावलोकन review, retrospect

सिद्धांत	formula
सिद्धि	realisation
सीमित	conditioned
सुग्राही	susceptible
सुनम्य	plastic
सुव्यक्त	precise
सुषुप्त	asleep
सूक्ष्म	rare, precise
सूक्ष्म इन्द्रिय	subtle senses
सूक्ष्मता	precision
सूक्ष्म देह	subtle body
सूक्ष्म दृष्टि	subtle vision
सूक्ष्मभूतमय सत्त्व	elemental beings
सूत्र	formula
सूत्रित करना	formulate
सोपान	scale
स्तर	level
स्थाणु	stable
स्थान	accommodation
स्थान देना	accommodate
स्थायी	persistent
स्थिति	statutory poise
स्थिर	stable
स्थिरता	calm
स्थूल	material, physical
स्थूल प्रकृति	physical nature
स्थूल मन	physical mind
स्थूलोत्तर	supraphysical
स्पन्दन	movement
स्पष्टतासे	vividly
स्मृति	memory
स्रष्टा	creator
स्रष्ट्री	creatrix
स्रोत	source
सृजन	creation
सृजनात्मक	creative
सृष्टि	manifestation, creation
सृष्टिकारक	creative
स्वचरितार्थकारी	self-fulfilling
स्वचलता	automatism
स्वचलित	automatic
स्वजात	spontaneous
स्वतंत्र	autonomous
स्वतः कार्यकर	self-effective
स्वतःक्रिय	automatic
स्वतःक्रिया	automatism
स्वतः प्रभावी	self-effective
स्वतःप्रेरण	initiative
स्वतः फलप्रद	self-effective
स्वतः फलसाधक	self-effective
स्वतःस्फूर्त	spontaneous
स्वतः संविन्मय	self-aware
स्वतःसिद्ध	self-evident
स्वधर्म	self-law, form of dynamic nature
स्वनिष्पादक	self-executive
स्वपीड़न-रतिक	masochistic
स्वभाव	temperament, nature, character
स्वयं-क्रियाशीलता	automatism
स्वयं-कृत	self-formed
स्वयं-कृतार्थ	self-fulfilled
स्वयंचलता	automatism
स्वयंप्रज्ञ	self-aware
स्वयंपूर्ण	self-sufficient
स्वयम्भू	self-existent
स्वयंभुत्व	self-existence
स्वयंभू सत्ता	self-existence
स्वयंलब्ध	self-found
स्वराट्	self-ruler

स्वरूप	self-form, form of essential being
स्वर्गिक	celestial
स्वर्गीय	celestial
स्व-साधक	self-effectuating
स्वांगीकरण	assimilation
स्वाराज्य	empire of oneself
स्वार्थवद्ध	interested
स्वीकरण	affirmation
स्वीकारक	acceptor
स्वीकारात्मक	affirmative
स्वीकार करना	recognise
स्वीकारी	accepting
स्वीकृत सत्य	postulate
स्वैरी	self-willed
सच्चाई	sincerity

ह

हठी	self-willed
हमारा पुरुषार्थ	reason of our being
हर्ष	joy
हिल्लोल	surge
हिसाव	account
हिंस्र	violent
हेतु	motive
हेरफेर	manipulation